श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

# अध्यात्मसूत्र-प्रवचन

## उत्तरपूर्व भाग



लेखक :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

संपादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

( उ० प्र० )

संस्करण ५०० | न्यौछावर २)

# श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

## (१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
## (२) श्रीमती फूलमाला जी धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर, मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) श्री ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगड्डू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अलर्कप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० माज० सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर

(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मन्नाणी जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमम जी पाण्डया, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह
(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मन्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) सेठ छुठदामीलाल जी जैन, फिरोजाबाद
(२८) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बडौत
(२९) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
(३०) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छाबडा, झूमरीतिलैया
* (३१) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३२) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या, जयपुर
* (३३) ,, बा० दयाराम जी जैन R. S. D. O., सदर मेरठ
* (३४) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
* (३५) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
* (३६) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुडकी
× (३७) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (३८) ,, ला० बनवारीलाल निरजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः— जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावो की स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहो आये, आने हैं। श्रीमती बल्लोबाई जी ध० प० सि० रतनचन्द जी जैन जबलपुरने संरक्षक सदस्यता स्वीकार की है।

# आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज द्वारा विरचित

—:*:—

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक॥

( १ )

मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥

( २ )

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुखज्ञाननिधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

( ३ )

सुख-दुख दाता कोइ न आन, मोहरागरुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

( ४ )

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

( ५ )

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

* ॐ नमः शुद्धेभ्यः *

# अध्यात्मसूत्र प्रवचन उत्तरपूर्वभाग

## पञ्चम अध्याय

—: * :—

विकाराऽनुत्पत्ति सवरः ।।१।। विकारोकी उत्पत्ति न होना सवर है । जीवमे अनादिसे विकार भाव चले आ रहे है, किसी दिन विकार हुए, पहिले विकार नही थे—ये कल्पना की जाये तो ठीक नही, क्योकि इसका अर्थ हुआ पहिले जीव शुद्ध था तो शुद्धमे विकार आ जावे तव मोक्षका यत्न व्यर्थ है, कारण कि मोक्ष पाया, शुद्ध हुये, फिर विकार लग बैठा तो इससे निर्णय करना कि जीवके विकार अनादिसे लग रहा है। प्रश्न— यदि जीवके विकार अनादिसे लग रहा है, तब तो मोक्ष हो ही नही सकेगा, क्योकि वह विकार सहज है, सहज अर्थात् 'सह जायते इति सहज', जो सत्त्वके साथ ही से चला आया वह सहज है। अनादि है । जो विकार अनादिसे है तब विकारका विनाश नही हो सकता। उत्तर— विकारकी परम्परा अनादि है। अतः विशिष्ट विकारकी दृष्टि गौण करके जानो तो विकार अनादिसे है, किन्तु यह तो कही नही वताया, न सिद्ध है कि विकार अहेतुक है। जो अहेतुक हो उसका विनाश नही होता। विकार यद्यपि जीवकी परिणति है, अन्यकी परिणति नही तथापि यह विज्ञान करना कि कर्मका कार्य कर्मकी परिणतिसे जीवका कार्य जीवकी परिणतिसे होता है— यह वार्ता तो अडिग है, लेकिन विकार-परिणतिमे निमित्त अवश्य होता है। यही कारण है कि विकार अनादि होकर के भी स्वभाव नही है।

### आत्मविकार ही महा क्लेश हैं

ये विकार ही महाक्लेश हैं, अन्य कोई आपदा आत्मामे है नही, बाह्य-संयोग वियोग आत्माका कुछ नही। निर्धनता, स्त्री, पुत्र, मित्र व अपमान दु ख नही। अपने गाल बजाकर अज्ञानी खुद ही दु.खी होता है। दूसरोको भला

बुरा कहनेमे भी दूसरेको सुख-दुख नही, किन्तु विकार भाव दु खस्वरूप हैं। हम सोचते हैं हमे दुःख है, दु.ख मेटना है सो अब यह सोचो कि यह विकार है हमे विकार मेटना है।

हम चाहते हैं— सभामे नेतागिरी रहे, हमारी बातें सभी मानें, हमारा लोग आदर सत्कार करें, पर ये सब बाते क्या सुखरूप हो सकती हैं ? आज हमने क्या पाया ? पहिले बडे-बडे राज्यवाले थे। जिमकी तुलनामे आज हमारे पास कुछ भी नहीं। भैया ! कभी समझलो समझना यही होगा, ज्ञान ही कल्याणका मार्ग है, अन्य पदार्थ तो अत्यन्त भिन्न हैं। वह हमारे काम ही क्या आवेगा ? रागादि स्वभावविरुद्ध हैं, उनमे क्या आशा की जावे दु खको दूर करनेकी ? सामर्थ्य ज्ञानमें है, वह स्वभाव है, आनन्दसे निर्भर है, उसका ही सवत्र माहात्म्य है। ज्ञान अन्तरमे है परन्तु ज्ञानकी ओर हामरी दृष्टि नही। जब तक ज्ञानको सर्वस्व अर्पण नही करदें तब तक भवितव्य रसुभव्य नही हो सकता। ज्ञानके समान ससारमे और काई वस्तु सुखका कारण नही हो सकती। वास्तवमे देखो तो आनन्दका कुछ निमित्त है तो वह ज्ञान ही है। यह अहैत मे निमित्त उपादानकी चर्चा है। ज्ञान ही ससारमे जन्म मरणके रोगोसे छुटकारा कर सकता है, इससे अनेक उपायो द्वारा ज्ञान विकसित कर ज्ञानके अनुसार भावना करना चाहिये।

दुनियामे किसीका कोई शत्रु मित्र नही, किन्तु जिसके ऐब (दोष) के अनुसार ऐब मिले, उसे हमने मित्र मान रखा है। खराबीका पोषण जिससे न हो सका वह वैरागी भी जन शत्रु हो गया। मतलब यह है कि खराबीसे खराबी मिलना मित्रता है और खराबी न मिलना शत्रुता है। किसीके प्रति यदि विरोध (द्वेषभाव) हुआ और दूसरा भी पुरुष ऐसा मिल गया जो वैसा ही विरोध करता हो तो लो यह मित्र हो गये, क्योकि विकारसे विकार मिल गया ना, और, उसको अविकारी या अन्य प्रकारसे विकारी या विकारके विरोधी शत्रु हो गये। बाहरी दोस्ती ? ससारके सभी प्राणी चैतन्यभावमय हैं, सभी अपने चतुष्टयमे हैं, सबका उत्पाद व्यय ध्रौव्य, सबमे हमेशा होता रहता है। जब सब कोई अपनी-अपनी परिणतिसे परिणमता तुम्हे कुछ नहीं

देना तो ससारमे अपना कुछ भी समझना दुःखका कारण नही है तो और क्या है ?

### कोई किसीका मित्र नहीं, विकार विकारका मित्र वन जाता

विकारसे किसीका विकार मिल जाये याने सदृश्य समझमे आ जावे तो इससे तुझे प्राप्ति क्या होगी ? यही ना कि फिरो ससारकी भ्रमण मे। इसमे उत्साह मिला विकारीमे तो वह विकारी आपका शत्रु हुआ, जिसे मानते हो भ्रमसे मित्र। इसी तरह विरुद्ध विकार होने या विकार खतम करनेकी बात समझाने पर शत्रु हो जाता है। अमुक मेरा शत्रु है, अमुक मित्र है— यह सब कल्पनामात्र है। आपका मित्र है आपका निर्मल परिणाम। निर्विकारता, निर्मलता मिले, जिससे ससारके बधनोमे सदाके लिये छुटकारा हो जाय ऐसा ही यत्न करो भैया ! इसका उपाय सवर है। सवर कहते है— विकारानुत्पत्ति सवरः, विकार उत्पन्न न होनेको सवर कहते हैं। विकारके रोकनेको या कर्म के रोकनेको या आते हुए कर्मोके न आने देनेको सवर कहते हैं, यह विशद व्याख्या नही है, क्योकि विकार आया तो उसे कौन रोके या कर्म आनेका तो एक समय है, पहले आ गया रुकनेकी बात कहाँ रही ? करणानुयोगका निर्णय है, उदयावलिमे आये हुयेका तो विपाक होता है, उस आवलीकी वर्गणाओंका निक्षेप नही होता, विकारका भी प्राय यही हाल है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि विकार हैं। शक्ति रूपसे याने जो कम आ सकता था, वह नही आवे, ऐसे रोकनेके समयमे जो सहज निर्मल परिणाम है वह सवर है। जैसे कि मनमे कामवासना होनेपर विचार करना है कि शरीर अशुद्ध है, मलोका पिण्ड है, इसमे चित् स्वरूप आत्मा है सो ये विकल्प तो पुण्य है, किन्तु इस समय भी सम्यक्त्वके कारण जो सहज वीत-राग भाव हो वह सवर है। अगर आत्मकल्याणकी रुचि जागी हो तो ऊपरी दिखावा भला नही कर सकता है, ऐसा जान कर अन्तरकी चीज प्राप्त करो।

तव तो भैया ! यह बात अटपटी है, कि कर्मोका आना रुक जाना सवर है, कर्मोका न आना सवर है, इसका यह अर्थ मानना कि कर्म आ सकते थे, अब नही आये, यह सवर है।

सम्यग्दृष्टिजीवके निरंतर संवर है। वह शुभोपयोग करे तो वहा पुण्यकर्म बंधता है, फिर भी साथ संवरभाव चल रहा है। उनका पुण्यके साथ अविरोध है, यह बात तो ठीक है, किन्तु देखो तो भैया सम्यग्दृष्टि कोई चारित्रमोह-विपाकवश इन्द्रियके भोग भी करता है, तो वहा कुछ पाप तो बांधता ही है, लेकिन उस पापके बन्धते हुए भी उसी समय संवर भी चल रहा है, तभी तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके अनन्तर सदा ४१ प्रकृतियोका संवर बताया है। सम्यक्त्वकी कमाईसे बढकर अन्य कमाई नही, ऐसा ही व्यवसाय एक बार कर लेना फिर लाभ ही लाभ सहज होता रहेगा।

अगर आत्मकल्याणकी रुचि जागी हो तो ऊपरी दिखावा भला नही कर सकता है—ऐसा जानकर अन्तरंगकी चीज प्राप्त करो। यह पक्का विश्वास कर लो कि विकार ही दुख है, पिशाच है, शत्रु है। अहो देखो ना जैसे क्रोधीको समझानेसे क्रोधीको बुरा लगता है वैसे ही किसी विकारी या विरोधीको समझाओ तो वह समझानेवालेको शत्रु समझने लगता है।

### विकार शत्रु है उसका काटने वाला ज्ञान है

ज्ञानकी बडी महिमा है। अनादिसे श्रद्धामें विकार आ रहा है, फिर बताओ मिथ्यात्वसे कैसे सम्यक्त्व प्राप्त है। ज्ञान विकृत नही, ज्ञानका कार्य जानना है, ये खोटा है। ये मिथ्या यह स्वरूप ज्ञानका नही, तभी तो ज्ञानके बलपर मिथ्यात्वका बुरा हाल हो जाता है। ज्ञान तो अनादिसे निर्विकार है, ऐन्द्रिय अनीन्द्रियज, का भेद नही, सब प्रकारका ज्ञान आत्मासे पैदा होता है, बन्धन दशा मे इन्द्रियोको निमित्त पाके ज्ञानकी उत्पत्ति होती, ज्ञप्ति परसे नही। जिस आत्मापर विकार है उसके परमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है, सो भैया जो तुम्हे इष्ट प्रतीत होता है उसका कारण क्या है कि तुम्हारा जैसा विकार है उसके अनुरूप दूसरेका विकार है और वह दूसरा जब आपके विकारको बढाने वाली बात कहता है तो तुम्हे बहुत रुचता है, इसका यही भाव है ना कि जो तुम्हारे विकारके महाक्लेशको बढावे वह तुम्हें रुचता है। निमित्तदृष्टिसे देखो तो वह शत्रु हो रहा है। उस विकारीमे या विकारमे आस्था न करो, विकारीके सहवास का उत्साह न लाओ, आप उस समय बडे संकटमे हैं। संकटसे बचाना है तो

किसी अविकारीके पास, उदासीन महापुरुषके पास जाओ। जीवने अनादिसे सवर नही पाया। सवर आये तो श्रावककुल पाना सफल है, नही तो चार दिन की चाँदनी फिर अघेरी रात। किसीने पूछा 'त्वरित किं कर्तव्य ?' शीघ्र क्या कर लेना चाहिये ? धन कमाना चाहिये, यहा ससारमे भोगोपभोगके पदार्थ एकत्रित करना चाहिये यह ? नही, नही। उत्तर दिया है—"विदुषा ससार-सततिच्छेदः" विद्वान् पुरुषको, विवेकी मानवको जल्दीसे जल्दी ससारकी सतति का छेद कर लेना चाहिये। जैसे भयावह नदीमे वरसातमे कोई जा रहा हो तो सोचते जल्दी से जल्दी पार कर लो नहीं तो कोई पूर आजायगा तो फिर पता भी न पडेगा कहा बहेगे।

मोहका वेग बुरा है। धर्म करने वाले लोग भी मोहका पूर आनेपर धर्मसे विमुख हो जाते हैं। बुढापेमें शादी करते हैं, विधर्मी हो जाते हैं, यह सब असावधानीका काम है।

### हम क्षण क्षण मरते जा रहे हैं

मरण हमारा प्रतिसमय हो रहा है। इसे नही जानने वाले बधु या तो ये जानते हैं कि मरते तो दूसरे है या फिर यह जानते है कि हमे तो मरना बहुत दिन वाद है किन्तु मरण कहते किस है ? इस वातपर विचार करो। मरण आयुके क्षयको कहते है। आयुकर्मके निषेक प्रतिसमय क्षयको प्राप्त हो रहे है सो मरण भी प्रतिसमय हो रहा है। मरणके समय समाधि हो तो सद्गति होती है। प्रतिसमयके मरणमे समाधि याने समता रहे तो प्रतिसमय सद्गति ही है। देखो भैया ! समता खोकर किसका बुरा कर रहे ? अपना ही ना। बाह्यकी दृष्टिसे अनिष्ट है, घरका हो वाहरका हो कोई भी हों, यह होता है तो अकुलता का ही ना निमित्त। हमको तो वहा जाना, जहा विकार दूर हो। आप निश्चय करलें, जहाँ विकारकी परिवृद्धि हो, वहा आप अपना अहित समझते रहना। जो विकार को न होनेकी वात समझावे सो तो मित्र है और जो विकारको वढानेकी वात कहे उसे भैया क्या मानना ? शत्रु। नही, नही, वाहर कुछ शत्रु मित्र नही समझना। अपने निर्विकार भावको अपना समझना मित्र और विकार भावको अपना समझना शत्रु। फिर जब तक आपके विकल्प है आपका विकार

दूर करनेका उत्साह कराने वालेपर अनुराग पहुचेगा सो होगया मित्र। विकार बढानेकी बात करने वालेसे उपेक्षा होजायगी सो जगतके देखनेमे शत्रु।

**अपने मित्रको पहचानो**

जीवका धर्म-स्वभाव तो सुन्दर है, किन्तु हमने विकृत कर दिया है। जीवस्वभाव सहजज्ञान दर्शन है। यह जीवज्ञान दर्शनका निरपेक्ष कार्य करता रहे तो विकार नही हो सकता। जानना देखना तो सिद्धोके भी है, किन्तु रागद्वेष न होनेसे बधका अभाव है। यहा भी जितने अशोमे विकारभाव दूर होता चला जाता है उतने ही अशोमे धर्म आत्मामे विकसित होता चला जाता है, उतने ही अशोमे बधका अभाव हो जाता है। आत्मधर्म ही आत्माका सच्चा मित्र है।

विकार भावको दूर हटाकर, अनुपयुक्त करके धर्म के रहस्यको समझना आवश्यक है।

## स मुख्यमुपादेयं तत्त्वम् ॥

विकार का, न आना कर्मका न आना सवर है, यह सर्वतत्त्वोमे प्रधानतत्त्व है, वह मुख्य उपादेय तत्त्व है। जीव, अजीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा मोक्ष ये सात तत्त्व है, जिनकी यथार्थ श्रद्धापर मोक्षमार्ग अवलम्बित है। सवर प्रधान है। जीव एक सामान्य है, जीवका सम्बन्ध साततत्त्वोसे है, अतएव व्यावहारिक रूपमे उपादेयता क्या? सवरपरिणति है सो वह व्यावहारिक रूपमे उपादेय है। आत्माका धर्म चैतन्य है, सदा आत्माके साथ रहता है, उसीसे जीवका अस्तित्व है। सात तत्त्वोसे सम्बन्ध रखता हुआ जीव, द्रव्यके नाते व्यवहारमे उपादेय नही कहा जासकता। आस्रव कर्मागमको कहते है। बध कर्मोंके ग्रहणको कहते है। आस्रव व बन्धको कोई उपादेय नही कह सकता। सवर निर्जरा व मोक्ष उपादेय है। मलिनताका न आना, कर्मोंका नही आना सवर है। निर्जराका अर्थ कर्मोंका झरना है और कर्मो का झरना कुछ समय तक रहता है। सम्यक्त्वोत्पत्तिके बाद चौदहवें गुणस्थानतक कर्मो का झरना होता है, पूर्ण झड जानेपर झडना नही। मोक्षकी भी ऐसी ही बात है। मोक्ष कहते हैं—छूटनेको, छूटनेका व्यपदेश छूटनेके समय ही होना, छूट चुकनेके बाद छूटना कौन कहता है। अत

मोक्ष एक बार होता है, हमेशा नही होता रहता है। एक बार मोक्ष होनेपर जो शुद्धता, निर्विकारता, निरुपाधिता प्रकट हुई है वह अनन्तकाल तक रहेगी। इसी स्वरूपके अनुभवमे अनन्त सुख है। जहाँ सर्व आकुलाये समाप्त हैं, सर्व आकुलतावोकी जड समाप्त है वहाँ जो आत्मीय आह्लाद है वह सुख है। अत मोक्षतत्त्व सदा नही रहा। सवर तत्त्व चौथे गुणस्थानके बाद, सिद्ध अवस्थातक चलता है। शुद्ध होनेके बाद भी, सवर की वजहसे वीतराग परिणाम होनेसे कर्मबन्ध नही होता। सिद्धोके अनन्तकाल तक शुद्धोपयोग रहता है, शुद्धोपयोग सवरका मूल है अन्यथा सिद्धोका पुनरागमन होने लगता, फिर उन्हे ससारमे रुकना पड़ता, मुक्तोके सवर न मानने से यह हानि होती है। अतएव सवर सर्वतत्त्वोमे प्रधान है और वह मुक्तिमे भी रहता है। कुछ मनचले लोग कह बैठते हैं कि मोक्ष होनेके बाद ससारमे आना पडता है, किन्तु यह बात ठीक नही, क्योकि जितने स्वभावविरुद्ध कार्य होते है, वे सब निमित्त पाकर होते है। मुक्त होनेके बाद निमित्त कुछ रहा नही। सवर भाव पुन आनेका कारण नही, क्योकि निमित्तभूत कर्मका निमित्त रागद्वेषादि कषायपरिणाम भी तो नही रहा। साइस इसको मान ही नही सकता, अनुभव इसको मानही नही सकता कि भगवान् पुन ससारमे आवें। शुद्धात्माकी उपलब्धि उनके सदा बनी रहती है, बिना निमित्तके होने वाला परिणाम एकसा बना रहता है।

### स्वभाव व स्वभाव परिणमन विषम नही होते

कर्मक्षयके बाद सिद्ध जितने हुये, वे तीर्थंकर, श्रुतकेवली गणधर आदि पहिले कोई भी हो उनकी परिणति सदा एकसी रहती रहेगी। सभी भगवानो की परिणति एकसी रहती है। विरुद्धताका कारण रागद्वेष है, वह वहा नही। केवलज्ञानके अनेक स्थान नही होते जैसे कि मतिश्रुत अवधि ज्ञानके स्थान होने है, केवलज्ञान सबका एकसा रहता है। केवल ज्ञानमे अविभागप्रतिच्छेद तो अनन्तानन्त है, किन्तु केवल ज्ञानियोमे मतिश्रुतज्ञानी आदिकी तरह स्थान नही होते कि किसी केवलीका ज्ञान इतना है, उससे अधिक दूसरेका है, उससे अधिक अन्यका है। इसका कारण यही है कि केवलज्ञान निरुपाधि, स्वभावभाव है, वह सबका एकवत् है।

संवर तत्त्वकी प्राप्तिके बिना हम और आप संसारमे भ्रमण कर रहे हैं, शरीरोको धारण करते और दुःखी होते हैं, यदि आपकी इच्छा है कि शरीर न मिले तो शरीरसे ममत्व छोड दें ममत्वभाव रखें और शरीर छूट जाय यह कभी नही हो सकता। यथार्थ विरक्त होनेसे, छह द्रव्य और वस्तुका स्वरूप जाननेसे ममत्व छूटनेकी बात बन सकती है। दुनियामे अनंतपदार्थ हैं, किन किनसे प्रेम किया जावे ? अनन्तानन्त जीव हैं, उनसे भी अनंतानन्तगुणे पुद्गल हैं। धर्म, अधर्म, आकाश एक है और असख्यात कालाणु हैं। ये सब इसी कारण इतने हैं कि इन सबका चतुष्टय अपना अपना ही है, सब अपने अपने चतुष्टयसे परिणमते हैं, किसी भी द्रव्यका किसी द्रव्यसे सम्बन्ध नही है, परस्पर मे सबका अत्यन्ताभाव है। भला फिर बताओ परको अपना मानना बेईमानी नही तो और क्या है? भ्रमवश ये अनेक कल्पनाये ही हैं, इसमे कारण क्या है ? वस्तुस्वरूपका अपरिज्ञान। सत्का कभी विभाग नही हो सकता। पदार्थ वह है जो अविभागी अखण्ड अपने अपनेमे व्यापक हो, याने जिसका कोई हिस्सा न हो सके वह पदार्थ है, पदार्थ सत् है, आप और हम एक नही सबकी परिणति जुदी जुदी चलती है, अनन्तानन्त पदार्थ अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे चलते रहते हैं। सब अपने अपनेमे परिणमन करते हैं। वस्तुस्वरूपका साईसकी दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये। इसको छोड कर बाबावाक्य यानी अन्धविश्वास करना ठीक नही। बिना अनुभवके सच्ची बात भी उसके लिये भूठ हो सकती है। अन्तरगमे परीक्षणसे जो बात उतर गई वही सत्य है, यों तो अनेकों बातें हैं।

कोई कल्पना करते हैं, ईश्वर ससारमे एक था, उसने ही मूलत सब बनाया। कोई कहते हैं कि ईश्वरने पृथ्वी आदिके द्वारा ससारकी सृष्टि की। कोई कहते हैं ससारमे पहिले जो बन्दर थे उनको पूंछ रगडते रगडते, घिस जानेमे आदमी होगये, मानवकी पीठमे रीढ पाई जाती है जो पूंछका निशान है, ऐसी अनेको बातें चलती रहती है। अहा खेद है बडे बडे आविष्कार, बडे बडे मृगयिता-वैज्ञानिक इस सरल सुगम स्याद्वादके मर्मसे अपरिचित होनेके कारण वस्तुस्थितिसे विपरीत स्वरूपकी कल्पनाओमे अपना समय और श्रम बिता रहे है। स्याद्वाद परमागम जयवन्त होओ, आपका सर्वत्र परिचय होओ।

जैनो ! कुछ दया तो करो, अपने पर। उनतक स्वरूपशासनकी वास न पहुचे ऐसी अनुदारता मत लाओ।

अब भी जानो—पदार्थ कैसे परिणमता है, वह कैसे बना ? कोई चीज न हो और कोई रूपक बनजाय, ऐसा हो नही सकता। हा भ्रमसे मान्यतामे बन सकता है जैसे सीपमे चादीका भ्रम है, फिर भी देखो भ्रममे भी कोई सार पदार्थ चाहिये। परम्परा क्या बतलाती है, कि संसारमे जितने पदार्थ हैं वे सब अनादि सिद्ध वस्तुये हैं, जीव भी अनादिसे चला आरहा है, मलिनता भी परम्परा अनादिसे चली आ रही है, किन्तु शोककी बात नही, संवरके द्वारा सब कष्ट दूर किया जा सकता है। भैया ! जितना बाह्यद्रव्यकी प्राप्तिमे कार्य करते उतना प्रयास यदि अपने आपको जाननेमे किया जाय तो अनत कालतक ससारमे भ्रमण न करना पडे, ऐसा मार्ग पा लिया जाय।

## आत्मोद्धार आत्मज्ञानसे ही होगा

वायुयान रेडियो शब्दोको पकडना आदि कितने ही आविष्कार किये जाय, र अपनेको जाने बिना सब बेकार है। पहिले लोग कहते थे कि वृक्षोंमे जान ही है। अब विज्ञानद्वारा सिद्ध हो गया कि वनस्पति जीव है, अजीव नही। ज्ञानने यह भी बतला दिया कि शब्द पुद्गलका गुण है, शब्द आकाशका गुण है यह मानना ठीक नही, क्योकि शब्द पौद्गलिक है, वह आकाशका गुण नही, अमूर्तिक पकडा नही जा सकता, रेडियो शब्दको पकडने लगा है, शब्द पौद्गलिक है, गध भी पौद्गलिक है। अब तो रेडियोमे वक्ताका फोटो भी दीखेगा, यह सब जैनधर्म कहता है, ऐसा हो सकता है। रूप गध शब्द इनके ऐसी बात होती है कि अपने पासके परमाणुओको निज के अनुरूप परिणमा लेते हैं, यदि ऐसा नही होता तो उच्चरितशब्द एक व्यक्तिके कानमे सुना जाना चाहिये, सबके सुननेमे क्यो आता ? जो शब्द बोला ये ही शब्द कानोमे पहुँच रहा क्या ? नही, वह एक दिशामे जावेगा, पीछे बैठे हुओके पल्ले क्या पडेगा ? एक बार उच्चरित शब्द अनेक व्यक्ति एक बार ही सुन लिया करते है इसका कारण है कि। उस शब्दका निमित्त पाकर आसपासकी अन्य भाषावर्गणायें शब्दरूप बनती जाती हैं।

रूपकी भी किसी स्थितिमे ऐसी ही हालत हो जाती है। वह आगेके स्कधोके

रूपमे परिणमनका निमित्त बन जाता है। इस तरह रूपवति भी पकडी जाकर अन्यत्र दिखाई जा सकती है। अच्छा और देखो कभी कभी तो यह रूपभी किसी चीजसे टकरा कर दूर पहुच जाता है। जैसे गेंद जितनी दूरसे फेंकी उस अनुरूप उतनी दूर जायगी, वंसे दर्पणमे कोई वस्तु पाच हाथ दूरसे देखनेमे १० हाथ दूर है ऐसा है, मालूम पडता है। दर्पणमे वह शक्ति है जिससे वह प्रतिविम्व लौट जाता है, अपनेमे स्थान नही देता पीछेकी ओर धकेलता है, दर्पणमे हमारा प्रतिविम्व सदा ही एकसा वना रहता है, यह हमारा भ्रम है। रूप गया और लौटा, यह प्रतिक्षण होना, सो सदा प्रतिविम्व दिखाई देता है। जिस पदार्थका जो रूप है, वह वाहर नही जाता किन्तु अन्य अन्य स्कधरूप परिणम जाता है। यहाँ शका हो सकती है कि रूप दिखता तो नही। आगे हम आपसे पूछते हैं कि कोई स्कध दोखता है आगे ? नही, और है अवश्य। रूप भी इसी प्रकार नही दिखता। सच पूछो तो रूप तो कही भी किसीको नहीं दिखता। पदार्थ ही रूप मुखेन ज्ञात होता है। यह सब मतिज्ञान पदार्थविषयक होता है। पूज्यपाद उमास्वामीने भी कहा है—"अर्थस्य"। अब थोडा निमित्त नैमित्तिककी दृष्टिसे देखो—निमित्त हटनेमे नैमित्तिक बनता-कुम्हार घडा बनाता है हाथ चलाता है, हाथका आक्रमण मिट्टीपर हुआ मिट्टीसे हाथ हटा तभी घडा बनता है। हवा जोरसे चलती है तो नदीकी रेतमे तरग बन जाती, वायु चली, रेत ने आक्रमण किया, तव रेतने वायुका मुकावला किया, वायु हटी, इससे रेत की तरगें बन जाती।

कर्मके मिले रहनेपर राग द्वेष नही होता, जितने कर्म हैं, उससे अनन्तगुणे आजाओ हम सबको जगह देंगे पर जाना नही। हे कर्म इतनी वात मान लेना। कर्मके जानेमे दु ख होता है, कर्मका आत्मासे खिरना यह दु.खका निमित्त है, यही उदय है। निमित्तभूत कर्म हटाना और न रहनेमे अन्तर है। हटनेमे उदय, उदीरणा व निर्जरा है। वीतराग परिणाम रहनेपर जो कर्मोंका न जाना न रहना है, वह तो उत्तम है, हितका हेतु है, सवर यही है। वह सवर एक उपादेय मुख्यतत्त्व है, जो आत्मा के शुद्ध स्वरूपके अवलम्वनसे होता है। सवर तत्त्व नही है। जहा संवर उपादेय है, यह भी विकल्प नही। विकल्प सवर नहीं है।

## निजस्वभावके अवलम्बनमे सवर होता है

शुद्धस्वरूप चैतन्यभाव जो निरन्तर प्रवृत्त हो रहा है उसके अवलम्बनसे सवर होता है। भगवान प्रभु हममे मौजूद है जिसके सहारे कल्याण होगा। वह हममे हैं परन्तु मोही उसे देखता नही। लोकमे विशेषका महत्व है, आदर है, परन्तु कल्याणके लिए सामान्यका महत्व है। सामान्यदृष्टि होनेपर आत्माकी निर्मल परिणति होने लगती है। सामान्यकी दृष्टिरूप अवस्थामें विकल्प हटेंगे। विशेषकी उन्मुखतामे विकल्प वढेंगे, अनुभव करलो। अभी देखो—इतने सब मनुष्य बैठे हैं, इनमे विशेषका आश्रयलो, इस विविधतासे देखो कि ये त्यागी है, ये पडित है, धनी है, ये अमुक हैं आदि आदि तो नाना विकल्प उठेंगे। यदि सबको एक सामान्य मनुष्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो इस अविशेष दृष्टिसे देखने में उन विकल्पोका अवकाश रहेगा क्या ? नही। आत्माको सच्चिदानन्द चाहिये यही कामना रहे।

मजहब, कुल, जातिका रिस्ता अपने साथ न लगाये। इस आधारसे आगे वढे कि नाना विकल्पो ने सताया। अपनेमे दिखावा बतानेकी जरूरत नही, आत्म कल्याणके लिये हमारा सम्बध इतना है कि वर्तमान परिणमनको भी देखो ये जाने वाला है, जाने वालेमे क्या राग करना, यह रहता नहीं, हमारा नही। इससे भिन्न स्वरूप चिन्मात्र आत्मस्वभावमे 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति कर विश्राम लेना। आत्माका धर्म आत्मामे मिलेगा इसके लिये विज्ञानका अवलम्बन करे, ज्ञानके वढानेके लिये दूसरेके सहारेको न खोजो। ज्ञानके द्वारा अपने पथका स्वय निर्णय करो। मैं आत्मा हूँ, मुझे तो अपना अनन्त आनन्द चाहिये, ऐसा सकल्प कर जुट जावो ज्ञानके सदुपयोगमें। पदार्थ अपने आपमे जिसको धारण करता है वह धर्म है। जो पदार्थके साथ अनादिसे अनन्तकाल तक रहे व एक रूप रहे वह धर्म अर्थात् स्वभाव हैं। क्रोधादि किसी निमित्तको पाकर होते हैं, ये हमारे फुटकर ज्ञान मतिज्ञान आदि भी निमित्त पाकर उत्पन्न होते है, किन्तु मौलिक ज्ञान किसीको निमित्त पाकर नही होता, वह सहज ज्ञान हमारा स्वभाव है। निर्विकल्पता समताभावसे वनती है। चैतन्य आत्माका

स्वभाव है उसे जाननेपर क्या हालत बनेगी ? अपना उपयोग चैतन्यपर ले जायेंगे तो ज्ञाता दृष्टिकी स्थिति बनेगी। निश्चयसे धर्म चैतन्य है। व्यवहारसे चैतन्य कर शुद्ध विकास धर्म है। भक्ति, पूजा उपचार धर्म है, इससे ये दृष्टि नही लाना कि इन उपायोसे अभी हट जायें। हा हट कर निर्विकल्पक समाधिमे पहुचना हो तो अच्छा है, नही तो शुभोपयोगमे वर्तकर दृष्टि विशुद्ध बनाये रहना यही काम कर लो। सवर मुख्य उपादेय तत्त्व है, छहढालामे लिखा है, "शम दमतें जो कर्म न आवें सो सवर आदरिये" कषायोके शमन और इन्द्रियो के दमन करनेसे आत्मामे कर्मोका आना रुक जाना सवर कहलाता है। कषायों के शमनसे जो कर्म नही आते वह मुख्य सवर है। इन्द्रियोके दमनकी प्रवृत्ति पुण्यभाव है, तथापि सहज स्वभावके विकाशका कारण है सो इस कारण उपचार सवर हैं। इसी हेतु पहिले शम शब्द आया पश्चात् दम हैं। सवर तत्त्व मुख्य और उपादेय क्यो है ?

## मोक्षमूलत्वान्मोक्षेऽपि वर्तमानत्वाच्च ॥३॥

यह सवर तत्त्व मोक्षका मूल कारण है। जबतक सवर नहीं होता मोक्ष मार्ग ही नही कहलाता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव गुणस्थानमे बढे तो सबसे पहिले चौथा गुणस्थान होता है। उसके या अणुव्रत सहित सम्यक्त्व हो तो पांचवा गुणस्थान होता है। यदि महाव्रतसहित सम्यक्त्व हो तो सातवा गुणस्थान होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग सवरसे शुरू होता है। फिर दूसरे तीसरे गुणस्थानमे भी सवर होता वह भी पहिले सम्यक्त्व हो चुका था इस लिये है। यह सवर मोक्षमे भी रहता इससे सवर मुख्य तत्त्व है। कषायोका आत्यन्तिक शमन अनन्तकाल तक होता रहता है। अगर सिद्धोमे भी सवरतत्व न रहे तो उन्हे नीचे आना पडे यह सवर ऐसा मित्र है कि सदा साथमे रहता है मोक्षका मूल है।

मिथ्यादृष्टिकी निर्जरा सविपाकमे शामिल है, उससे मोक्षमार्ग नही चल सकता। मिथ्यादृष्टि बडा तप व्रत भी करे तो भी नवमे ग्रैवेयकसे ऊपर नही जा सकता। इस जीवने अनन्त बार अहमिन्द्र पद पाया परन्तु सम्यक्ज्ञान एक ही बार भी नही पाया। एक मुनि जिसे आत्मस्वरूप का परिचय न हो वह मोक्ष

मार्गमे नही है, और एक ग्रहस्थ ग्रहस्थीमें रहता हुआ भी यदि आत्मस्वरूपको जान ले तो भी मोक्षमार्गमे स्थित है।

पचमकालमे अच्छा सहनन नही है, इससे उत्कृष्ट तपस्याये, उत्कृष्ट अनशन, वगैरह नही हो सकता, यह बात सोची जा सकती है। परन्तु श्रद्धान और ज्ञानमे कौनसी कमी या बाधाका कारण है। श्रद्धानमे शरीरको क्या बाधा है? श्रद्धान तो रोगी, कमजोर भी बना सकता है। श्रद्धा बनाना और चलना अलग बात है। इसका यह अर्थ न समझना कि श्रद्धानी कुछ भी चारित्रमे नही चलता, चलाता है। मोक्षमार्ग श्रद्धान पर अवलम्बित है, मोक्षमाग आज भी बन्द नही है, चारित्र नही सही। समझनेमे तो कोई कठिनता नही, सवरका प्रादुर्भाव हुआ वही मोक्षमार्गका मूल कारण है।

सम्यग्ज्ञान हो जाय और अन्तरगमे आकुलता रहे यह बात हो नही सकती, किन्तु सम्यग्ज्ञान हो जाने पर आकुलता मिट जाती है। जैसे रस्सीमे सापका भ्रम होजाय तो दौडने भागने लगे, और साहस करके उसको ध्यानसे देखे और रस्सीका ज्ञान होजाय और सारा भय दूर होजाय इसमे कौनसे सहारेकी जरूरत किसीकी भी नही। श्रद्धानमे ऐसा बल है कि जिससे आकुलता मिट जाती है।

मोक्ष पूर्ण शुद्धोपयोगकी अवस्था है। शुद्धोपयोगीके कर्मका आस्रव नही हो सकता है। मुक्त जीवके कभी भी अनन्त कालमे आस्रव होगा ही नही, अत सवर तत्त्व ही रहेगा। शुद्धोपयोग स्वय सवरस्वरूप है व आत्मस्वभाव अविकार है और व्यक्त स्वभावपरिणमन निर्विकार है। विकार होता है अशुद्ध उपयोगके रहनेपर। सिद्ध जीवोमे अशुद्धोपयोग होनेकी सभावना ही नही है, अत. उनके सदैव सवर वर्तमान रहता है। यह सवर तत्त्व जीवका शरण है, त्राता है, मित्र है, पिता है, सर्वोत्कृष्ट वैभव है। जीवका उद्धार सवर बिना असभव है।

यह सवरतत्त्व कैसे प्रगट होगा?

**तन्मूलं स्वभावविभावयोर्भेदविज्ञानम् ॥४॥**

सवर तत्त्वका मूल कारण स्वभाव और विभावमे भेदविज्ञान हो जाना है।

जो स्वका ही भाव है अर्थात् जो किसी उपाधिके ससर्ग बिना है और स्वमें ही त्रिकाल तन्मय है वह तो स्वभाव है और जो विविधभाव है अर्थात् जिनके बाद अन्य प्रकारके भाव होते हैं और फिर होते हैं और अन्य अन्य प्रकारके होते है।

## मोक्षमार्गका आदिमूल सम्यग्दर्शन है

विरक्ततामें भी चारित्र जाय पर श्रद्धान न जाय श्रद्धानमूल मोक्षमार्ग है। वस्तु शक्तिमान है, एक वस्तुका दूसरी वस्तुमे अत्यन्ताभाव है। दुनियाके सभी जीव चाहते हैं, आकुलता खतम होजाय परन्तु उनका रास्ता विषयकषाय नहीं, उनका रास्ता यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान है। बाह्यपदार्थोंके व्ययसे आकुलता समाप्त नही हो सकती। भेदविज्ञानसे मजर तत्त्वकी प्राप्ति होती है। वस्तुकी परीक्षासे प्रमाणमें नयोका श्रद्धा ज्ञान करके भेदविज्ञान बनावे जिससे स्वकी उन्मुखता हो जाय, इन उपायसे जो अनुभवे उसके श्रद्धानमे सब काम बन जायगा। श्रद्धान पक्का होने पर किसी बातका भय नहीं. सभी कमीकी पूर्ति कभी हो ही जायगी। श्रद्धान बलवान होने पर कुपथतो नही हो सकता। आनन्दका मूल यथार्थ श्रद्धा है। भ्रमसे हुआ क्लेश यथार्थ श्रद्धासे ही दूर हो सकता है।

सभामे आकर कोइ कहे कि १० वर्षका बच्चा मोटरसे दबकर मर गया, अब जिन जिनका १० वर्षका बच्चा होगा सभी दुःखी हो जायगे, और फिर कोई कहदे कि अमुकका बच्चा मर गया तो उसको छोडकर सभी खुश हो जायेंगे। क्या हुआ, कोई विषय भोजन नही फिर सुखी क्यो ? उनका श्रद्धा होगई कि मेरा नही है। जिसको ममत्व है उसको छोडकर सभी खुश हो जावेगा। जहा मेरापन ममत्व परिणाम है, वही दुःख है। यदि कोई समस्त विश्वके प्रति कुछ भी मेरा नही है श्रद्धा कर ले तो कितना आनन्द हो। इससे ममत्व भाव हटाना चाहिये।

जो बाह्य धर्मके मामलेमे बढते और पाप अन्याय करते हैं समझो श्रद्धा नही हुई। यदि आत्मस्वभावका संस्पर्श करके अपनेको अपना श्रद्धान होगा तो पापमे अन्तर आजायगा। श्रद्धान, ज्ञानमे बल चलना चाहिये, श्रद्धान ठीक हो तो मोक्षमार्ग चल गया। जगत्के सम्पूण पदार्थ जो देखनेमे आते हैं वे सब न्यारे हैं, उनका स्वरूप उनमे है, मेरा स्वरूप मुझमे है। अचेतनके स्वरूपके आधारभूत

अर्थमें अच्छे बुरेका ज्ञान नही ।

### मै ज्ञानस्वभाव हूँ, परभाव मेरे नहीं है

हमारा पुत्र मित्र स्त्री वगैरह जिनके पानेमे लोभ, मोह हो रहा है, जो कुछ है यही सब मेरे है, ऐसी ध्वनि समाई रहती, वे पुत्र मित्र स्त्री आदि भी अत्यन्ताभाव वाले हैं। वे हमारा कुछ नही करते, अपना ही परिणमन करते रहते हैं। अच्छा ! वे आत्मासे मोह करते या शरीरसे मोह करते, अगर शरीर से मोह करते तो मरनेपर उसे क्यो जला देते ? आत्माको जानें तो मोह कर ही नही सकते, न जाने तो उससे मोह क्या ? अव्वल तो लोग पुत्र स्त्री वगैरह के रहस्यको नही समझते क्योंकि शरीर आत्मासे न्यारा है, मरनेपर शरीर पडा रहता है, आत्मा चली जाती है। लोग शरीर जलाकर खाक कर देते हैं, उसे घरमे नही ठहरने देते तो जिस शरीरको राख बनाना है, उसका हम क्या करे वह पुत्र मित्र नही। जो आत्मा है वह समान है वह पुत्र मित्र कैसे ? बात यह है कि जीवकी असमानजातीयद्रव्यपर्यायसे लोग नातेकी कल्पना करते है। वे मेरे नही है।

सूक्ष्मशरीर जिसे तैजस कार्माण कहा है वह सूक्ष्मशरीर भी मेरा नही है। वह अचेतन है, मैं चैतन्य हूँ। लोगोको कर्मका बडा पक्ष रहता है। कहते हैं कि पुण्यकर्म करो। हमारा पुण्यकर्म मित्र है, परन्तु कर्म सभी उपाधि है आत्मामे उनका अत्यन्ताभाव है। वे अचेतन हैं, आत्मा चैतन्य मात्र है। कर्मके उदयको निमित्त पाकर होने वाले रागादिक भाव भी शुभ अथवा अशुभ हो, कोई मेरा नही है। यद्यपि रागादिक आत्माकी अध्रुव परिणति है तथापि आत्माको ही निमित्त बनाकर न होने वाला रागादिकभाव मेरा नही। रागादिकका स्वरूप न्यारा है, मेरे चैतन्यका स्वरूप न्यारा है। चेतन के दो भेद है—ज्ञान, दर्शन। दोनो बुरे नही होते। जिसमे चैतन्य है, उसमे कर्मको निमित्त पाकर रागादिक आते हैं तो आओ, इससे कही आत्मस्वरूप नही बदल जायगा। वे जाते फिर दूसरा तीसरा राग बुलाते, इससे बुराई है, यदि वे जावें तो अच्छा ही है। राग मोह प्रेम जानेको आता, रहनेको नही। किन्तु, होता क्या है ? एक गया दूसरा आया। सम्यग्ज्ञानीके रागमे, विषयमे, कषायमे राग नही "विरागस्योप-

भोगो निर्जराय एव" विरागीका उपभोग निर्जराका ही कारण है, यह उपभोग की कला नही समझना, किन्तु उपभोग होना और उसमे राग नहीं बधना इसकी कला है, रागादिकसे अपनेको न्यारा किया। उपयोगमे उपयोग है ज्ञान मे राग नही, राग हो रहा है तो भी उसमे राग व कर्तव्य नही।

रागादिभाव आत्माके सहज तत्त्व नहीं हैं

निमित्तदृष्टिसे, देखो, आत्मामे रागादिक हुये हैं वे सहज नही हुये हैं, किन्तु कर्मोदयको निमित्त पाकर हुये हैं। तब यही अर्थ हुआ कि आत्माका, स्वयं क्या वश चले उसे करनेमे। यहा दृष्टिको भली भाति सहालना निमित्त दृष्टिकी चर्चा है। जैसे सिनेमाका पर्दा सफेद लगा है' उसपर फिल्मके प्रतिविम्ब होते हैं, वहा पर्देका स्वयका क्या वश चले। फिल्म रीलका समक्ष उदय है तब वहा प्रतिविम्ब होना पडता है। इस तरह आत्माका लक्षण, ज्ञानदर्शन है, वह स्वयं क्या वश चलाये कि राग आदि हो, अन्वय व्यतिरेक भी रागादिका कर्मोदयसे देखा जाता है, कर्मोदय होनेपर ही रागादिक होते व कर्मोदयके अभावमे रागादिक नही होते, इन स्थितियोकी दृष्टिसे कहना चाहिये कि रागादिकका कर्त्ता आत्मा नही। निमित्ताधीन रागादिक है देखो निमित्तदृष्टिभी योग पद्धति से बनाना आपको आत्माका अकर्तृत्व समझमे आजायगा।

दर्पणमे जैसे कोई चीजका प्रतिविम्ब हुआ, उस मे किताब हिलानेसे प्रति-विम्ब गया आया, दूसरे समयमे दूसरा प्रतिविम्ब आया, समक्षकी किताब भी दूसरे समय अपने उत्पादसे परिणमी। कहनेका मतलब है, इसी तरह कर्म उदयको निमित्त पाकर राग भी आया है और वह राग जानेको आया करता है। कोई तुमसे कहे कि दो मिन्ट वैसा ही क्रोध करो तो, नही कर सकते। इसका कारण क्या है ? यही कि वह सहज भाव नही है, निमित्त नैमित्तिक भाव है। निमित्तका उदय आता है, दूसरे क्षण वह नही रहता राग तो नवीन आता है सो मोक्षमार्गमें बाधा आती, उसे दूर करनेका आगममें उपाय है, द्रव्य प्रतिक्रमण द्रव्य प्रत्याख्यान द्रव्य आलोचना। इनके करनेका उद्देश्य ही यही है कि भाव प्रतिक्रमण, भावप्रत्याख्यान व भाव आलोचनामें बाधा न रहे।

अपनेको चित्स्वरूप मात्र हू" भावना करो तो इसके अनुरूप पर्याय बनेगी।

मैं ऐसी ही करतूत वाला हूँ इस प्रतीतिसे मलिन पर्याय बनेगी ; स्वभाव पर्याय, आनन्दमय है। विभाव दुःख पूर्ण है।

### जैसी भावना करो वैसा फल मिल जायगा

अच्छा लो हमारे ऋषियोने एक नुक्शा बताया है— आपको क्या चाहिये स्वभावभाव या विभावभाव ? स्वभावभाव चाहिये तो उसका नुक्शा स्वभावमे उन्मुख होना है और विभावभाव चाहिये तो उसका नुक्शा विभावके उन्मुख होना है। आत्माको घबडाहट नही होना चाहिये कि मेरा उद्धार नहीं हो सकता। यह आत्मा स्वयं कल्पवृक्ष है। जैसे भावनामे बनो हो जाओ। एक आदमी मार्गमे जा रहा था। ताप, प्यास व भूखसे पीडित होकर एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वह कल्पवृक्ष था, उससे जो मांगते थे, वही मिलता था। गर्मी दूर करनेके लिये कहा— हवा होती तो ठीक था, हवा मिल गई। फिर पानी मांगा और आरामको पलंग मांगा तो सभी चीजें मिल गई। फिर सोचा स्त्री होती तो बडा आनन्द होता, स्त्री आ गई तो सोचने लगा, यह स्त्री है या भूत, तो भूत बन गया फिर सोचा मुझको खा तो नही लेगी, सो खा लिया। इसी प्रकार आत्मा अपनेको जिस रूप मानता बनता चला जाता है। यदि यह अपनेको शुद्ध चैतन्यस्वरूप माने तो शुद्ध बन जाता है। यदि जिस अशुद्ध परिणमनमे है उस रूप माने तो अशुद्ध बन जाता है। ये रागादिक आते हैं, क्या है ? कल्पना है। राग कर्मका तो है नही और जीवका भी नही और आता है जीवमे। कहनेका मतलब रागादि आते ही चला जाता है सो प्रतिभास रूपमे आता। कर्म पुद्गलमे कर्मत्व आता, राग नही आता। दूसरे क्षण नही रहता। राग प्रति समय पैदा होता है, जो परिणमन होता वह नया होता है, आपने अनेक पाप किये, अब उन पापोमे से एक भी मौजूद नही। वर्तमानमे जो पाप हो रहा है वह मौजूद है। एक कालमें पाप एक है अनेक नही, पापो के होनेमें जो कर्म बन्ध हुआ वे सत्तामे जरूर है, सो जब उनका विपाककाल आवेगा, तब उसका फल जरूर भोगना पडता है। वह भी उस कर्मका फल नही है, किन्तु उस कर्मोदयको निमित्त पाकर आत्माकी नई स्थिति है। राग आत्माका विभाव परिणाम है यानी पाप हैं। निरन्तर सोच करनेसे काम नहीं

चलेगा। शोच क्या करते हो ? पूर्वके परिणाम चले गये, नये पैदा हुये। अब कर्तव्य शोकका नही कि हाय रे हाय ! अनन्तकाल मैंने मिथ्यात्वमे विता दिया। अब तो यह करना है— पर्यायसे पृथक् याने वर्तमान परिणामसे आत्मा तत्व अलग करना है, कर्मोदयके निमित्तसे होने वाले भावसे पृथक् निज स्वभावको जानना है। इसी कर्तव्यपे पूर्व कर्म बेकार होगें, आगामी कर्म न होंगे। वर्तमानका विगाड भी मिट जो जावेगा, ये ही तो प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना है।

### उपायसे निश्चयके अभिमुख होना चाहिये

यह अध्यात्म योग जव नही होता तव विहित अपराधका खेद रहता है; जिस शल्यमे यह जीव निर्विकल्प ध्यान नही कर पाता। उस शल्यके निवारणार्थ व्यवहार प्रायश्चित लेकर निश्चय प्रायश्चितसे अध्यात्मयोगके अभिमुख होना चाहिए। भैया ! आप प्रभु हैं, जो भावना बनाओगे, चाहे वह अच्छी हो या बुरी उसका फल अवश्य ही मिलता है। जैसे एक तरफ खडका टुकडा रखा है, एक तरफ मिठाई का। किसीने कहा जो तुम्हे स्वादिष्ट लगे उसे लेलो। उसने खडका टुकडा ले लिया। इसमे कारण विवेक का अभाव है।

पुत्र, स्त्रीके कारण ससार बढ रहा है, यह बात नही है, किन्तु ध्यानसे ससार बढ रहा है ध्यानसे ही सुख दुःख मिलते हैं। बुराई होनेसे क्लेश हो रहा है, सो यहाँ क्लेश उससे नही किन्तु आपके ध्यानसे हो रहा है। कामका ध्यान जमनेसे विवाह करते, शादी की चिन्ता करते, फिर बाल-बच्चोकी चिन्ता होती है। भैया ! एक सज्जन मेरे पास बैठे थे। वे बोले—मेरा लडका बडा ही उल्टा है। मैंने कहा— पहिले सुख लिया चलो सुख पाया, वर्तमान दुःखको भूल जाओ। कल बढिया भोजन किया था उसका ख्याल करके आजकी भूखमे आनन्द लेलो, किन्तु ऐसा नहीं हो पाता।

भेदविज्ञानीने रागादिकको जाना है। मिथ्या दृष्टिने माना है हमने बडा काम किया, सस्था चलाई आदि। भैया ! पढना बोलना आदिक जानते हैं, ये सब विज्ञानवाजी है। जो जिसमें प्रवीण है उसको उसीका ध्यान रहता है और मोहमे उसीका मद करता है। एककी नम्रताको विषय करके दूसरेमे भी नम्रता

होती है, सहज नम्रता तो मार्दवका अंश है। अधिक नम्रता बनानेका कारण मद है। यथार्थ मार्दवका मूल्य सम्यक्त्व है। इसमे सम्यक्त्व है इससे बड़ा माना जाता है। लोग जान जाये कि यह तो विषयलोलुपी, परासक्त है, उसका लोक मे भी मान नही रहता।

विज्ञानवाजीका भी मद हुआ करता है, क्यो मद होता है ? परिणममें पर्यायें आई चली गई, चली जाने वाली चीजमे ममता नही होनी चाहिये। मेरा वर्तमान परिणाम आता यह भी रहनेका नही। ममत्वमे कहाँ भूले हो, वह रहनेकी चीज नही। बाह्य परिग्रहसे न्यारा अपने आत्मस्वरूपको जानो, उसीमे विजय है, आत्माका कल्याण है। बहिरङ्ग जो मेरा मान है वह भी मिटने वाला है। बाह्य दिखानेमे आत्माको बरवाद कर रखा है।

## विजयका मूल तो श्रद्धा है

सम्यग्दृष्टि जीवके स्वानुभवरूप उपयोगन भी टिके तो भी संवर हो रहा मोक्षमार्ग चल रहा। आत्मस्वरूप स्थिरताको प्राप्त कर अगले भवोमे मुक्ति प्राप्त कर सकता है वह, वह घरमें रहता हुआ भोग उपभोग सब कुछ कर रहा है किन्तु आसक्त नही है, जलमे कमलकी तरह भिन्न है। समृद्धिके पुण्य व धम साथमे रहते हैं, सम्यग्दृष्टिके पाप करते हुए भी धर्म भाव रहता है तब पुण्य धर्मका एक साथ होना विरुद्ध क्या किन्तु यह समझना कि निर्जरा पुण्य या पाप परिणमनसे नही होती किन्तु धर्म भावसे ही निर्जरा हो रही। भोगमे धर्म से निर्जरा मानी गई, उसका अर्थ भोगसे निर्जरा न समझना किन्तु वहाँ भी सहज वैराग्यसे ही निर्जरा है। क्रोध आया और आने पर ऐसा सोचा जा सकता है कि ये भी चला जायगा। चले जाने वालेमे राग क्या किया जावे ? आत्माके दर्शनकी कमाई हो लेवे। गृहस्थको चैन हो जब ाय ज्यादा और खर्च कम है। इसका सबंध संवरसे नही, किन्तु गृहस्थमें आवश्यकता है गृहस्थनीति की। एक व्यक्ति ।) मे गुजर कर सकता है वैसी नौबत खुद पर आ जाय जैमी गरीब पर है तो समझमे आ जावेगा कि ।) मे एकका गुजारा हो सकता है तो दूसरोकी चीजोको देखकर ललचाना नही चाहिए। खर्च

नही बढाओ, फिर आजीविकाकी आकुलता कम होगी। ऐसी स्थितिमे आपको विशुद्धिका मौका मिलेगा और ज्ञानाराधनामे समय दे सकोगे।

### परिग्रहका फल तो रोना है

एक साधु नग्न दिगम्बर थे। गर्मीका समय था। राजा दर्शन करने आया। उन्होने महाराजसे निवेदन किया कि गर्मी अधिक है, इसमे गर्मीसे बचनेके लिये छतरी दे दू। साधुने कहा— छतरी लगानेपर पैर जो नगे रहेंगे। तो राजाने कहा— जूता खरीद देंगे। तब साधुने कहा— बीचका हिस्सा नग्न रहेगा। तब राजाने कहा— पोशाक बनवा देंगे। साधुने कहा— फिर अच्छी पोशाकमे पैदल चलना ठीक नही। राजाने कहा— मोटर ले देंगे। साधुने कहा— खर्च कैसे चलेगा? राजाने कहा— गाव लगा देंगे। साधुने कहा— भोजन कौन बनायेगा। राजाने कहा— विवाह कर देंगे, स्त्री ला देंगे, वह रसोई बनायगी। साधुने कहा— उससे बाल-बच्चे होंगे उनका खर्चा भी चलाना पडेगा। राजाने कहा— और भी पाच गाव लगा देंगे। साधुने कहा— जब बच्चे मरेंगे तब रोयेगा कौन? तब राजा बोला— रोना तो महाराज आपको ही पडेगा। साधुने कहा— जिस छतरीके कारण मुझे रोना पडे, उसकी हमको जरुरत नही है, जिन कुप्रवृत्तियोसे विपदाके पहाड टूटें वह प्रवृत्ति अच्छी नही, कुप्रवृत्तियोमे आकर हम अपने स्वरूपको भूल जाते हैं, इसका शोक नहीं करते, देखो, अब चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि रखना है। शुभ भावोमे भी नरमो उसका फल पुण्य है। पुण्यसे क्या होगा? स्वर्गमे जाकर ३२ स्त्रियोसे भोग करोगे। भोगभूमिमे जिन्दगी भर भोग भोगोगे, इसमे हित नही है। भैया! हित ज्ञानप्राप्तिमे है। ज्ञान-समान न आन जगतमे सुखका कारण, यह परमामृत-जन्म जरा मृत्यु रोग निवारण॥ भगवानके केवल ज्ञानमे सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्ब हो रहे हैं। केवलज्ञान स्वभाव चैतन्य स्वभाव है। ऐसा ही चैतन्यस्वभाव तू है। अपनेको समझ व सत्य आनन्दका यत्न कर।

विकारका न आना सवर है, सवरके बिना ससारमे जीवका कोई सहारा नही है। जगत्के सायक वाह्य पदार्थोसे आत्माका हित नही हो सकता। शुद्ध उपयोग निश्चयसे जीवका पिता है अर्थात् त्राता है। वह कैसे बन सकता है?

उसका मूलकारण क्या है ? उपाय क्या है ? स्वपर विवेकका भेदविज्ञान। भेदविज्ञान स्वभाव विभावमे करना है। यो तो बहुतसे देहाती अथवा अशिक्षित, गवार ऐसे मिलेंगे, जिन्हे यह पता है कि जीव न्यारा, शरीर न्यारा है, चोला छूट गया हसा चला गया। किसीके मरण होने पर यह सब बातें कहते हैं और समझाते हैं कि जितने दिनका दाना पानी और संयोग था सो रहा।

शरीर आत्मा जुदा है, इतना कहने मात्रसे मोक्ष मार्ग नही बनता। बाह्य रूपसे शरीर आत्मासे जुदा जानने परभी स्वभाव भावना न भावे तो मोक्षमार्ग नही बन सकता। जब तक स्वपर विवेकका भेद विज्ञान नही तबतक मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। आत्माके स्वभाव व विभावका विवेक भेदविज्ञान होजाने पर मोक्षमार्ग चलता है। स्वभाव क्या है 'स्वस्य भवन स्वभाव' भू सत्तायाम् अस् भुवि धातु होनेसे भवनका अर्थ सत्ता व सत्तावाचक अस् धातुका "भुवि" अर्थात् होना अर्थ होनेसे मतलब निकला उत्पाद व्यय। इस तरह स्वभाव शब्दमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तता गर्भित है। वह अनादि अनन्त है।

### सही भाव विषम नहीं होता

'विविधाः भावा' विभावा'जो क्रोधादि नाना प्रकार हैं, नाना भाव गडबड हुआ करते हैं। जैसे बच्चो को एक गणितका हिसाब दिया जाय, वे सब उसको हलकरें, तो जिनका सही होगा उनका ढग उत्तर एक ही होगा, जिनका गलत होगा उनके अनेक ढग और उत्तर होगे। इसी प्रकार आत्माके विभाव भी अनेक प्रकारके हैं, ये रागद्वेष बदलते रहते है और रागमे भी व द्वेषमे भी विविधता है। किसीके साथ विरोध होनेका एक ठिकाना नही, आज किसीके साथ मित्रता है तो कल लडाई भी हो जाती है तो लो वैरी हो गया, आज किसीसे बैर है वह अनुकूल हो जाय लो मित्र माना गया। कहनेका अभिप्राय यह है कि पराश्रित, अध्रुव होने से रागद्वेष आत्माका सहजस्वभाव नही है। देखो भैया आत्महितके लिये क्या करना है ? आत्माके स्वभाव विभावका भेदविज्ञान करना है। जिस किसीको निमित्त पाकर जो क्रोध होता है, वह सदा नही रहता, ये क्रोध मान माया लोभ कषायें आत्मामें ऐब है जो हमारी निजी वस्तु नही हैं।

### परपदार्थकी ओरका आकर्षण दुःखका ही कारण है

यदि कोई वालक दूसरे वालकके खिलौनेको देखकर रोने लगे तो दुखी होगा, क्योकि दूसरा वालक उसको खिलौना नही देगा। सवको अपने बाल बच्चोमे मोह होता है, वे अपनेको दूसरी दृष्टिसे देखत हैं, दूसरेके बच्चोको अन्य दृष्टिसे दखते है। इसी प्रकार क्रोधादि दूसरेके खिलौने हैं, वे परकर्मके नाच नाने गये हैं। उन पर, परपदार्थोपर रागबुद्धि करनेपर दुख होता है रागादिक पराये खिलौने हैं, इनपर आकर्षित होओगे तो सिवाव क्लेशके कुछ हाथ नही आना। अपना अनन्त आनन्दविलास रूप खिलौना उपयोगरूपी हायमे लो और नि शङ्क, अपसेमे खेलते रहो। आत्मीय खिलोनेके अभावमे जीव जन्ममरणके दुखोको सहन कर रहा है। जिनको आज हम दु.खी देखते है, वैसे हम भी दुखी हो सकते हैं, वर्तमान दुखको मिटाना चाहते हैं पर काम उल्टा करते हैं। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो वडी हानि सहकर थोडा लाभ हो जाने पर सन्तोष कर ले, किन्तु यह मोही आत्मीय अनन्त "आनन्दकी हानि सह कर कल्पित सुखाभासमे रम गया, विषय कषायोमे फसकर मोही अपने लक्ष्यको भूल गये और बिना पतेके लिफाफेकी तरह ठुकराये जाते। जिस व्यक्तिने अपना लक्ष्य नही बाधा, वह ठुकराया ही जायगा और ससारमे भ्रमण कर जन्म मरणके दुखोको पायगा, सवर तत्त्वके जाने बिना ससारमे घूमना ही घूमना है।

सवर किसी प्रवृत्तिय नही होता। योगकी क्रिया, शुभ अनुराग, ये सवरके मूल नही हैं। भले ही सक्रिय आत्मा के सवर हो अथवा शुभ अनुरागी के भी संवर हो, लेकिन सवरतत्त्वका हेतु योग व अनुराग नही है। सवर धर्मभाव है, शुभयोग, शुभ अनुराग पुण्यका हेतु है, पुण्यभावसे सवर नही होता, पाप भावकी तो दुनिया कला जानती है। मध्यके गुणस्थानोमे आस्रव सवर, निर्जरा, बध चारो एक साथ हो रहे है और चारोका निमित्तभूत आत्म परिणाम उस समय एक ही है, तव भी उस परिणामकी विभिन्न शक्ति, योग्यता पृथक-पृथक तत्त्वो का मूल है। यह परिणाम ऐसी स्थितिका है जहाँ कुछ राग है व कुछ राग नही रहा। वीतरागता व सरागता सवर निर्जराका हेतु है और सरलता आस्रवबंध

का हेतु है। संवरका प्रारम्भ यथार्थ विज्ञान होनेपर ही होता है। स्वभाव व विभावमें जो भेदविज्ञान होनेसे संवर बनता है, वह सत्य आनन्दका अनुभव कराता है। सिर्फ जानकारी होती रही, स्वभावका स्पर्श न हो, वह स्वानुभव नहीं। सुख भी तो आकुलता ही है, सुखका अर्थ आनन्द है। सु=सुहावनी ख=इन्द्रियाँ, अर्थात् जो इन्द्रियों को अच्छा लगे वह सुख है तथा जो इन्द्रियों को बुरा लगे वह दुःख है। आचार्योंने सुख शब्दका प्रकाश मोहियोंपर कृपा करके उनकी भाषामें किया है। सुख दुःख विकारका भाव है, आनन्द आत्माका स्वाभाविक भाव है, जो चारों तरफसे समृद्धिशाली बनाता है वह आनन्द है। वह आत्मानुभवमें है। विषय कषाय कीर्ति कल्पना मान बड़ाईकी इच्छा आदिक सब विभाव परिणाम हैं, इन सबसे जुदा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, ऐसी भावना होकर निर्विकल्प अनुभूति रहना चाहिये।

### अपना ध्रुव अचल परमस्वरूप तो देखो

वर्तमान परिणमन ही अपना सर्वस्व समझना मोह है और वर्तमान परिणाम जिसका रूपक है, उस ध्रुव निज स्वभावको निज समझे वह यथार्थ ज्ञान है। कहीं यह नहीं समझ लेना कि पर्याय मेरी परिणति नहीं है अथवा पर्याय है ही नहीं, भ्रमसे मालूम होती है। परिणमन तो है, परंतु वह मिटने वाला है, मैं अमर हूँ।

देखो-जीवका स्वभाव भी देखो, मोहियोंका विचार भी देखो। मोही भी चाहे पर्यायको आत्मा मान रहे, किन्तु वे भी चाहते हैं कि ऐसा यह मैं (पर्याय रूप) सदा बना रहा हूँ। किसीको कहा जाय कि तुम्हें दो दिनका राजा बनाये देता हूँ और दो दिन बाद तुम्हारा सब छुड़ाकर तुम्हें वनमें फेंक दिया जायेगा, तो वह ऐसी सम्पत्ति जो अध्रुव है उसकी बात चाहनेको नहीं बढ़ता, वह चाहता है कि यही दो चार सौ की सटपट सदा रहे। इसीमें अपनी भलाई समझता है कि यह सदा बनी रहे। तो फिर आप देखें यह वर्तमान परिणाम अध्रुव ही तो है ना।

हमारा वर्तमान परिणमन चल रहा है, वह मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं चैतन्यमात्र हूँ। वर्तमानमें जो भाव हो रहा है वह चला जायगा ही। जानेवालेमें राग

करना मूढता है। ज्यादासे ज्यादा ध्यान बना रहे तो परम्परासे भी अन्तर्मुहूर्त तक रह पायेगा एक जातिका विभाव। और दुकानमे रहो या मकानमे, तब भी निर्जरा कर रहे हो, यदि सम्यक्त्व जग गया और इसी हेतु स्वभाव प्रतीति बनी रही। पर पदार्थमे भले रहनेका अभाव करनेके लिये स्वभाव और विभाव को भेदन करके, स्वभावको उपलब्धि करना चाहिये। पर्यायें क्षणिक हैं, उनको 'मैं' नही मानो क्योंकि ये पर्यायें क्षणिक है तुम तो क्षणिक नहीं। इन पर्यायों के कारण अनेक विकल्प हो जाते है। धर्ममे रहनेका प्रयत्न अधिक समय तक नही हो सकता, कषाय क्षणिक होती है और अलग हो जाती है, कषायोमे आत्मीय भाव रखना दुखका कारण है।

कर्मकी पकड न करो, कर्मकी निर्जरा बाह्य बाह्य स्थितिको देखकर नहीं होती, कर्मका आत्म परिणामका निमित्तनैमित्तिकभावसे उनका बध, निर्जरण साइससे समझ लेना। आचार्योने लिखा है कि कर्मकी निर्जरा भावसे होती है। वे सब आत्माके आधीन है। जो इसे नही पाते वे तरसते है।

रागद्वेषादि विकल्पोको त्यागनेके लिये उपयोगकी स्थिरतासे स्वभावका अवलोकन करना चाहिये। वीतरागके सहज वैराग्यसे निर्जरा होती रहती है, सबमे जुदा 'मैं' का भेद निकल गया तो ठीक है।

सामान्यतया देखा जाता हैं, किसीके मर जाने पर देहाती लोग भी भेद-विज्ञानसे समझाने लगते हैं। इतने दिनका ही सबध था, या पूर्वभवका वैरी था सो वैर लेकर चला गया। धन नष्ट हो जाने पर, साथमे कुछ नही लाये थे, पैसा तो हाथका मैल है फिर कमा लेगे इत्यादि। तो जब ये बालगोपाल भी निराकुलताके लिये भेदविज्ञानका सहारा लेते हैं, तो भेदविज्ञानसे समझनेपर आत्मामे शान्ति मिलती है, यह बात लोकदृष्टिसे भी पुष्ट हो जाती है। यथार्थ तो यथार्थ ही है, इससे आत्माका सवर पुष्ट होता है। परके सन्मुख आनेमे आस्रव होता है। जगत्के जीव सवरके उल्टे चल रहे हैं तो मोक्षमार्गी ससारी आस्रवके उल्टे हैं। स्वविवेकके भेदविज्ञानकी एक यह भी पद्धति है कि स्वभावके लिये वही निमित्त वही उपादान होता, विभावमे उपादान यह है तो निमित्त अन्य होता। मोहमे स्वपर दृष्टि न जाकर परपदार्थोपर जाती है,

ऐसी स्थिति बडी विपदा है।

## लाभकी शैलीसे निमित्त की पूंछ

प्राय लोगोकी दृष्टि निमित्तपर है। अच्छा! देखो, निमित्तपर ही दृष्टि करना है तो कलापूर्ण करो। दर्पणमे सामने लिये हुए पुष्पका निमित्त पाकर दर्पण उस आकारमय प्रतिबिम्बसे समवेत हो रहा है उसमे वह परिणति दर्पण की है तथापि उस प्रतिबिम्बकी दर्पणकी ओरसे स्वच्छदता नही है। प्रत्यक्ष करके देखलो; फूलको हिलाओ, प्रतिबिम्ब भी वैसा ही हिलता हैं, तब समझो प्रतिबिम्बका स्वामी पुष्प हुआ। जिस ओरसे कहा जा रहा है वैसा ही समझने का व्यायाम करना। इसी तरह आत्मासे उदय आये हुए कर्मका निमित्त पाकर आत्मा क्रोधादि विभावरूप परिणम जाता है। आत्मामे वह विभाव परिणति आत्मा की है तथापि उस विभाव की आत्माकी ओरसे स्वच्छदता नही है। जैसा कर्मका उदय आता वैसा विभाव होता। यहाँ ऐसा नही है कि जैसा आत्मा विभाव करता वैसा कर्ममे आरोप होता। क्यो? इसका प्रमाण यह है कि जब कर्मबन्ध हुआ उसी समय प्रकृतिविभाग हो जाता है कि यह ज्ञानावरण है यह क्रोधकषाय है यह अमुक प्रकृति है। यदि पूर्व अशकित ढग होता तो बधते समय ही विभाग न होता। विभाव होनेके कालमे पूर्वबद्ध कर्मका विभाग नही होता। खैर यह निमित्तदृष्टिकी बात कह रहे हैं, इस दृष्टिमे विभावका स्वामी कर्म है सो विभावको व कर्मको निजसे भिन्न जानो।

## नैमित्तिकावलोकनके साथ स्वभावकी . छ

ये रागादिक नैमित्तिक हैं, आत्माके स्वभाव नही। आत्मस्वभाव तो शुद्ध चिन्मात्र है। अत निश्चय करो व निश्चयसे देखो तो रागादिक आत्मीय नही है। फिर रागादिक किसके है? पुद्गलके हैं। इसी कारण तो पूज्यवर जय सेनाचार्यजीने समयसार तात्पर्यवृत्ति मे लिखा है—शुद्धनिश्चयेन पौद्गलिक कर्म। यह जिस आशयसे देखा गया है उस आशयका नाम है विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनय।

आपकी दृष्टि निमित्तपर है, किन्तु अकेलेको भी तो देखा जा सकता है। दर्पणके सामने हाथमे फूलको लेकर जैसा देखते वैसा ही दिखता है क्योकि वह प्रतिबिम्ब फूल हाथके आधीन है, हाथ फूलपर दृष्टि जायगी तो प्रतिबिम्बके

स्वामीपर दृष्टि जायगी। यह हो सके तो भी दर्पण भी अकेला मलिन देखा जा सकता है व स्वभावतया स्वच्छ देखा जा सकता है। इसी तरह आत्माको भी अकेला देखो।

आत्मामे तीव्र रागादिक होनेपर तीव्र कर्मका बंध होता है, मन्द होनेपर हीन। तो यहां भी बंधका स्वामी रागादि हो गया सो जब राग भिन्न जान लिया तो राग भी भिन्न है व कर्म भी भिन्न सिद्ध है। उनको पृथक जानना संवरका मूल है।

राग होनेमे आत्माकी सफलता नहीं बनती स्वमेभेद विज्ञान मोक्षका मूल है, इससे शुद्ध आत्मामे रुचि होने लगती है। लोकमे देखलो दो व्यक्ति आये उनमें छटनी करके यह रागी कहता है कि ये हमारे मामा हैं। दूसरा उनके गांव का है। तो जब जाना ये मामा हैं अपनेमें रुचि करली, दूसरेको उपेक्षा दृष्टिसे देखा। जैसे गेहूँ और कूडा करकट दोनों मिले हैं, भेदविज्ञान होनेपर गेहू अलग, कूडा करकट अलग है ऐसा ज्ञान हो जाता है, जिसे गेहूँसे लाभ होता वह गेहूका संग्रह करता और कूडा करकट छोड देता है।

आनन्द जीवको विकल्पोके मिटानेसे मिलता है, विकल्प मिटानेका उपाय विशेषको आश्रय करके नहीं होता, सामान्यके आश्रयसे होता है। विशेषपर दृष्टि न देकर कि अमुक सिंघई है, सेठ है, पंडित है, त्यागी है, सामान्य मनुष्यत्वका ध्यान रहे तो व्यवहारमे व्यवहारिक निर्विकल्पित दशा होती है।

कभी भेद विशेषोपर दृष्टि, पर्यायोके संयोग संयोगी सम्बन्धोपर दृष्टि न बनाओ, देखो अस्त विकल्प होते हैं। जैसे एक ऊगली सीधी हैं, टेढी है। कई तरहसे मुड गई, सब हालतोमे उगली एक है, सामान्यपर उपयोग लगवाया तो देखो कितने विकल्प छूटे। विशेषपर उपयोग लगता है तो अक्ल भ्रमण करती है। विशेषपर भी दृष्टि हो किन्तु उसकी सीमा है। उपयोग बदलनेके तो अन्य भी कारण हो जाते हैं, किन्तु वह बदल ठीक है जिसके अन्तर आत्माका स्पर्श है।

जिन बच्चोको हिचकी आती है, उसे डरा दिया कि तुम उसकी चीज क्यो उठा लाए ? ऐसा करनेसे उसकी हिचकी मिट जाती है ना। गलित अभ्यासमे

वाहरका उपयोग बदलता, किन्तु यह स्थिति देर तक नही चलती। सामान्यका विषय, हितके लिए ठीक है किन्तु विशेषके आश्रयसे हित समझते, इससे सामान्य मे ठहरते नही। सामान्यका आश्रय ही हित कर सकता है। कुटुम्बमे अनेक लडके होते हैं परन्तु उन कुटुम्बियोकी एक दृष्टि नही होती, तब वहां विवाद चलते रहते हैं। समझदार एक दृष्टिसे देखते हैं तो कलह नही होती, कोई विषादकी वात नही होती। भेद विशेष होनेपर खटपट चलने लगती है।

## आदर निर्विकल्पका होना चाहिये

लोकमे विशेष का आदर है, किन्तु कल्याणके लिए सामान्यका आदर होना होता है। सामान्य दृष्टि करो यही उसका आदर है। विशेषसे राग किया तो वह तो जायगा, जाने वालेसे राग नही करो। जो हमेशा रहे उसमे राग करो। मैं तो ज्ञान दर्शन स्वरूप हूं। प्रभु और मुझमे यदि भेद है, तो प्रभुने पहिले साधन अवस्थामें जानेवालोमे राग नही किया, ससारी जानेवालोमे राग करते हैं इससे तडपते हैं, दुखी होते है। अब जो भगवानके क्षणिक परिणाम स्वभावरूप हैं वे अनुकूल हैं। हमारी उपयोगगति स्वभावके प्रतिकूल है। तैयारी सब है, तैयार होनेकी जरूरत है हम व प्रभु एकजातीय ही तो द्रव्य है। हम उल्टे चलते हैं सो परेशानिया स्वागत करती हैं। कोई वृद्ध किसी बालकको छेडे या प्रेम करे तो वालक बार-बार आकर परेशान करेंगे। हम विषय कषाय परिणामोमे रहा करते जिससे दुखी हो रहे हैं, सारा विश्व आपके अनुकूल चले या न चले विकल्प होगा तो दुख मिलेगा। निर्विकल्प होंगे तो सुख मिलेगा, ज्ञानाराधनको समय काफी चाहिए। अज्ञानाराधन छोड़कर आत्माकी ओर जानेका प्रयत्न करना चाहिए। किसमे कितना समय जाता इसका हिसाव तुम्हीं लगा लो। ज्ञानाराधनका फल मोक्ष। अज्ञानाराधनका फल ससार है। ज्ञानोपार्जनमे मन नही लगे तो भी उपयोग लगाना चाहिए। ज्ञानके विना कल्याणोद्यमका कोई भी फल नही।

## जैसा भाव करो वैसे नाच होता है

देखो भूत पिशाच जो लग जाते है इनमे ९८ प्रतिशत वहाने हैं। जिससे लड़ाई शुरू हुई तो भूत आए तब दूसरा डर जाता है। वह हाथ जोड़ने लगा

भूत भाग गए। भूत कुछ नहीं, किन्तु वैसा ध्यान हो जाता है और किसीको मैं भूत हूँ, इसकी आराधना करनेपर भूत जैसी चेष्टा हो जाती है। लोग राधा या सखी बन जाते हैं, यह राधा वल्लभपथमे सुना है कि उसमे भक्तिवश मनुष्य स्त्रीके समान आचरण करते, मासिक धर्मकी कल्पना से भी एकान्तमें बैठते हैं। जो जिस रूप भाव लगा ले उस रूप हो जाता है। राजाका भाव होनेपर शरीरमे कडापन आ जाता है। शुद्धात्मामे उपयोग बनाया जाय तो विषय कषाय रागादिसे हटकर स्वका अवलम्बन कर, एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अनुभव करे। एकाग्रतासे निश्चयनयसे शुद्ध आत्माका लाभ होगा, स्व विज्ञान होगा। जैसे एक सिंह गधोंके साथ बोझा ढोने लगा किन्तु जब उसे ज्ञान हो गया कि मैं गधा नहीं हू तो बोझा ढोनेका काम छोड दिया। कहनेका अभिप्राय यह है कि भैया जिस किसी भी प्रकार आत्माको शुद्ध स्वभावका परिचय करना।

## तस्माच्छुद्धात्मरुचिः ॥५॥

भेद विज्ञानसे शुद्ध आत्मामे रुचि जागृत होती है जब ऐसी भावना हो जाती है, कि आश्रव अशुद्ध है, कर्म अशुद्ध है, मेरा सहज स्वभाव आनन्दका कारण है, ऐसे यथार्थ भेदविज्ञानके अनतर सहजज्ञान व स्वात्मानुभवमें पहुचना स्वाभाविक है। क्यों कर रहे हो व क्या करना है ? जीवन भोगविलासमे रुचिकी, बाह्य पदार्थोंके देखने सुननेमे जीवकी दृष्टि बनी है, जिससे कोई मित्र कोई शत्रु बन जाता, परन्तु कोई किसीका शत्रु मित्र नहीं है। सब चैतन्य स्वभाव वाले हैं, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनन्त गुण वाले हैं। सब स्वतन्त्र हैं, किसीका सम्बन्ध किसीसे नही है। यह मेरा है, यह तेरा है इत्यादि मानना भ्रम है, आत्माके लिए कलक है। घरमे बैठे बैठे क्या कर रहे हैं, इस ओर इन मोहियो का जरा भी ध्यान नही जाता।

हमारा क्या कर्तव्य है ? यह जीवन इसी तरह बिताना है तो फिर आत्मोद्धार कैसे होगा ? अपनी गल्तीपर विचार करो। सब जीव और पदार्थ अपने अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे परिणमन कर रहे हैं, किसीका उत्पाद व्यय ध्रौव्य किसीमे नही पहुचता। व्यर्थकी कल्पनाओसे सक्लेश मत बढाओ। जब तक

पुण्यका उदय है, तब तक सब ठाट-बाट है। पुण्यके अभावमे धन, मित्र, स्त्री-पुत्रादि कोई भी सहायता नही करेंगे। किसीको मित्र किसीको शत्रु माननेसे हमारी परिणति नही सुधर सकती।

पूजा-पाठ स्वाध्याय आदिक कार्य किये और परिणामोमे निर्मलता नही आई तो सब क्रियाये बेकार हैं। जगतमें अनन्त जीव भ्रमण कर रहे हैं और कर्मोंके अनुसार सुख दुख भोग रहे हैं। हम मनुष्य हुये, जैन कुल पाया, सत्समागम मिला तो भी मुक्तिका मार्ग नही मिला, यह अज्ञानका प्रभाव है। क्योकि विवेकसे विवेकका कार्य बनता है, भेद-विज्ञानसे शुद्ध आत्मामे रुचि होती है, पर्यायशुद्धमे व द्रव्यशुद्धमे रुचि होती है, जो सम्यक्त्वको उत्पन्न करती है। मिथ्यादृष्टि ऊपरी प्रशसा करेगी परन्तु आत्म स्वरूप तक नही पहुचती। रात दिन पेटके लिए कुटुम्बियोके पालनके लिए चिन्तामे लगे रहते हैं पर इससे आत्माकी भलाई हो सकती है क्या? पापोको करनेमें तो समय मिलता है, किन्तु अपने उद्धारके लिए समय नही मिलता। सोचो जरा, विकल्पो और पाप कार्योंमे परिणति होनेसे मलिनता बढ रही है। चौबीसो घन्टे ससारिक झंझटो मे लगे रहते हैं, और सुख मानते हैं। कहीं उद्धारकी बात कही जावे तो सुनने को समय नही है। ज्ञानसे उद्धार होता है उसका प्रयत्न नही करते। मोही जीवोको विकल्प लगा है, काम, भोगोंमे, धन, मकान, पुत्र, स्त्री मे। अपने उद्धारकी भावना धर्मका सूत्रपात है—यदि अपने उद्धारकी भावना नही हुई तो दूसरेके उद्धारकी भावना झूठ है। अपने उद्धारकी भावना ज्ञानाराधनाके उत्साह से होती है। भेद विज्ञान शुद्ध आत्मरुचि होनेपर प्राप्त होता है। मोही घरमे रहकर अपनी कषायसे हुए मिथ्या आनन्दको पाते हैं उसीमे मस्त रहते हैं। भेद विज्ञानसे आनन्दकी उत्पत्ति होती है, वह मोहमे किसीको नही मिल सकता। कहा भी है—सो इन्द्र नाग नरेन्द्र व अहमेन्द्रके नाही कह्यो। ज्ञान, ध्यानमे जो आनन्द है वह इन्द्रादिकके नही। जिसके अधिकारमें अनगिनते विमान रहते हैं, हजारो सेवक हैं, देवागनायें मनको प्रसन्न करनेके लिए सदा पासमें खड़ी रहती हैं, ऐसा इन्द्र भी यदि सम्यक्त्वी नही तो आत्मज्ञानके बिना मिथ्यादृष्टि होनेसे सम्यग्दृष्टिके आनन्दके सहस्राश आनन्दको भी प्राप्त नही कर सकता, जो

ऋषियोको सहजमें प्राप्त होता है।

ज्ञानकी प्राप्तिके लिए पहिले वडा प्रयत्न करना पडता था, तब उपदेशकी प्राप्ति होती थी। आज उन ऋषियो तीर्थंकरोकी वाणी शास्त्रोंमे अनायास मिल रही है, तव उससे लाभ न लें तो हमसे वढकर मूर्ख कौन होगा? वडे-वडे वीतराग ऋषियोने अपने अलौकिक वैभवको ग्रन्थोमे भर दिया है वे ग्रन्थ प्राय हमे प्राप्य हैं। उनसे लाभ न उठाया तो यह अक्षम्य गलती है। भूल पहले वहुत हुई, अब पश्चातापका भी समय नही है, कर्तव्य का समय है।

भेदविज्ञान करके अपनेको शुद्ध चैतन्यमय जिस समय सोचा, विचारा, ध्यान किया उस समय पहली भूलका परिणमन नही रहा। परिणमन प्रति समय हो रहा है। भूल, जिस भूलकी जडका पता नही, जिस रागादिकके मा बापका पता नही वे आत्मा मे झलकते हैं। उपयोगको उस मायामें फसा रहे हैं जो वे। वहा यदि स्वरूपबोधके कारण निज प्रभुताकी झलक आने लगे तब शैतान चला जावेगा। एक म्यानमे दो तलवारें नही रह सकती, प्रभू और शैतान दोनो साथमें नही रह सकते। आत्माका भाव एक ही ओर लगता है, जो भेद विज्ञानी होता है उसे शुद्ध आत्मानुभव की रुचि होती है।

## परभावके अहकार दूर हुए बिना प्रभु नहीं दिखता

एक व्यक्तिकी नाक कटी थी तो उसे लोग नकटा नकटा कह कर चिढाते थे। उसने कहा किसीको कि आप क्या जानें नाक कटेका स्वाद? नाक कट जाने पर ईश्वर के दर्शन होते हैं। इस बातको सुनकर दूसरे व्यक्तिने नाक कटा ली किन्तु उसे भगवानका दर्शन नही हुआ। तब पहिलेके नकटेने कहा कि भगवान् किसी को नही दिखता किन्तु तुम्हारी तो नाक कट गई मो नाककी नौक निकल जानेसे भगवान दिखता ऐसा तुम भी कहो जिससे सव अपने समान हो जाय फिर कोई नही चिढा सकेगा। ऐसा होते होते उस गावमे सब नकटा हो गये। देखो वे शरीरके भले ही नकटे हो गये किन्तु नाक याने अहकार कट जाता तो प्रभु के दर्शन हो जाते। आत्माकी नौक राग द्वेष क्रोधादिकषायोको काटे अर्थात् आत्मासे अलग करदे तो आत्म प्रभुका दर्शन हो सकता है, ईश्वर कोई बाहर नही, किन्तु अपने अन्दर ही है।

### आत्माकी सच्ची इज्जत किस काममे है—

आज जो कुछ प्राप्त है, उस बाह्य विभूतिमे ही फसे रहे तो कलके दिन घास होकर संगनमें बिकना पढेगा क्योकि इस जीवकी ससारी पदोमे कोई इज्जत नही है, आत्माकी इज्जत सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमे है। पुण्यके वैभव मिले है तो इतरा लो इस भवमे, किन्तु उससे कोई हित होनेका नही है। अगले भवमे सुखी होनेके लिये ऐसा उपाय करो भैया, जिससे आत्मा सफल हो जाय। सब की आत्मा समान है कोई भेद नही, एक स्वरूप है, जो कुछ रूपक दीख रहा है, वह भी विनाशीक है। अपनी इज्जतके लिये सम्यक्त्व प्राप्त करो, मोह राग की विरागता के बिना नम्रता नही आती। नम्रता बिना इज्जत न होगी, आत्मा मे उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुणोकी प्राप्ति न हो तो इसका फल बुरा है।

### रुचिकी कला तो है, किन्तु उसे कहा लगाना ?

भोगोपभोग की वस्तुओमे बहुत ही रुचि जागती है उससे विरक्त होकर धर्मकी ओर रुचि लगाओ। जैसी मोह कर्ममे तीव्र रुचि होती है वैसी आत्माकी ओर लगाओ, सभलकर रहो, नही तो आगे जाकर क्या होगा ? शुद्ध आत्माकी रुचिसे शुद्धि जागृत होती है। सब द्रव्योका सामान्य दृष्टिसे ज्ञान दर्शन होना ये आत्माकी शुद्ध वृत्तिका प्रधान कारण है। प्रभुमिलनके लिये आख फाडकर आकाशकी ओर नही देखो, किन्तु अपने आपको सामान्य दृष्टिसे देखोगे तो प्रभुका मिलना हो सकता है, इसीके यत्नके लिये सम्यक्त्वकी प्राप्ति करना है, प्रभुका दर्शन कर्तव्यसे मिलेगा, धन खर्च करनेसे नही, अन्य चादी सोनेके टुकडो से नही मिलेगा। सामान्य दृष्टिसे देखनेपर प्रभु मिलता है, इसलिए गम्भीरता पूर्वक विचारो सोचो समझो, नही तो ससारके बन्धनोमे पडा रहना पडेगा। शुद्ध आत्माकी रुचिसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है, जिसके उपयोगमे जो हो उसे वही मिलता है।

### बाह्य हानि हानि नहीं, अन्तरकी हानि हानि है

दूसरोको ठगनेवाले ही ठगे जाते हैं, सरलको कोई नही ठग सकता। जिनको ससारकी इच्छा नही, वे सरल है। जिनको ममता मोह है वे ही ठगे

जाते हैं। प० बनारसीदास जी के यहाँ एक चोर चोरी करने गया और सब सामान उठाकर गठरीमें बाध लिया। पण्डितजी ने उसकी गठरी उठवा दी और विचारने लगे—मैं नही ठगाया गया हूँ, ससारकी जितनी चीजें हैं, वे मेरी नहीं है। बाह्य पदार्थोंमे मोह करनेवाले ठगाये जाते है। चोर जब घर गया, मा को हाल सुनाया तो मा ने कहा—यह माल पचेगा नही, यह महात्माका माल है वह सब वही दे आ। प्रत्येककी शक्ति अलग है, प्रभु भी किसीकी शक्तिको धारण या हरण नही कर सकता। जिसकी परिणति शुभ मे जमी होगी उससे शुभकाम होगा, जिसकी परिणति अशुभमे जमी होगी उससे अशुभ काम होगा और जिस की परिणति शुद्धमे जमी होगी उससे शुद्ध काम होगा। जिसकी चर्चा करते वह चैतन्य स्वभाव है उसकी प्राप्तिके लिये ग्रन्थ मौजूद हैं, रुचि सहित अध्ययन तो करें। भेद विज्ञानके बाद शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उस उपयोगमें विकार नही रहता। अध्यवसान अभावसे रागद्वेष और मोह आदि विभावोका अभाव होता है।

आपने माना ये मेरा पुत्र है, इसमें बडी झझट लगगई, जितनी देर साथ है, उतनी ही झझटे हैं। सम्यग्दृष्टि घरमे रहते हुए भी झझटमे नही है, उसका इसीसे आदर होता है। बाह्य पदार्थोंमे फसे रहने वालोका न आदर है न महत्व। रागद्वेष छूटनेमे आनन्द है। भैया उसके लिये प्रयत्न करो, अपने पर दया करके अपनेको बचाओ। राग द्वेषके अभावमे कर्मोंकी झझट दूर हो जाती है।

जब शुद्ध निजस्वभावमे और विभावमे भेदविज्ञानके प्रसाद से शुद्धात्माकी रुचि हो जाती है उससे क्या हाथ लगता है?

## ततः शुद्धात्मोपलम्भः ॥६॥

शुद्धात्माकी रुचिसे शुद्धात्माकी उपलब्धि होती है। यह शुद्ध आत्मतत्त्व इन्द्रियो से ग्राह्य नही है। प्रज्ञासे ही तो भेदविज्ञान होता है, प्रज्ञासे ही शुद्धात्मा का ग्रहण होता है। वैसे तो आत्माकी उपलब्धि सबको हो रही है किन्तु शुद्ध स्वरूप रूपसे उपलब्धि अन्तरात्माको ही होती है। जगतके जीव

मानते है कि मैं पुरुष हू, मैं स्त्री हूं, मैं सुखी हूं, मैं दु.खी हूं । इन सब प्रत्ययोमे मैं का तो ग्रहण है ही, किन्तु अशुद्धस्वरूपमे ग्रहण है और इतने अशुद्ध स्वरूपमे ग्रहण है कि वह ग्रहण इन्द्रिय व मननिमित्तक हो रहा है। इसी कारण मूर्तपर ही आत्मीयताकी दृष्टि है। यहाँ भी अज्ञानी जो कुछ करता है, अपनेमें करता है। द्रव्यकी सीमा कही कुछ माननेसे टूट नही जाती। अब अविद्यावासनासे हट कर अपने आपमे अपनी उपलब्धि करना ही श्रेय है यह दृढ लक्ष्य बनाना है।

## हमे अपने सत् मे कुछ करना है

परस्परमे बातचीत करना एक दूसरेकी मदद करना इससे ही आत्मीय कर्त्तव्यपर नही पहुचोगे। आनन्दमे विह्वल होकर कभी मन्दिरमे गये, स्तुति की, सिर टेका, पर आत्म-स्वरूपका ज्ञान नही हुआ तो ऐसा कोई ईश्वर नही जो हमारा कल्याण कर सके। भगवानको दया नही आती और न निर्दयता। आपकी परिणति भगवानके ज्ञानमे आती तो है, परन्तु वे अपने स्वपरिणमनसे जरा भी टससे मस नही होते, किन्तु भगवानके स्वरूपके परिज्ञानसे यह भक्त टससे मस होकर कुछ कर लेता है। जो अपनी दृष्टिसे अपनेमे मिलता है।

अपना समय ज्ञानाराधनके लिये घरसे बाहर जगलमे या कही भी निकालो। बच्चो को भी गोदमे लेकर ज्ञानाराधना करो और मोह न करो तो, यह भी ऊचा साहस है। सत्कर्त्तव्य करो नही तो ससारमें भ्रमण चलता रहेगा। आत्मामे रागद्वेषका अभाव होनेपर शेष कर्मोका अभाव हो जाता है। लडके कहा करते हैं कि एक स्याल बडा चालाक था। उसने शेरोको भी धोखा दिया। शेरोंने सोचा इसे पकड कर मार डालना चाहिये। स्याल पेडपर चढ गया, तो शेरोंने कहा ऊपर चढकर पकडा जाय फिर लगडे शेरको नीचे बैठाकर क्रमसे एकके ऊपर एक चढते गये। स्याल चालाक तो था ही, बोला-बच्चे क्यो रो रहे है ? स्यालनीने कहा लगडे शेरके मांसके लिये। यह बात सुनकर लगडा शेर घबडाकर भगने लगा, तो सब शेर नीचे गिर पडे। इसी प्रकार रागद्वेष भी लगडे हैं और हमारेमे मोहका घर बना है। हमने अनेक भ्रम लगा रखे हैं। परवार, गोलापूर्व, अग्रवाल, पडित, स्वामी आदि नानारूप

अपनेको मान रखा है। प्रत्येक अपनेको चतुर मानता है, किन्तु आप एक चैतन्यमात्र हैं। उसकी दृष्टि हटी तो सारी गड़बड़ उठती है। आत्माका स्वानुभव प्राप्त करो, शत्रुता मित्रता आदि झंझटोंसे आत्मा मलिन हो रहा है। किसीसे कुछ सलाह न करो, इन ग्रन्थोंसे करो अपना विचार। आज पत्थरोंकी जायदाद मंदिरोंमें कई लाखोंकी है, धर्मके नामपर, फिर भी एक ओर। ज्ञानाराधनाके लिये जरा भी उपयोग नहीं जाता। भैया मंदिर ही बनवाना है तो वहाँ बनवाओ, जहाँ जरूरत है तथा कुछ विशेष ध्यान दो खुदके आत्म मंदिरकी ओर, और करो कारण परमात्माकी भक्ति। बाह्यमें संसारके बंधनोंके छुटकारेका वातावरण बनाओ, जिससे संतान भी सम्यक्त्व को उत्पन्नकर संसारके बंधनोंसे छूट सके। शुद्ध आत्माकी रुचि, ज्ञानकी रुचि उन्हींको होती है, जिनका निकट संसार है। विवेकियोंके यहाँ आज मन्दिर नये ढंगसे बनते हैं, जिनमें एक बड़ा हाल हो और एक ही मूर्ति हो, व्यर्थका आडम्बर न हो, ज्ञानाराधनाकी बात जागृत हो इसके लिये ही मंदिर समझो।

### निजके लिये प्राप्त समागमका सदुपयोग करो

अपनी कमाईका आधा हिस्सा ज्ञानाराधनामें लगाओ, आधा फोकटमें (भोजनादि में)। क्यों? भूखे भजन न होय गोपाला। ज्ञानाराधनाकी चीज़ें आपके हितके लिये हैं, मुझे रमना है अपने आपमें। सब जानकर भेद विज्ञानकी बातोंमें लगाओ आत्मा को। क्षयोपशम तो खूब है, बड़े बड़े कठिन हिसाब तो लग जाते हैं ज्ञानसे। रेलवेमें एक टिकिट द्वारा सर्वत्र घूम लिया जाता है, तो वे (रेलवे कम्पनी) अपना अपना हिसाबसे पैसा ले लेते हैं और भी रेडियो आदिकी चर्चा है, यह सब बातें दिमागमें बैठ सकती तो द्रव्य गुण पर्याय की चर्चा भी दिमागमें बैठ सकती है। धन वैभव आत्माका हित नहीं कर सकता। पहिले कुछ वातावरण तैयार हुआ था कि जब मित्र मिलते तो जीवस्थानकी चर्चा करते थे और अब साथ ही द्रव्य-गुण पर्यायकी चर्चाके लिये पागलसे हो जावो। विज्ञान और ज्ञानमें अन्तर है। जानना विज्ञान है आत्माको स्वानुभव का स्पर्श हो जाय वह ज्ञान है। विज्ञानके अनन्तर ज्ञानमें पहुंचो।

ज्ञानस्वरूप आत्मा है, ज्ञानकी उपलब्धि आत्माकी उपलब्धि है। इस आत्मोपलब्धिसे क्या होता है:—

**ततोऽध्यवसानाभावः ॥७॥ ततो रागद्वेष मोहानामभावः ॥८॥ ततः कर्माभावः ॥९॥ ततो नोककर्माभावः ॥१०॥ ततः संसाराभावः ॥११॥ संसाराभावे सदा तेषामभावः ॥१२॥**

शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिसे अध्यवसानका अभाव होता है। अध्यवसान शब्दार्थ निश्चय है। परिणमनोमे आत्मसर्वस्वकी प्रतीतिका दृढ निश्चय अध्यवसान है। जहा शुद्धस्वरूपकी झलक हो चुकी है वहा अध्यवसान कैसे रह सकता है? यहा तो अध्यवसानका व्यय है और शुद्धात्मत्व प्रकाशका उत्पाद है। अध्यवसानका अभाव होते ही राग द्वेप मोहका अभाव हो जाता है। राग रतिको कहते है। द्वेप अरतिको कहते हैं। मोह परमे आत्मात्त्व व आत्मीयत्त्वके प्रत्ययको कहते है। मोहका तो अभाव पूर्ण हो जाता है। मोहका अभाव होनेपर किञ्चित् कालको किञ्चित् राग द्वेप रहे तो उसका क्या मूल्य? रागादि भी शीघ्र निवृत्त हो जाते है। राग द्वेष मोहके अभाव होनेपर कर्मका अभाव हो जाता है, कर्मबन्ध तो रागद्वेपमोह मूलक है। रागके सर्वथा नाश होनेपर किञ्चित् कालको कर्मका आस्रव होता है सो होओ, वहां बन्ध तो होता ही नही। कर्म प्रकृति आई और गई। इसे ईर्यापथ आस्रव कहते है। शीघ्र ही इस आस्रवका भी अभाव हो जाता है। जब कर्मोंका मूलसे अभाव हो जाता है तब शरीरका भी अनन्त कालतक याने सदाको अभाव हो जाता है। शरीर ही तो ससारकी मूर्ति है। शरीरका अभाव हो जानेपर ससारका अभाव हो जाता है। तथा संसारका अभाव एक बार होना चाहिये। फिर तो सदाके लिये संसारका अभाव हो जाता हैं, क्योंकि एकबार शुद्ध होनेपर कर्मबन्ध या रागद्वेप आदि होनेका कोई अवसर ही नही रहता।

जब रागादिका अभाव होता है उसी कालमे सवर होता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, जिससे पूर्वमें बधे कर्म निर्जराको भी प्राप्त

होते हैं याने जिन कार्माणवर्गणाओ मे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बन्ध होता है, उनका भी अभाव हो जाता है, ऐसा नियम है। मित्र मिट चुका, मतलब मित्र मर गया नही है, किन्तु मित्रता नही रही। कर्मका अभाव हो गया याने कार्माण वर्गणाओमे प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग बन्ध न रहा। कार्माणवर्गणा के द्रव्यका सत्यानाश नही होजाता है। कार्माणवर्गणायें अकर्मरूप होगई यह अर्थ है। राग द्वेषके अभाव होनेसे शेष कर्मोका अभाव अपने आप हो जाता है। कर्मके सम्बन्धमे दुनियाके सभी लोग सोचते हैं, कोई कहते हैं ब्रह्माजी ने ललाट मे कुछ लिख दिया है, वही कर्म है। कोई तकदीर बताते है, परन्तु वास्तवमे कर्म क्या है ? इसका जैन दर्शनके सिवाय अन्यत्र विवरण नही मिलता। जगतमे अनेक पुद्गल परमाणु स्कन्ध हैं, उनमेसे कुछ नही दिखते, जो नही दिखते उनमे कुछ ऐसे हैं जो आत्मामे रागद्वेष करें तो सम्बन्ध को प्राप्त होकर कर्मरूप हो जाते है। कर्मके बिछुडनेमे सुख होता है और दु ख भी होता है। कार्माणवर्गणायें सम्पूर्ण जगतमे व्याप्त हैं। वे सर्वत्र हैं उनमेसे जीव बाधता है, इतना ही न समझना किन्तु कार्माणवर्गणायें प्रत्येक जीवके साथ लगी हुई हैं। उनकी बात कही जा रही है जो कर्मरूप नही हुए। कर्मरूप हुए ऐसी कर्माणवर्गणाये तो बद्ध हैं ही, किन्तु जो कर्मरूपसे नही लगी वे भी जीवके साथ हैं। इनका नाम है विस्रसोपचय। जो विस्रसा अर्थात् स्वय याने बिना प्रयोगके जो ढेर लगा रहता उसे विस्रसोपचय कहते हैं। कार्माणवगणायें और विस्रसोपचयका आत्माके साथ सबध है। कार्माणवर्गणामे तो दोनो प्रकार आ जाते है। विस्रसोपचयमे अकर्मरूप समझना। कार्माणव-र्गणामे कर्मकी स्थिति अनुभाग हो जाना है उसका जीवके साथ बन्ध हो जाता है किन्तु रागद्वेषके दूर होनेपर कमवर्गणायें झड जाती हैं।

### कर्मकी दृष्टिसे कर्म नहीं हटते

किसी सेठकी गीली धोती जमीनमे गिर गई और उसमे धूल लग गई (चिपक गई) नौकर आकर धोतीको उठाकर चिपकी हुई धूल छुडाने लगता है, किन्तु विवेकी समझदार सेठ उससे कहता है गीलेमें छुटानेसे और अधिक खराब हो जायगी, सूकने डाल दो तो सूकनेपर अपने आप छूट जायगी, इसी

प्रकार कर्मको खत्म करनेके लिये मैं अमुक काम करूँ तो कर्म हट जायगा योही विकल्प करके कर्म हटाना चाहता है परन्तु कर्मके झडनेका उपाय विकल्प नही है। रागद्वेष हटाकर अपने स्वभावको भेदविज्ञान द्वारा यथार्थ समझो और स्वभावकी उन्मुखतासे प्राप्त करो।

जो कर्म अनादिसे आत्माके साथ लगे हुए हैं, वे झटते कैसे हैं—इस बात को समझो। जैसे आत्मामें कर्म दस हजार वर्षकी स्थितिके मौजूद हैं, तवभी ज्ञानीके वैराग्यके संभालनेपर एक क्षण मात्र ध्यान लगानेपर कर्मोंमे कैसी खलबली मच जाती है जिसका कोई पार नही। एक वर्षमे १२ माह, १ माहमें ३० दिन, १ दिनमें २४ घन्टे, १ घन्टेमे ५० मिनट, १ मिनटमे ६० सेकेण्ड, एक सेकेण्डमे अनगिनती आवली, आवलीमे अनगिनती समय उसमे एक एक समयके कर्म निषेक, जो एक एक समयमे उदयके आवेंगे उन सबकी ऊर्ध्व रचना करलो। एक एक बिन्दुकी जगह एक एक समय रख लो। क्यो भाई वह लकीर कितनी बडो हो जावेगी। पूरे गज बराबर ? नही और वडी, इतनी बडी कि १३ राजू लम्बी भी हो तो भी उसपर कर्म निषेक रचना पूरी न होगी। खैर !! निर्मल परिणाम होने पर एक आवलीसे ऊपरके वे सारे कर्मनिषेक निक्षेपविधिके अनुमार नीचेके यथायोग्य सब समयोमे मिल जाते हैं सो पूर्व नियत निषेकोके साथ उदयमे आकर झड जाते है। केवल कुछ अधिक एक त्रिभाग उदयावलीके समयोम नही मिलते याने वहा अपकृष्ट द्रव्य नही आता। देखो भैया ज्ञानवल सभला कि स्वय कर्मो मे गडबडी झडझडी हो जाती है।

थोडी सी असावधानीका भयकर परिणाम

एक समयके मोहमें सत्तर कोडाकोडो सागरकी स्थितिवाले कर्मोंका सम्बन्ध हो जाता है तो ज्ञानमे भी ऐसी अद्भुत शक्ति है कि एक समयके ज्ञानमे प्राय: कोडाकोडी सागरकी स्थिति वाले कर्म परमाणु झड जाते है। दुनिया तो वाह्य पदार्थोंमें मोहित होकर हाय पैसा हाय पैसामे लगी है, परन्तु पैसासे तो कर्म झडेंगे नही। भैया यदि आपको अपनी आत्मापर दया आती हो तो ससारमे मो न करो। दुनिया जाने या न जाने, दुनियाको जानो या न जानो, जाननेसे तो विकल्प ही होते हैं, इससे न जानना ही अच्छा है। आत्मीक स्वरूपको

जानकर, उसीमें लवलीन रहो। प्रशसा नामवरी, कीर्तिकी कोई इच्छा न करो। दुनिया तो झूठ है, अतएव इसके बलपर मोक्षमार्ग नही मिल सकता यदि मोह को और ससारकी झझटोको छोडकर मोक्षमार्गमे लग जाओगे तो स्वयंको आनन्दका धाम बना लोगे।

### लौकिक सुख पुण्यके नाशसे मिलता है

लोग समझते हैं, अमुकका बडा पुण्योदय है, सम्पदा है, परिवार है, सब प्रकारके साधनोसे युक्त है, इससे बडा सुखी है, परन्तु इस बातको भलीभाति समझलो कि ससारके सुख, पुण्यके विनाशसे होते हैं। जो पूर्वमे पुण्य कर्म बाधा था वह सत्तामे है, सत्तारूप कर्मसे सुख नही मिल सकता। जब तक कर्म सत्ता मे रहेगा, सुख नही हो सकता। पुण्यका उदय होनेसे याने पुण्यके हटनेसे ससार के सुख मिल सकते हैं। जैसे सूर्योदयका मतलब होता है कि सूर्य अपने स्थानसे चल दिया है, इसी प्रकार आत्मासे पुण्यके निकलनेका नाम पुण्योदय है, इसीसे ससारके सुख मिलते हैं। ससारकी मौज जिसे मिल गई, उसके पुण्यका नाश हो रहा है ऐसा विचारो, क्योकि पुण्यके नाशसे सुख मिलता है। यही नाश शब्द का अर्थ उदय है। यदि पुण्यका नाश होता रहे और नया पुण्य न आवे तो सुखकी परम्परा नहीं चलेगी, जब, पुण्य ही गाठमे न रहेगा तब सुख कहासे मिल सकता है ? वह सुख दुख ही है।

सिद्ध भगवान् निकम्मा अर्थात कर्म रहित है। निकम्मा शब्द निष्कर्मा या णिक्कम्मा का अपभ्रंश है जिसका शुद्धरूप निष्कर्मा होता है। जो जीव निष्कर्मा है, उसको परम आनन्द है क्योकि निष्कर्म जीवके पुण्य पापका अभाव है, इससे आत्मामे आकुलताका अभाव है। जहा आकुलताका अभाव है, वही आत्मीक सुख है। विशेषका आदर सामान्य आत्मामे नही लाना चाहिये। उससे आकुलता आ जाती है। जैन धर्मका ये सिद्धान्त है कि मूर्ख, पडित, मुनि, त्यागी, श्रीमान्, आदिक न देखकर एक सामान्य जीवतत्त्वको देखो। सत्वेषु मैत्री, प्राणियोमे समता भावसे मित्रता करना है, सबको समान दृष्टिसे देखना है। वृक्ष कीटाणु पतग आदिकको भी समान दृष्टिसे देख सकते हो। सामान्य दृष्टि से देखनेमे आत्माका सहज चैतन्य स्वभाव आता है; इसी दृष्टिसे देखना है।

चैतन्य स्वभावकी दृष्टिसे, स्वभावकी दृष्टिसे, सहजभावकी दृष्टिसे समान देखना। जब आपका और विकल्पोका सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा तब अनन्त सुख अन्तर्मुख चैतन्यमे रहेगा, वही निर्विकल्पित समाधि है। अपने चैतन्य स्वभाव पर दृष्टि लगाओ, किसीका चिन्तवन यदि अन्य पदार्थकी ओर होवे तो वह भी हटाओ। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग रहे इससे बढकर अन्य कुछ नही है।

हम आपका बड़प्पन अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगमे है।

जडकी कमाईके लिये रात दिन पसीना बहा रहे, घायल हो रहे, अनेक विपदाओको सहन कर रहे, फिर भी छोडनेकी इच्छा नहीं, ज्ञानके लिये क्या यत्न करते, थोडा विचारो तो। ज्ञान ऐसी कोई बाह्य वस्तु नही। जो पानीको तरह भर जाय। आपको स्वय चिन्तवन करके, मनन करके ज्ञानकी प्राप्ति करना है, तभी सुख मिल सकता है। शरीरके एक परमाणुमे भी सुख नही है, हित नही, भलाई नहीं है। जिनको पुत्र मानते वह आज्ञानुसार नही चलता तो वडा दु:ख होता है। गृहस्थीकी झझटोमे फसे रहने वालो! तुम स्वय निर्णय कर लो कि जिसके लिये तुम रात दिन हाय हाय कर रहे हो वे मरने पर तुम्हारा कुछ भला कर सकते हैं क्या? एक सेठ पाच लाखका धनी था। उसके ४ लडके थे। सेठने चारो लडकोको एक एक लाख रुपया देकर अलग कर दिया। अपने हिस्सेके एक लाख रुपए निवास स्थानके कमरेकी दीवालोमे भरवाकर बन्द कर दिए।

एक दिन सेठ अधिक बीमार हो गया। यहाँ तक कि उसका बोलना बन्द हो गया, पच लोग एकत्रित हो गये। वे सेठजी से बोले कि इस समय कुछ दान पुण्य करलो। तब सेठने हाथके इशारेसे बताया कि दीवालोमे एक लाख रुपया भरा है, वह सब मैं दानमे दे रहा हू। पचोंने सेठके लडकोसे पूछा, सेठजी क्या कह रहे हैं? लडके बोले—सेठजी यह कह रहे हैं कि दीवालोके बनानेमे रुपया सब खर्च हो गया हम कुछभी दान नही दे सकते। लडके यद्यपि सब समझ गये थे और सब हाल ज्ञात था तबभी पिताजीका रुपया हम लोगोको मिल जाय इस अभिप्रायसे उल्टा बतला दिया। लडकोकी बातोसे सेठके मनमे बडा दुःख हुआ, पर बेचारा करही क्या सकता था? सम्पत्ति होते हुए भी नही दे सका,

शायद उसने सम्पत्ति अन्यायसे कमाई थी। पापसे कमाई सम्पत्ति त्याग देनेसे पाप भी दूर हो जाता है। जैसे किसी बाह्य अर्थमे राग किया तो उसका संग्रह कर डाला। अब यदि उस सारे संग्रहसे मुख मोड़ ले तो यही बात हुई न कि सारा राग मिटा दिया। इसी तरह यहा भी लगाओ—पाप करके धन कमाया और सारे धनको त्याग दो तो यही सिद्ध हुआ न कि वह सारा पाप मिटा दिया। आत्मा विवेकसे विचारे और अपने कर्तव्यकी ओर झुके।

पापके हेतु आप ही है

यह जीवलोक सब स्वार्थका अर्थी है, यहा कोई वास्तवमे मित्र हो ही नहीं सकता। जैसा हम करना चाहते वैसा ही दूसरा करनेको मिल जाय तो दोस्त, न मिले तो शत्रु। सिनेमादि पापके बुरे कार्यों मे लगे व्यक्तिको कोई साथी मिल जाय तो मित्रता हो जायगी। अपनी इच्छाके सदृश दूसरेकी इच्छा दिख जाय तो वही मित्रताकी कल्पना हो जाती है। पर वास्तवमे जब आत्मज्ञान हो जायगा तब मालूम होगा कि मेरा हित स्वदृष्टिमे है। स्वकी वह दृष्टि है जिससे संसार के जन्ममरणादि दु.खोंसे छुटकारा हो जाता है। वह स्वदृष्टि निश्चयनयसे होती है। जैसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे कर्म आये थे वैसे ही खिर जायगे। यह निमित्तनैमित्तिक-पद्धति है। आत्मा वैराग्य करे तो कर्म स्वयं झड़ जाते, नये कर्म नही आते। जबसे संवर मित्र बनता है तबसे अन्त.आत्मा पवित्र हो जाता है और फिर वह कभी साथ नही छोडता। निर्जरा साथ छोड देता है, मोक्ष साथ छोड देता है, क्योकि वह एक समय तक रहता है। छूटनेका नाम मोक्ष है, छूटना एकही समयमे होता है। देखो ये सब नही रहते और संवर बना रहता। अगर सिद्धोमे संवर न हो तो संसारमे उन्हे आना पडे।

कर्मों के अभाव होनेसे शरीरका अभाव हो जाता है, शरीरका अभाव होने से संसारका अभाव हो जाता है।

व्यवहारका उपयोग व्यवहारमे है

शरीरमे आत्माका एक क्षेत्रावगाह है, जैसे—ईंधनमे आग। शरीरमे आत्मा के प्रदेश हैं। इस समय वे अलग नही हो सकते, लौकिक क्षेत्रान्तरकी दृष्टिसे, किन्तु स्वक्षेत्रकी दृष्टिसे तो अलग ही है। व्यवहारकी बात देखना पडती है।

जैसे किसीने निमन्त्रण किया और कहा कि अकेले भोजनको आ जाना, वह पहुचा तो कहा तुम शरीर (पिंडोला) क्यों लाये ? अकेले क्यो नही आये ? परन्तु शरीर अलग बना रहे, आप अभी यहा आ जावें, ऐसा हो नही सकता। हा, चौदहवें गुणस्थानमे यह स्थिति है कि आत्माका देहसे सबध नही, तेरहवें गुणस्थानमे आङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयके अभाव हो जानेपर चौदहवें गुणस्थान मे शरीरमे आत्माके प्रदेश वैसे हो जाते है, जैसे शीशीमे पारा अथवा सब पोलें भर जाती हैं। आत्माका वह रूपक बन जाता है कि जैसे सिद्धोमे आत्मा है वैसी ही चौदहवें गुणस्थानमे है। सिद्धोमें शरीरका आकार बाहरके आकारके हिस्सेमे नही बढता। चौदहवे गुणस्थानमे पोले भर जाती हैं। पोलें भर जाने से शरीरके आकारके प्रदेश बढ जाते हैं, पर वे भीतरकी ओर। सिद्धोका शरीर पूर्व शरीरसे कुछ न्यून हो जाता है। इसका यह मतलब है कि बाहरी शरीरका हिस्सा निकल जानेसे, कटोरीमे, पानीके प्रदेशकी तरह कम है। जीव चौदहवें गुणस्थानमे जिस रूपसे था, उसी रूपसे सिद्ध अवस्थामे है। हमने शरीरके नख, बाल ऊपरी अति सूक्ष्म चमडीको भी अपना शरीर मान रखा पर उसमे आत्माके प्रदेश नही हैं, इसीसे तो उसके काटनेमे दु:ख नही होता। जबतक शरीर है, तबतक अनेक विकल्प है। आत्मप्रदेश भीतरी दृष्टिसे घन है, शरीरसे छुटकारा होनेपर, न रहा बास न बजेगी बासुरीकी कहावतकी तरह विकल्पोका अभाव हो जायगा।

### आश्रय, निमित्त व उभय

बाह्य अर्थोंके सम्बन्धमे तीन प्रकारसे जानना चाहिये (१) आश्रय, (२) निमित्त, (३) उभय—धनधान्य घर चित्र आदिक रागादिभावके आश्रय है। द्रव्यकर्म रागादिभावके निमित्तभूत है, किन्तु शरीर रागादि भावके आश्रय भूत भी है और निमित्तभूत भी है, इसीसे शरीरको नोकर्म भी कहा गया है। उदयमे आये कर्मोका वियोग होता है तो होने दो, चुपचाप भीतर की सभाल करलो। एक शुद्धस्वरूप चैतन्य भाव जो निरन्तर प्रवृत्त हो रहा है; दूसरा यह है विभाव भाव जो होकर विमुख हो रहा हैं। दो दवा है, खर और मिश्री तुमको जो रुचे उसे ग्रहण करो, न्यायमे ही ससार और मोक्ष मिलते हैं।

लोग विवाह कराकर फदेमें फस जाते हैं, विवाह करानेमें तो आनन्द मानते है फिर आगे जाकर गृहस्थीके चक्करमें पड़ जाते हैं तब आकुलता होजाती है। मन्दिरमें भी आये और व्याख्यान सुना उसे सुनकर आकुलता दूर करनेका प्रयत्न किया किन्तु झझटोंके मारे न कर सका, इससे आकुलता और भी बढ़ गई। अस्तु, राग करना मेरा काम नही। मेरा ज्ञाता दृष्टा रहना ही कर्तव्य है।

## आनन्दका मूल है सम्यग्ज्ञान

जब भेद विज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप विदित हो जाता है अर्थात् मैं समस्त पर्यायोंसे अतीत चैतन्यमात्र हूँ ऐसा निर्णय हो जाता है, जीव उसी समय निर्विकल्प होनेका पात्र बनता है। निर्विकल्प भावके अतिरिक्त मोक्षमार्ग कुछ भी चीज नही, जितना निर्विकल्प भाव है, उतनाही मोक्ष है—और जितना सविकल्पभाव है, उतना ही ससार है। कोई सविकल्प भाव हो वह भाव चाहे पापरूप हो चाहे पुण्यरूप हो, वह सब ससार ही है। निर्विकल्प भाव आनन्द का रूप है।

आनन्दके लिए निर्विकल्प परिणामकी आवश्यकता है। यह निर्विकल्प परिणाम स्वके ज्ञानसे व आश्रयसे ही होता है। ज्ञानी जीव अपने आपकी समझसे विचारता है कि मैं इस शरीर रूप नहीं मैं पुरुषभी नहीं हूँ, स्त्री भी नही हूं, कोई जाति कुल भी मेरा नहीं है, मैं त्यागी व्रती श्रावक साधु कुछ भी नही हूँ, या ये कोई भी परिणमन मेरे नही हैं, ये सब पर्यायें किसी निमित्तवश मुझे प्राप्त हुई हैं, नश्वर है, एक न एक दिन मुझसे अपने आप पृथक् होगी। मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, ऐसी दृढ भावनासे उपरोक्त विशेषो (पर्यायो) की ओरसे दृष्टि हटकर सामान्यकी ही दृष्टि शेष रहती है। मानवके रूपमें आये हुए इस आत्माने बाह्य सब कुछ देखा व स्त्री, सतान, धन, शरीर, वैभव, पाण्डित्य सबकी सभालमें लगा रहा, परन्तु अपने आपके लिये न कुछ किया और न अपने आपको देखा। तीर्थयात्रा, पूजा तपश्चरण आदि आदिमें ही धर्म माना, मोक्ष माना, परन्तु धर्म व मोक्ष तो सामान्यदृष्टिसे मिलता है। केवल विशेष या पर्यायोकी दृष्टि से धर्म व मोक्ष नही हो सकता। धनसे, तनसे, प्रभुतासे, उच्चपदसे, मान्यतासे, विद्वत्तासे या

साधुत्वसे किसीभी प्रकारकी बनावटसे आत्मा बडा नही होता, परन्तु विशेषण व पर्यायको गौणकर अनादि अनन्तचतुष्टय रूप स्वसवेद्य चिच्चमत्कार मात्रही जिसका माहात्म्य है, वही आनन्दका मूल है। जब जीवके ऐसी निर्विकल्पकता उत्पन्न होती है, तब अपने आप एक आवलीसे ऊपरके सागरो तकके कर्म एक साथ झडकर नीचेके समयोमे आ जाते है, और वे एक समयमे झड जाते हैं, परन्तु ऐसा करना भेदविज्ञानीको ही ताकत है। इसमें लक्षाधीशत्व, पांडित्य या ऊपरी साधुत्व आदि समर्थ नही होते।

खूनसे जैसे खूनका दाग नही धुलता, वैसे ही कषायसे अशान्ति दूर नहीं होती।

## सम्यक्त्वमें आनन्द रहता ही है

सम्यक्त्व एक ऐसा भाव है कि जिसके होनेपर ऐसा भाव आता है कि दुनियाका एक परमाणु भी मेरा नही, फिर जगत की बात क्या ? वह आनन्द-दाता कैसे हो सकता है ? आनन्द तो आत्ममननसे ही हो सकता है। हम आत्मतत्त्वकी बात बहुत करते हैं। सम्भव है कि महिलायें यह सोचती हो कि इनका उपदेश यदि पुरुषवर्ग मान बैठें तो हमारा बडा अहित होगा, परन्तु हम तो बहुत कहते है तो भी हमे विश्वास है कि ये सब प्राय: श्रोतामात्र हैं, आचरणकर्ता नही। हमारे कहनेका शतांश भी इन्हे ग्रहण नही करना है। घुणाक्षर न्यायसे कदाचित् कोई मान भी लें तो भी विश्वास रखो कि कोई किसीको दुखी नही कर सकता, सुख दुखके लिये किसीकी प्रतीक्षा नही करना पडती। अपनेको सुखी या दुखी आपही कर सकता है अन्य नही। किसीने गाली दी, आपने अपना भाव बनाया कि इसनें हमें गाली दी, आप दुखी होने लगे, प्रतीकारके साधन जुटाने लगे, परन्तु वास्तवमें गालीदाताने अपनेमे ही विकार किया, आपने तो कुछ नही किया। यदि आप अपनेमे विकार भाव न बनाते तो वह क्या करता ? वह तो तब निमित्त बना जब आपने अपने भावको विकृत बनाया। आप साधु जैसे सहनशील होते, शांत रहते, मानते कि यह कषायाविष्ट आत्मा कषायके वश हो कह रहा है तो आपसें भावोंमें कदापि विकार न होता, परन्तु आप अपनी प्रभुता खो बैठे। वहाँ दृष्टि न रहनेसे परमें

दृष्टि कर रहे हो। ये पुरुष विरक्त हों तो होने दो, आप अपनी सावधानी रखो व ऐसा करलें इनसे पहिले महिलायें ज्ञानी हो जावे।

## सिंहवृत्ति व श्वानवृत्ति

अपने आश्रयसे ही आपको आनन्द होता है, ऐसी अपनी श्रद्धा बनाओ कि मुझे सुखी या दुखी मेरा रागद्वेष आदि परिणाम ही करता है अन्य शत्रु और मित्र आदि नही। इसी भावका नाम सिंहवृत्ति है, सिंह पर जो प्रहार करता है, वह उस व्यक्तिपर ही आक्रमण करता है, हथियारपर नही।

मुझे अमुकने दुखी बनाया, अमुकने सुखी किया, अमुकने मेरा सत्कार किया और अमुकने मेरा अनादर किया, इस दृष्टिका नाम ही श्वानवृत्ति है। इनमे से सम्यग्दृष्टिके सिंहवृत्ति होती है और मिथ्यादृष्टिके श्वानवृत्ति होती है। जैसे कुत्ता आक्रमण करने वालेपर लक्ष्य न कर शस्त्रको चबाता है, यही भाव मिथ्यादृष्टिका हो ा है। मेरे दुखदायक मेरा ही परिणाम है इस ही विभाव को मेटेंगे इस भावका नाम सिंहवृत्ति है।

ऐसा विवेक हो जानेपर रागद्वेषको दूर करना मात्र प्राणीका कर्तव्य रह जाता है। अव्रती या व्रती श्रावक या गृहस्थके भी यह सिंहवृत्ति हो सकती है। जिसे निजमे निजका और परमे परका बोध हो जाता है, उसके व्रतादि न होने पर भी यह सिंहवृत्ति हो सकती है।

## रागादि दूर करनेका यथार्थ उपाय

रागादि दूर करनेका अमोघ उपाय स्वभावदृष्टि है। निगोद आदि पर्यायो से निकलकर बडी कठिनाईसे आज मानव पर्याय, उत्तम श्रावक-कुल जैनधर्मका आश्रय आदि सुयोग पाये हैं, परन्तु ये सभी नष्ट या दूर हो जाने वाले हैं। इनका ऐसा उपयोग करो कि जिससे आप मोक्षमार्गपर बढते जाओ। यदि इनको पाकर मोक्ष मार्गपर बढना न बन सका तो इनके पानेका कोई सदुपयोग नहीं हुआ।

मानव अपने चर्म-चक्षुओका उपयोग बाह्य स्त्री, सुन्दर वस्तु आदिके अवलोकनमे करता है परन्तु वह अवलोकन उसका विकार है, इसी प्रकार अन्य इंद्रियोके विषय अन्य इन्द्रियोके विकार है। विकार वास्तवमे आनन्दके

कारण कभी नही हो सकते। आनन्द तो अपने आपके अनुभवसे अपने आपमे होगा।

न तो कोई किसीका स्वामी है न, कोई किसीका सेवक, न कोई किसीका रक्षक, न कोई किसीका भक्षक, न कोई छोटा है, न कोई बडा है, ऐसा सोच कर अपनी सावधानी करना ही सिंहवृत्ति है, और इससे विपरीत विचार सिंह वृत्ति नहीं। जीवधर मरघटमे पैदा हुये। गन्धोत्कट सेठने पालन-पोषण किया। नारद जगलमे पैदा हुये, देवोने सहायताकी। केवल सुसाधनोंसे ही कोई छोटा या कोई बडा नही कहा जा सकता।

बच्चा छोटा भी हो, परन्तु पितासे भी विशेष पुण्याधिकारी निकल जाय। कही पिता जेठा होकर भी पुण्याधिकारी नही देखा जाता है। कभी पिताको कोई नहीं पूछता और बेटेको जगत पूजा करता है। इससे वय या धनके महत्त्व से ही व्यक्ति महान् होता है, यह बात नही बनती; पुण्य और पापसे ही मानव छोटा या बडा माना जाता है। वास्तवमे निर्मलतासे महान् व मलिनतासे अधम आत्मा होता है।

### प्रत्येक पदार्थ स्वयमे ही परिणति करते

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कभी कुछ नही कर सकता; वे अपने उपादानसे ही परिणमते है। जहा परिणमनमे निमित्त सहायक होता है वहां उपादानकी ही मुख्यता रहती है याने बाह्येतरोपाधि समग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभाव.।

स्त्री सतान आदिके पुण्यके निमित्तसे आप निरन्तर उनकी सेवा, शुश्रूषा या दासता करते हो उनसे प्रयत्न करते भी विलग नही हो पाते। करते रहो, परन्तु वास्तवमें उनपर अपना स्वामित्व अनुभव मत करो। मेरे बिना ये बरबाद हो जायेंगे यह कभी मत विचारो। बाह्यमे अपनेको सदा उनका दास या सेवक अनुभव करो। अन्तरगमे अपनेको सिद्ध समान देखो—अनुभव करो।

अपने स्वभावके विकास बिना हित नही हो सकता। मानव विचारता है कि ऐसा कार्य करूं जिससे लाखोका लाभ हो जाय फिर कुछ न करना पडे परन्तु मोक्ष या सम्यक्त्व हो जाय ऐसा एक बार भी विचार नहीं किया।

प्राप्त हुआ या संचित किया हुआ बाह्य ठाट-बाट तो मिट सकता है या

अनन्तानन्त है। अतः अरबो खरबो वर्ष भी बीत जायें यह ससार जीवो मात्रसे भी कभी खाली नही हो सकता, अरबो वर्षोके बीतनेपर भी एक एक निगोदमे तब तक हुये सिद्धोके अनन्तगुणे जीव मानने पडेंगे। फिर ऐसी ऊटपटाग चर्चाये दिखाऊ चिन्तायें अपनी मोहमलीममताकी सूचिकायें हैं।

फिर ससार खाली होनेकी आशकासे यदि अपने आपको नही संभाला तो पुनर्निगोदो भवका कथानक होगा। निरन्तर स्त्री पुत्र धन मकानकी समृद्धि करते रहे, उन्हीके दास आधीन बने रहे, अपने आपके प्रभुका गौरव नही जाना, उसे नही पहिचाना तो बडा खेद है और इसी भूलसे प्राणीको निम्नगतियां भी प्राप्त होती है।

### स्वरूपको देखो, छोटा बडा कोई नहीं है

दुनियांमें न तो कोई बडा है और न कोई छोटा है। आत्मदृष्टिसे सभी समान है। सभीमें वह सर्वशक्तिमान आत्मप्रभु प्रविष्ट है, छोटे बडेकी कल्पना पर्याय दृष्टिसे है। वह नष्ट हो जाती है। पर्यायदृष्टिसे जो आज छोटा है। वह कल बडा हो जाता है। जो आज बडा है, वह कल छोटा हो जाता है, परन्तु सामान्य आत्मा सदा सदृश रहता है आत्माका भान होनेपर छोटा और बड़ा दिखता ही नही, इस भावको स्तीफा ही दे दिया जाता है। छोटे-बडे धनी निर्धन मालिक नौकरका विकल्प ही विगाड़ है। एक सामान्य दृष्टि जिसमे सब समान दिखते है, वही हित है।

स्वस्वरूपाववोधका बडा महत्व है, वह न हो तो जिसे बड़ा माना जाता है वह चकराता रहे और जिसे वह हो जाय वह छोटा भी है तो भी तिर जाय, इसलिये स्वरूप दृष्टि करो। जहा छोटे और बडेका विकल्प नही ऐसे परिणामोसे ही अध करण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण परिणाम व सम्यग्दर्शन बनता है। यह सम्यग्दर्शन देवपूजा स्वाध्याय आदिसे नही बनता न प्रभुकी भक्तिसे ही बन सकता है। सच्चे प्रभुने तो यह बताया है कि हमे भी सोचते या पूजते रहनेसे ही सम्यक्त्व नही होता। सच्चा सम्यक्त्व पाना है तो हमारा भी विकल्प छोड़ कर सहज शुद्ध चैतन्य प्रभुकी उपासनामे लग जावो। सब कुछ हो परन्तु जब तक आत्मानुभूति नही होती तब तक भला नही होता। जब ज्ञानीका विवेक

सभालता है, तब वह प्रभुको भी छोड अपने आप का अनुभव करने लगता है। वास्तवमे प्रभुकी भक्ति भी निश्चय कल्याणमे बाधक है।

जिसने अपनी प्रभुताको नही सम्भाला वह संसारमें दीन होकर रहता है, घर घर का भिखारी होता है। अपनी शक्तिके आधारसे ही अपनी सत्ता है उस का दुरुपयोग करना अपना घात करना है। अनन्त बलका धारी आत्मा भी पराधीन होकर दुर्गति का पात्र बनता है। पराधीनता किसी भी हालतमे सुखकारी नही; इसके वशीभूत होकर यह जीव नाना गतियोमें नाना दुर्गतिका पात्र होता है।

### अपने परिणमनमे भी आत्मबुद्धि न करो

यही भाव होनेपर समझना कि प्रयासका साफल्य है, केवल बाह्य पदार्थों के प्रति नाना प्रकारकी गुनगुनाहट रही तो कल्याण नही हो सकता। साधु तो दर्शनाचार, चरित्राचार, समाचार, समिति, गुप्ति आदिको भी हटानेकी भी भावना करता है, तुम भी मेरेसे हटो, मुझे तुमसे भी काम नही, मुझे तो अपने शुद्ध परिणमनमे ही आनन्द है, फिर परको बुलानेसे क्या लाभ ? किन्तु साथ यह काम भी चल रहा है कि जब तक शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहीं हुई तब तक आचारो ! तुम बने रहो।

ठड तभी तक लगती है जब तक पानीमे छलाग नही मारी जाती जब तक दृढता नही बाधी तभी तक डर है। एक बार निर्विकल्प स्थितिका अनुभव किये सब विकल्प सदाको हट जाते हैं, फिर तो शरीर कुटुम्ब इज्जत आदिकी खबर नहीं रहती, यही भाव उपादेय है।

### सर्वोपरि विभूति-आत्मोपलब्धि

सिद्ध भगवान्के शुद्ध आत्माकी उपलब्धि सदा रहती है उनका परिणमन अद्भुत होता है, जिसमे कर्मवर्गणाओ व नोकर्मवर्गणाओ, रागद्वेष आदि विकल्पो का सद्भाव नही होता, केवल अपना स्वाभाविक परिणमन बना रहता है, यही उनका अनुपम परिणमन है। वे निरन्तर आत्माके अनुभवमे लगे रहते हैं, जिसकी उपमा ससारमे किसी पदार्थसे नही दी जा सकती।

शुद्ध आत्माकी उपलब्धि सदा प्रवर्तमान रहती है, इसमे ज्ञानादि गुण स्वाभाविक परिणमनसे परिणम जाते हैं। सभी गुण विद्यमान हैं। जीवका बडप्पन परिणामोकी निर्मलतामे है। कभी पुण्यके उदयसे, कुछ क्षणिक इज्जत, धन, सम्पत्ति पाकर मानव हठमे आ जाते है, जिसके जैसी कषाय आई वह वैसी वृत्तिमे उतारू हो जाता है, परन्तु यह सब पुण्य नश्वर है। अहो मोही प्राणियो ! दो दिनका राज्य पाकर इतने नखरे करते हो, इतराते हो, सिरपर धन, बडप्पनका भूत सवार रहता है, ससारमे ऐसा क्या प्रलोभन है ? आज जो अच्छी स्थितिमे है वह पाच मिनिट बाद धूलीमे मिल जाता है, ऐसा भी होता रहता है।

अभी सुननेमे आया था कि बिहारमे, बगालमे तो बाढ आती है, किन्तु जहा कभी बाढ नही आती थी वहा भी इस वर्ष बाढें आईं। मुजफ्फरनगरमे कभी बाढ सुनी ही न थी, अभी मुजफ्फरनगर बाढसे ग्रस्त हुआ है। वहाका समाज परम धार्मिक है, धर्मायतन भी अच्छे है, परन्तु वह भी आज विपदाग्रस्त है। लाखोका नुकसान हो गया, अचानक किसपर कब क्या ढा जायगा या कल क्या होगा पता नही। जिसपर तुम इतराते हो इतरा लो, पुण्यका नाश होते ही हर वस्तु स्वय तुमसे पृथक् हो जायगी।

## सपदा व आपदा दोनो समान हैं

संपदा भी एक आपदा है, यह जीवन तो "सब कुछ" के मर्मको जानता है और न कुछ के मर्मको जानता है, किन्तु दोनोंके ही बीच पड सबको सब कुछ मान बैठता है।

जब तक ज्ञान नही होता प्राणीका उद्धार नही हो सकता। इसलिये ज्ञानाराधनका ही यत्न होना चाहिये। जब तक अज्ञान नही हटता, तब तक ज्ञानकी प्राप्ति व आत्माका हित नही हो सकता। यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब प्राणी, जिस किसी भी स्थितिमे हो और स्थितिके काम भी करता रहे तो भी वह मोक्ष मार्गसे च्युत नही कहा जा सकता। जिसकी ज्योति प्रकट हो गई है उसे जगत्मे कुछ भी करनेकी श्रद्धा नही रहती। स्वरूपाचरण अतरमें सदा रहता है, जिसमे ४१ प्रकृतियोका सवर अनवरत रहता है। जैसे सवर दो प्रकारका

है, इसी प्रकार आस्रव बध निर्जरा और मोक्ष भी दो-दो प्रकारके हैं, द्रव्य और भाव अथवा चेतन या अचेतनके भेदसे। इसी कारण ये तत्त्व द्विष्ठ कहे जाते हैं, जीव और अजीव एकनिष्ठ तत्त्व हैं, आस्रवादि पाचोका सम्बन्ध जीव और अजीवसे हैं।

विविध अभिप्रायो द्वारा स्वीकृत तत्त्व वास्तविक इस कारण नही हैं कि किसीके द्वारा स्वीकृत तत्त्व तो न्यून है और किसीके द्वारा स्वीकृत तत्त्व अधिक है।

### सबका अतर्भाव इन सातों तत्त्वोंमें हो जाता है

परन्तु जिनेन्द्र द्वारा स्वीकृत तत्त्व ही ऐसे हैं कि उनमे सभी तत्त्वोका अर्न्तभाव हो जाता है। आना, बधना, रुकना, झडना, छूटना ये आस्रव आदि के स्वरूप हैं। वास्तवमे आस्रव तत्त्व नही आस्रवत्व आस्रव तत्त्व है, इसी प्रकार, बध संवर निर्जरा मोक्ष तत्त्व नही, किन्तु बन्धत्व, सवरत्व, निर्जरात्व और मोक्षत्व तत्त्व हैं।

भावसवर जीवका सवर है और द्रव्य सवर अजीवका सवर है। जीवके निर्मल, स्वाभाविक और कर्मरोधक परिणाम जीव सवर हैं और कर्माण वर्गणाओके द्रव्यरूप कर्म न हो सकना द्रव्य सवर है अर्थात् कर्माण वर्गणाओका कर्म रूप नही होना ही द्रव्य सवर है।

जीवमे शुद्ध भावका रहना हो भाव सवर है जो गाली देता है वह तमाचे खाता है। यदि गाली न दे तो तमाचे न लगे, इसी प्रकार यदि प्राणी विभाव हीन करे तो कर्म कैसे आवे, रुक न जाय। विभावोको न अपनाकर जब प्राणी अपने शुद्धोपयोगको सभालता है, तब कर्म रुकते हैं।

आपका किस पर वश चलता हैं, किसीका किसी पर कुछ वश नही चल सकता। अपना लडका भी अपने आधीन नही रह सकता, अपना शरीर भी अपने आधीन नही।

कोई कहे कि शरीर कैसे अपने आधीन नही, वह तो सदा आत्माके ही साथ चलता है, परन्तु यह बात ठीक नही, शरीरको आप नही चलाते हो, आप तो शरीर चलानेके केवल भाव या विचार मात्र कर सकते हो, आपका शरीर

चलाने का भाव या विचारकी स्थिति (परिणति) पाकर योग होता है, उसके निमित्तसे कायवायुकी वृत्ति, उससे शरीर चलने लगता है, परन्तु वस्तुके चतुष्टय पर ध्यान हो तो आपका परिणमन आपमे होगा और परवस्तुका परिणमन वस्तुमे, यह समझमे आ जावेगा ऐसी हालतमे शरीर स्वय चलता है, आपकी प्रेरणासे नहीं।

आत्मामे इच्छा होती है उसका निमित्त पाकर उसके अनुरूप आत्मप्रदेशीय-स्पद (योग) होता है। यह निमित्त आत्मद्रव्यका एक अंग है। योगको निमित्त पाकर शरीरकी भीतरी वायु (वात) हरकत करता है और उसको वात सचालन का निमित्त पाकर यह जड ढाचा हिलने लगता है। देखलो निमित्त नैमित्तिक तो हुआ किन्तु कर्ताकर्मभाव नही हुआ।

## परके परिणमनमे आपका अधिकार नहीं

शरीर बूढा हो जाता है, शिथिल पड जाता है। यदि शरीरके परिणमनमें आपका अधिकार होता तो आप उसे कदापि बूढा न होने देते, शरीरमे वात पित्त कफ आदि हो जाते है, यदि आपके आधीन होता तो आप कदापि न होने देते, परन्तु अज्ञानतावश ऐसी मान्यता हो जाती हैं ये शरीर मेरे अधीन है। हाँ, परस्पर निमित्त नैमित्तिक सबध अवश्य है कि यदि आत्मा ऐसी परिस्थिति वाला हो तो शरीर ऐसा परिणम जाता है अथवा शरीर ऐसी परिस्थिति वाला हो तो आत्मा ऐसा परिणम जाता है, यह निमित्त नैमित्तिक सबध होते हुए भी शरीर और आत्मा दोनोका परिणमन स्वतत्र है किसी का परिणमन किसीके आधीन नहीं।

शरीरसे आत्मा निकल जानेपर शरीर जला दिया जाता है, यदि अधिक धनी हुआ तो बाजे बजवाये जाते हैं, गरीब हुआ तो नहीं बजवाये जाते, परन्तु दाह सस्कार दोनोके शरीरका समान होता है। यह तो नही कि अमीरका शरीर जलाया न जाय या बरबाद न हो। जन्मकी सार्थकता तो स्वात्म हितमे है। जो मनुष्यपर ससर्ग करता है, वह संसार बंधनका पात्र होता है।

शरीर ही सब आपदावोका मूल है। शरीर न रहा संसार न रहा। ससार

का अभाव होनेपर सदाके लिये संसारका अभाव हो जाता है। इसका कारण क्या है ?

## शुद्धात्मोपलम्भस्य सदा प्रवर्तमानत्वात् ॥१३॥

संसारका अभाव होनेपर अनन्तकाल तक याने सदा तक शुद्धात्माकी उपलब्धि प्रवर्तमान रहती है। आत्मा सर्वथा सर्वदा शुद्ध ही रहता। ये मुक्त प्रभु सदा सम्पूर्णज्ञान और आनन्दमें रहा करते हैं। सर्वोत्कृष्ट पद यही है, यही परमात्मतत्त्व है।

### आनन्दात्मक स्वके आश्रयसे आनन्द

आनंद पाना है तो किसीको मत देखो, आनंद तो स्वतन्त्रतामें है, स्वतन्त्रता की दृष्टिसे देखो तो आनन्दके पास पहुंचोगे, न देखो. विकल्प करो तो विकलता—या विह्वलता ही हाथ आयेगी। स्वतन्त्रतामें कुछ भी विकलता या विह्वलता नहीं होती। मोहवश वृद्ध यह सोचता है कि बुढापेमें भी शादी हो जाय नहीं तो लोग कहेंगे कि रडुआ होकर मरा। एक सन्तानमें जितना कल्पित आनन्द रहता उतना चार सन्तानोंमें नहीं रह सकता, चारोंकी रक्षा समुन्नति, पालन पोषण, संपत्तिका विभाजन आदिकी चोगुनी शल्य बढ जाती है, यदि आत्मा या व्यक्ति अकेला ही रह जाय तो समझना चाहिये कि उसे हितका मार्ग मिल गया परन्तु इतना विवेक हो तब ना। कई विधवायें ऐसा कहते सुनी गई है कि हमारा ये वैधव्य हुआ तो अच्छा ही हुआ, हमारा क्या बिगडा, ज्ञान साधनामें लगे, बच्चोंकी भिष्टा न उठानी पडी, सेवा पालन पोषण नहीं करना पडा। विवाह शादी की चिंता नहीं करना पडी।

यदि शरीर भी पृथक् हो जाय तो कहना ही क्या है मोह, परिग्रह, ममत्व और परकृत विकल्प ही दुःख हैं, जितना ममत्व रखो उतनाही दुःख है, सच्ची बात माननेमें कौनसी आपत्ति है, आज न समझो जब समझ आवे तब मानना पडेगा कि परमें ममत्वसे हित नहीं।

## संवरो द्वेधा ॥१४॥ भावद्रव्याभ्यां जीवाजीवाभ्यां वा ॥१५॥ तद्द्वयं संवार्यसंवारकोभयम् ॥१६॥

## संवार्य संवारक रूप द्रव्यसंवर व भावसंवर

जीवके निर्मल परिणामका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणा कर्मरूप न बने इसीका नाम संवर है, यहाँ रुका कौन ? कर्म। रोद्धा कौन ? आत्मा। इसी प्रकार आत्मामे रागादि न होना संवर है। यहाँ रुका रागादि भाव और रोद्धा हुआ आत्मा।

भाव संवरका निमित्त द्रव्य संवर है और द्रव्य संवरका निमित्त भाव संवर है। भाव संवर रोकने वाला और रुकने वाला है, इसी प्रकार द्रव्यसंवर भी दोनो प्रकारका है, एकको संवार्य और दूसरेको संवारक कहते हैं। प्राणीने ऐसे संवर परिणामोको अब तक नही पाया, आस्रव इन सबोको ही अपनाता रहा, आस्रव संवरका विपक्षी है और संवर आस्रवका विपक्षी है।

## जिनका आखरी जीवन ठीक रहा वे महापुरुष हैं

जब तक निमित्त पर लक्ष्य रहेगा संसार परिभ्रमण होगा वैभव मान्यता उच्चपद आदिकी खूब प्रशंसा कीजिये इसमें हर्ज नहीं, परन्तु एकबार यह भी कह दीजिये कि हमारे कथित वैभवसे भी बडी विभूति चक्रवर्तीके पास थी, परन्तु वह सदा उसके पास नही रही, उनका भी संबंध छूटा, ऐसा विवेक आ जाय तो समझना चाहिये कि अब राह पर आ गये, दूधका धोया कौन है ? सभीके अन्दर क्रोध मान मायालोभ है, सभी कलुषित हैं, सारी जिन्दगी खराबी मे बीतने पर भी जीवनका कुछ या उत्तरीभाग निर्मल परिणामोमे बीत जाय तो बडी प्रशंसाके पात्र बन जाओ।

आगममे अंजन चोरका भी गुनगान किया गया, जुआरी पाडुओकी भी प्रशंसा की गई क्योंकि इनका उत्तरी जीवन अच्छा बन पडा। रामचंद्रका नाम न लेकर कहे कि एक व्यक्तिने गर्भवती स्त्रीको शीलवती जानकर भी जंगलमे छुडवा दिया तो लोग उसे घृणाकी दृष्टिसे देखेगें।

जिसका उत्तरी जीवन अच्छा बन जाता है, उसका गुणगान किया जाता है। ड्रामा देखने अनेक मनुष्य जाते हैं, क्या खेल खेला जावेगा ? इसका जिसे पता न हो, वह जब किसी दुख दर्दका सीन देखता है तो उसे रोना आ जाता है, परन्तु जिसे आद्योपांत हाल ज्ञात हो उसे यदि ड्रामेका उत्तरीय भाग सुखद

मालूम हो तो उसे रोना नही आता।

कोई अनतकालसे ही तो निर्मल नही रहा आया। सभीमे अनेक कलुषतायें रहीं, सुयोग आया और वे मिट गई। सम्यक्त्व अतर्मुहूर्तमे होता है। इतनेमें काम बना तो बन गया, देर हुई तो बात टली, सम्यक्त्व इससे ज्यादा समयमें होनेकी चीज नही। यदि अपने स्वरूपका ध्यान आ जाय, पर्यायज व विकल्प मिट जाय तो संवर या मोक्ष होते देर नही होती इसके लिये, अपनेमे होनेवाली "मैं मनुष्य हूँ, उच्चकुली हूं, श्रीमान् हूँ, विद्वान हूँ, अमुक हूं, तमुक हूँ," यह पर्याय बुद्धि या भावना बदलना होगी, तभी मोक्ष मार्गमे आरूढ हो सकोगे। मोक्षमार्ग तो आत्माश्रित है, शरीराश्रित नही, मैं अमुक जाति कुल आदिका हू, ये सब विडम्बनायें हैं। रागद्वेष विरोध और पक्षपातको बढ़ाते इससे खुदकी हानि होती है।

### जीवका बड़प्पन निष्पक्ष रहनेमे है

जीवका बडप्पन पक्षपात छोडनेमे है, किसीके परिग्रहमें, किसीके शरीरमें और किसीके जातिमे पक्षपात हैं, परन्तु बडप्पन निष्पक्षतामें ही हैं, पक्ष तो आत्मपर्यायोका भी बुरा है, वास्तवमे चित्स्वरूपका दृष्टा ही बडा हो सकता है।

हस हसनी थे। वे रात्रीमें कौओके निवास वृक्षके निकट पहुँचे। ठहरनेकी याचना की। कौओने ठहर जाने दिया, सबेरा हुआ, जाने लगे, तो कौआने हँसनीको पकड लिया। कहा—ये हमारी स्त्री है नही लेजा सकते। बहुत कहा सुना न माना, निर्णय के लिये पाच कौए पच चुने गये। अध्यक्ष बना, दो दो दोनोके पक्षमें हो गये, अध्यक्षने कौआको वोट दे दी। यह देखकर हस हसनी कौआ तीनो मूछित हो गये। दर्शकोने पूछा गश क्यो आया? हस हसनी ने कहा—चितामे। कौआसे पूछा—तुम्हें गश क्यो आया? उसने कहा—अपने पक्षकार तीनोका अन्याय देखकर गश आ गया।

पक्षपातियोंका बडप्पन खोगया, महत्व गिर गया। बडा वही है जो निष्पक्ष है। मानव धन वैभव आदिका पक्ष करता है, अपनेको धनी वैभवशील मानता है परन्तु ये सब पर्याये हैं न पर हैं, इन रूप अपनेको मत मानो, अपनेको अनादि अनन्त चैतन्य स्वाभावी मानो।

### अपनी परिणतिका पक्ष भी विडबना है

कुंवारी कन्या स्वच्छद फिरा करती है, परतु भावर पडते ही घटा भर बाद उसकी स्वच्छदता नष्ट हो जाती है, उसकी सारी चाल ढाल औरके और हो जाते, जहाँ अपनेमे वधूत्वका विकल्प आया वह तदनुसार भावोमें परिणत होने लगी, घू घट करने लगी, शर्म करने लगी, कुछ और ही भाव होगया। इसी प्रकार नरकमे पहु चते ही नारकी देव-पर्याय पाते ही देव और तिर्यक् पर्याय पाते ही तिर्यंच अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है और उन पर्यायोंके अनुकूल परिणत होने लगता है।

शरीरपर कुछ भी गुजरे, परतु उससे आत्माके प्रतीत आनदमें कुछ भी फर्क नही आता। सम्यक्त्वसे यदि आत्मबोध हो गया तो उसका आत्मापर कुछ असर नही होता, अपनेमे मनुष्यत्व रिश्तेदारी आदिकी भावना मत भाओ। भले ही मनुष्यत्व और रिश्तेदारीके काम करना पडे, परतु अपनी मान्यता तो ठीक बनाओ। आत्मामे आत्मासे इनका कोई सबध नही, अपने उपयोगको जिसमे अटकाया आप उसी रूप हो गये, इसलिये सदा मैं शुद्ध चैतन्य मात्र हू यह भाव रहना चाहिये।

परिचय ही वडा बुरा है, इससे भारी संकल्प विकल्प होता है, सकट भी परिचयसे ही होता है, परतु यदि रागद्वेष न हो तो परिचय क्या कर सकता है।

मैं एक शुद्ध चैतन्य मात्र हूं, ऐसा समता परिणाम ही सवरका उपाय है। आत्मामें कर्म न आने का भी वही उपाय है कि समता भाव जगे, समता भाव जगे तब आत्मशक्तिका बोध होता है और आत्मशक्तिका बोध होनेसे ज्ञान दृष्टि जगती है। मानव बाहरसे विशाल पूजा तपश्चरण क्या न करे परतु अतरंगमे समता भाव न हो तो सब व्यर्थ है।

यह दृश्यमान पर्याय विजातीय जीव और पुद्गल इन द्रव्योके सम्बन्धसे बनी है। अत. उसमे निजत्व मानना उतना ही हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण है जितना साझे की दुकानको केवल अपनी मानना हास्यास्पद है। इसलिये इस पर्यायसे ममत्व छोडकर और निजमे स्वत्व मानकर आत्म द्रव्यकी यथार्थताको

अवगम कर परकी सगतिसे विरक्त होना ही स्वात्म हितका अद्वितीयमार्ग है ।

### अन्यकी चेष्टासे अन्यमें परिणमन नहीं होता

खेलते हुए अबोध बालकने गेंद फैकी और वह नालीकी ओर बढती जाय तब बच्चा उसको नालीमे गिरते बचानेके अभिप्रायसे डरता है और उगलियो को सकोडता है तो क्या उसकी उस क्रियासे गेंद गिरनेसे रुक सकती है, उसी प्रकार शरीरकी किसी भी प्रकारकी स्थितिसे कर्म नही रुकते, कर्मोंकी रुकावट तो अपने आपके चैतन्य स्वरूपको जाने देखे तो उसको निमित्त पाकर स्वय हो सकती है ।

आप स्वय प्रभु हैं, प्रभुता को भूलकर विकल्पमे आ गये । आप स्वय सिद्ध समान ही द्रव्यदृष्टिसे आपमे व सिद्धमे कोई अन्तर नही । अन्तर हैं तो केवल चालमे है । अतः चाल बदल लो और अपनी प्रभुता या गौरव सभाल लो ।

प्राणी कषायमे बह जाते हैं और वैसी बात करने लगते है । जिसके जिस विषय की इच्छा हुई तदनुकूल जो अन्य बात करने लगता है, उसे ही भगवान् मानने लगता हैं, परन्तु हमे जो कषाय उत्पन्न हुई उसे बढानेवाला हितू कैसे ? इस बातकी प्राणीको खबर नहीं होती, विषय कषायके आधीन होकर उसमे बढावा देनेको हितू या सब कुछ मानने लगता है ।

### स्वयका स्वयके अतिरिक्त अन्य कोई सहाय नहीं

अपना मित्र वास्तवमें अपना निर्मल परिणामही है, अथवा उसमें जो साधक हो वह भी मित्र कहा जा सकता है, परन्तु जो आत्माके निर्मल परिणाम मे बाधक है, उसे मित्र कैसे कहा जाय ? मृत्यु कोई बुराईकी चीज है क्या ? वह किसके नही होती । घरसे मन्दिरमे आये, समझना चाहिये कि घरकी अपेक्षा मर गये, मन्दिरसे घर आये तो मन्दिरकी अपेक्षा मर गये, परन्तु वास्तवमे मरण तो नही हुआ. उसी प्रकार पर्यायोके परिवर्तनमे मरण मानना कल्पना है । एक शरीरसे निकला दूसरे शरीरमे पहुचा । वहा मरा अन्यत्र पैदा हुआ । वास्तवमे विचारो—जीव मरा या शरीर ? आत्मातो कभी नही मरता, यदि कहो कि वाह जी, वहा तो पर्याय पलट गई तो उपरोक्त दृष्टात मे भी तो भावना बदल गई । मन्दिरसे अलग होना भी मृत्यु क्यो न मानी जाय । आवीचि मरण तो

क्षण-क्षणमें होता है, परन्तु वास्तवमे आत्मा मरता नही।

### सुदृष्टि है तो अपना कुछ नहीं गिरा

किसी बडे अफीसर का तवादला हुआ—प्रथम द्वितीय श्रेणीके टिकट मिले, माल असवावके लिये एक वैगन भी मिली, यही जैसा एक मकान भी वहा मिला, सारा चूला चक्की ऊखल साथने रहा तो बताओ वास्तवमें तबादला क्या हुआ? रहे तो जैसेके तैसे। उसी प्रकार आत्मा भी पर्यायान्तरमे पूराका पूरा हो जाता है, कुछ शेष नही रहता, फिर मरण कैसा? मरणसे क्या खराबी हुई? परन्तु मोही हाय मैं मरा हाय वह मर गया इत्यादि विकल्प कर दुखी होता, परन्तु यथार्थमे ये स्त्री पुत्रादि हमारे थे कब? और हमसे मिले कब? यह अभ्यास करे तो दुखी नहीं हो सकता।

जो जीव किसीके वियोग होनेपर दुख न होये ऐसा भाव मनमें रखते है, वे उन वस्तुओके सयोगमे हर्ष न माने, यदि किसीके यह भावना है कि मुझे स्त्रीके वियोगका दुख नही होवे तो उसका कर्तव्य है कि वह स्त्रीके संयोगमे भी हर्ष न माने; जिस समय सयोग हो उस समय यदि नही फूलो तो वियोग का भी दुख न हो।

### आत्मबल भेदविज्ञानसें मिलता है

ऐसा बल भेद-विज्ञानके अपनाये ही होता है; ये जुदे हैं मैं जुदा हूं, इनका चतुष्टय इनका उत्पादक है और मेरा चतुष्ट हमसे जुदा है।

परन्तु जिनका स्त्री पुत्र आदिमे अतिशय मोह होता है, उन्हे यह विवेचन ठीक नही जचता, परन्तु भेद विज्ञानीके भेद विज्ञान होने पर यह बोध होता है, कि आत्माके परिणमनके साथ परका अत्यन्ताभाव है। निमित्त नैमित्तिक बात जुदी है परन्तु एक द्रव्यके द्रव्यक्षेत्र काल भाव दूसरे द्रव्यके द्रव्यक्षेत्र काल भावसे अत्यन्त भिन्न है। इसलिये अपने स्वाभाविक परिणमनमे झुके तबही आनन्द होगा।

### श्रद्धा व चारित्रकी प्रधानता

सवरके मुख्य हेतु दो है—श्रद्धा और चारित्र। ज्ञान न आस्रव का कारण है और न बन्धका कारण, इसी प्रकार ज्ञान संवर और निर्जराका भी कारण

नहीं किन्तु आत्मा की स्वपर दृष्टि जाती है, तब ज्ञान ही ज्ञान दिखता है। यही ज्ञान जब अशुद्ध आत्मस्वरूप पर लक्ष्य रखता है, तब आस्रव बन्ध और निज शुद्धका आश्रय करता है तब निरर्जका कारण हो जाता है व संवरका और जब आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रह जाता है तब यह मोक्षका कारण हो जाता है। आत्मा अभेदात्मक वस्तु है जब यह भेद नयसे सोचता है, तब भेद नयके उत्तर आने लगते और जब अभेदनयसे सोचता है तब अभेद नयके उत्तर आने लगते हैं, परन्तु वास्तवमें आत्मा न भेदात्मक और अभेदात्मक और न भेदाभेदात्मक है वह तो जैसा का तैसा है। आत्मा एक ही है, एकका क्या भेद हो सकता— एक तो एक ही है, अभेदात्मक मानो तो ऐसा मानना पडेगा कि जुदे जुदे अनेक मिलकर एक हुये, इसी प्रकार एक वस्तु उभयात्मक भी सभव नहीं हो सकती।

अनुभवके कालमें जैसा आया सो विकल्पके कालोंमें कहते हैं कि ऐसा आया और फिर अभेद दृष्टिमें वे नाना विकल्प चले जाते हैं।

स्वभावकी श्रद्धा ज्ञानपर निर्भर है, विशेष व परविषयिक दर्शन आकुलताका कारण नहीं बन सकता। सामान्यका दर्शन आकुलताका कारण नहीं बन सकता।

दर्शनका विषय विशेषात्मक सामान्य आत्माका प्रतिभास है।

ऐसा कहीं सोचा जाता है, कि बाह्य पदार्थोंका सामान्य दर्शन—दर्शन कहलाता है तथा बाह्य पदार्थोंका विशेष जानना ज्ञान कहलाता है अथवा आत्माका प्रतिभास दर्शन माना जाता है और वह वस्तुओंका प्रतिभासज्ञान माना जाता है।

इसमेसे प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि केवल सामान्यात्मक और केवल विशेषात्मक कोई पदार्थ भी नहीं हो सकता, प्रत्येक वस्तु उभयात्मक ही होती है। कहा भी है कि "सामान्यविशेषात्मका तदर्थो विषय" इस लिए मानना होगा कि जिस वस्तुका सामान्य प्रतिभास दर्शन कहलाता है, उसीका विशेष प्रतिभास ज्ञान कहलाता है, बिना सामान्यके विशेष हो ही नहीं सकता, फिर लक्षण कैसे घटित हो सकते हैं?

द्रव्य सग्रहमे कहा है कि 'ज सामण्ण ग्रहण' अर्थात् पदार्थका विशेष आकार ग्रहण न कर सामान्य ग्रहण करना दर्शन कहलाता है। छद्मस्थोंके

चाक्षुस ज्ञानके पहिले जो सामान्य अवलोकनसे जो ज्ञान होता वह चक्षुदर्शन, उसी प्रकार अन्य स्पर्शन ज्ञान आदिके विषयमे समझना चाहिये। बाहर पदार्थ के ज्ञानका हेतु इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होता है, जैसे वस्तुके रूपका ज्ञान नेत्रेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। जिसे पदाथका ज्ञान जितना विशेष होता है उसके तद्विषयक क्षयोपशम भी उतना ही अधिक होता है। यह क्षयोपशम आत्मासे भिन्न नही होता, जितना क्षयोपशम होता उतना ही आत्मा दोनो बराबर हुआ, ऐसे समान जो आत्मा उसमे जो प्रतिभास होता है, उसे ही सामान्य ग्रहण कहते हैं।

केवल दर्शन और केवल ज्ञान साथ साथ होते है क्योकि ज्ञानको सभालने वाला दर्शन है। आत्मामे जितनी योग्यताका ज्ञान चल रहा हो, उसरूप आत्मा के प्रतिभासमे सहायक दर्शन होना है।

अखण्ड आत्माका अनुभव होना और वैसी ही योग्यता बनी रहना सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व होनेपर सवर अवश्य होता है। संवर मोक्षका मूल है। बिना सवरके निर्जरा भी मोक्षका कारण नही है। यह सवर दो प्रकारका है- (१) भावसवर, (२) द्रव्यसवर। भावसवरतो जीवके शुद्ध परिणामका नाम है और द्रव्यसवर कर्मास्रवके निरोधका नाम है। भावसंवर भी दो प्रकारका है— (१) सवारक भावसवर, (२) सवार्य भावसवर। कर्मास्रवके निरोधका निमित्त-कारणभूत जीवके शुद्धपरिणामको सवारक भावसवर कहते हैं और कर्मास्रवके निमित्त कारणभूत कर्मके अभावमे जीवके अशुद्ध परिणाम नही आ सकते। ऐसी विवक्षासे देखे गये इसी परिणामको संवार्य भावसंवर कहते हैं। इस सब तत्त्वको भूतार्थ नयसे देखे जानेपर होनेवाला अभेद परिणाम सम्यक्त्वका अमोघ हेतु है। सम्यक्त्व होते ही सवर होने लगता है। अब सवरके उक्त चार प्रकारमे से सवार्य भावसवर व सवार्य द्रव्यसवर का लक्षण कहते हैं—

## संवार्यो विभावानास्रवः ॥१७॥ द्रव्यानास्रवश्च ॥१८॥

विभाव परिणामके न आसकनेको सवार्य भावसवर कहते हैं। इसमे निमित्त कारण विभाव परिणामके निमित्तका अभाव है। द्रव्यकर्मोके न आ-

सकनेको संवार्य द्रव्यसंवर कहते हैं। इसमें निमित्त जीवका शुद्ध परिणाम है।

सम्यक्त्वकी महिमा

"न सम्यक्त्व समं किंचित्" सम्यक्त्वके समान संसार में कोई भी वस्तु सुखकर नहीं है। सम्यक्त्वके समान मंगलीक नहीं, मिथ्यात्वके समान अन्य कुछ अमङ्गलीक नहीं है। सम्यक्त्वकी महिमा अपूर्व है, सम्यक्त्वसे उन्मुख हुआ जीव मिथ्यात्वमें रहकर भी संवर कर लेता है, परन्तु पूरी जड नहीं जमनेसे, वह संवर नाम नहीं पाता। ३४ बंधापसरणके बाद भी संवर हो जाय यह नियम नहीं।

सातिशय मिथ्यादृष्टि भी अनिवृत्तिकरण परिणामोंमें निर्जरा करने लगता है। फिर भी वह मिथ्यात्वी ही कहलाता है क्योंकि अभी मिथ्यात्व उसका गया नहीं जैसे सज्जनके पास जाते ही परिणामोंमें निर्मलता आने लगती है और दुर्जनकी ओर जाते ही परिणामोंमें दुर्जनता आने लगती है। इसी प्रकार सम्यक्त्वके सन्मुख, व्यवसायसे परिणाम पहलेसे निर्मल होने लगते है परन्तु उस समयकी परिणामों की निर्मलताको संवर नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्यक्त्व हुए बिना संवरका प्रारम्भ नहीं होता फिर भी बंधनिरोध व निर्जरा उस सातिशय मिथ्यादृष्टिके है ही।

सम्यक्त्वमें आकुलताका निवास नहीं जिसने सन्तान बन्धु धन आदि परविषयक आकुलताके घर बनाये हैं, वह सम्यक्त्वका पात्र नहीं, भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टिके भी आकुलतामें कमी हो जाती है, फिर सम्यक्त्वीके वह कैसे संभव हो सकती है, सम्यक्त्वी तो दृढतासे यह कह सकता है कि अय पदार्थो! मेरे ध्यानसे तुम हटो मैं,तुम रूप नहीं हो सकता और तुम भी मुझ रूप नहीं हो सकते, तुम यथेच्छ परिणमो मेरी हानि क्या? तुम्हारा परिणमन हमारा कुछ भी साधक या बाधक नहीं हो सकता।

स्वदृष्टिसे विपदायें समाप्त हो जाती हैं

एक साधु था। दंडा और कमंडल मात्र उसके पास था। ग्रामान्तर जाता था, रात्रि हो गई, नगरके दरवाजेके बाहर फाटक पर सो गया। उन्हीं दिनों वहां का राजा मर गया था। मंत्रियोंने विचारा कि प्रातः नगर फाटकके बाहर

जो मिल जाय वही राजा बनाया जाय। साधु पकड़ा गया और कहा गया तुम्हे राजा बनना पडेगा. पहले तो मना किया पर आग्रह होनेपर एक पूर्तिकी कि मैं राजा तो बना रहूँगा पर सब काम तुमको करना पड़ेगा, ऐसा कहकर एक पेटी मगाई और उसमे अपनी लगोटी रख दी और राजाके वस्त्राभूषण, मुकुट वगैरह पहिन कर बैठ गया, किन्तु राज्यमें उसको राग नही हुआ। एक दिन सबल शत्रुने राज्यपर चढाई कर दी, मन्त्रियोने घर पूछा कि महाराज ! क्या करना चाहिये ? राजाने कहा—यह पेटी उठाओ। पेटीमें उनकी लगोटी रखी थी। उन्होने राज्यभूषण उतारकर पेटीमे रखना शुरू किया और लगोटी बांधना शुरु किया और कहा कि हमे तो यह करना चाहिये, तुम्हे जो जचे सो करो, ऐसा कहकर वह चल दिया। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि परपदार्थोमें इतना अविश्वासी होता है कि उसे आत्माके सिवाय, कुटुम्ब धन आदि पर तनिक भी ममत्व नही होता। वह विचारता है कि इनका संयोग स्थायी नही, न जाने कब विघट जाय ? विश्वास ही करना है तो चिर परिचित मिथ्यात्वपर अहितरूपका विश्वास करो, वह बहुत पुराना रिश्तेदार है, उससे इतना घनिष्ट और दृढ़ परिचय हो गया है कि वह सीधे नही निकलता, वह आत्माको आसमन्तात् भारी वजनदार बनाये हुये है, उसके भारसे, आत्मा दब रहा है।

### सम्यग्दृष्टि अपनेपर किसीका भार नहीं समझता

सम्यग्दृष्टि अपनेपर किसीका भार नहीं समझता। भार माने वह जिसे राग हो परन्तु सम्यक्त्वी तो यह विचारता है कि मैं अपने ही गुणोकी पर्यायोमे परिणमन कर रहा हूँ, परका तो कुछ आता ही नही।

मोही-अपनेपर परका भार मानता है, वह आभारी है, वह आसमन्तार भार-बोझसे लद रहा है क्योंकि वह परमे स्वत्वका विकल्प किया करता है।

जैसे सिंह जब तक अपनेमें गधेपनका विकल्प बनाये है अपनेको गधा मानता है, तब तक कुम्हार धोबीके यहा लदता है। जब उसे स्वकीय सिंहत्वका सब बोध हो जाता है तब वह बोझ फेक भारहीन (अनाभारी) हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी अपने ऊपर लदे गृहस्थी धन वैभव आदिका भार अपने सिरसे उतार फेंकता है तो वह भी भारहीन (अनाभारी) हो जाता है।

मानव जब परमे आत्मीय बुद्धि करता है तब लोकव्यवहारको अपना कर्तव्य मानने लगता है। उस समय उसे अनेकोका भार अपनेपर लादना पडता है।

### पर्याय-बुद्धिमे भार ढोना ही पडता

सगाई होते ही लडकीकी चाल ढाल विचित्र ही हो जाती है। वह ससुराल वालोको देख घूंघट करती, छिपती और लज्जा करती है। उसके मनमें लोक व्यवहारके अनुसार मनमे ये बात पैदा हो जाती कि मैं इनकी स्त्री हूँ, ये हमारे पति हैं। इसी तरह परपदार्थमें स्वत्वकी कल्पना (सगाई) होते ही आत्माकी चाल ढाल विचित्र हो जाती है। यह आत्मा अपनेको परतन्त्र समझने लगता है, परपदार्थसे सुख व ज्ञानकी आशा करने लगता है। इसही भ्रमके कारण कल्पनाओका भार ढोता फिरता है।

### आत्मज्ञानीकी ही सच्ची विजय है

जो आत्मज्ञान तक पहुचे उनके सवर होता है। उसके द्रव्य और भावके भेदसे दो-दो भेद होते हैं और ये दोनो भी सवार्य और सवारक भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। विभावोकी अनुत्पत्ति संवार्य भावसवर है।

वैभाविक स्वरूपका परिणमन जीव व पुद्गलका नही होता, यद्यपि जीव स्वभावके विरुद्ध परिणमन करता है, पर स्वभावपर दृष्टि रखकर नही। क्रोध न करनेके नियमसे क्रोध नही मिटता, हा लडाईका प्रसग आनेपर मौन रहा जा सकता है। मुँहमे पानी भरकर चुप रह जाय, परन्तु क्रोध नही करेंगे ऐसा नियम किये क्रोध नही मिटाया जा सकता है, क्रोधका मिटना न मिटना तो आत्माकी मलिनता या निर्मलता पर निर्भर है, आत्मा मलिन हुआ तो क्रोध आयेगा। आत्मा यदि निर्मल हुआ तो क्रोध नही आयेगा। क्रोध परिणाम आये चेहरा बिगड जाता है। बिगडा चेहरा भी छिपाया जा सकता है, क्रोध मान माया क्रूरभाव आदि न आने देनेका उपाय ज्ञान या उपेक्षा परिणाम अवश्य है। सम्यग्दर्शनके निमित्तसे हुआ उपेक्षा भाव ही कषायोके विजयका उपाय है।

### अनात्मज्ञानीको मोक्षमार्ग रुचता नहीं

सभीका उद्यम आनन्दके लिये होता है, जो जिसे सुख मानता है, वह उसी

का उद्यम करता है। पर या स्त्री-पुत्रादिसे सुख मानने वाले कहते हैं कि त्यागी के वचनोंमें कुछ दम नही, इनका काम कहने का है और हमारा काम सुनने का, ये तो बाबाजी हैं, दूसरेके यहां आहार कर आते हैं, इन्हे गृहस्थीके सुख दुःखका क्या पता ? इन्हे कमाना खाना थोडे ही है इन्हे क्या चिन्ता ? इसीसे ये मनमाना कहते हैं। शास्त्रोंसे तो उपेक्षा होना उनका व्रतसा हो गया। स्वभावके विरुद्ध सोचने वाले आत्माकी प्रतीतिको भी आनन्दका अनुभव नही कह सकते, आनन्द तो आत्माके श्रद्धान ज्ञान आचरणसे ही मिलेगा। आत्माकी ऐसी स्थिति होने पर विकार नही आते। यदि चारित्र मोहके उदयसे विकार भी आ जायें तो भी उनका उपयोग उन विकारोंकी ओर नही जाता। इसी लिये किसी कवि ने कहा है कि "चिन्मूरत दृग्धारीको मोह रीति लगत है अटपटी"। जीवोंकी परिणति विचित्र है, नारकी नरकमे बाह्यमें तो पिटता रहता है परन्तु अन्तरङ्गमे उसके सम्यक्त्वरूपी दीपक जगमगाता रहता है। देव अप्सराओं से घिरा रहता है, फिर भी वह उनसे लिप्त नही होता। सम्यक्त्व होने पर आत्मा आत्माके उन्मुख रहता है, उसके परपदार्थोंमें रुचि या प्रेम नही रहता।

किसीके यहां दो मेहमान आये। एक तो शाहजी थे और दूसरा नौकर। वह मोही शाहजीमें राग करने लगा, और नौकरसे साधारण व्यवहार। यदि वह यह मान लें कि मेरा तो केवल आत्मा है, न कोई मेरा शाह जी है, न पाहुन जी तो उसके राग हो ही नही सकता, राग तो अपनेको परसंयुक्त मानने पर ही होता है।

### जाने वालेसे क्या राग करना

सन्तान, धन रागद्वेष आदि जाने वाले है, कब तक साथ रहेंगे, जाने वालो में क्या राग करना ? एक समय भामकी चूक जीवन भर परेशानीमे डाल देती है, राग ही जीवका अहितकारक और आनन्दघातक है। विकार गये कोई दुःख नही होता।

मानव कहा करता है कि मुझे बड़े दुःख लग रहे हैं, परन्तु ऐसा कहना, सोचना अधिक ठीक होगा कि मुझे बडे विकार भाव ही दुःख देते हैं। यदि विकार भाव न करें तो दुःख हो ही कैसे ?

परिचय भी बडा दु खदायी है, यात्रामे किसीसे कुछ परिचय हो गया तो किसी स्टेशनपर परिचित कहे गया तो उसकी पेटी बिस्तर रखाना पडता है, थोड़े समयके परिचयमे तो यह नौकरी करना पडती है, फिर शरीरका परिचय तो कई भवोसे हो रहा है। उसका दावा कितना नही चुकाना पडेगा। किसी को घडी, किसीको मकान प्रिय लगा करते हैं, मानव उनमें राग किया करता है, परन्तु उन वस्तुओने क्या किया ? उनमे मानवने ही राग या मोह बनाया। वे तो राग या मोह करते नही। ये यह प्रेरणा भी नही करते कि तू हममे राग या प्रेम कर। तू स्वय हो उनमे राग कर लिप्त होता है। यह तो अचेतन परिग्रहकी बात रही, अब चेतन परिग्रहको देखो—ये भी नम्रता विनय प्रिय वचन आदि द्वारा कषाय या राग बढानेमे कारण पडते हैं। यदि वे नम्रता आदि नही करें तो उनमे मानव का राग भी नही रहता, पर अचेतन तो ये कोई नम्रता आदि क्रियायें भी नही कर सकते, उनमे तो मानव स्वय राग कर सुख मानता है।

"सदन निवासी तदपि उदासी" सम्यक्त्वी, घरमे रहकर भी उसमें आसक्त नही रहता, परन्तु मिथ्यादृष्टि बनमे रहकर भी कानी स्त्रीमे मोहित रहता है। इससे यदि आत्महितकी चाह है तो ऐसा उपाय करो कि राग रूप परिणाम ही न आवे। ऐसी स्थिति परपदार्थोंमे उपेक्षा भावसे ही हो सकती है, उपेक्षा भाव ज्ञानसे होता है और ज्ञान वस्तुस्वरूपके अभ्याससे होता है।

### हितके लिये थोडा भी समय दो

मानव ससारके कार्योंमें तो २४ घटा लगाता है। लोभके बढाने में तो इतना आसक्त है जो अनादिसे साथमे लगा आ रहा है किन्तु जो आज तक प्राप्त नही हुआ, ऐसे आत्माके आनन्दकी ओर कितना समय लगाना चाहिये, उसमे अन्तर्मुहूर्त भी नही लगाया, उसके लिये केवल अन्तर्मुहूर्त ही समय लगाना पडता है, फिर भी नही लगाया।

### मोही सुभटकी सहनशीलता

अनेक घुडसवार कही आये एक साधुसे कथा सुनने जा रहे थे। एक घुडसवार और आया, औरोसे पूछा कहा जा रहे हो-? कहा—साधु महाराज

से कथा सुनने जा रहे हैं, उसने भी अपना घोडा वहीं छोडा और कथा सुनने पहुँचा। कथा वैराग्यकी थी, सुनकर वैराग्य हो जानेसे घोडा छोडकर जगलमे तपस्या करने चला गया। कुछ वर्ष बाद वही फिर आया, वहा एक साधुकी कथा हो रही थी। जनता जा रही थी। साधुने पूछा कहा जा रहे हो ? उत्तर मिला—महात्माकी कथा सुनने। उसने पूछा, कितने दिनसे सुनते हो ? किसीने ५ वर्ष, किसीने १० वर्ष, किसीने १५ वर्ष सुनते बताया। साधुने कहा कि मेरा तो एक दिनकी कथाके श्रवण ने घरबार छुडवा दिया, इनको इतने वर्ष कथा सुनते हुये भी चोट न लगी, इतनी फटकारोसे भी इनकी आँख नही खुली, ये इतनी चपेटें रोज सहते हैं, बडे सुभट है। ठीक ही है कि उपदेष्टाओके उपदेशोमे प्रायः धिक्कार या फटकार ही तो मिलते हैं, मूढको ही अज्ञान व अविवेकी शब्द सुनने पडते हैं।

## विद्यार्थीकी भाँति स्वाध्याय करो

एक सेर रुईको छटाक-छटाक कर धुनना भला है या पूरीको एक साथ धुनना उपयुक्त है ? छटाक-छटाक के धुननेवालेका काम ठीक होगा या पूरी धुननेवाले का ? पढना थोडे-थोडे धुननेवालेके समान है, जैसे धुनिया धुननेके बाद फिर तांत देता है, स्वाध्याय उस तानेकी तरह है। ज्ञानाभ्यास बढाना ही कल्याणका साधन है, बाह्य पदार्थविषयक उपयोग कल्याणका साधक नही, इसलिये कल्याणकी इच्छा है तो ज्ञानाभ्यासमे सातिशय रुचि आवश्यक है और इस रुचिसे सम्यक्त्व या सवर हो सकता है।

## सम्यक्त्वसे ही आत्मा महान् है

आत्माकी विशेषता सम्यग्दर्शनमें है, सम्यग्दर्शनसे रहित जितनी क्रियायें की जावें वे सब भारस्वरूप हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र मोक्षके मार्ग हैं, वे ही जीवको प्रिय और सुखके कारण हैं। जब तक सम्यक्त्व नही हुआ है तब तक इन्द्रियोका दमन, व्रत, चारित्र, ज्ञान, तपश्चरण—ये सब क्रियायें भाररूप हैं। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होगया है वह उक्त क्रियायोको न भी करे तो भी उसका जीवन सफल है, सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वीमे वही अन्तर है जो महामणि और पत्थरमे है। सम्यक्त्व होजाने पर पूज्य हो जाता है और

उसकी सारी क्रियायें सफल होजाती है। मणि कीमती होती है, पत्थरका कोई मूल्य नही होता, उसी प्रकार उसकी सुदृष्टिशून्य सब क्रियायें बकार होती हैं।

सम्यक्त्वको कठिन मानले तो वह कभी भी प्राप्त नही हो सकता और जब तक सम्यक्त्व नही तब तक आत्माका उद्धार नही हो सकता। अगर अपनी आत्मशक्तिपर विश्वास है तो सम्यक्त्व प्राप्त करने मे कोई कठिनता नही।

### सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे स्वतत्रता

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिये धनसम्पत्ति, या किसी उपदेष्टाके बलकी जरूरत नही है, किन्तु आत्माके स्वचतुष्टय मे खुदकी शक्ति प्रगट होनेपर सम्यक्त्व होगा जिसमे पर-अपेक्षा नही पड़ती। जब तक परकी ओर दृष्टि रहेगी तब तक सम्यक्त्व हो ही नही सकता। परसे दृष्टि हटने पर सम्यक्त्व स्वयमेव प्रगट हो जाता है। समवशरणमे भी यह जीव गया और भगवान्‌का उपदेश सुना, तब वहा भी स्वके अनुभवके बिना कल्याण नही हुआ। स्वका अनुभव करना है तो भगवान्‌का विकल्प भी छोडो, ऐसा अरहतका उपदेश है। भक्त का लक्ष्य यदि आत्मकल्याणकी ओर है तो पूजामें पुण्यलाभ और धर्मलाभ लो, दोनो एक साथ हो सकते है। भगवान् अरहतके स्वरूपपर जो दृष्टि या उल्लास है वह पुण्य है, और उसी पुण्यबन्धके कालमे जो निज आत्मस्वरूपकी प्रतीति है वह धर्मलाभ चल ही रहा है तथा जब कुछ क्षण निर्विकल्प समाधि हो ले तो वहा विशेष धर्मलाभ होता है, धर्मलाभ सवर व निर्जराका हेतु है।

### सम्यग्दृष्टिकी प्रगति

जिसके सम्यग्दर्शन हो जाता है उसके ४१ प्रकृतियोका बन्ध नही। वह सोता भी है तो भी उसके आस्रव नही होता, वह घरमे फसा हुआ भी धर्म करता है, साधारण धर्म करता है, साधारण धर्म तो सदा ही होता रहता है, परन्तु स्वानुभूतिकालमे उसकी विशेष निर्मलता होती है। पूजन स्वाध्याय, ध्यान वगैरह का गौरव सम्यक्त्व होनेपर ही होता है।

जिसके मिथ्यात्वका रोग लगा है। उसके हित और अहितका लक्ष्य नही होता। ऐसे व्यक्ति बडे अविवेकी हैं, इसीलिये आचार्योने सम्यक्त्व पानेके लिये सुकुमार क्रिया बतलाई हैं, जैसे जिस रोगीका आपरेशन होना है, उसके प्रति

डाक्टर आपरेशनकी सुकुमार क्रिया बडी सावधानीसे करता है, इससे रोगीको तकलीफ न हो। उसी प्रकार आचार्योंने सम्यक्त्व पानेके लिये सुकुमार क्रिया, आराम करना बताया है। सम्यक्त्वका लाभ सब पदार्थोंसे या उनके अगके प्रयासोसे नाता तोड आराम करने से ही बतलाया है। परपदार्थोमे विहित परिश्रमो और प्रयासो से नही।

### सम्यक्त्व वास्तविक आरामसे मिलेगा

सम्यक्त्व पाना है तो शातिसे बैठे रहो, निजस्वरूप समझते रहो, वस्तुके यथार्थस्वरूप और नयोके मर्मको समझते रहो। एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका अत्यन्ताभाव है, एक वस्तु दूसरी वस्तुके प्रति कुछ कर ही नही सकती, ऐसी हालत मे एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिका आदर या अनादर मानना व्यर्थ है। उसकी चेष्टा उसमे होती, अपनी चेष्टा अपनेमे, ऐसी हालतमें परसे आदर व निरादर सभव नही हो सकता। यदि हमे यह विश्वास हो जाय तो हमारे हृदयमे परकी चेष्टा व क्रियासे आदर व अनादरका भावही जागृत न हो, फिर उसे आदर व अनादरमे हर्ष व विषादके होनेकी चर्चा ही व्यर्थ है।

### इन्द्रियोका दुरुपयोग न करो

जिधर चर्मचक्षुसे देखा उधर बुद्धि गई, कि यह मेरा सम्मान हुआ ऐसी भावनामे सम्मान तो दूर गया उलटा कर्मका बन्धन होता है। विधिने आखपर ढक्कन लगाया है, इसका उपयोग भी कर लो। जब गडबड चित्त हो इस ढक्कनका उपयोग करलो, नेत्र बन्द किये कोई गडबड दृष्टिगोचर नही होगी। सूरदासको देखो उन्होंने तो अपने विकारकी गडबडी रोकनेके लिये अपने हाथ ही अपने नेत्र फोड लिये थे। भैया! धर्मनीति यह नही कहती कि आँखफोड लो। इससे और असयम होगा। हा किसी परमे दृष्टि न गडावो।

जब कभी क्रोधका मौका आजाय मौन रखलो, मुखपर दो ओठरूपी डबल ढक्कन लगे हैं, इनका उपयोग करो, फिर क्रोध तत्काल आपको दड न दे सकेगा। आगे भी कम हो सकता है। अथवा रसनापर विजय करो, मुंहके ढक्कन बन्द करो, फिर रसना गृद्धिताका काम कैसे पैदा कर सकेगी? नेत्र और रसना ये दो इन्द्रियाँ ही प्राणीको अधिक सताती हैं, दोनोके ढक्कनोका

उपयोग कर उनपर कुछ तो विजय प्राप्त कर।

जिस पुरुषको देखो, यह विचार करो कि यह असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, नश्वर है, जड है। आत्माका रिश्ता किसी अन्य आत्मासे नही चलता, किन्तु रिश्ता असमानजातीय द्रव्यपर्यायमे ही चलता है। ऐसा भाव भरे ही कल्याण होगा। मेरा यह है, मेरा यह है—इस भावसे भला नही होता।

इन्द्रियोके विषयोका व्यापार छोडकर त्रियोग को वशकर, पहले तो अपने आपके समीप रहकर अनुभव करे कि मैं सबसे न्यारा हू। अपने उपयोगको किसी परपदार्थकी ओर न लेजाय तब मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि भाव होगे ही नही। क्योकि वे तो परपर दृष्टि रखनेसे ही होते हैं, परपर दृष्टि रखना ही विपत्ति है अथवा परपर दृष्टिभी बुरी नही, बिना अभिप्राय भले ही परपर दृष्टि रहे, कोई हानि नही। अभिप्राय सहित ही परपर दृष्टि बुरी है।

### अपने पास रहने मे आनन्द

जिसमे आत्मकल्याणकी लगन होती है, वह इस भावनामे सफल हो जाता है, उसे सम्पदा या विपदाके आने जाने मे हर्ष विषाद नही होता; उनके विषय मे किसी कविने बडा ही सुन्दर कहा है कि—"भीख मागकर उदर भरे पर करे न चक्रीका ध्यान" यदि आत्मदृष्टि है तो आनद आगया, यदि आत्मदृष्टि नहीं तो महान् विपदा है। आत्माके बाह्य वस्तुओ के निमित्तसे विपत्ति ही आती है। आत्माके अवलम्बनसे सुख और परके आलम्बनसे दु ख होता है। आत्मा अपने पास ही उपयोग द्वारा रहे तो वहा सवर ही है। इस सवर तत्त्वको यो देखो—कि भाव सवर तो जीवद्रव्यका पर्याय है, जीव द्रव्यसे हुआ है और द्रव्यसवर द्रव्यकर्मका है उसे द्रव्यकर्म से चर्चित करो। अब सवारक भावसवर और सवारक द्रव्यसवरका स्वरूप कहते हैं—

## संवारकः शुद्धपरिणामः ॥१९॥ विभावनिमित्तत्वाभावश्च ॥२०॥

सवारक जीवसंवर जीवका शुद्ध परिणाम है जो कि द्रव्यसवरका निमित्त-कारण है। सवारक द्रव्यसवर विभावोंके निमित्तभूत कर्मोंकी निमित्तताके अभावको कहते हैं। देखिये मुक्त हो जानेके बाद भी परमात्माके चारो प्रकार का संवर है। न तो परमात्माके विभावका आस्रव है, न द्रव्यकर्मोंका आस्रव

है और न विभावका निमित्त है; शुद्धोपयोग तो निरन्तर रहता ही है।

दूसरेके द्वारा प्राप्त सन्मान एक गोरखधधा है। लोग निन्दाको बुरा मानते हैं, परन्तु वास्तवमें प्रशसा निन्दासे बुरी है, इसी प्रकार सन्मानसे अपमान भला है। निदा या अपमानके हो जानेपर, निन्दक या अपमानकर्ता की ओर लगाव नही रहता, किन्तु प्रशसा या आदर करने वालोकी ओर लगाव हो जाता है। उसी की ओर सतत उपयोग जाता है, उसके लोकहितादिका प्रयास करना पडता है।

## जो अच्छा लगे वही दुःखका कारण

दुनियामे आप को जो जो पदार्थ अच्छे लगते है, निमित्तदृष्टिसे वे बडे ही दुश्मन हैं। जो वस्तु तुमको ज्यादा अच्छी लगती है उसका त्याग कर दो क्योंकि उसमे तुम्हारा राग रहता और रागसे बध होता है।

वलिकी प्रथा भी ऐसे ही चली। पहिले विभावकी वलि होती थी। इस मर्मके भूल जानेपर जिसे घोडा प्रिय होता था वह घोडेकी बलि कर देता था, जिसे गाय प्रिय थी, वह गायकी बलि कर देता था, यहां तक कि अनेकोने तो अपने प्रिय बालोका बलिदान दे दिया। फिर समय बदलनेपर किन्ही ने यह सोचा होगा कि अपनी उपयोगी घरू वस्तुओकी वलि कैसे देवें, तब बकरा आदि की वलि चल पडी। हिंसा हिंसकके दुःखका कारण तो जरूर ही होता है।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी को यह भाव नही आता कि मेरे ये भाव छूट जाय। वे उसे बडे ही प्रिय लगते है। इससे सिद्ध है कि जीवको विभाव ही प्रिय है, या विषय कषायका परिणाम ही प्रिय है। इस विषय-कषायके परिणामसे मुंह मोडो, इसका मूल उपाय सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके बिना भेदविज्ञान नही होता। निश्चय नयको पद्धतिसे पदार्थोंके केवल याने शुद्ध तत्त्वका ज्ञान होता है। द्विष्ट तत्वोंमे व्यवहारबुद्धिकी उपेक्षा करके, निश्चयनयके अवलम्बनसे स्वके जाननेमे लग जाओ। यह स्कध समानजातीय द्रव्यपर्याय निश्चयनय का विषय नही है। परको परदृष्टि से देखो, बहुत जल्दी आत्मतत्त्वपर ध्यान आजावेगा।

### सब पदार्थोंको स्वतन्त्र निरखो।

लोग समझते हैं कि नौकर या सन्तान हमारी आज्ञा मानता है, परन्तु किसीके कहनेको कोई कुछ नही मानता उसकी इच्छा होनेपर मानता है। कोई दूसरेकी परिणति लेकर नही परिणमता। मैं किसे सोचूं कोई भी नही मानता। सब अपने स्वभावसे परिणमते हैं।

फिर मैं किसे सोचू, क्या चेष्टा करू। मेरे द्वारा तो मेरा उपयोग मात्र ही बन सकता है। इसके सिवाय आत्मा कुछ नही कर सकता। हमारा हाथ हिला, वह अपनी परिणतिसे ही हिलता है, आत्मा उसके हिलने मे कुछ भी नही कर सकता, आत्माकी इच्छाको निमित्त पाकर आत्माका योग बना, उसके निमित्त देह वायु चली, शरीरकी वायु से हाथ हिला। आत्मा इच्छा करता है, योग करता है, उससे भिन्न शरीरकी वायु शरीरमे चलती है, वायुके निमित्त से हाथ चलता है। इस प्रकार शरीरके हिलनेमे आत्मा कुछ नही कर सकता।

यदि कोई कहे कि हाथके चलने मे यदि आत्मा कुछ नही करता तो फिर आत्मा जैसा चाहे वैसा क्यो चलता है? इसका कारण यह है कि अङ्गोपागको चलना आत्माकी इच्छा और योगको अनुकूलतापर अवश्य निर्भर रहता है। फिर भी शरीरकी किसी भी चेष्टाको आत्मा नही करता।

### पदार्थका खुद ही में परिणमना स्वभाव है

वस्तुत प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पादसे ही परिणमता है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता नही। हर द्रव्य निमित्तको पाकर अपनी अवस्थामे परिणमता रहता है। प्रत्येक द्रव्यका परिणमन या व्रत जैसा काम है, जैसा वह योग्य हो उसके अनुकूल निमित्त मिलता जाता वैसा परिणमता जाता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नही, दो द्रव्योका परस्पर सम्बन्ध भी नही अतएव परवस्तु से कुछ भी हिताहितकी आशा न कर खुदकी दृष्टि निर्मल कर स्वत्वके परिचय मे प्रवेश करना इसमे महान् हित है। स्वकी दृष्टि निर्मल है, तो उसे दुनियामें कोई वस्तु भली या बुरी नही जचती। सुकुमालको गीदडीने भक्षण किया परन्तु सुकुमालकी दृष्टि स्यालनीके उस दुष्कृत्यपर नही गयी, उनकी केवल निज परिणाम पर दृष्टि रही। वेदना सहनकी ओर भी उनका लक्ष्य नही गया,

उन्होने सुकुमार क्रिया की। सुकौशलको सिंहनीने भक्षण किया, परन्तु उनका भी लक्ष्य, केवल निज परिणामपर रहा।

जिनके अन्तरङ्गमे चारित्र बढ रहा है, उनके, गीदडी या सिंहनीके भक्षण का लक्ष्य नही होता, श्रोता इसमे आश्चर्य करेंगे कि परिणामोमे स्थिरता कैसे रहती होगी, कुछ न कुछ लक्ष्य जाता ही होगा, परन्तु इसमे आश्चर्य क्या ? निर्धन धनीके धनित्वमे अचरज करता है, परन्तु जिसके पास धन है, उसका उसमे कुछ भी आश्चर्य नही होता।

## मूलसे पुरुषार्थ करो

मूल बढिया है तो दुनियामे कुछ भी कठिन नही, निज परिणाममे स्थिरता की जड सम्यक्त्व है वह पुष्ट बना तो सवर होने लगता है। मोक्षमार्ग चलने लगता है। बच्चा हठ करता है, यह देख खेदयुक्त (खिन्न) न होओ, कोई नाराज होता है तो अपना अपराध देखो, दूसरा स्वय चुप रह जायगा।

क्षमा करनेपर कोई दुष्टके कार्यमे बढता नही और बढे भी तो उसको परके बढ़नेकी परवाह नही होती। दूसरा जड़ हो चाहे चेतन हो, वह दूसरेके दु खमे कारण हो ही नही सकता, जिसके मोह दृष्टि है, वह जिस किसी पर यह अपराध थोप सकता है। पर्यायदृष्टिवाला तो परपर ही अपराध थोपेगा।

भेदविज्ञानीके प्रथम तो दुख ही नही होता, वह अपने दु:खका कारण अपने आपकी असावधानी मानता है। यदि अपने परिणाम शुद्ध हो तो कार्मण वर्गणाये कर्मरूप ही नही परिणम सकती।

आत्माका वीतराग, निर्मल, परिणाम, सवारक संवर कहलाता है और आत्मामे विभावोका न आना सवार्य सवर कहलाता है। वास्तवमे विचारो तो ये सवरक या सवार्य सवर एक ही हैं। एक विधिरूप और एक निषेधरूप अर्थात् परिणामोमे निर्मलताका होना या विभावोका न आना, एक ही बात तो है।

जिस द्रव्यकी जो परिणति है उसे उसी दृष्टिसे देखो। आत्माका शुद्ध परिणाम, आत्मासे ही उत्पन्न होता है, दूसरे द्रव्यसे नही। आत्माके परिणमन आत्मामे पैदा होते और पुद्गलके पुद्गलमे। दर्पणके पीछे ४ बच्चे खडे हुये,

इससे दर्पणमे उनकी फोटो आने लगी, वहा बच्चोने क्या किया ? दर्पणका ही ऐसा परिणमन हुआ कि उसमे बच्चे झलकने लगे। बच्चोको निमित्त पाकर ही यह हुआ, किन्तु बच्चोकी परिणतिसे तो नही।

रागादि आत्मासे उत्पन्न होते है, परन्तु परपर दृष्टि डाले विना रागादि होते नही, बढते नही, व्यवहार निश्चय या सयोग दृष्टि पर उलझन भले ही रहे और उससे मुक्त भी न हो पावे, परन्तु सच्चा ज्ञान तो समझ लेना चाहिये। समझ लेनेपर कभी न कभी रागादिक हटेंगे ही, वे सदा तो रहेगे नही। उनकी भी सीमा या समय होता है। वे पर्यायें हैं, पर्यायें नश्वर होती हैं। धन वैभव सतान आदिका ज्ञान या लक्ष्य रहे, परन्तु निर्विकल्प आत्मस्वरूपकी प्रतीति अवश्य रहे।

### विवेकका भान अशाति दूर करता है

कल्याणके लिये आत्मा या अनात्माका विवेक या पहिचान होना चाहिये। विवेक होनेपर अपनी ओर रुचि या ध्यान स्वय बन जाता है। अशाति दूर होजाती है। एक बार तो यह जच जाय कि जैसे अन्य वस्तुयें मुझसे भिन्न हैं, वैसी प्रकार शरीर या रागादि मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, फिर दु खका कारण राग न रहनेपर दु ख आवेगा कहा से ?

स्वरूपपर दृष्टि देनेको तैयार होनेपर अपना शरीर अपनेसे भिन्न दीखने लगता है, यह भान होता है कि जैसे दूसरेका शरीर मुझसे पृथक है, उसी प्रकार वह अपना सत् चतुष्टय या स्वभावको लिया हुआ मेरा शरीर भी मुझसे भिन्न है। शरीरका क्षेत्र व आत्माका क्षेत्र कभी एक नही हुआ। अमूर्तिक आत्माका एक भी पर्याय या ज्ञानादिगुण, रूपरसाद्यात्मक मूर्तिक शरीरसे कभी बन सकते हैं क्या ? स्वरूपपर दृष्टि दिये बिना आत्मा और शरीर बिल्कुल पृथक्-पृथक् साबित होगे।

व्यवहारमे ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर चला तो आप चले, और आप चले तो शरीर चला। दुनियामे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा ही चल रहा है, परन्तु दोनोके स्वरूपपर दृष्टि दिये दोनोमे अत्यन्ताभाव प्रतीत होता है। जब दूध और पानीकी भाति आत्मामे घुला मिला शरीर भी आत्मासे अत्यन्ताभाववान् है, तब प्रत्यक्ष जुदे दीखने वाले परपदार्थ आत्माके कैसे हो सकते हैं ?

## धर्मभावमें कभी आपत्ति नहीं है

अपने आपमे डुबकी लगाओ, रागादिक सत्ता नही रख सकते। जो व्यक्ति क्षमा आदिक धर्मोंमे तत्पर है उसपर आपत्ति आ नही सकती। परपदार्थोंके परिणमनमे जिसे राग और द्वेष नही होता उनसे उसे आपत्ति आ ही क्या सकती है, परन्तु ऐसा विचार विवेकीके ही होता है। इसलिये वह ससारमे तिर जाता है, परन्तु अविवेकीके ऐसा भाव नही होता, इससे वह संसारमे फस जाता है और मोक्ष या मोक्षमार्गसे बहिष्कृत हो जाता है।

जैसे भाव सवर सवार्य और सवारकके भेदसे दो प्रकारका है, उसी प्रकार द्रव्य सवर भी सवार्य सवारक के भेदसे २ प्रकार का है। कहा भी है—"सवार्यो विभावानास्रव." विभावोका न आना सवार्य भाव सवर है और द्रव्यकर्मोंका नही आना सवार्य द्रव्य सवर है। शुद्ध परिणाम वर्तना सवारक भाव सवर है।

## अपने दुःखमे अपना अपराध सोचो

शुद्ध परिणामोवाले जीवका कोई भी कुछ विगाड नही कर सकता, प्रत्येक दुःखमे, अपराधमे अपनी ही भूल है। दु खमे रज होता है, अपने दुःखमे दूसरे की भूल माननेमे क्लेशके सिवाय कुछ भी हाथ नही आता। यदि कोई व्यक्ति रिपट कर सडकपर गिर जाय तो वह किसी पर क्रोध नही करता, परन्तु उस समय यदि कोई उसे धक्का दे दे तो वह उस पर कोप करने लगता है। वह वहा यह समझता है कि हम अपने आपकी गलतीसे गिरे हैं। अपने आप कुछ भी दु.ख आजाय वहा कोप नही आता। इसी प्रकार यदि हर दु.खमे अपना अपराध सोचा जाय तो दु ख नही होता। कौनसी घटना ऐसी नही जहा आप को दु.ख अपने अपराधसे न हो।

कदाचित् यह सोचो कि हम तो वडी सज्जनतासे रहते, सदा प्रिय वचन बोलते है, फिर भी हमारी क्रिया व वचन दूसरोको नही सुहाता तो वह ईर्षावश हम पर उपद्रव करता या आपत्ति पटकता है। यहा तो परकी गलती हुई या नही और वह हमारे दु.खका कारण वना या नही ? हम तो किसीकी बुराई नही करते, फिर भी वह हमे सता रहा है। हम भले ही अच्छे है फिर भी कोई हमे सताये, इसमे हमारा अपराध नहीं। इसका उत्तर यह है कि ऐसी

परिस्थितिमे भी अपना ही अपराध है क्योकि तुमने यह विकल्प ही क्यो किया कि अमुक हमे सता रहा है। तुमने अपने स्वभावसे च्युत होकर उसपर दृष्टि क्यो की ?

परम्परया अपराध देखो तो जिस कर्मका निमित्त पाकर तुमपर वह दुःख आया, वह कर्म किसने बाधा था ? दूसरेके बुरे करनेसे तो वह नही बधा, उसके बाधनेमे हमारा ही अपराध है, इसलिये अपने दुःख आनेमे भले ही कोई निमित्त पड जाय, परन्तु उसमे अन्तरग कारण हमारा ही अपराध होता है। निजको निज और परको पर जाने, सुख दुःखका दाता कोई व्यक्त्यन्तर नही हो सकता।

### बाह्य स्थितिसे अपनेको बडा मत मानो

एक सज्जनने बताया कि त्याग या धर्माराधनसे तो क्रोधादि विकारोका शमन होना चाहिये, परन्तु देखनेमे यह आता है कि जितने त्यागी व्रती होते हैं, प्रायः उनकी कषायें और वृद्धिगत हो जाती हैं, इसका क्या कारण है ? किसी क्रोधादिकी परिस्थिति उत्पन्न होनेपर एक बार गृहस्थ तो क्षमा कर देता है, सह लेता है, परन्तु त्यागी व्रतीके छोटेसे छोटा अनादर या बात सहन नहीं होती, इसका क्या कारण है ? व्यक्ति त्यागी होनेपर अपने आप अपनेमे लौकिक महत्वकी भावना बना लेता है औरको छोटा या सेवक मानने लगता है तथा अपनेको, बडा और पूज्य मानने लगता है और निरन्तर अपनी इसी श्रद्धाको मजबूत बनाता रहता है। कर्तव्य तो यह था कि वह ऐसा भाव बनाता कि जगतके सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं, न कोई किसीका सेवक है न कोई किसीका प्रभु है, परन्तु यह भाव तो नही हुआ, केवल सेव्य सेवक भाव उनमे आ गया कि मैं बडा हूँ, ये छोटा है, मैं पूज्य हूँ, यह सेवक है, मैं दुनियामे आदर पाने योग्य हूँ। ऐसा भाव होनेपर यदि किसीने कभी सत्कार नही किया या कुछ इच्छा विरुद्ध बात कह दी या रीझ बूझमे कुछ अन्तर आ गया, तब उसे क्रोध आना स्वाभाविक है, क्योंकि उसकी श्रद्धामे गडबड बात बैठी है।

### खुद बुरा है तो बुरा होता है

जब अपनेमे किसी प्रकारकी श्रद्धा बनती है, उस समय यदि कोई बाह्य पदार्थ निमित्त पड जाता है, तब वह श्रद्धावान् अपना विष उगल देता है।

गोहरेको जब पेशाव लगती है तब वह किसी न किसी चीजको अवश्य काटता है, चाहे मनुष्य मिले, चाहे पशु, चाहे लकडी, पत्थर आदि कुछ भी मिले, किसी चीजको काटे बिना उसकी पेशाब ही नही उतरती।

जिसके क्रोधादि कषायोका विष चढा है, वह जिसे निमित्त पाता है या जो समीप होता है, उसीपर अपनी कषायोका विष उगलता है। किसी महिला का किसीसे झगडा हो जाय, यदि विपक्षी सबल है और उससे यह बदला न ले सके तो या तो वह निकट पडे डडे या पत्थरसे अपना माथा छाती कूट लेती है अथवा पास बैठे हुए बालकको मुक्के मार देती है।

यदि कषायोसे निवृत्त होना है तो बाह्य समागमोंमे मत उलझो, उनमे रुचि या ममत्व मत करो और ज्ञानाभ्यासमे लग जाओ। यदि यह बन गया तो कषायोकी निवृत्ति स्वयमेव हो जायेगी। यदि ज्ञानाभ्यास नही बना तो पग पग पर क्रोधादि समुत्पन्न होगे।

### आकिंचन्य धर्मकी दृष्टि दो

यह भावना भावो कि विश्व न्यारा, है मैं न्यारा हूँ, विश्व स्वतन्त्र है, मैं स्वतन्त्र हूँ, उसका मैं स्वामी नही और मेरा वह स्वामी नही। यदि कोई कहे कि ऐसा होनेपर तो निश्चेष्ट वृत्ति हो जावेगी, कोई कुछ व्यापार भी नही कर सकेगा, क्षुधादिकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि जिसके आन्तरिक भावमें द्रव्योकी स्वतन्त्रता की रुचि आ जायगी, उसे प्रथम तो क्षुधादि सतावेगे ही नही और कभी ऐसा भी सुअवसर मिलेगा कि वे क्षुधादि उससे बिल्कुल पृथक् ही हो जावेंगे। वह सबसे अलग हो अपने आपके चैतन्य स्वरूप का अनुभव करता जाय।

तपश्चरण आदिकोके कष्टोके सहन और उपदेशको की प्रतीक्षा आदिसे धर्म नही होता, किन्तु अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि व उसमे तन्मयतासे ही धर्म होता है। जिसके अवलम्बनसे धर्म होगा वह आप ही हैं, धर्म मिलेगा तो अपने अवलम्बनसे मिलेगा, परके अवलम्बनसे कदापि नही।

### अपना नया जमाना बनाओ

जमाना बदल गया, अब आप भी अपने ढगसे चलो। अनादि कालसे

निगोदियोमें व विकलत्रयो आदिमे भटकते थे, वह त्रिकलत्रय आदि पर्यायका जमाना बदल गया, शुभोदयसे अब उत्तम मानव पर्याय, उत्तम श्रावक कुल और गुरुओका उपदेश आदि नवीन जमाना प्राप्त हुआ। बुरा जमाना निकल गया, नया जमाना मिला। इसलिये अब आप अपनी उन बेढगी रफ्तारो, विषय कषायो और यह मेरा है, यह मेरा है, ऐसी श्रद्धा छोड अपनी निज रफ्तारपर चलो।

कोई कहे यह तो अटपटी बात है, जिस आत्माको कभी देखा नही, जाना नही और अनुभव नही किया, उसका स्वाद कैसे आवे ? उत्तर यह होगा यद्यपि आत्माको किसी ने चखा नही, जाना व देखा नही, परन्तु उसकी कथनी या चर्चा रुचती या सुहाती अवश्य है। इससे यह समझलो वह चखी जा सकती है, प्राप्तव्य है। अप्राप्तव्य नही।

सवरके योग्य शुद्ध आत्माको जगत्का कोई भी पदार्थ आश्रय या मोह उत्पादक नही हो सकता। सगे लडके से भी यदि झगडा बन जाय तो राग निकल जाता है, मोह भी चला जाता है।

## खुदको प्रसन्न (निर्मल) बनाओ

लोग दुनियाको प्रसन्न करनेके लिये बडी बडी चेष्टायें (कोशिशें) करते है। बडे बडे गढ महल, तालाब, बावडी आदि बना कर रख जायेंगे, परन्तु अपनेको प्रसन्न करनेके लिये क्या यत्न किये ? दूसरोको प्रसन्न करनेके लिये सब कुछ कर रहे हैं। बीस हजार रुपया एकमुस्त दान देनेसे अथवा १० दुखियो को सहाय्य करनेसे ही आत्मप्रसन्नता नही हो सकती। आत्म प्रसन्नता यदि होगी तो निरन्तरके ज्ञानाभ्यासमे ही होगी। उसके होनेपर जब तक राग है पुण्य व शुभोपयोग होगा।

परन्तु निर्मोह या शुद्ध मतिकी बात सुनते ही मुन्नी, मुन्ना या दुकान मकान की ओर मन ढुल जाता है, मोहकी कैसी भयकर कला है ? मन्दिरमें भी मन नही लगता, स्वाध्यायमे भी चित्त नही जमता। एक तो स्वाध्यायकी प्रतिज्ञा नही लेते और लेते हैं तो एक दो लाइन देखकर रस्म अदा कर चल देते हैं। ऐसी प्रतिज्ञा या धर्म कर्मसे लाभ क्या ? यह तो एक प्रकारका धोखा

है। हित, ज्ञानका आराधन या अपने आपकी रुचि विना हो नही सकता। ऐसे ज्ञाता या ज्ञानीको बाह्य पदार्थ सत्पथमे विचलित करनेमे समर्थ नही हो सकता।

### कषाय रोगकी औषधि ज्ञानाराधन है

रोगीको रोग हो गया, कडवी दवा ही उसके योग्य है। वह कडवी दवा पीना नही चाहता, तो लोग समझाते हैं कि एक बार आँख मीचकर पी तो जाओ, परन्तु उसे वह सुहाती नही। बार बार फिर समझाया जाता कि भैया एक बार कडा दिल कर पी तो जाओ। इसी प्रकार मानवको विषय कषायका रोग लगा है, ज्ञानाराधनकी दवा उसे सुहाती नही है। आचार्य कहते हैं कि एक बार केवल आँख मींचकर ही नही सभी इन्द्रियाँ मीचकर, एक बार इस ज्ञानाराधनारूप दवाको पी तो जाओ, उससे यदि सुखका अनुभव न हो, कष्ट होने लगे तो फिर छोड देना, परन्तु मनमे ठान लो विषय कषायोसे मनको मोड लो, परमे आत्मीयबुद्धिको भूल जाओ। मानलो स्याद्वादके मर्मको, फिर यदि वह ज्ञानाभ्यास या आत्मस्वरूपका अनुभव न रुचे तो फिर विषय कषायोमे आजाना। वे भगे थोडे ही जाते हैं, वे तो सुलभ और सर्वत्र हैं।

## संवारकसंवार्यत्वे जीवाजीवौ मुख्यौ ॥२१॥

### सवारक जीवसवरकी मुख्यता

कोई कहे कि सवरकी चार बातोमे कौन मुख्य है ? तब कहते हैं कि सवारक संवरमे जीवके परिणामोकी मुख्यता है और सवार्यमें कर्मके रुकनेकी मुख्यता है।

जिन परिणामोसे आते कर्म रुक जाय वह सवारक भावसंवर कहलाता है तथा कर्मोंका रुक जाना सवार्य द्रव्य सवर है। ऐसे परिणाम बनाओ, जिससे कर्म नही आने पावे। जो विषय कषायोकी प्रक्रिया या उपाय बताते हैं उन्हे लोग भला कहने लगते हैं, परन्तु वास्तवमे वे भले नही हैं। (सत्पथ से मुख न मोड आत्मकार्यसे स्खलित न होना ही श्रेय है) खोटे प्रसङ्गोसे बचकर जहा हमारा समता परिणाम, अनाकुलता या अस्खलितता रहे वही श्रेय है; विषय

कषायों व उनके साधनोंमें लगना श्रेय नही।

### मैं चैतन्यमात्र परमपारिणामिक भावस्वरूप हूँ

मैं माया मिथ्या निदानके शल्यसे रहित हूँ। परिणमनवान होकर भी परिणमन-स्वरूप नही हूँ, स्वभाव परिणमता है, फिर भी अपरिणत है। यद्यपि वह अपरिणत रह नही सकता, परन्तु स्वभावका स्वरूप परिणमनशील नही है। मैं अविकार परम पारिणामिक स्वरूप हूँ। आत्मा भोगाकांक्षा व संकल्प विकल्प से रहित सामान्यस्वरूप चिन्मात्र है, परन्तु अपनेमें जैसी श्रद्धा बनाओ वैसा ही उत्साह होता है। इसलिये अपनेको मुन्नीका दद्दा और गावका चौधरी और अमुकका अमुक मत मानो। आगममे अपनेको जैसा बताया है वैसा पिछान लो और वैसा ही अनुभव करो।

किसी लडकेकी सगाई हुई। तुरन्त ही उसकी दुनियाँ बदल गई। उसके मा बाप बदल गये, सास ससुर माँ बाप से भी अधिक श्रद्धा व प्रेमके भाजन बन गये। उसकी सास व मा यदि एक साथ कुआमे गिर पडे शायद तो वह सासको पहिले बचायेगा।

### श्रद्धाके अनुसार सृष्टि होती है

जैसी श्रद्धा करो वैसी इच्छा होगी। यदि यह भाव बनाओ मैं चिन्मात्र हूँ तो आत्मोचित कार्यका उत्साह आवेगा, यदि अपनेको मुन्नीके दद्दा, राजा या श्रीमन्त मानो तो उसी प्रकार उत्साह आवेगा ऐसी स्थितिमे यदि मनुष्य विवेकी है तो और सब कुछ होजाय, दुकानकी मुनाफा भी कम हो जाय, परन्तु ज्ञाना-राधनमे प्रमाद नही होने देवे।

पर अविवेकी मानव सोचता है कि क्या किया जाय, मुझे समय नही मिलता, सवेरेसे ग्राहक आने लगते हैं, मनकी तराजूपर कमाई है, परन्तु यह सब होते हुये भी ज्ञानाराधन होना चाहिये। यदि यह भाव आवे तो समय निकल आवेगा। यदि ज्ञानाराधानमे चित्त है तो उपरोक्त विकल्पोमे ध्यान ही नही जाता। मोहियोको तो औरके विरक्त होनेपर वदनकी मलीनता हो जाती है, उन्हे प्रमोद नही होता। जैसे कि सूम दानीको देख कर मलिनवदन हो जाती है।

किसी सूमिनीने सूमसे पूछा—

नारी पूछे सूमसे, काहे वदन मलीन।

क्या तुमरो कुछ गिर गयो या काहूको दीन॥

सूम ने उत्तर दिया—

न मेरो कुछ गिर गयो, न काहू कुछ लीन।

देते देखो और को तासो वदन मलीन॥

दुनियाका लक्ष्य यही है कि औरोने हजारो कमा लिये औरोको हजारोंका लाभ हो रहा है—यह विचार निरन्तर धन कमानेमे दूसरोंसे होड लगाता रहता है।

### मोहीको निर्मोहतापर आश्चर्य

मोही जन ज्ञानियोको विरक्त देखकर आश्चर्य मानते हैं। ये कुन्दकुन्द १० वर्षकी अवस्थामे वन चले गये। क्या ये बावले थे या इनका दिमाग फिर गया था अन्यथा ये इस छोटीसी उम्रमें ये दुस्साहस कैसे कर बैठे? यहा तो पाच मिनटको भी दुकान नही छोडी जाती। कभी किसीने यह विचारा है, क्या-कि हमारे गावमे कौन विशेष विद्वान् है व त्यागी है और उससे ज्ञानाराधन के लिये कुछ समय मागे। स्वय, तालाश करना तो दूर रहा, यहा तो यह परिस्थिति है कि कोई विद्वान् स्वय आकर भी प्रेरणा करे कि भाई कुछ समय ज्ञानाराधनके लिये भी निकाला करो, तो उत्तर मिलेगा कि अब हम सोचेंगे। ठीक है, इस भवमे सोच लेना या परभवमे सोच लेना आजके मानवमे ऐसा मोह बस गया कि उसे सत् बात रुचती ही नही।

### विषयमे पले हुए को ही ज्ञान नहीं रुचता

एक धीवर और मालीकी लडकीमे दोस्ती थी। दोनोमे खूब स्नेह था। एक दिन धीवरकी लडकी मछलीकी टोकरी लेकर बेचनेके लिये ग्रामान्तर गई। वही मालीकी उस लडकीकी ससुराल थी। मछली बेचते बेचते धीवरकी लडकी को देर होगई। वह अपने गोईके घर पहुची; उसने भी उसका खूब स्वागत किया, रातको सुन्दर सेज विछाया स्प्रिगदार गद्दापर बढिया चादर डाल तरह तरहके फूल सजाये। फिर धीवरकी लडकीसे विश्राम करनेको कहा। वह लेट

गई, परन्तु उसे फूलोसे बदबू आवे, नीद नहीं आवे। राजा रईसो जैसी सेज धीवरकी लडकीको क्या पसद आवे? उसे बेचैन देख, मालीकी लडकीने कारण पूछा। उसने कहा फूलोकी दुर्गन्धसे (महकसे) मेरा दिमाग फटा जाता है, इन्हे हटादो। उसने हटा दिये, फिर भी उसे निद्रा नही आई। लडकीने फिर कारण पूछा। उसने कहा इस गद्दे मे भी फूलोकी वास भर गई है, इसे भी हटादो और मेरी मछलीकी टोकरी सिराने रखदो और पानी सीचदो। उसने वैसा ही किया तो उसे तुरन्त नीद आगई।

इसी प्रकार मोहियोको विषय साधन खाने पीने इन्द्रियोके भोग या रागके साधनोमे ही चैनका अनुभव होता है, वैराग्य ज्ञान या उपदेशकी सूखी बातमे उन्हे चैन नही मिलती। ऐसी बातोके सुननेमे तो बार बार घडी देखी जाती है कि ये नीरस भाषा कब बन्द हो जाय। ज्ञानकी बात नीरस और रागकी बात सरस या गीली होती है, परन्तु वास्तविक चैन आत्मरुचिसे ही हो सकती है।

दु खका मूल सयोग है

पुत्रीके वयस्क होनेका दु ख है किसीको किसीको सन्तानके पृथक होनेका दुख है इत्यादि। मानव अपने अपने पचासों दुख बताते हैं, परन्तु विवाहके समय गा गा और बजा बजा कर सुख भोगे थे, उन्हींके तो ये फल हैं। यदि पहिले ही सोच लिया होता और शादी नही कराई होती तो ये दु ख सहने नही पडते।

पहिले तो यही भाव था कि यदि विवाह न करायेंगे तो उत्तराधिकारी कौन बनेगा? काम वासना नही सह सकेंगे। तब उनके फलस्वरूप अब तो दु:ख आयेंगे ही, यदि अब भी चेत जाओ तो कुछ नही बिगडा।

यदि यह कहो कि सब ऐसी भावना करलें तो स्त्री पुत्रादिकी सभाल या रक्षा कौन करे? इसका उत्तर यह है कि तुम यह भाव बनाओ दुनियामे सब अपने भाग्य से जीते हैं आप किसीकी सभाल नही कर सकते। अतएव ज्ञानाभ्यासमे लगो यही हित है। चाहे गृहस्थीको छोड कर इसमे लगो, चाहे गृहस्थीमे रहते हुये लगो। देर मत करो जो शीघ्र कर गुजरो सो ही हित है।

यदि कहो कि अभी ज्ञानाभ्यासके योग्य हमारी स्थिति नही, इसका उत्तर यह है कि समय दिनो दिन बदलता जा रहा है कि अभी जो कुछ अच्छी

स्थिति है, आगे और भयकर स्थिति मिलेगी। जैसे कोई नदीपर बैठा हुआ सोचे कि पानी कम हो जाय, ऐसा सोचते सोचते अगर पूर आजाय तो वह ही जायगा। इसी प्रकार कोई यह सोचे कि जब धन सग्रह कर लूंगा या योग्य स्थिति बना लूंगा तब धर्म करूगा। ऐसा मत सोचो, आगे-आगे भयकर ही परिस्थितिया आवेंगी, जो आज स्थिति है सो आगे नही मिलेगी।

### एक किंवदन्तीका मर्म

एक वैष्णव पुराणकी कहानी है। नारद नरक गये तो वहाँ उन्हें ठहरनेको जगह नही मिली। फिर वे स्वर्ग गये, वहा विष्णु लम्बे चौडे विमानमे अकेले सो रहे थे। नारद बोले—आप बडा जुल्म करते हैं कि नरकोमे इतने प्राणी भर दिये कि तिल रखनेको भी जगह नहीं और स्वर्ग सारा खाली पडा है। विष्णु ने कहा कि हमारा क्या दोष ? कोई स्वर्गमे आना ही नही चाहता है।

नारदने कहा कि हम किसीको लादें तो आप स्थान तो देंगे ? विष्णुने कहा कि हा। नारद खुश हुये और गये एक मरणासन्न श्रीमान् के पास; बोले कि बाबा जो यहाँ क्यों दु खी होते हो चलो हम तुम्हें स्वर्ग पहुचा देवें। वृद्ध श्रीमान् ने चार गाली सुनाईं कि बेवकूफ हमे अभीसे मारना चाहता है, हट यहासे कमबख्त !

नारद आगे बढ़े तो एक और युवक वृद्धके पास पहुचे उन्होने कहा कि क्यो वृथा परेशान होते हो चलो हम तुम्हे इसी देहसे स्वर्ग पहुचादें। उसने कहा कि हमारे स्त्री है लडके हैं उन्हे कौन पालेगा ? हम नही जाना चाहते।

नारद आगे जाकर एक नवयुवकके पास पहुँचे, उससे भी कहा। वह बोला कि हमारे तो अभी शादी हुई है, २ वर्ष बाद आना। दो वर्ष बाद नारद आया तो बोला कि कुछ बडा बच्चेको हो जाने दें। इस प्रकार वह १० वर्ष बाद आया तो कहा हमारे लाखोकी संपत्ति है; १० वर्ष बाद आना हम जरूर चलेंगे। नारद १० वर्ष बाद आये तो कहा पोता छोटा है, बड़ा होने पर १० वर्ष बाद चलेंगे। नारद फिर आये तो कहा नाती नन्हा है, बड़ा हो जाने दो, १० वर्ष बाद फिर आना जरूर चलेंगे। नारद फिर पहुंचे तो कहा पुत्र कपूत हो गये हैं, धन रखानेकी जरूरत है, अब बुढापेमे क्या स्वर्ग जांय ? अगले भवमें

बसूंगा। अधिक मोहके कारण सेठ अपने कोषागारमें सर्प हुये। नारद वहां भी पहुचे, फिर समझाया और पूर्वभवकी याद दिलाई। तब सर्प फण हिलाकर बोला कि मैं नहीं जाऊगा, मेरा लडका खराब है, मेरे बिना यह सम्पत्ति बरबाद कर देगा। तब नारद जी चुपचाप चले गये। यह है मोहका जाल। इसमे प्राणी इतना पागल हो रहा है कि हितमार्ग बताने पर भी ग्रहण नहीं करता। इस कथानक से मोहकी बात सोच लेना। जीवोकी प्रवृत्ति मोह व पापकी ओर स्वतः हो रही है और उससे ससार परिभ्रमण ही होता है और यदि ससार परिभ्रमणसे बचना है तो ज्ञानकी आराधना करो।

## आदेयमिदं तत्त्वमानिर्विकल्पात् ॥८२॥

सवर तत्त्वकी प्रधानता और उपादेयता ज्ञानियोमे छुपी नही है। सवर सप्ततत्त्वोमे प्रधान और आदरणीय है। हमें उस परिस्थितिका अनुभव करना चाहिये, जो आनन्दरूप या आदरणीय हो उसीका नाम सवर है। बाह्य (पर) परमात्माकी भक्ति, औपाधिक आनन्द व प्रसन्नता पैदा कर सकती है, परन्तु वह निर्विकल्प भाव पैदा नही कर सकती, जो आत्माके साक्षात् सुखका कारण है। आत्माके साक्षात् सुखका कारण सवर है। इस लिये वही आदेय है। यही कहते हैं—'आदेयमिद तत्त्वमानिर्विकल्पात्,' जब तक यह निर्विकल्पता की स्थिति नही होती तब तक किसी न किसी पर-चीजमे उन्मुखता होती है। निर्विकल्पताकी स्थिति सवर में ही होती है, वह सवर ही है अधिककी तो बात क्या ? जिस विकल्पमे सवर आदेय है, वह भाव रहता है, वह विकल्प भी सवर नही। जब तक विकल्प रहे ऐसे सवरके प्रति आदेयपने की बुद्धि रखें।

यह सवर भाव जीवका परम मित्र है, किसीके बडी कषाय होने पर या कषायकी वृद्धि देख कहा जाता है कि शान्त रहो, चुप होजाओ, आख मीचलो, मुख मोडलो, ये सभी भाव सवरके ही बाह्य उपचरित प्रतीक हैं। मोक्ष मार्गका सक्षेप भी यही है, यथार्थ ज्ञान हो जाय और राग द्वेष नही हो।

### शांतिके मार्गका ही उद्यम करो

मोक्ष मार्ग सरल तो बहुत है और इसके लिये कुछ हृदयकी पवित्रता

और कुछ हार्दिक रुचि होना चाहिये, परन्तु ये दोनो बातें ही बडी कठिन लगती है, ये ही नहीं होतीं। सभी बडे आरामसे सन्तान, धन और वैभवका ही ध्यान करते रहते हैं और उनसे आनन्दका अनुभव करना चाहते रहते हैं। विपरीत भाव लगा है इससे चिंता बनी रहती है। यदि उनसे आरामके भावकी वृत्ति रोक कर, उनके भीतरी स्वरूपका विचार किया जाय कि हर वस्तुका परिणमन स्वतन्त्र है, कोई किसीका सुख दु.ख दाता नही, इनका सयोग नश्वर है, इनके भोगसे बध या ससार होता है—ऐसा ध्यान आजाय तो सहज ही मोक्ष मार्ग बन जाय। ऐसा उद्यम हो सकता है।

सवरका मूल भेद विज्ञान है, बिना रुचिके नौकर कोई काम करे तो मालिक खुश नही होता। इसी प्रकार बिना रुचिसे भगवत् पूजन भी चलता हो तो आपका भगवान् भी आप पर, आपकी उन क्रियाओसे प्रसन्न नही हो सकता। लोकमे भी कहा जाता है कि हमे और किसीकी भूख नही, हमे तो आपके प्रेमकी दो बाते चाहियें। इसी प्रकार मानो प्रभु भी कहता है कि और तो हम सब कुछ कर लेंगे, तुम्हारे ऐबो या दोषोको सभाल देंगे, परन्तु हमारी तुम्हारी लगन तो एक हो जाय। जिस मार्गको हमने अपनाया, उसे तुम भी तो अपनाओ। यदि विशुद्ध कल्याणकी रुचि जग जाय, ससारसे आप ऊब जाय कि ससार की किसी भी परिस्थितिमे शाति नही है तो सहज ही मोक्ष मिल जाय।

### किसी वस्तुका कार्य अन्य कोई नहीं करता

प्रत्येक वस्तुका परिणमन, अपने ही चतुष्टयसे होता है, परके चतुष्टयसे परका परिणमन, कदापि नही हो सकता है। परिणमना पदार्थकी सत्ताका व्रत है। प्रत्येक वस्तु यद्यपि स्वतन्त्र है, फिर भी उसमे परिणमन रहेगा ही, परन्तु वह अपनेमे अपने ही द्वारा होता है, परमे परके कारणसे नही। इससे दुनियामे किसी द्रव्यका किसी द्रव्यसे कोई नाता नही अर्थात् कोई दुनियामे किसीका कुछ नही लगता, फिर हमारेमे हमारा यश हो जाय, हमारी कीर्ति हो जाय, अपमान न हो, अडौसी पडौसी या दुनिया हमे अच्छा माने, यह मूढता (मोह) क्यो आवे ? कोई हमे अच्छा समझे तो हमे सुख हो—यह हमारा मिथ्या अभिप्राय है। हमे सुख तो अपने आपके स्वादमे मिलेगा।

यह मेरा लडका है, आदि मोह बनाये तो उसके लिये यह बडी विपदा है। कमाई थोडी, खर्च अधिक है, ऐसा भाव भाये तो आकुलता ही बढेगी, भलाई तो इसीमे है कि सन्तानमें मोह ही न करो, चने खाकर ही रह जाओ, परन्तु अपने लिये या सन्तानके लिये झूठ या अन्यायमे प्रवृत्ति कदापि मत करो और न अन्यायसे कुछ सग्रह चाहो। झूठ या अन्यायमे न यहां शाति मिलेगी, न वहा शाति मिलेगी।

### शांतिके लिये अपनेको एकाकी देखो

आत्मा एकाकी है, परपदार्थोंके कारकोसे रहित है। जो मैं सोचता हूँ यह भी मेरा नही है मेरा परिणमन भी मेरा नही, पर भी मेरे नही और परमे ममता भी मेरी नही, मैं ज्ञानदर्शनघन हू। दुनियामे एक परमाणु भी मेरा नहीं और मैं किसी अन्यका नही—ऐसी भावनाके ही अनतर स्वका स्पर्श होगा और शाति या सुख मिलेगा। आनन्दकी चीज सबकी एक है, अपने कल्याणकी ओर जागृत होना चाहिये। अन्यथा अनादिकालसे ससारमे घूमते आ रहे हो और घूमोगे।

सिद्ध बननें, कर्मोंसे छूटने और अपने आपका आनन्द पानेका मौका मिला है तो कुछ कर गुजरो। कोई कहे कि इस भवमें तो नही छूट सकते, यह कहना वृथा है। भव तो नश्वर है, छूटने वाला है, उसकी आड क्यो लेते हो? आत्माको देखो, न सही इस भवमे, किसी अन्य भवमे ससार छूट जायगा।

परन्तु मोहीके चित्तमे यह मिथ्या अभिप्राय बैठ गया है कि मैं आदमी हूँ, मैं मनुष्य हू, श्रीमान् हूँ, त्यागी हूँ, जिससे यह बाह्य अनुकूलता प्रतिकूलतामें दिमाग लगाये रहता है। यह प्रतीति व्यर्थ है, मे इन रूप कुछ नही हूँ। मैं तो चैतन्यकी वृत्ति करने वाला, एक स्वतन्त्र द्रव्य हू। मुझे मौका मिला है कि सम्यग्दर्शन या मोक्षका यत्न करलू। यदि चूक गये तो हमारी तुम्हारी तो बात क्या? जो घोर उपसर्गो और परिषहोको सहनकर चारित्र मोहका उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ जाते हैं वे भी वहासे गिरकर पहिले गुणस्थान तक आजाते हैं और उन्हें भी कुछ कम अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन समय तक ससारमें भटकना पडता है। फिर तुम थोडा सा ही धर्मके लिये कुछ करके सोचो कि

हम तिर गये, यह तुम्हारी भूल है। यदि आवश्यक मात्रामें संवर हो गया तो ठीक, अन्यथा फिर ससारमे डुबकी लगानी पडती है। इसलिये यदि दुनियामे कुछ है तो एक सवर भाव ही है।

### धर्मकी लगनवालेको एक पहिचान

जितना नेह अपनी सतानसे होता है, उससे अधिक नेह किसी धर्मात्मा या साधु सन्तपर आ जाय तब जानो कि मोह गला, मोहके गलनेकी प्राथमिक यही परीक्षा है। धर्म या धर्मात्मापर वात्सल्य हुये बिना कैसे समझा जाय कि मोह गला। तराजूके दो पलडे होते हैं, एकपर अपना धर्म धरो और एक पर मोह। फिर देखो कि कौनसा पलड़ा वजनदार है। हम तो यह कहेंगे कि धर्मात्मा या धर्मपर स्नेहसे भी कही अधिक अपने आपको निर्विकल्प समताका भाव आ जाय, तभी वास्तविक मोह गला जानो।

### कुछ अपनी भी चिन्ता करो

संवर ही आपका साथी है, सुख, दु ख, पुण्य, पाप, सम्यक्त्व और मोक्षका जुम्मेदार आत्मा स्वय है। दूसरेके अपराध या दोषपर दृष्टि देना ही एक फसाव है। इसलिये दूसरेपर दृष्टि न दो। यदि अपराधी या दोषी पर दया आ जाय, उसको सन्मार्गपर लानेका अनुराग आ जाय तो उसे मिष्ट भाषामें समझाओ। मान जाय तो अच्छा है, न माने तो खेद मत करो। तुम तो केवल अपनी चिन्ता करो।

अपने प्रत्येक दुखमे अपना ही अपराध मानो। वास्तवमें हमारे अपराधसे ही हमे दुःख होता है। जिन किन्हीको किसीसे दु.ख आता है, उस दु.खके आने मे उनका ही अपराध कारण होता है। दूसरेकी गलतीसे दूसरेको दु.ख हो ही नही सकता, परन्तु भ्रमवश परकी गलतीसे परको दुख माना जाता है। यथार्थ मे हमे दु ख हमारी गलतीसे ही होता है।

धन वैभव सतान या हवेलियोंसे वास्तविक बडप्पन नही होता। ये सब चीजें छूटने वाली हैं। कब तक साथ रहेगी? इनसे सम्बन्ध छूटते ही इनसे होनेवाला महत्त्व नष्ट हो जायगा। वास्तविक महत्त्व भावोकी उच्चतासे होता है, बाहरी बातोसे महत्त्व या बड़प्पन नही हो सकता।

### पुरसाई उम्रसे मत मानो

यदि अन्तरगमे सवर नही तो दु.ख नना ही रहेगा। कार्तिकेय कुन्दकुन्द सनक कुमार और लक्ष्मण के आठ पुत्र बाल्यावस्थामें ही मुनि हो गये थे। उन्होंने अपनी उम्रका लाघव नहीं देखा, परन्तु ओआइटरी चौधरीपन धनीपन से अपनेको पुरसा समझने वाले, अपनी पुरुसाईका उपयोग नहीं करते। वे तो बालकपनमें ही इतना उच्च साहसका काम कर बैठे। हम यमके मेहमान बनने के सन्मुख होते हुये भी उन जैसे पौरुषको प्राप्त नहीं कर सके अथवा अपनी गलती भी महसूस न कर सके। यदि उन जैसी शिक्षा लेते या उनका मार्ग पकड़ते तभी हमारी पुरसाई सफल समझी जाती।

दुनियामें कोई काम कठिन नही, परन्तु चित्तमें भाव या उत्साह तो आना चाहिये। यह बाट नही जोहनी चाहिये कि आगे कर लेंगे। यदि आजकी स्थिति में नही कर सके तो आगेकी क्या आशा? आगे न जाने कैसी भयकर स्थिति मिलेगी? इससे जो स्थिति मिली है, उसीमें कल्याणका प्रोग्राम बनाओ।

आगममे पुरुषार्थ ४ बताये हैं, परन्तु अब तीन ही रह गये, आजका मोक्ष पुरुषार्थ धर्ममे डूब गया याने कुछ शामिल हो गया। मोक्ष पुरुषार्थ आज जितना हो सकता है, वह धर्म पुरुषार्थमें ही अन्तर्हित हो जाता है। हाँ अब एक नया पुरुषार्थ—नीद लेना और बढ गया, इसलिये वे ४ के ४ हो गये, अच्छा ऐसा ही सही, अब प्रत्येक पुरुषार्थके लिये ६, ६ घण्टेका समय दो। एकके साथ पक्ष और दूसरेसे द्वेष मत करो। ऐसा करो तो तुम्हारा मार्ग ठीक बन जाय। ६ घण्टा धर्ममें लगाओ, ६ घण्टे अर्थोपार्जनमें लग जाने दो, ६ घण्टे सेवामें लग जाने दो, नीदके ६ घण्टे तो तुम निभा ही रहे हो।

### सर्व-विवेकका मूल ज्ञान है

कोई बच्चा माँ से कहे कि माँ मुझे तैरना आ जाय और पानी न छूना पडे। पर ऐसा हो सकना कही सम्भव है, क्या? पानीका स्पर्श तो दूर रहा, दो चार गुटके भी खाना पडेंगे, तब कभी तैरना आवेगा। इसी प्रकार कोई यह सोचे कि ज्ञानको हम छुयें भी नही और तिर जाय, पुरुषार्थ कुछ हो नही और सवर या मोक्ष मिल जाय, यह कैसे हो सकता है? ज्ञान या सवरको पानेके

लिये तो बडे आन्तरिक त्यागकी आवश्यकता है। मैं शुद्ध निर्विकल्प चित् स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा हू। यह अनुभव आये यही संवर है, वही आपका निश्चय साथी है। संवरके सिवाय किसी अन्य धर्मात्मा या उपदेशकका साहाय्य मत खोजो, ये सब व्यवहार-साथी हैं। निश्चय साथी संवरका साथ करो तो सारा सुख मिल जाय।

### तृष्णा दुःखरूप है

वर्तमान स्थिति देखो, ऐसे भी कई व्यक्ति है, जिनके पास २० वर्ष पहिले टका भी नही था, कोई सिलसिला नही था। कोई ऐसा पुण्यका नाश, जिसे भले ही आप पुण्यका उदय मानो हुआ, ऐसी आमद होने लगी कि आज लखपति बन गये, परन्तु तृष्णा दिनादिन बढ रही है। वह नहीं घटी तो क्या आराम मिलेगा ?

तृष्णातुर लखपति सोचता है कि इतनेसे क्या होता है ? जितनी आमद है उससे अधिक तो खर्च हो जाता है। तृष्णा पिशाचिनीका बडा जाल है। शास्त्रोमे केवलज्ञानको अनन्त कहा है, परन्तु मोहियोने अपनी तृष्णाको अनन्त कर डाला है। भगवानके ज्ञानमे यदि तीनो लोक इकट्ठे होकर एक तरफ समा जायें तो उस ज्ञानमे एक कोनेमे विश्व समा जायगा। यहा तीन लोककी सम्पत्ति भी आ जाय तो तृष्णातुरके तृष्णाके एक कोनेमे पडी रह जाय। अनन्तत्वकी दृष्टिसे दोनो समान हैं, परन्तु अन्तर इतना है कि तृष्णा दुःख रूप है और ज्ञान सुख रूप।

आज किसीने समाज या धर्मका कुछ अच्छा काम उठाया तो दुनियां आपको, प्रिय वचनोसे प्रयोग करने लगी। यदि असावधानीसे कुछ बिगड़ गया तो जितने ही आप प्रिय बने थे, उतने ही अप्रिय बन गये।

बालक सर्वथा आपके अनुकूल प्रवृत्ति करता था। यह देख आप प्रसन्न होते थे। कारणवश आपके प्रतिकूल हो गया तो आप नाराज हो गये, बड़ा काम रख दिया आप नाराज हो गये, क्लेश का काम बन गया। पुत्र मित्र को बडा किया, वे अपनी पद्धतिसे चलेंगे तो आपको बुरा लगेगा, उससे दुखी होओगे। दुखसे दूर होनेका उपाय तो यह था कि उनको जुटानेका उद्यम ही नही करते,

पहिलेसे ही अलग रहते या अभी अलग हो जाओ। मोहवश यदि अलग भी न हो सको तो अलग होनेका भाव तो बनाओ, इसमें तो कष्ट या परकी अपेक्षा नहीं।

अपने आपको जैसे हो तैसा समझ लो

अपने आपको सबसे भिन्न ज्ञान मात्र समझना या बनाना ही हमारा कर्तव्य, ड्यूटी या सबर है। परको मैं कुछ नही कर सकता, मैं कृतकृत्य या स्वतंत्र हूँ, जगतका मुझे कुछ नहीं करना है। 'होता स्वय जगत् परिणाम मैं। जगका क्या करता काम' यह प्रतीति आजाय तो आनेमे अपने आप शांति आने लगती है।

हम ज्यादा कहेंगे तो आप कहोगे कि आप क्या समझोकि हमे क्या उलझन है; परन्तु अभी प्राण मिच जाये तो सब पडा रहे। हमे धर्म करनेके लिये समय नही मिलता यह कहना नितान्त कमजोरी है। आप ज्ञानाराधनाकी ड्यूटीमे समय नही देते, यह आपके लिये ही कष्टकी चीज है। हम तो यह कहेंगे कि जितनी देर आप ज्ञानाराधनासे विमुख रहते हो, उतने समय तक आप वास्तविक कमाई ही नही करते।

मोह छुडा दो, फिर ज्ञानमे समय देंगे

दो पहिलवान थे। एक था कमजोर, एक सहजोर। कमजोर ने सहजोर से कहा कि हम तुमसे लड सकते हैं और जीतेंगे भी हम, किन्तु शर्त यह है कि तुम पहिले गिर पडना फिर हमसे जानो। इसी प्रकार कोई यह सोचे कि यदि हमारा मोह छूट जाय तो ज्ञान-अभ्यासको समय देंगे तो मोहको छूटना ही तो कठिन है और कठिन कुछ भी नही है, दृष्टिका ही तो काम है, उसीके लिये ज्ञानाराधना करना है।

'दिपै चाम चादर मढी' यह शरीर किसी काम नहीं आना, फिर भी मोही, निरन्तर इसकी मजदूरी करता है। खूब मलता साबुन घिसता है कि गोरे निकल आवें, सुन्दर दिखने लगें, परन्तु क्या कभी किसी ने यह सोचा है कि इस शरीरकी सेवा, केवल इस हेतु करनी चाहिये कि यह स्वस्थ रहे और कुछ सयम कर सकें।

## यथार्थज्ञान, श्रद्धानमें आनन्द है

वास्तविक निर्विकल्प भाव, गृहत्यागी साधुओके बनता है, किन्तु मोहविहीन गृहस्थोंके भी यह भाव बनता है। गृहस्थके निर्विकल्प भाव नही बन सके, यह बात नही। ज्ञान और श्रद्धानकी अपेक्षा आजका गृहस्थ साधुसे कम नही होता, स्थिरतामात्रसे भले ही कमी रह जाय। ज्ञान और श्रद्धान की यथार्थतामे आनन्द है, उसमे खर्च भी कुछ नही होता। सवर ही पिता, मित्र, पुरखा और गुरु है और वही आपका भगवान् है। सवरसे ही आत्मीय अनन्त आनन्द प्राप्त होता है।

हे सवर ! तुम हमारी आत्मामे अधिकाधिक विराजो, मोह और राग द्वेष भाव नही आवें, ऐसी निर्मलताका आह्वान करो। यदि राग द्वेष आजावें तो यह प्रयास करो कि जब तक ये नवीन हैं, अपनी जड़ नही जमा पाये हैं, आत्मा से इनका परिचय नही हो पाया है, तब तक इन्हें उखाड़ फेंको। अभी ये कोमल है उखड सकते हैं, इन्हें बढावा मत दो, इनकी जड़ न जमने दो। नदीका वेग न आने पावे तब तक निकल जाओ अन्यथा पूर आगया तो निकलना कठिन हो जायगा। यदि ये बढ़ गये तो इनसे भी निवृत्त होना कठिन हो जायगा।

कोई निन्दा करे कोई कितना ही कष्टदे उसके प्रति भी द्वेषभाव मत करो। ऐसा भाव बनाना कठिनभी नही, 'निज को निज परको पर जान सुख दुःख दाता कोई न जान, इस उक्तिको समझो, द्वेष भावका जीतना कुछ। भी कठिन नही। प्रत्येक ही पदार्थ अपने ही परिणमन से परिणमता हैं, कोई किसीका कुछ भी नही कर सकता, ऐसे भाव द्वारा अपनेको रागसे निवृत्त करलो। वस्तु स्थितिको समझकर अपनी ओर उन्मुखता करलो।

## होता स्वय जगत परिणाम

जगत्की व्यवस्था करना ज्ञानीका काम नही, वह तो मोही ही माननेमें कर सकता है। भगवान् तो ज्ञानवान है, उसको जगत्की व्यवस्थासे क्या प्रयोजन, जगतकी व्यवस्थामे मोही महान् एक्सपर्ट है। उसका कर सकना मोही के बाये हाथका खेल है, यह सब जगत् मोहियो की एक कम्पनी है, समस्त

मोही इसके मेम्बर हैं और वे सब अपने-अपने विभावोकी ड्यूटी अदा किया करते हैं।

### पसन्द करो कौनसी औषधि पीना है

मोही क्षण-क्षण कर्मका वध करता है, कर्मसे शरीर पाता शरीर से रागद्वेष और मोह उत्पन्न होते हैं। यह सब व्यवस्था मोही करते रहते हैं। ज्ञानीसे केवल खुदकी ही व्यवस्था बन सकती है। ससार की व्यवस्था बनाना है तो क्लेशमे पड़े रहो, यदि क्लेश मे बचना है तो ससार की व्यवस्थासे दूर रहो।

ससारमे सत्यता है तो मिथ्यात्वमे पडो और ससारसे बचना है तो मिथ्यात्व से दूर हटो। इन दो नुस्खोमे जो पसन्द हो उसे पी जाओ।

एक भवका ही दु ख सभाले सभल नही सकता। पूर्व हुये अनत भावो के दु खोको सभाल करे तो न जाने क्या होगा ? उन दु खोका यदि स्मरण भी हो जावे तो वे पीस डालेंगे। यदि उनसे तुझे ऊब है, तो वैराग्य सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का मार्ग ले। अपने आपकी ओर झुके विना कभी आनन्द नही मिलता।

### प्रोग्राम दु खका मत बनावो

प्रद्युम्न का विवाह हो गया। कृष्णने विरक्ति और रागका उपदेश दिया और कहा कि जिसे जो रुचे सो ग्रहण करो। यह सुन प्रद्युम्न जगल जानेको तैयार होने लगे। लोगोने रोका कि अरे तुम यह क्या करते हो ? तुम्हारे दद्दा बब्बा तो बैठे हैं, तुम यह क्या दु साहस करते हो ? प्रद्युम्न ने उत्तर दिया— मुझे ससारका दम्भ नही बनना है, दु खके प्रोग्राममे नही पडे रहना है। स्त्री के पास गये और कहा कि मुझे वैराग्य हो गया है, अब मैं दीक्षा लेता हूँ। स्त्री ने कहा—झूठ है, यदि तुम्हे वैराग्य होता तो हमसे पूछनेकी जरूरत क्या थी ? स्त्री तो कहते ही केवल साडी ही रखकर वनको चल दी। यह यह सुनके प्रद्युम्न वनको चल दिये। इसलिये आत्म हितके हेतु अल्पवयस्कता का ध्यान मत करो। जब सूझ जाय तब अपनालो। परमे आत्मबुद्धि कर केवल पाप संचय मत करो।

### अज्ञान ही दु खका प्रोग्राम है, दु खका प्रोग्राम मत बनाओ

अपने प्रारम्भिक जीवनमे बाल्मीकि चोरी करते थे। एक दिन जगलमें

उन्हे एक साधु मिले, वाल्मीकिने कहा— बाबा जी ! जो कुछ आप के पास हो दे दो वरना डडोंसे खबर लेते हैं। साधुके पास डंडा चादर और कमण्डलु मात्र था। यह उन्होंने दे दिया और कहा— एक बात हमारी मान लो। हम यहीं बैठे हैं, तुम जाकर अपने कुटुम्बियोंसे पूंछो कि तुम लोगोकी उदरपूतिके लिये जो पाप हम करते हैं, उसका हिस्सा तुम लोग बाटोगे या नही, तो सबने इन्कार कर दिया तो वाल्मीकि उदास होकर साधुके पास जाकर दीक्षित हो गये। पापका फल हमको ही भोगना पडेगा, यह जानकर सबरकी भावना करो।

धर्मका मूल कारण निर्मलता है और निर्मलता का कारण रागादिक की न्यूनता है। रागादिकको न्यूनता पचेन्द्रियो के विषयो के त्यागसे होती है। केवल गप्पवादमे (वचनोंमे) धर्म नही होता।

---

## अथ षष्ठोऽध्यायः

### निर्जरा तत्त्वका वर्णन

जीवके शुद्ध परिणामोंसे निर्जरा होती है। यदि निर्जराका सहयोग न हो तो संवरसे मुक्ति होनेमे बड़ा समय लगेगा, क्योकि सवरसे नवीन कर्म नही आवे, परन्तु जो कर्म आस्रवसे आ चुके हैं, उनकी स्थिति अन्त. कोडाकोडी सागर है, याने वे आत्मामे अधिकसे अधिक कुछ कम अन्तः कोड़ा कोड़ी सागर तक रह सकते। उनके द्वारा प्राणीको उतने समय तक ससारमे रुलना ही पडेगा। तब कहीं मोक्ष होगा। परन्तु निर्जरा का यह प्रसाद है कि पाच मिनट बाद ही मोक्ष हो जाय। पाच मिनट भी बहुत हैं, कभी कभी तो कोई महात्मा एक सेकेण्डमे सर्व गुणस्थानोंका अतिक्रमण कर सिद्धशिलामे जा विराजमान होता है। मोक्ष निर्जरासे होगा। निर्जराका क्या स्वरूप है—

**विकृतिनिर्जरणं निर्जरा ॥१॥**

विकार भावका झड जाना ही निर्जरा है; वह विकार जीवमे और कार्मण वर्गणाओमें होता है। कर्मरूप परिणत कार्मण वर्गणाओमे प्रकृति, प्रदेश,

### निज ध्रुवस्वरूपकी दृष्टिमें शांति है

किसीसे कहा जाय कि हम तुम्हें एक लाखकी जायदाद देते हैं, तुम लेलो, परन्तु शर्त यह है कि दो दिन बाद सारी जायदाद छुडा ली जायगी। ऐसा विदित होनेपर ऐसा कौन कम्बख्त होगा जो उसे लेनेकी इच्छा करे ? वह सोचेगा, मुझे ऐसे लाखोंकी क्या जरूरत जिससे २ दिन बाद कगाल बनना पडे, मेरी भी रही सही चीज छुडा ली जाय। मुझे तो वह चाहिये जिस रूपमे मैं बहुत समय तक रह सकता हू। उसी प्रकार विवेकीको नश्वर, वैभव या साम्राज्यकी इच्छा नही करना चाहिये, परन्तु ध्रुव या नित्य स्वस्वरूपकी ओर दृष्टि देना चाहिये।

उक्त दृष्टान्तसे यह विदित होता है कि जन साधारणकी भी दृष्टि ध्रुव या नित्यको ओर रहती है। तो हम अपनी आदत भी ध्रुव या नित्यकी ओर जानेकी बनावें अथवा अपनेको ध्रुव रूपसे देखनेकी आदत तो है, अब पुरुषार्थ इतना करना है कि जैसा ध्रुव स्वतः सिद्ध है वैसा ध्रुव अपनेको समझ लेना है। आनन्दके लिये ध्रुवता का अवलम्बन होना ही चाहिये। देखो तो आनन्द चाहकर भी, अभी आनन्द नही पा सकता। अपने ध्रुवस्वरूपकी उन्मुखताके उपयोग से ही ऐसी पर्यायें मिलती हैं, जो स्थूलरूपसे ध्रुव भी कहलाती हैं। उन्हे केवल ज्ञान या अनन्त चतुष्टय शब्द से कहते है।

यद्यपि केवल ज्ञान मे भी प्रति समय नवीन पर्यायें होती हैं और उसमे भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्य घटित किया जाता है, इससे केवल ज्ञानमे नवीन नवीन पर्यायोके बनते रहने पर भी उसे ध्रुव माना है, क्योकि उन पर्यायोमे विसदृशता नहीं मालूम होती।

### दृढता भी एक कला है

वज्रबाहु महामोही थे। उनका अपनी स्त्री पर विशेष प्रेम था। उनका साला उदय सुन्दर अपनी बहिन को लेने आया। वह बहिनको लेकर रवाना हुआ कि कुछ ही समय (घण्टो) बाद वज्रबाहु अपनी स्त्रीको लेने चल दिये। पुराणोमे ऐसी अनेक कथायें आई हैं, कि ऐसे महामोही भी निर्मल परिणामो के सुखागत कर सकते हैं।

किन्तु जो अधकुचले हैं। वे न तो डटकर मोह ही कर सकते हैं और न डटकर परिणामोकी निर्मलता ही कर सकते हैं, भैया ! किसी मोह की धुन ही सवार हो तो एक वार पूरी तौरसे डटकर मोह ही करलें, उसीसे अफर जाय या मन भरलें। प्रथम तो ऐसी ताकत नही, दूसरे ऐसा मन नही और तीसरे ऐसा प्रयास भी नहीं कहते तो फिर, मोहको वडे से वडाकर छूटने की वात ही क्या ? वडे वडे मोहियोको सुलटने का अवसर मिलता है, परन्तु अधकुचलो को छूटनेका मौका कव मिलता है ? वडे मोही ऐसे सुलझते हैं कि कहते नही वनता और अधकुचले मोही ऐसे उलझते है कि वह भी कहते नही वनता।

सुननेके ही आदती मत होओ

जैसे ठठेरे का कवूनर, ठठेरा अपने वर्तनोकी कितना ही कूटा पीटीकर शोर गुल करे, परन्तु वह कवूतर वहा से उडता नही। वह विचारता है कि इसके तो ऐसा ठनाठन सदा ही होता रहता है, परन्तु यदि ठठेरेकी वही आवाज कोई अभिनव पक्षी प्रथम वार सुने तो उमकी ठनकार का असर उस पर तुरन्त हो और वह तत्काल उड जाता है। इसी प्रकार ये परिचित श्रोता, अधकुचले मोहके कारण धर्मके प्रसगोंमे आते भी रहते हैं, परन्तु इनके हृदयमें उन धर्मोपदेशो का कुछ भी असर नहीं होता। वे विचारा करते हैं कि ऐसा तो हम प्रतिदिन सुनते रहते हैं, परन्तु ऐसे प्रसगो के सुनने का सुअवसर, किसी जैनेतरको मिले तो उसके चित्तमें वह तुरन्त ही असर कर जाता है। जो जैन कल्याणार्थी है उसके चित्तमे भी असर कर जाता है। असरकी परीक्षा उत्तरोत्तर वृद्धिसे करो।

धर्मके लिये ही हम हैं, हमारा चित्त धर्मपर जाना चाहिये और सवको भूल जाय, ऐसे भाव की स्थिति एक सेकेन्डको भी आई तो भला है।

आत्मा भी एक पदार्थ है, वह जैसी योग्यता पाता है तैसा परिणमन करता हैं। मलिनताके मिटानेका उपाय ज्ञानाभ्यास है। चौवीस घण्टेमे एक मिनट भी धर्ममे लगे ऐसा भाव मालिन्य या ससार वालोके कैसे आ सकता है ? धर्ममे लगनेका उपाय ज्ञानाभ्यास ही है। इसलिये चारो अनुयोगोका विशद वोध रखना चाहिये तथा ज्ञानाभ्यास द्वारा भेदाभ्यासी वन, निज ज्ञान

की प्राप्ति करना चाहिये जिससे सारी झझट दूर हो।

**कभी तो आराम कर लिया करो**

कभी तो चित्तको ऐसा बनाओ। कि घर का जन्मा पुत्र भी वैसा ही जुदा है जैसा दुनियाँ का पुत्र जुदा है। ये धन वैभव सभी मुझसे जुदे हैं, ऐसा भाव या उत्साह कभी तो जगाओ, न जगाओ तो खुदही हानि है। ममता रहित होने मे आराम मिलेगा क्योकि वही निर्मलता है। अपनी निर्मलता उत्पन्न करो अन्यथा सारा बडप्पन मानना वृथा है। बडप्पन तो इसीमे है कि अपने राग द्वेष मोह भण्ड वचन आदि विकारोको दूर किया जाय।

दुनिया बडी विचित्र है, जिस प्रभुके विकार झड गये उसकी तो भक्ति करें और अपने विकार बढाते रहे। जैसे रक्षावन्धन एक पर्व है, उस दिन भाई को राखी बाधना बहिन का काम है। उसी प्रकार भक्ति भी एक प्रकारका पर्व बन गया है।

उसमे भी रक्षावन्धन पर्व के समान, नहाना, सजाना, पढाना, चले आना आदि क्रियायें होती है, फिर अपना काम करना, लडना, चुगली करना, भोग भोगना, बईमानी करना, असत्य बोलना आदि। ये सब कामभी पर्वोकी ही भाति हो गये। जैसे वे पर्वके काम हैं, ऐसे ये भी पर्वके काम है, इनसे भी लाभ है, परन्तु भीतरसे भिन्नमिद का पथ बनावें। अन्यथा यह भक्ति केवल पुण्यकी ही चीज रह जाती है, जिससे भोगभूमि मिल जायगी, जीवन भर स्त्री का साथ नही छूटेगा। देव भी बन जायगे, अनेक देवागनायें भी मिल जायगी, यह सब कुछ हो जायगा, शाति नही मिलेगी। परका वैभव देख मरना पड़ेगा। दूसरो का लाभ होते देखा और मात्सर्यसे मर गये।

बड़े से बडे पाप कुकर्म या हत्या नही कर सकता है- जिसके पुण्यका उदय होता है, दरिद्री नही। वह तो तृष्णा भी बडीसे बडी नही कर सकता। उसे तो २ दिन के खाने के योग्य रोटी की तृष्णा हो सकती है। पाप या तृष्णा अनर्थ का ही मूल है। पाप या तृष्णा को हटा कर वीतराग दृष्टि या स्वभाव दृष्टि ही कार्यकारी है। पुण्य वन्ध भी वीतराग, दृष्टि या स्वभाव दृष्टि होनेपर सुभग होता है अन्यथा नही।

### धर्मके पास पुण्यको आना पड़ता है

जिसे मोक्ष जाना है वह नाना वैभवो को भोगता हुआ तो मोक्ष जाता है, रूखा सूखा कोई मोक्ष नही जाता। कोई सामान्य पुरुष भी मोक्ष जावे तो वह पहिले नहीं तो पश्चात् अन्तरग विभूति का आनन्द पाकर मोक्ष जाता है। जैसे किसीको २, ४ दिनको बम्बई भेजा जाता है तो उसे तिलक आदि लगाकर स्वागत किया जाता है, उसी प्रकार जो अनन्त कालको मोक्ष जाता है, वह भी रूखा सूखा नही जाता। कदाचित् वह दुनियाको भले ही वैसा न दिखे, किन्तु अनेक उत्तम ज्ञानादि गुणो मे भरा रहता है और ज्ञानादिके रहते वह रूखा सूखा नही रह सकता।

जो विकार अन्नादिमे परेशान कर रहे हैं, उन्हे नष्ट करनेकी दृष्टि नही, हमे तो कुछ ऐसा लगता है कि मध्य प्रान्त की कुछ प्राकृतिक रीति रिवाज ऐसी है कि पडित दल स्वय पैदा हो गये, परन्तु ज्ञानकी रुचि और वैराग्य जगे, उसमे तन मन धन खर्च हो, अन्तरगमे ज्ञानाभ्यास की उत्सुकता जगे, ऐसी बात जनतामे साधारणतया कम नजर आती है। अन्य देशोंमे यहा जैसा सोध (सोला) भले न कर पावें, परन्तु वे सत्य शान्ति या सत्यकी खोज भली भाति चाहते हैं, परन्तु हमारी इस धारणामे आजकी कुछ सुधरी स्थिति देख परिवर्तन होता जा रहा है। मेरेसे चिपका हुआ यह शरीर भी बुन्देलखडमे जन्मा हुआ है।

भौतिक जो भी समागम प्राप्त हैं, वे मेरे कार्यकारी या हितकर नही हैं। ऐसी श्रद्धा न कर उनकी परवाह नही कर, अपने आपपर दया कर बलशाली बन जाओ। अपने आपमे सूम प्रकृति नही रहनी चाहिये।

### सतत उदारताकी दृष्टि रहना चाहिये

परन्तु इस प्रान्तकी व्यवस्था ऐसी है कि जिन्दगी भर कमावें और अन्तमे किसी एक धार्मिक निमित्तमे लगादें, किन्तु प्रति दिन उदारतासे खर्च नही करते। उदारका कर्तव्य है कि धर्मके लिये यथाशक्ति रोज कुछ सदुपयोग करे। रोजकी उदारतामे कजूसी विदित नही हो सकती। ज्ञान शिक्षा, परोपकारमे धन खर्च करनेके लिये मिष्ट वचन बोलनेमे रोज-रोजकी उदारता

होनी चाहिये।

उदारके ऊपर भले ही कल गरीबी आजाये, परन्तु उसका ध्यान उधर नहीं जाता, परन्तु अनुदारोंको यह भय रहता है कि आज तो घर धनसे भरा है, यदि यह नष्ट हो गया तो कल टुकडे नहीं मिलेंगे; परन्तु उदारको ऐसी स्थितिका तनिक भी भय नही होता।

जनता ऐसा कहती है कि आजकी सरकार उल्टी चल रही है। तरह तरह के टैक्स लादे जा रहे हैं। न जाने कब सब धन लेले। अभी तो, सोशलिस्टो का प्रभाव है जो कुछ आराम है। इनके बडे भाई कम्युनिस्टों का जमाना जब आवेगा, तब अन्य प्रकार का आराम होगा। ऐसे वातावरणमें अनुदारोंको महान् भय है कि न जाने हमारा यह वैभव कब हमारे हाथसे चला जाय? यदि अशुभोदयवश उन अनुदारो को यह मौका आया तो अडौसी पड़ोसी कोई भी नही पूछेगा, किन्तु उदारको विपदामें भी पूछने वाले दस मिलेंगे।

## उच्च विचार शांतिकी ओर ले जा सकते हैं

विकारोको झाडनेके लिये उच्च भाव बनाना चाहिये। यदि सरकार धन लेती है तो ऐसा भी विचार किया जा सकता है कि सरकार किसी प्रकार धन लेती है तो वह उचित ही करती है। यदि वह ऐसा न करे तो वह राष्ट्र को समृद्धिशाली कैसे बनावे? यदि ऐसी भावना आ जाय तो टैक्सोमे धनके गये दु:ख का अनुभव न हो, किन्तु जहा ऐसा भाव नही आता वहा एक पैसेके जाने से भी महान् कष्ट का अनुभव होता है। सरकार सर्वथा अनुदार भी नही। उसने ३ हजार से कमकी आमद पर टैक्स नही रखा, परन्तु मानवको सन्तोष कहा, क्या इतने धनसे किमीका गुजारा नही चल सकता, परतु अपने मे यह लोभ लगा लिया कि इतने धनसे ही हमारा हित है, इतना धन होनेपर हम दुनियामे अच्छे कहलावेंगे, पर दुनियाके अच्छे कहने पर तुम्हे क्या लाभ होगा? यह मुझे समझ नही आता। धन भी बढ़े तो ऐसा जानो कि पर उपकार इसका प्रयोजन है।

## अपनेको प्रसन्न, निर्मल रखो

सुशीला उपन्यास का एक प्रकरण है। सुशीलके पास एक स्त्री आई तो

वह उससे कामकी याचना करने लगी। अभ्यागत ने समझाया—यह काम मुझ से नहीं हो सकेगा, तुम्हे अपने शील मे रहना चाहिये। कामिनी ने—कहा यदि हमारी इच्छा पूर्ण न करोगे तो हम अपना शरीर विदार लेंगे, वस्त्र फाड लेंगे व तुम्हे बदनाम कर तुम्हारी मिट्टी पलीत कर देवेंगे। तब उसने कहा कि तुम्हारे इस मिथ्या प्रचारसे लोग भले ही मुझे बुरा समझो, परन्तु उनके बुरे समझनेसे मैं बुरा थोडे हो जाऊगा ? तब यह शल्य मेरा विनाश कर देगी।

इस लिये सारा जगत् प्रशसा करे तो भला, निन्दा करे तो भला। प्रशंसा नामवरी है, यह भाव कमजोरी का है, कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे, तो भी न्याय मार्गसे मेरा कभी पद डिगने न पावे। लक्ष्मी आवे या जावे, हमारा भाव उच्च रहना चाहिये।

### उदारताका आनन्द अनुपम होता है

माघ, अच्छे कवि थे। कविता करनेमे उन्हे लाखो रुपया पारितोपिक मिला, परन्तु वे घर तक न आने पावें और सारा रुपया भिखारियों को दे देवें। घरमे कुछ नही बचा। तब स्त्री लडा करे, तब स्त्रीने आग्रह किया कि आज जो पारितोपिक मिले, वह घर ही लावें, भिखारियोको न बाटें। तब उन्होंने यह पद बनाया—

> कुमुदवनमपश्री, श्रीमदभोजखण्डम्।
> त्यजति मुदमुलूक प्रीतिमाश्चक्रवाकः॥
> उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्त।
> हतविधिलसितानां, हा विचित्रो विपाक.॥

इस पद्यके पारितोषिकमे जो एक लाख रुपया भोज ने दिया, रास्तेमें माघ को आते देख गरीबोने घेर लिया और वे याचना करने लगे। वह रुपया भी माघ कविने याचको को दे डाला और खाली हाथ घर जा उदास होकर बैठ गये। स्त्रीने पूछा— आप उदास क्यो बैठे ? क्या आज कुछ मिला नही ?

कविराजने कहा— मिला तो बहुत कुछ है। तब स्त्रीने कहा—फिर उदासी क्यो ? उन्होने उत्तर दिया कि—

दारिद्र्यानलसंताप: शान्त: सन्तोषवारिणा ।
याचकाशाविघातान्तर्दाह: केनोपशाम्यते ॥

इसका भाव है कि दरिद्रताका संताप तो सतोषजल से मैंने शात कर लिया, किन्तु याचक लोगोकी आशाकी पूर्ति नहीं कर पाते सो उनकी आशाके विघात से मुझे जो अन्तर्दाह हो रहा है उसे कैसे शान्त करूं ?

देवरानके एक साहू ने अकाल पडने पर, नगद व अनाज सब दे डाला । दो मन अनाज व २०—२० रुपये सबको दे दिये । उसी वर्ष खूब वर्षा हुई तो अच्छी फसल हुई तो सबने डेढ़गुना दे दिया । वापिस आनेकी आशा तो नही थी, पर आगया । उदारताका यह फल मिला कि डयोढा आगया और दुनियां पर आभार लद गया ।

### लौकिक स्वार्थकी आसक्ति गहन अन्धकार है

अपनेको सदा उदारचित रखना चाहिये । कमसे कम अपने दो पडौसियो को देखते रहो कि ये दुखी तो नही । तुम भले ही हलुआ खालो, पर उन्हे सूखी रोटी तो मिलनी चाहिये । यदि वे शातिसे रहेंगे, तो उनके बीच रहते आपको भी शातिका अनुभव होगा । पड़ोसी दुखी रहे, कोई गुलछर्रे उडावे, यह बडी लज्जाकी बात है ।

धन पुण्योदयका निमित्त पाकर आ जाता है, उसका सयोग होता है, परंतु पुण्योदय गये जाना नहीं जाता कहां गया ? पुण्योदय होनेपर विज्ञान व कलाके बिना भी धन आ जाता है । धनके आनेमे आपकी कोई कला नही । आपका धन जिन-जिन के काम आता है, वास्तवमे उन सबका पुण्योदय उस कल्पित धनीसे कमवा लेता है ।

हृदयमें इतनी व्यावहारिक उदारता न हो तो भक्ति विधान आदि धार्मिक क्रियायोंकी बातें अनफिट हो बैठती हैं । हृदयमे उदारताके बिना वीतरागकी भक्ति से लाभ क्या ? 'पश्यन्ति पुण्यरहिता न हि वीतरागम् ।'

ऊपर कपड़े फटे रहें, खाना भी भरपेट न मिले, फिर भी भगवान्से प्रेम न हटे । पूजक कहता है 'पुण्य समग्रमहमेकमना जुहोमि' कि मैं सारे पुण्यको होमता हूं, परन्तु मुझे एक वीतराग भाव चाहिये । भैया ! यह पद्य सब बोल

जाते, किन्तु यह पद्य सस्कृतमें है, इसलिये उसके भावपर दृष्टि प्रायः नहीं पड़ता। यदि हिन्दीमें होता तो भक्तोको शायद ठेस पहुँचती। चिरसचित्त पुण्य कैसे जलाया जाय। भैया, यहाँ निर्विकल्प स्वानुभवके आनन्दका भाव है, सो पुण्य भाव भी नहीं चाहिये।

शांतिके लिये अनवरत उदारता चाहिये

मोक्षमें चलनेके लिये वीतरागताकी आवश्यकता है, सरागताकी नहीं। यहा क्षणिक प्रसन्नताके लिये राजाको अनेक भेटें दी जाती हैं, परन्तु जिसका प्रसन्नतामें अनत काल तक सुख मिलेगा, उसे क्या भेंट नही देना चाहिये ?

क्षत्रिय राजाओंको गजाशाही भेंट (नजर) किया जाता था, पर वह उसे छूता नहीं था। भगवान्को सारी सपदा भेंट कर दो तो भी वे छुएगें नहीं, सब यहीं रखा रहेगा। भगवानको भेट यही है कि आप श्रद्धासे अपनेको सबसे पृथक् अनुभव कर जाय।

जो सारी संपत्तिको भेंट (त्याग) कर सकता है वह भगवान्से भेंट कर सकता है। इस बुन्देलखडमे जिन्दगीमे एक दिनकी इकट्ठी उदारता करनेकी प्रथा है। अब प्रतिदिनकी उदारताका अभ्यास करो। इकट्ठी उदारताका भाव न रख प्रतिदिनकी उदारता बनाना चाहिये, उससे आत्मामे निज परमात्माकी आत्मा प्रसन्न होती है। उच्चभाव निर्जराके पास ले जावेंगे। कर्मसें दूर होनेके लिये ज्ञानाराधन जरूरी है।

## स द्वेधा ॥३॥ भावद्रव्ययोः ॥४॥

वह निर्जरा दो प्रकारकी है—(१) भावकी निर्जरा, (२) द्रव्यकी निर्जरा याने भावनिर्जरा व द्रव्यनिर्जरा। निर्जरा दो प्रकारकी है—कर्मका कर्मरूप न रहना और जीवसें कर्मका झड जाना। शातिके मार्गमे जानेके लिये तो १ सेकेंड भी अधिक है, परन्तु जैसे भाव८ पडती तो आध मिनटमे है, परन्तु उसके लिये प्रोग्राम पन्द्रह दिनसे बनाने पडते है, इसी प्रकार एक सेकेंडकी सत्य शातिके लिये महीनो, वर्षों साधनामें लग जावें तो क्या अनुत्साह करना ? कमसे कम १५ मिनट तो ज्ञानाराधन शात्यर्थ अवश्य करना चाहिये। प्रतिदिन ज्ञानाराधन

करते करते वह क्षण प्राप्त होगा कि आपका ससारसे पार्थक्य हो जावेगा। ये संसारका चक्र आपके काम आनेका नहीं।

### स्वभावदृष्टि बिना धर्मके कामपर किया गया श्रम व्यर्थ है

जिस जीवने अपने आपके विभाव या अज्ञानको पकड़नेकी आदत छोड दी, उससे जुदे रहनेका स्वभाव बनाया, ऐसे व्यक्तिके ही विकारोकी निर्जरा होती है। किन्तु जो विकारो या विभावोंको पकडनेकी आदत डालता है या 'मैं विकारस्वरूप ही हूँ' ऐसी प्रतीति रखता है, वह कोई भी जप तप संयम इत्यादि विकारोको छुडानेमे समर्थ नही होता। मुक्तिके अर्थ पर्यायबुद्धिका पहिले त्याग करो।

जैसे सर्प यदि दूध या मीठा भी पीले तो यह उसे भी विषरूप कर लेता है, परन्तु विषको छोडनेमे समर्थ नही हो सकता, उसी 'प्रकार विकार ही मैं हूँ' ऐसी प्रतीति जिसके होती है वह राग, द्वेष आदि विकारोसे दूर नही हो सकता और जैसे शखका कीडा, काली मिट्टी खाकर भी, शखके ऊपरी हिस्सेको काला नही कर सकता अर्थात् उसकी खाई काली मिट्टीका शखपर कोई असर नही होता, उसी प्रकार ज्ञानीके चारित्र मोहके उदयसे उत्पन्न पीडासे विकार नही हो सकता। वे उस उदयकी चिन्ता या ध्यानभी नही करते। वे केवल अपने स्वभावमे स्थिर रहते हैं।

### विकार ही दु.ख है, विकारके मेटनेका यत्न करो

दुनियामे सबसे बडा दुःख है तो एक विकार ही है। दु.खके मेटनेका प्रयास तो सब करते हैं, परन्तु विकारको मेटनेका प्रयास कोई नही करता। जब तक विकार नही मिटता, तब तक दु.खका मिटना असभव ही है। ज्यो ज्यो आयु कटती जाती है, शरीर शिथिल होता जाता है, आजीविकोपार्जनका सामर्थ्य घटता जाता है, त्यो त्यो परिवार और सम्पत्ति आदिमे मोह बढ़ता जाता है और उसका होना मोह, अज्ञानमे प्राकृतिक ही है, परन्तु जिन्होने शरीरकी ऐसी स्थिति होनेके पूर्व सावधानीसे भेद विज्ञान पाकर अन्तर्मुख रहनेका प्रयास किया है, उन्हे, वृद्ध हुये भी दु.ख नही होता।

परिवार या धनका बढाना सुखका बाधक ही बन सकता है (निमित्त रूपसे)

साधक कदापि नहीं। एक वस्तु दूसरेकी वस्तुसे सर्वथा स्वतंत्र है। एकका दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। अन्यकी चेष्टासे अन्यके सुख दुःख हो ही नहीं सकता। ऐसी हालतमे परिवार या द्रव्य से सुखकी आशा करना कल्पनामात्र है। एक परमाणु मात्रसे जीवको हित व सुख नहीं हो सकता।

### आत्मा स्वयं आनंदात्मक है

आत्मा अनंत आनंद व ज्ञानका पिंड है, वह स्वयं सुखस्वरूप है। उसे अपने आनंदके लिये परकी तनिक भी प्रतीक्षा नही करनी हो तो, परन्तु उसके सुखमें परविषयक दृष्टि ही बाधक है।

*निर्जरा तो प्रत्येक प्राणीके प्रति समय हो रही है, किन्तु उस निर्जराके* कालमे उत्पन्न विभावको जिन्हे लालसा है और उसकी ओर जो झुक जाते हैं, उनके निर्जरा नही हो पाती, प्रत्युत संसारकी वृद्धि होती है।

### होता है तो होने दो, करो मत

कर्मका जब उदय आता है, तब वह फल देकर हट जाया करता है, उस समय उसका जो विपाक होता है होने दो, उसमे फसो नही अन्यथा मोक्षमार्ग-मे बाधा होगी।

हम जिस किसी भी स्थितिमे हों, स्थितिको न देखें, निज स्वभावको देखें। 'हम हैं, पवित्र हैं' ऐसा विचार स्वदृष्टिसे जरा भी च्युत न हो। च्युत होते हुये यह नही कहा जा सकता कि हम निर्दोष हैं। दोष भी दिखता जाय, चारित्रमें स्थिरता भी न हो, परन्तु स्वदृष्टिकी सावधानी रहते संसार नहीं बढ सकता। यही संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका प्राथमिक उपाय है।

इस निर्विकल्पक आत्माके अनुभवमे आनन्द है। वह इन्द्र नागेन्द्र चक्रवर्तीको भी नही हो सकता। आप समझते हैं कि हम अच्छी स्थितिमे हैं, धन है, मान्यता है, इस विकल्पका परिणाम बडा भयंकर है। 'संयुक्तानां वियोगश्च *भविता हि नियोगतः' अर्थात् इन धनादिका संयोग कितने दिन तक रहेगा?* संयुक्तका वियोग अवश्यम्भावी है।

### बाह्य परिस्थितिसे अपनेको बडा मत मानो

बाह्य स्थितियोकी उत्तमतासे अपनेको बडा मानना व्यर्थ है। जिसे जब

तक महत्वाकाक्षा है, तब तक वह बडा हो ही नही सकता और जब बडा हो जाता है तब अपनेको बडा माननेकी बात ही नहीं रहती। बडे होनेपर आपसे बडेपनकी कल्पना जाती रहती है। महान् अपनेमे महत्वका विकल्प ही नही करता और विकल्प किये वह महान् बन ही नही सकता, वह तो केवल महत्व का परिणाम करता है। कल्पनाओमे महत्व कभी नही होता।

चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे समता होती है, जो निर्विकल्प समाधिका कारण बनती है। इतनी योग्यता बने कि कदाचित् अन्यको देखे। पापीसे पापी पर्याय वालेमे भी उसका चैतन्यस्वरूप नजर आने लगे तो निर्विकल्प समाधि हो सकती है। जब तक समताका भाव नही होता आत्मा निर्विकल्प समाधि का पात्र नहीं बनता। प्राणीको करना चाहिये ज्ञान, परन्तु करता है अज्ञान। जहा अधकार होता है वहा प्रकाश नही और जहां प्रकाश नहीं वहा अन्धकार तुरत आ जाता है। अपने आपका प्रकाश आनन्दसे परिपूर्ण है। 'मैं चेतन नही हूँ' 'मैं मैं हूं, ऐसे आत्मतत्व तक जिनकी पहुच है, उनको गुण श्रेणीनिर्जरा द्वारा शीघ्र ही मोक्षके निकट जानेका सामर्थ्य प्राप्त होता है।

## हम अपना ही कुछ कर सकते हैं, परका नहीं

कर्मोंका न हम बंध करते हैं न निर्जरा, परद्रव्यपर परका कोई भी वश नही होता। मैं कर्मका कुछ नही करता, उसका परिणमन उसके चतुष्टयमे होता है। कर्म अपने स्वरूपका राजा है। हमारा परिणमन भी हमारे ज्ञानादिगुणो के परिणमनमे ही वश है, कर्मके परिणमनमें नही, परन्तु हमारे परिणमनकी निमित्त पाकर कर्म स्वय परिणम जाते हैं।

सबसे ज्यादा स्थितिका कर्म मोहनीय है, उससे कम स्थितिके ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय हैं। उनसे कम स्थिति नाम गोत्रकी है और उससे भी कम स्थिति आयुकी है। जब जीवके निर्जरा होती है तब केवल आयु कर्मपर वश नही चलता, वह अपने निश्चित समयपर उदय आता और झडता है। शेष ७ कर्मोंमे सबसे पहिले मोहनीय कर्मकी निर्जरा होती है, उसके बाद अन्तर्मुहूर्तमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक साथ क्षय होता है। इसके बाद अघातिक कर्मोंका नाश होता है। फिर मोक्ष हो जाता है। देखो

आत्मनिर्मलता होनेपर यह सब व्यवस्था स्वय होती है।

### बडा क्या है देखो और वैसे बनो

दुनियामे सबसे बड़ा वीतराग देव है, जिसको इन्द्र अहमेन्द्र भी पूजा करते हैं। आप सबसे बड़े बनना चाहते हैं तो वीतराग जैसे बड़े बननेका प्रयास करो। बडे बननेके लिये जगत्से दूर रहना होगा, जगत्की किसी भी स्थितिमे आनन्द नहीं होना चाहिये।

विकल्पोमें या बाह्य पदार्थोके परिणामोमे आत्माको आनन्द नहीं मिल सकता। इससे चित्तको प्रबल बनाकर इस ढङ्गसे चलना चाहिये कि पहिलेसे उत्तरोत्तर उन्नति होती चली जावे। गत वर्ष हम किस स्थितिमे थे, इस वर्ष कितनी उन्नति हुई, यदि इस वर्षमे उन्नति नही हुई तो उसके हेतु प्रयास करो।

ऐसा भाव बनाओ कि मृत्यु निकट आ रही है, १० वर्षमे २० वर्षमे कोई वह क्षण आवेगा जिस दिन यह शरीर यहीं छोड जाना होगा, यहाका कोई भी ठाट बाट आत्माके साथ नही जायगा। अव्वल तो इसी मिनट का भरोसा नहीं, १०—२० वर्षकी बात तो आदरमे कही है। ठाटबाट या शरीरके पोषणसे आनन्दकी प्राप्ति नही होती, आनन्द तो विकारोकी दूरतासे ही हो सकता है।

### शानमे न भूलें, शिरपर विपदा है

किसी सरकारी आपत्ति आजानेपर, अफसरोंको हाथ जोडने पडते, मित्रोको मानना पडता और सारी शान खो देना पडती है। आज प्राणीके ऊपर विकार या कर्म बधनकी आपत्ति पडी है। इसलिये अपनी शानमे ही चूर न रह कर उसे खोकर, जिस वर्तावमे कर्मबधन मिटे उसमें सोत्साह रहना चाहिये।

परस्परमे वैर विरोध होनेपर यह भाव नहीं आना चाहिये कि विरोध हुये महीनों होगये, मैं विरोधीसे कैसे मिलू ? शर्म रहती, चमक लगती, जैसे सरकार को हाथ जोडते, दैवी आपत्तिमे शान छोड देते हैं, उसी प्रकार विरोधी से मिलनेमें हिचकिचाहट नही होना चाहिये, शुद्ध भावमे आना चाहिये। यही भाव सवरके निकट लेजावेगे। सवर मोक्षका उपाय है। ज्ञानाभ्यास इसका साधन है, किन्तु वह ज्ञानाभ्यास, उल्टी रस्सी बटते अज्ञानीके समान नही होना चाहिये अन्यथा उससे कुछ लाभ नही होता।

## वैराग्य व धैर्यका अनुपम फल होता है

कनककुमार अपने सम्राट् पिताके एकलौते कुमार थे। बाल्यकाल से ही उनके वैराग्य भाव था। होश सभालनेपर वे दिगम्बर साधु बन गये। पिताने बहुत समझाया, नही माने। विवश हो राजाने उनकी सभालके लिये ५०७ सिपाही रख दिये कि कनककुमारको आपत्तिसे बचाना, बचाना और अपने कामका पता न चलने देना।

कनककुमार विहार करते हुये अपनी बहिनके गाँव पहुचे। यह जान सिपाही निष्क्रिय हो गये कि यहा तो कनककुमारके बहिनोई राजा हैं कोई भय नही। एक दिन कनककुमार चर्या करके बनकी ओर जा रहे थे। राजा रानी बगीचामे चौपड खेल रहे थे। रानीकी दृष्टि मुनि पर पडी उसने पहिचान लिया कि ये तो हमारे भाई दिगम्बर हो गये हैं। पिताकी क्या अवस्था हुई होगी, इत्यादि विचार कर रानी तत्काल मूर्छित हो गई। राजाने अपने खेलमे आई बाधाका कारण ढूंढने लगा। उसकी दृष्टि मुनिराजकी पीठ पर पडी। सोचा कि संभवत. इसी नगेके कारण, हमारी रानी मूर्च्छित होगई हैं। उसने सिपाहियोको आज्ञा दी कि उस दुष्ट नगेकी आत खीचकर लाओ। उसने रानी को मूर्च्छित और खेलमे विघ्न किया है।

सिपाही गये और उनकी आत खीचनेको शस्त्र से चमडी छीलने लगे। इसके पहिले ही रानी सचेत होगई। राजाने उससे मूर्छाका कारण पूछा। उसने बताया कि भाईको दिगम्बर भेषमे देख मूर्छा आगई कि कहा तो ये सुकुमार राजकुमार और कहाँ ये कठिन दिगम्बर भेष। यह सुन राजा भी पश्चाताप करने लगा—ओह मैंने बडा अनर्थ किया, जो सालेको मरवा डालने की आज्ञा दी। सचेत होते ही राजाने अन्य सिपाही दौडाये और अपनी पूर्व आज्ञा भग करानेका आदेश दिया। इस आदेशको पानेके पहिले ही पूर्व सिपाही कनककुमारकी आते निकालनेका उपसर्ग कर चुके थे।

उन पर अति कठिन उपसर्ग तो हुआ, पर वे अपने अपूर्व ध्यानसे विचलित न हुये, और ४ घातिक कर्मों का नाशकर केवल ज्ञान प्राप्त करना दिव्य ध्वनि से धर्मोपदेश देने लगे। यह आश्चर्य देख सिपाही राजाके पास आये। वे

सकुटुम्ब उनके पास गये और बडे शर्मिन्दा हुये। वहा द्रव्य ध्वनिमे उपदेश हुआ। राजाने समझा—राजन्! इतने शर्म और खेदकी आवश्यकता नहीं। तुम्हारा निमित्त पाकर हमारे केवल ज्ञान शीघ्र जगा। कोई किसीको दुःखी नही कर सकता। जो होनी है वह होती है। दुनियामें सुख दुःख दाता कोई नही है। सुख दुःख होनेमे अपनी ही करनी विचार व श्रद्धा कारण है। आनन्दमें आना है तो अपने आपका निर्णय करना चाहिये। कुछ समय तो निर्विकल्पतामें पहुचना चाहिये। परके विकल्पोमे पडकर क्या सार निकाला।

हम कहते हैं कि ससार स्वार्थी है। तब क्या इसका यह अर्थ है कि हम स्वार्थी नहीं। अतः इन आयोजनभूत विकल्पोको छोड कर केवल माध्यस्थ भाव की वृद्धि करो, यही सुखका कारण है। अपने स्वका यथार्थ अर्थ साधो। धर्मका मूल सिद्धान्त है कि वही आत्मा सुखपूर्वक शान्ति लाभ करनेका पात्र होगा, जो इन पदार्थोंके प्रपञ्चसे पृथक् होकर आत्माकी ओर ध्यान रखेगा।

## प्रभुता सब आत्माओंमे है

प्रभुता सब प्राणियोंमें समान है। वह भव्य, अभव्य दोनोंमे रहती है। दोनोंमें चैतन्य होता है। शक्तिया परिणामिक भावकी अपेक्षा भव्य और अभव्यमे कोई अन्तर नही अन्यथा भव्यमे जीवत्व ही नही रहता, अन्तर केवल प्रगटता अप्रगटता की योग्यता मात्रका है। जैसे किसी के घरमे धन गढा हो, उसे ज्ञात न हो, तब वह अपनेको दरिद्र समझ दुःखी होता है। कदाचित् किसी बही या कागज पत्रमे यह लिखा मिल जावे कि अमुक कोठेमे, अमुकके पास इतनी दूर धन गडा है तो वह यद्यपि धन उनके हाथ नही लगा तो भी कागजके बाचने मात्रसे उसको अपने धनित्वका अनुभव होने लगता है। पश्चात् वह खोदनेका यत्न करता है और जैसे जैसे-जैसे असर दिखाते जाते हैं, प्रसन्न हो वह खोदता जाता है और धनको प्राप्त कर लेता है।

इसी तरह हमारा आपका रत्नत्रय धन अध्यवसाय भूमिकामे छिपा है। कदाचित् जिनागमोपदेश रूप रोकड खाता मिल जाय कि तू रत्नत्रय स्वरूप है, तेरी मुक्ति भी रत्नत्रय रूप है।

## तू स्वयं ज्ञान आनन्दका पिण्ड है

इस प्रकार अपनेको जान जाय तो वह भेद विज्ञान परमात्मस्मरणके उपाय से रागमोह भूमिको खोदकर स्वनिधि देख लेनेका उपाय जान जाता है और इस उपाय के ज्ञानसे अपनेको ज्योतिर्मय अनुभव करने लगता है, इसे सम्यक्त्व का लाभ हो जाता।

पश्चात् अपने आपको, अपने आपमे जानकर ज्ञान और वैराग्य द्वारा बाह्य पदार्थोंसे विरक्ति और निज प्राप्ति इन दो अस्त्रोंसे अपने रत्नत्रय धनके आवारक राग द्वेष रूप विभावको खोदता है, और जैसे आसार दिखते जाते वैसे आगे खोदते जाते। इस प्रकार शुक्ल ध्यानसे पर्यायसे भी चैतन्यको शुद्ध कर लेता है तो पूर्ण रत्नत्रय धन पा लेता है।

यह होना कठिन नही, परन्तु धन और सन्तानादिसे मोह छोडना चाहिये और श्रद्धामे दृढ रहना चाहिये। कार्य शुरूकर दिया जाय कभी तो पूरा होगा। ज्ञान बन जाय और आनद न आय ऐसा नही हो सकता। जब ऐसा है तब ज्ञान से दूर नही रहना चाहिये, उसे प्रगट करना चाहिये। इस प्रकार अपने आपकी सभाल ही निर्जरा या विभावोंको दूर करनेका उपाय है।

## खुदके दुर्भावका फल खुदको तुरत मिल जाता

हमने अपने जितने ऐब (विकल्प) किये उनके फल से हम अनादिसे अब तक घूमते आये। यदि उनका स्मरण भी हो जाय तो रोना ही नही बन पाये। अनंतानतकाल कहते किसे हैं? क्या कभी कोई समय था कि जिसके पहिले अन्य समय नही हुआ हो? इतना भारी काल विषय कषायोंमे बिताया, फिर जीवनका शेष १०, ५ वर्षको काल क्या महत्त्व रखता है? हम कितने ही बार इन्द्र अहमिन्द्र और सम्राट् हुये। वे पद हमारे किस काम आये? यह न विचार कर जो वर्तमान झंझटोंमें फसे रहे उनका वही हाल होगा, जो कि होता आया है। कोई किसी का बुरा नही कर सकता। अपना बुरा अपने ही अपराधोसे होता है। यह विचार बुराई करने वालोंसे उपेक्षा रखो, मानवभव बार बार नही मिलता। इसे थोथे विकल्पोमे खोना उचित नहीं, वास्तविक हित अपने आपकी सभालमे ही है।

जो मलिन परिणाम करता है वह उसी समय दुःखी है और आगे भी दुःखी होनेका बोज बो लेता है। कोई बुरा भी करे और मैं दुःखी भी होऊं, तो भी समझना कि मेरा दुःख मेरी ही करतूत से होता है परकी करतूत से नहीं। कोई सुखका भी कार्य करे परन्तु मेरेमें मलिनता है तो वह मेरेको सुखकर नही होता। किसीको उत्पादादि किसी अन्यको नही बना सकते। सभी वस्तु परिणमनशील हैं और परिणमन उत्तरोत्तर चले जाते हैं, उनमे परवस्तु निमित्त भी पडती है, किन्तु निमित्तकी प्रतीक्षा करनी नही होती। द्रव्योंके परिणमन का मानो व्रत होता है, जिससे वे स्वयं परिणमते रहते हैं। वस्तु एक समयभी परिणमन-शून्य नही रहती।

सत्य पुरुषार्थ करो, शांति मिलेगी

बाह्य संयोग पर दृष्टि जायगी तो बुरा ही परिणमेगा। यदि जुदाईपर दृष्टि जायगी जिससे वह स्वदृष्टि कर लेना तो अपने ज्ञानादिरूप परिणमन होगा। इससे बाह्य पदार्थसे दृष्टि दूर कर अपनेको ज्ञानदर्शनमय जाने तो अपनेको अपना नाथ मिलेगा।

यथार्थ ज्ञानसे सब पदार्थोंको स्वतंत्र विचार कर अपनेको सबसे भिन्न मानो, किसी परमे लोभकी दृष्टि मत डालो तभी आनंद मिलेगा। जो लोभ को रोकेगा वह आनंद पावेगा न रोकेगा, न पावेगा।

कोई बम्बई जाता था तब पडोसनें आईं। किसीने अपने बच्चेको खिलौने की मोटर, किसीने जापानी बबुआ लाने की, प्रेरणा की। एक बुढिया ने दो पैसे नगद दिये और कहा कि हमारे लालको एक गुडिया लेते आना। यात्रीने उत्तर दिया कि मा! खेलेगा तो तुम्हारा लाल ही खेलेगा, जिसने नगद अधन्नी दी। इसी प्रकार लोभको जीते बिना कभी किसीको आनंद नही आसकता। कोई कितना ही कहो या सुनो, आनंद तो वही पावेगा जो कषायका त्याग करेगा।

जो अपने आपके ज्ञानकी करनी संभालता है वही आनंद पाता है। वही साथ जाती है और उसीसे निर्जरा होती है।

## निर्जराके लिये क्या करना है

निर्जराके साधन द्वादश अनुप्रेक्षा हैं, इनके आनेमें जो विकल्प है, वे निर्जरा के कारण नही, वे तो शुभोपयोग हैं, किन्तु अनुप्रेक्षाओंके आनेसे जो सहज समता उत्पन्न होती है, वह निर्जराका कारण है। निर्जराके लिये बुद्धिपूर्वक उपाय स्वभाव भावना है।

अपने भारको कम करनेके लिये प्रत्येक वस्तुको इस दृष्टिसे देखना चाहिये कि जो दीखता है वह बदलने वाला है। चाहे चेतन हो या अचेतन जगत के सभी पदार्थ अपनी अपनी अवस्थाओको जल्दी बदला करते हैं। द्रव्य सदा स्थिर रहती है परन्तु पर्याय अस्थिर होती है, वह बदल जाती है।

जिसका यह विश्वास है, कि एक दिन मैं भी इस भवसे जाऊंगा, वह विषय भोगोकी चाह नही करता। यदि बहुत समय तक यह भावना रहे कि जीवन नश्वर है तो विषयोंकी ओर रुचि ही न रहे। मैं मरता हूं। इस प्रकार मरण से भी उसे घबडाहट नही होता। वह विचारता है कि भले ही मेरा यह भव छूट जायगा, परतु मेरी अमूर्त आत्मा सदा सत् रूप रहेगी। उसका तो कभी विनाश नही हो सकता, फिर मुझे मरणका भय ही क्या ?

## दु.खी तो लोग अपनी किसी करतूतसे हैं

बाह्य दृष्टि होनेपर जब विभाग रूप परिणमन होता है, तब दुखका अनुभव होता है, किन्तु स्वभान रूप परिणमनमे दुख कदापि नही हो सकता। हमारी वेदनामें हमारे विभाव परिणमनसे ही दु ख होता है।

जगतके बाह्य निमित्त शिक्षा देते हैं कि अभी तुम्हारा सस्कार बहुत बुरा है। स्वतंत्रताकी दृष्टि कमजोर है, तभी तो तुम बाह्यपर दृष्टिकर कुछ कल्पना कर लिया करते हो, परतु कल्पनाओंके जाते ही ऊजडना जाती रहती है और नवीन सृष्टिका निर्माण होता है, किन्तु बाह्यदृष्टि को छोड खुदओर जानेकी आवश्यकता है। बाह्य सभाल तो गले पडे बजाये सरेकी बात है। शरीरको जितना साधा जाय वह उतना ही मन और वचनको साधनेका कारण बनता है,-जितने गुपचुप रूपसे अपने आपमें निजकी भावनाकी जाय उतना ही मन सावधान बनता है। शरीरकी सेवा आवश्यकतासे ज्यादा नही करनी

चाहिये, क्योंकि उसकी अधिक सेवा आसक्तिमें कारण होती है और उनके फलस्वरूप अनेक वेदनायें हो जाती हैं।

### वचनमर्यादाका भङ्ग विकल्पोंका विशेष कारण है

वचन इतना मिष्ट और मृदु होना चाहिये कि सुनने वाले या निकटवर्ती अन्य जन भी संक्लिष्ट न हों। अपना मन इतना निर्मल होना चाहिये कि ससार की किसी भी वस्तुके प्रति बुरा विकल्प न आये, क्योंकि यद्यपि इनकी अन्यथा प्रवृत्तिसे बाहर में कुछ असर नही दिखता आत्मापर बुरा असर पड़ता है।

किसीके द्वारा अपने प्रति की गई ईर्ष्यासे आपका कुछ भी बिगाड़ नही होता। अच्छा वा बुरा होनेन मे हमारी व आपकी ही असावधानी या गलतीका कारण होती है। हमे आनन्द चाहना है तो आनन्द जैसे कार्य करना चाहिये। यदि क्लेश चाहिये तो क्लेश जैसे कार्य करो। ज्ञानात्मक परिणति ही आनन्द की साधिका है, इसे जो करे, करता है वह सुखी होता है।

द्वादश अनुप्रेक्षाओंका व्रतादिसे सम्बन्ध है, उन व्रतादिसे निर्जरा नही होती, किन्तु उनके द्वारा जैसे आत्मामे सहज सुख होता है, उसमे निर्जरा होती है, यही इस दोहेमे स्पष्ट होता है, कि—'इन चिन्तत सम सुख जागे' इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनसे समन्त सुख जगता है, वह संवर निर्जराका कारण है।

### कर्म आनन्दसे ही झड़ते हैं

कर्मोंकी निर्जरा आनन्दसे होती है, क्लेशसे नही, परन्तु यह आनन्द आत्मीय होना चाहिये, वह आत्मीय आनन्द ज्ञान द्वारा ज्ञानमें अनुभूत होता है।

पाडव तपस्यामे लीन थे। लोगोंकी दृष्टि बाह्य तप ही देखा करती है, अन्तरङ्ग भाव नहीं। ज्ञानका ज्ञानमें तप जाना अथवा ज्ञानका विषय ज्ञानमें तपजाना अथवा ज्ञानका विषय ज्ञानमे रह जाना अन्तरग तप कहलाता है। वह तीन पाडवोंके था, वे अपने शत्रुओंके द्वारा कडे (गर्म) पहनाये जाने पर भी ज्ञानमे लीन रहे, शत्रुओंमे शत्रुत्व या यातनाकी प्राप्ति की ओर उनका लक्ष्य नही गया। अतः वे मुक्त हुये। नकुल और सहदेव ज्ञानभावसे च्युत हो गये। वे सगे तीन भाइयोंके कष्टको देखकर वात्सल्य से भीग गये। उनके मनमे वितर्क होने लगे। इससे वे मोक्ष न जाकर सर्वार्थ सिद्धि गये। जिन परिणामोंसे इनके

च्युति हुई। मोही भले ही उन भावोंकी प्रशसा करे, परन्तु ज्ञानी उन च्युत भावोकी प्रशसा कदापि नही कर सकता, क्योकि वही शुद्ध दृष्टि छूट बाह्य दृष्टि होगई। मुक्तिमार्गमे परोपकार और स्नेह आदिको इज्जत नही होती। इनको इज्जत ससार मार्गमे ही होती है। उपकार व स्नेहभाव के वश होकर ही नकुल सहदेवको तेतीस सागर अधिक चलना पडा। तीनो पाण्डव आत्मीय आनन्दसे च्युत नही हुए सो कर्मोकी पूर्ण निर्जरा होगई। नकुल सहदेव आत्मीय आनदसे हटकर कुछ विकल्पमे आगये सो मुक्त होने मे दो भव और लगेंगे।

### सावधान होओ, खतरेसे बचो

हमे बहुत सावधान होना है, स्वदृष्टिसे च्युत हो, एक क्षण भी परमें न उलझो, यह श्रद्धा रखो, फिसलनेपर भी स्वकी ओर लक्ष्य रखना और जितना अधिक बने यही यत्न करना, परन्तु इसके लिये लोभको कम करनेकी जरूरत है। गृहस्थोको सबसे अधिक बाधक लोभ है, लोभका सम्बन्ध परिग्रह से है। लोभ मिटते ही यह प्रतीति आजाती है कि दुनियाके सभी पदार्थ असार व भिन्न हैं। मैं अपने ही परिणमनसे परिणमने वाला हूं, मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध नही। मैं किसे क्या मानू ? अपनी एक क्षणकी असावधानी कोडाकोड़ियो सागरकी स्थितिके कर्मबधका निमित्त हो जाती है, फिर नरभव छूटा और असज्ञीके भव मिले फिर ठिकाना नही।

### ज्ञानी अज्ञानमें नहीं ठहरता

यह वस्तु मेरी नही है, यह भाव हुये ममत्व आ ही नही सकता। ममत्व का सम्बन्ध अज्ञानसे ही है, ज्ञान और ममत्वका विरोध है। ज्ञानी परिस्थितिवश भले ही बोल जाय कि यह वस्तु मेरी है, परन्तु उसकी श्रद्धामे उस वस्तुसे ममत्व नही होता।

अमुक वस्तु हमारे कल्याणमे आश्रय बनती है, यह हमें आवश्यक है, यह वस्तु कुछ समय हमारे पास रहने दी जाय, यह बताने वाला कौनसा भाव है ? वह भाव ममत्व ही है। कहा जाता है कि यह किताब मेरी है, परन्तु वास्तवमें वह मेरी नही, किन्तु मेरे कल्याणका साधन है। वह कुछ समय तक मेरे पास रहेगी। इस लिये कहा जाता है कि यह मेरी है।

इसी प्रयोजन भावके कारण, सम्यग्दृष्टिके परमे, मेरा मेरा है—ऐसा भाव होता है, परन्तु उसके अन्तरगमे उस वस्तु के प्रति ममत्व नही रहता। सबसे अधिक बुरा, मेरी तेरी का विसवाद हो है। यदि यह निकल जाय तो फिर दुनियामे किसीका किसीसे कोई झगडा ही नहीं रहे। यदि कोई यह कहे, कि ममत्व न रहे तब तो सब लुटजाय, चला जाय और गृहस्थोका सब व्यवहार बिगड जाय, परन्तु विश्वास रखो कि यदि मेरी तेरीका विकल्प मिट जाय तो आपको वस्तुकी रक्षाकी ही फिकर मिटजाय। उसकी रक्षाका फिकर आपके पडोसियो को हो जाय। यदि ऐसे शिष्टाचारका जमाना न हो तो आप रक्षा करते हुये भी वस्तुकी रक्षा नही कर सकते।

### लोभकषाय-रहित-होना बुद्धिमानी है

पुराने जमानेमे गदरके समय एक सेठने अपनी सारी सपत्ति सोना, चाँदी, जवाहर, रुपये वगैरह खजानेमे से निकाल कर आंगनमे रख दी, और जब लुटेरे आये तो सेठजी ने कह दिया—मैंने तो पहिलेसे ही सारी सम्पत्ति रखदी है, जो जिसको चाहिये, लेजाओ, इस बात से चोरोके मनमे विकल्प उठने लगे। सरदारने पूछा ऐसा क्यो किया? तो सेठने उत्तर दिया कि आप लोगोको निकालनेमे कष्ट न हो, इस विचारसे बाहर रख दिया। सरदार इस व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हुआ और साथियोसे कह दिया कोई कुछ भी न लेवे। इनके धन की रक्षाकी जावे, जिससे कोई भी न ले सके। अगर सेठमे उदारता न होती तो सेठके प्राण सकटमे पड जाते और धन भी चला जाता। व्यावहारिक उदारता तो पहिले लावो। ज्ञानाभ्यास करते चले जावो। अलौकिक उदारता भी शीघ्र प्रकट होगी।

### निर्जराके चिह्न

वीतराग निर्विकल्प समाधिको भाव-निर्जरा कहते है। समाधि योग्य पुरुषो को जब कल्पनायें होती हैं, तब वे बहुत ही योग्य होती हैं, उसके यह प्रतीति या अन्तर भावना होती है कि मैं मनुष्य नही हूँ। अपनेमे मनुष्यत्व के माननेपर उसके बल पर अपनेमे अनेक प्रकारके रिश्ते गृहस्थपना, साधुता, मित्रता आदि के सबध या गडबडिया मानना पडती हैं, समाधिस्थ साधुको अपनी ये सभी

पर्यायें गडवडीसी दीखती हैं। गडवडीका अर्थ यह है कि मेरे रूप नही हैं, अपने को मनुष्यरूप ही नही माननेपर, मनुष्यके साथ होने वाले व्यवहारके विकल्प भी जाते रहते है। ऐसा अनुभव हुआ करता है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, उसी प्रकार अन्य व्यक्ति भी चैतन्यमात्र हैं।

प्रत्येक आत्मा अपने आपमे ही परिणमन करता है। ज्ञानी, अज्ञानी भी अपने आपके परिणमनसे होता है। मैं अखड निर्विकल्पक स्वभाववान् हूँ। इसी प्रकार समस्त अन्यपदार्थ अखड निर्विकल्पक स्वभावी है। जब यथार्थतः चैतन्य मे यह भाव होता है तब यह भाव होता है कि दुनियामें कोई मेरा सुख और दु:ख का दाता नही, न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है। दो दिनकी वाहवाहीमे हाथ बटाकर हमें पातकी या विकल्पी बनाते है या विकल्पोके निमित्त बनते हैं सो ये मेरे साथी कैसे हो सकते हैं ? तथैव जो निन्दक हैं उनकी निन्दासे मेरी आत्मामे कोई परिणमन नही होता।

### वस्तुकी स्वतन्त्रताके परिचय विना विकल्प बुद्धि नहीं हटती

यदि कुछ परिणमन होता है तो मेरी तर्कणाओंसे ही। ज्ञानीके ऐसे भाव सहज और सरल भाव होते हैं परन्तु अज्ञानीको कहने, समझाने और सुनाने पर भी कषायो और विषयों का छोड़ना दु साध्यता है। ज्ञानी यह विचार करता है कि संसारमे दु:खोकी जड शरीरमे आत्मबुद्धि है।

किसीने गाली दे दी इत्यादिकी बुराई, शरीरमे आत्मबुद्धिसे ही लगती है कि दुनियाकी दृष्टि शरीर पर ही जाती है। इसलिये मैं शांत रहूं, दुनियां मुझे क्षमा कहेगी इत्यादि बवकूफी की बातें घर कर जाती है। इसी लिये क्लेश होता है, शातिकी वाह्य चेष्टामे भी।

अज्ञानी निर्घनताका क्लेश क्यो मानता है ? उसकी मान्यता है कि मैं इन धनित्व आदि पर्यायोमे रहता हूँ। मानता है कि यदि धन नही रहेगा तो मेरी कदर भी नहीं रहेगी। आज्ञा, ऐश्वर्य, धनमें कदर मानली है अपनी। यदि धनी होऊगा तो दुनियामे मेरा आदर होगा, धन न होगा तो कौन पूछेगा ? अज्ञानी सन्मानमें ही आदर मानता है। मोहवश वह ऐसा मानता है कि मेरी बडी प्रशसा हो रही है। ये सब भाव शरीरको आत्मा मानने पर ही होते हैं।

### परकी प्रशंसासे अपनी प्रशंसा मानना भी व्यामोह है

धनसे किसीकी प्रशंसा नही होती। किसीसे यह कहा जावे कि ये सेठ बड़े धनी हैं, इनके लाखोकी सम्पत्ति है। इस कथनसे सेठजीका क्या बड़प्पन या प्रशंसा हुई ? इससे तो यह मतलब निकला कि इनके धनमे तो कला है, किन्तु इसमे तो कोई कला भी नहीं। धनकी तारीफ व आदर है, परन्तु धनी व्यक्ति की क्या प्रशंसा हुई ? ये सेठजी तो जड (धन) से भी जड हैं, यह भाव निकला, परन्तु वह मोही उक्त वचन सुन प्रसन्न होता है।

अमुक सेठ बडा भाग्यवान है। इनके चार लडके हैं। एक मजिस्ट्रेट है, एक मिनिस्टर है, एक प्रोफेसर और एक और कोई टर है। इस कथनका तात्पर्य यही हुआ न कि इनके लडके इतने होशियार हैं ये कुछ नही। अन्यथा लड़कोंके गुण क्यो गाये गये, इनके गुण न गाये जाते ? अमुक सेठकी हवेली कितनी सुन्दर है, ऐसी सुन्दर आजके जमानेमे नही बन सकती। इस कथनमे यही निष्कर्ष निकला कि पत्थरोंने तो कला है, पर इनमे कुछ नही। परन्तु वे मोही उपरोक्त कथनोंको सुनकर प्रसन्न होते पाये जाते हैं, परन्तु वास्तवमे दुनियामें जितने लोग तारीफ करते हैं। वह सब निन्दा ही है।

### आत्मगुणोके विकासकी बात ही अपनी प्रशंसा है

आत्माकी प्रशंसा तो उसके ज्ञान भाव या वैराग्यकी बातका वर्णन करना ही है। ऐसा किया जाय तो उसकी प्रशंसा कहलाये, परन्तु आत्माकी प्रशंसा कौन करता है ? कभी तो किसीके धनत्वकी प्रशंसाकी जाती है, कभी कोई किसी सभाका सभापति बना दिया गया तो उसकी प्रशंसा की जाने लगती है कि जिससे कुछ धन लाभ होजाय। गुणीकी भी यदि कभी प्रशंसा होती है तो वह भी या तो उसके अधिक प्रभावशाली होनेसे या अपना कोई स्वार्थ सिद्ध होनेकी आशा से।

ज्ञानी शरीरको आत्मा नहीं मानता। है, कोई कहे कि अदृश्य आत्मा तो अदृश्य कैसे है ? बोलता है, चलता है इत्यादि परन्तु ये सब क्रियायें तो मोहकी लीलायें हैं और आत्मा इन सब लीलाओसे परे परात्पर है। इन सब धारणाओ के प्रतापसे ज्ञानी समाधि के किनारे बैठा रहता है और कभी कभी समाधि-

समुद्रमे सुखद डुबकियां लगाता है। कभी समाधिसे च्युत होता है तो भी समाधिके किनारेसे दूर नहीं जाता।

आत्मा रागद्वेष आदि विकारोसे रहित अभेद वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थ तब होता है जब यथार्थ रूपसे, अपने आपको देखता है।

## मोहीको निज मर्मका भी पता नहीं

जैसे अन्धेके कन्धेपर लगडा बैठा हो और अन्धा चल रहा हो तो दर्शकोको यही दीखता हैं कि अन्धा ही चल रहा है। यहां यद्यपि 'देखना अन्धेके नही होता फिर भी अपरीक्षको के द्वारा समझा अन्धे का जाता है। उसी प्रकार देखता जानता तो आत्मा है, परन्तु अविवेकी के द्वारा वह जानना, देखना शरीरका समझा जाता है। आत्मा के साथ शरीरको लपेट कर दुनिया ऐसा व्यवहार करती है।

मैं शरीर नहीं, बाह्य पदार्थ रूप भी नही, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध भी नही, मैं उन्हे जानता भी नही, कोई भी आत्मा अपने अनुभवको छोडकर बाह्य पदार्थको नही जानता। मैं पुस्तक, चौकी को देखता हू, यह कहना भ्रम मात्र है। आत्मा बाह्य पदार्थको जानता ही नहीं। मैं अमुकको जानता हूं, ऐसी प्रतीति होनेका कारण यह है कि दुनियांमे सब पदार्थ हैं, उस उस प्रकारसे जानना हो रहा है, यह सदृशता मिल गई। अतः कहा जाता है कि मैं अमुक पदार्थको जानता हूं, पर वास्तवमे मैं न तो किसी परको जानता हूं और न देखता हूं, मैं तो सर्व से विविक्त अपने आप तक पहुचा हुआ हूं। ऐसा भाव हुये ही आध्यात्मिक आत्मा निर्विकल्प समाधिमे आयेगा और आता रहेगा।

## ज्ञानकी दशा बाह्यके नामसे व्यवहृत है

दर्पणको देखकर, उसमे झलकने वाली दस चीजें बतला दी जाती हैं, दर्पण का द्रष्टा बाह्य पदार्थोंको नही देखता, केवल दर्पणको ही देख बाह्य पदार्थोंका वर्णन करता है। उसी प्रकार केवल एक आत्माको देख, दुनियाँ भर का व्याख्यान किया जाता है। आत्मा आत्माको ही जानता देखता है, बाह्य पदार्थों को नहीं, परन्तु लगता ऐसे है कि हम बाह्यपदार्थोंको देखते हैं। वास्तव मे केवल अपने ज्ञान दर्शनका अनुभव किया जा सकता है।

हां अन्तर यह हो सकता है कि मोही अपनेको विकल्परूप अनुभव करता है। ज्ञानी अपने ध्रुवस्वभावरूप अनुभव करता है, किन्तु सभी करते हैं अपना ही अनुभव। आपके मोह, राग, द्वेष आदि पर्याय भी आत्मप्रदेशोंसे बाहर नहीं जा सकते। इसी प्रकार आपका आत्मा भी आत्माके प्रदेशोंसे बाहर नहीं जा सकता। आत्माका आनन्द भी आत्मासे बाहर नहीं जा सकता। आत्मा अपनेको छोड़ परको नहीं जानता, किन्तु इसका ये आकार परिणमन होता है। इसीसे कहा जाता है आत्मा परवस्तुको जानता है।

अन्तरात्मा वीतराग निर्विकल्प समाधिमें निश्चल बैठकर संसारके सारे संतापको दूर करता है, इसे भावनिर्जरा कहते हैं।

## आत्मा व कर्मका व्यापक भाव नहीं

आत्माका कर्मके साथ अन्तर्व्याप्य व्यापक संबंध नहीं है, अर्थात् यद्यपि कर्मोदय होनेपर ही रागादिक होते हैं, फिर भी कर्म व आत्मा भिन्न भिन्न सत्तात्मक हैं। आत्माका कोई भी अंश कर्ममें नहीं जाता और कर्मका कोई अंश आत्मामें नहीं जाता। इससे आत्मा व कर्ममें बहिर्व्याप्यव्यापक संबंध है। रागादि स्वभावमें नहीं व्यापते हैं, इससे रागादि का भी आत्मासे बहिर्व्याप्य-व्यापक संबंध है। हां परिणति आत्माकी है सो रागादिका आत्मासे अन्तर्व्याप्य-व्यापक संबंध कहा जाता है।

निर्मल परिणामों से कर्म नहीं झड़ते, किन्तु उनका निमित्त पाकर कर्म स्वयं झड़ते हैं। मधुराजा लड़ते लड़ते घिर गया, शस्त्रोंसे भिद गया, हाथी पर बैठा बैठा समाधि के सम्मुख हो गया। उसकी समाधिके प्रति उन्मुखतामें हाथी, शस्त्र या वस्त्र बाधक नहीं हुवे। हां, यह बात अवश्य है कि पहिली बार समाधि होते ही स्थिर नहीं हो सकती, सो बाह्य परिस्थिति राग साधनसे रहित नहीं है तो आगे कदम नहीं चलता।

निर्विकल्प समाधिकी पात्रता चौथे गुण स्थान से ही प्रारंभ होजाती है। वह सभी संज्ञीमें हो सकती है।

## अपने आपमें हिम्मत लाना चाहिये

हमारा तो उद्धार ही नहीं हो सकता, पाप बिना हमारा गुजारा ही नहीं,

हम उन्नतिके पात्र ही नही—ऐसी धारणा नही बनाना चाहिये । इन्द्रियोकी विकलता बन्द करो, शरीरकी दृष्टि छोडो, भीतर अपने आपकी अनुभव करनेमे कोई भी परपदार्थ बाधक नही हो सकता और अपने आपका अनुभव होनेपर कुछ न कुछ चारित्र अवश्य जागृत होता है और रत्नत्रयकी एकता बनती चली जाती है। सबरको ही गुरु, पिता, मित्र माननेकी भावना जागृत करलो । सारे सुखद तत्व हममे हैं, जो हम मे है वह जा नही सकता। जो अपनेमे नही उस की ओर उन्मुखता होने पर दु ख का अनुभव होता है। आत्मा की बाह्य पदार्थ से रुचि हटने पर मुक्तिका मार्ग सरल हो जाता है। अदालतमे कोई बेईमानी का केस दायर करनेपर अनेक वकील लगाना पडते हैं और अनेक जाल रचना पडते हैं, परन्तु सत्य मुकदमे मे किसी भी वकील की जरूरत नही होती; सोते जागते सत्य ही निकलता है।

### शांतिके लिये बाह्यावलबनकी आवश्यकता नहीं

इसी तरह आत्माको स्वभाव के विरुद्ध चलनेके लिये मायाचारी, विषय कषाय आदि अनेक विकल्प व विडम्बनाओको जरूरत होती है। मोक्षमार्गमे अपने आपके आनन्दके लिये बाह्य साधनकी आवश्यकता नही होती। अपने आपकी ओर रहना सरल मार्ग है तथा व्यसन, पाप, बेईमानी कठिन मार्ग है। स्वभावमे रहनेपर ज्ञानका स्वय अनुपम विकास हो जाता है।

आत्मा व सत्ता — इन दोनोमें आत्मा बडा है, क्योकि वह सत्ताओंको भी जानता है और जो असत्का भी निर्णयकर देता है। आत्मामे सभी सत्तायें ज्ञात होती हैं। यह आत्मा इतना ज्ञानवान है कि ऐसी और अनन्त सत्तायें भी जान सकता है। दृष्टिके निर्मल होनेपर, साक्षात् आत्मानुभव होनेपर महान् आनन्द होता है। वह आनन्द पाना है तो इसे तृष्णा रहित बनानेका प्रयास करना चाहिये। जैसे जैसे तृष्णायें दूर होती हैं, परका लोभ कम होता है, वैसे वैसे आत्मामे स्वका विकास विकसित होता है। वही कर्म ईंधनको जलानेके लिए अग्निकी कणिका के समान है।

आत्मामे जो कर्म पडे हैं उनमे कई तो अनेक कोडाकोड़ी सागर स्थिति वाले हैं, परन्तु निर्विकल्प समाधि अन्तर्मुहूर्त भी हुए, वे कर्म छिन्न भिन्न हो

जाते हैं, परन्तु इस महान् हितैषी निर्विकल्प समाधि रूप परिणामकी ओर मानवकी दृष्टि नहीं जाती, उसकी दृष्टि केवल बाह्य पदार्थोंकी ही ओर है।

### रागसे बधन, वैराग्यसे स्वतन्त्रता

बंध और निर्जरा दो तत्व पृथक् पृथक् हैं, परन्तु बध और निर्जराका सद्भाव एक ही हो सकता है। उनका कारणभूत आत्मपर्याय भी एक है, किन्तु दोनोंके हेतु भूत पर्यायांश जुदे जुदे हैं। इसलिये दो तत्व माने गये हैं क्योकि वह आत्मपरिणाम राग और वैराग्यसे बना है। ज्ञान भावका ज्ञानमे रहना तप कहलाता है। जो इस तपस्याको तपता है उसे शरीरकी परवाह नहीं होती। यह आत्मा पहिलेके खोटे सस्कारोंसे ऐसा दुःसस्कृत है कि जब तक सस्कार के आरम्भोमें फसा रहता है तब तक निर्मल परिणाममे जाना उसके लिये कष्टप्रद होता है। अत. प्राणीको बाह्य तपोमें झुकाया जाता है कि जिससे उसके परिणामोमें निर्मलता प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त हो।

जो खुद अच्छा है उसे दुनियाँ अच्छी है और जो खुद बुरा है उसे दुनियाँ बुरी है। उसे गुणोका वर्णन नही सुहावेगा। बुरेको दूसरा भी छली कपटी आदि दीखेगा। जिसने चैतन्य तत्वको प्रतीति करली उसे दुनियामें भी चैतन्य तत्व दीखता है।

### अपने बुरे हुय बिना बुराई देखनेकी आदत नहीं होती

जो किसी अन्यकी निन्दा या चुगली करता है वह स्वय बुरा है। जिसकी वह निन्दा या चुगली करता है वह बुरा हो, या न हो, यह तो निर्णेतव्य होता है, परन्तु निन्दक या चुगलखोर तो प्रत्यक्ष बुरा है। कहा भी है कि—

कोप साधुसु चाण्डालः तियक्षु रासभस्तथा।
काकपक्षिषु चाडालः, सर्वचाण्डालनिन्दक ॥

कुछ प्रवृत्तिया जिनके बिना अपने भूखे नही बैठे रहेंगे, ऐसी खोटी प्रवृत्तियाँ छोड दी जायें तो आनन्द आ सकता है। यदि किसीकी निन्दा न करना और मिष्ट वचन बोलना—ये दो बातें बनगई तो महान् आनन्द हो जाय, क्लेश और कलह मिट जाय, निन्दा चुगलीके प्रकाशनसे उस प्रकाशकका भेद खुले कलह ही तो बढती है और कभी तो दण्डे खानेका भी सुअवसर हाथ आता है। इस

लिए अज्ञानी या ज्ञानी किसीको भी निन्दा नही करना चाहिये। जिनके बिना हमारी जिन्दगीमे बाधा नही ऐसी खोटी प्रवृत्तिया छोड दी जाय। निन्दा नहीं करना, मिष्ट वचन बोलना—ये पक्का नियम ले लो तो इस जीवनमे ही बडा आनन्द प्राप्त हो जाय।

जिनकी दृष्टि कष्टोसे निपटनेकी होती वे निपट जाते हैं, किन्तु जो धन वैभवको ही सर्वस्व समझते हैं, वे ससारके क्लेशोंसे नही निपट पाते। अपनेको एकाकी स्वयसिद्ध अनुभव करना ही आनन्द है, परकी ओर गये क्लेश ही क्लेश है। यह श्रद्धा प्रोग्रामका धारण जागृत रहने पर ही ऐबोसे मुक्ति होगी।

## निर्जरा दोनोमें काम करती है

निर्जराके दो भेद है—द्रव्य और भाव। वीतराग निर्विकल्प समाधिको भाव निर्जरा तथा बन्धनके कारण न बन कर कर्मका झडजाना द्रव्य निर्जरा। रागादिक होनेपर उनका फल न दे सकना तथा आगामी कालमे नवीन कर्मों का न बन सकना भी द्रव्यनिर्जरा है।

भावनिर्जरा आत्माके गुणोकी पर्याय हैं और द्रव्य निर्जरा पुद्गल कर्म द्रव्यकी पर्याय है।

## आत्मसिद्धिका झट उपाय कर लो

कल्याणार्थीको अपनी सुध होना चाहिये। पर वस्तुकी दृष्टि रखनेमें तो अनतकाल बीता, जिसके कारण बडे बड़े शिला लेख लिखे गये। मानव जन्म कठिन है, इसे पाकर अपने महत्त्वको प्राप्त करना चाहिये, अपनी ओर ढलना चाहिये। यदि ऐसा उत्तम भव पाकर भी नही चेते तो फिर ससार मे रुलनेसे छुटकारा न होगा। कर्म झडे, उनके फलका अनुभव न हो ऐसे ही भाव, कार्य करना चाहिये। आत्मामे लोभ क्रोध मान आदि भाव बनाये रहते इनके उपयोग मे आत्म दया की बात नही समा सकती।

एक ओर कामवासनावश, हड्डियोका भोग और दूसरी ओर ससारसे छुटकारा, इनमे अन्तरकी ओर दृष्टिपात तो करें। इन दोनो दृष्टियोमे, जिसमे अपने आपकी सुध आती है वह दूसरी दृष्टि ही श्रेयस्कर है।

हर व्यक्तिको प्रबल आत्मबलिष्ठ होना उचित है। वही काम करना

चाहिये जिससे अपनी ही गलती दृष्टिगोचर हो, दूसरेकी गलती पर ही दृष्टि जाना कमजोरी है। यदि गलती करते हुये आत्मीयजन पर अनुराग जगे और उसकी गलती पर आपकी दृष्टि जाय तो उसे समुचित विधिसे एकान्तमे समझावे, न माने तो विषाद नही माने विकल्प न करे।

विकल्प पतनका कारण है, मन बन्दरके समान चचल है, मन वन्दरने जो चाहा वही करने लगे, मन मनोहिटसे लग गये, इनसे आत्म-कल्याणकी वात नही बनती। हमारेमे तीन लोक की विभूतिके त्यागका भाव आ जाय तथा अपनी ही ओर उन्मुखता आ जाय, जिससे कर्मफल दिये विना झड जाय, इसीका नाम द्रव्यनिर्जरा है।

## सतोकी करुणाका फायदा उठावो

हमारे परम पिता ऋषियोने घोर तपस्या कर करुणा बुद्धिसे हम मोहियोके हितार्थ वहुत कुछ लिख दिया। वह केवल हमको लक्ष्य कर नही लिखा, प्राणी मात्र पर लक्ष्य कर लिखा है, दुनियामे एक ही वुरा नही है। इन विभवोकी दृष्टिसे सभी बुरे हैं और इसी कारण ससारमे भटकना होता है, परन्तु चाहते सब सुख ही है। सो केवल सुखदायक लक्ष्य बना लिया जाय तो काम बन गया।

चलनेकी घोडेकी आदत है कि यदि वह खोटे मार्गसे चलता है तो लगाम से उसका मुख मोड दिया जाता है तो सही मार्गपर होगया। इसी प्रकार ज्ञान का कार्य जानना है और उस जाननेकी आदत परिणमन की है, उसे निरन्तर परिणमन ही पडेगा। परिणमे बिना वह रह नही सकता। जब उसका परिणमन स्वोन्मुखताकी ओर नही होता तब वह परकी उन्मुखताकी ओर परिणमता है। होना तो कुछ और ही चाहिये था, परन्तु करता कुछ और ही है। वाह्य वातों की ओर फँसाव या वाह्य वातो या कार्योमे आनन्द मनाना कष्टप्रद ही होता है। वास्तवमे आनन्द तब होगा, जब ये रागादि शत्रु दूर होगे। इनके सद्भाव मे आनन्द नही।

## बस लक्ष्य स्वका कर लो, आनद मिल गया

अज्ञानी स्वलक्ष्य नही कर पाता, सो वह ज्ञानाभ्यास करके ज्ञानी बने।

हाय देखो ना, मोहीके राग जगा और यदि पुण्यका उदय है तो बाह्यको अनुकूल पाकर सुख मानने लगता है। स्त्रीका वियोग, भावोमे गडबडी या कामवासना की जागृति होती है, तब या तो विवाह करता है या अनुचित रीतियोसे काम पूर्ति करता है। जिसका नतीजा कभी यह होता है कि वह विविध रोगाक्रान्त, निर्धन हो जाता है और कभी तो खाने पीने को भी मुहताज हो जाता है।

स्त्री पुत्रादि से भरपूर गृहस्थ भी १० वर्ष बाद अपने दुःखकी कहानी सुनाया करता है कि मैं बडी परेशानीमे हूँ, अमुक कुटुम्बी सदा बीमार रहता, लडके मनमानी चाल चलते हैं, गृहस्थी बिगडती जा रही है इत्यादि, परन्तु यह सब विपदा विसाई किसने ? स्वयं ही गा बजाकर अपने आप बुलाई, स्त्री पुत्रादिके आते समय खूब खुश हुये, उसी खुशीका तो यही नतीजा है।

**आपका भला आपके ही हाथ है**

जिसके मन वचन कामकी चेष्टा, अपने आपके ज्ञान बढानेके लिये होती है, वे धन्य हैं, किन्तु वह जिनके नही होती वे अपने आत्मा पर बडा अत्याचार करते हैं। दुनिया द्वारा कृत प्रशंसा सुखी नही कर सकती। वास्तवमे सुखका कर्ता एक ज्ञान ही है।

जिसको इच्छा, वैर, विरोध, कामवासना नही, ऐसी ज्ञाता द्रष्टापनकी स्थितिसे ही निर्जरा होती है। शुभोपयोगके कार्य पूजन विधानसे तो बन्ध ही होता है, निर्जरा नही, निर्जरा तो सद्भावनाकी वृद्धिसे होती है और उसका कारण ज्ञानोपयोग है। इसलिये ज्ञानोपयोगमे ही मन लगाना चाहिए। शुभोपयोगके पूजनादि कार्य केवल अशुभोपयोग से बचनेके लिये हैं। उसका भी रहस्य समझ लेना चाहिये।

लोग ताम खेलने या दाव पर पैसे लगानेको ही जुवा कहा करते हैं, परन्तु इससे भी भयकर जुवा यह है कि पुण्यके फलमे जीत और पापके फलमे हार मानना है।

पुण्यके फलसे हुई जीत या उसका फल जुवाकी जीत के समान वृथा है। इसी प्रकार पापके फलमे—हाय मैं बडा दुःखी हूँ, इस दुःखसे छूटनेका उपाय नही, कैसे छूटूं पथ नही दिखता, यह विचार आये—मानव अपनी हार मान

बैठता है, परन्तु यदि मानवकी दृष्टि अपने स्वभाव पर जाय तो कितने ही पाप उदयमे आवें वे अपनेको दुःखके कारण नहीं बन सकते।

कई महर्षियोपर बडे बडे उपसर्ग आये, परन्तु वे आत्म चिन्तवनसे विमुख नही हुये। उन्हे बडा ही आनद रहा, इसका सबूत यह है कि उन्हे मुक्तिका लाभ हुआ। आनदकी परिपूर्णता का नाम ही तो मोक्ष है, उस आनदका प्रारंभ चतुर्थ गुण स्थानसे हो जाता है और पूर्णता मोक्षमे होती है।

### आनन्दका सच्चा उपाय करो

ससार सुख दुःख ही है। सुख शब्द का अर्थ ही यह है ख=इन्द्रियोको सु=सुहावना लगे। इन्द्रियोके सुख भले ही क्षणिक सुहावने लगें, पर वे समृद्धि-शाली नही बना सकते। भले ही वे भोग के प्रारम्भमे सुहावने मालूम पड़ें, परन्तु उनका विपाक और चरमकाल सुहावना नही होता, परन्तु अविवेकी ससारी इन्द्रियोके सुखोमे मग्न हो जाता है और अपने आपपर ध्यान नहीं देता। कदाचित् वाह्य धर्मप्रकरणमे भी आये तो जैसे बछडा गिरमा मे छूटता ही मा के पास दौडता है उसी प्रकार मन्दिरमे रहनेका गिरमा छूटते ही मोही भोगो या दुकानोकी ओर दौडता है। जहा जिसे विश्राम मिलता है वह उस निरापद स्थानमे जाया करता है। तिस पर भी अपनी करतूत भली जानता है। जब अपनी गलती महसूस होने लगे तब समझो कि हम उन्नति की ओर बढ रहे है। इसी प्रकार कषायों, भोगो, आसक्तियो, द्वेष और मोह पर पछतावा आवे तो समझना चाहिये कि बडा काम कर लिया। ऐसा पछतावा जिनके नही आता वे बडे गरीब हैं। गलती भी करें और पछतावा भी न हो यह अक्षम्य अपराध है। उस गरीबका मददगार भी वही होता है जो अपनी उन परिस्थितियोंसे स्वय दुःखी होता है, परन्तु जो अपनी उन गलतियोपर पछतावा करता है वह समृद्धिकी ओर बढता है। पापके उदयमे इन्द्रिय विषय न मिलने का जो पश्चाताप होता है उससे आकुलता बढती है। परन्तु मोक्ष मार्गके विषय में न चल सकनेका पश्चाताप होना उसमे निराकुलता छिपी रहती है और वह प्राणीका भला कर सकता है, परन्तु वह कितनोमे है ?

## बड़ोंकी धर्ममें उदासीनता विशेष घातक है

जो मानव देश, समाज, जाति या संघके बडे बने हैं उनकी यह गलती, कमजोरी याने धर्मोदासीनता इतना भयंकर पाप है कि वह उन्हे ही नही किन्तु देश, समाज जाति व संघको भी बरबाद कर रहा है। इस प्रकार वह कितनो का विनाशकारी बन जाता है ? लोग बडेका ही तो अनुकरण करते हैं, "बडा धर्म विमुख पद्धतिसे चलता है तो अन्य लोग भी धर्मनिरुत्साह पद्धतिसे चलने लगते हैं।

बड़े पर बड़ी ही जुम्मेदारी होती है। इसीलिये लोक मे कहा जाता है कि भगवान् विदित बडा न बनावे। विदित बडा पापके उदयसे बनता है क्योकि उसके ऊपर सारी चिन्तायें और जुम्मेदारिया घर कर जाती हैं तथा सन्तानके कुपथगामित्व आदिका दायित्व बडे पर ही रहता है। मेरेसे गलतियां, द्वेष या पक्षपात न हो कि जिससे देश या मैं नष्ट हो जाऊ। यह संसार बडा दुस्तर है, सकरी गली है, इसमे जीवको चलना है, यदि संभल गया तो ठीक अन्यथा महान् खतरा है।

## जड़से क्या अजडता पा लेगा

आप अपनेको संभालो, केवल धन व सन्तानकी संभालमे मत लगे रहो। घमण्ड किस पर करते, शान किसपर जमाते हो कि हम बडे अच्छे है, आपकी अच्छाई को कोई आपका अधिकारी ईश्वर तो देखता नही। यहा कोई तुम्हारा मालिक तो है नहीं, जो तुम्हारी अच्छाईकी प्रशसा करे। यथार्थ अच्छाई तो स्वरूपकी दृष्टि है, परन्तु वह उसीके होती है जिसके अधिकारमे सुखी होना बदा है। ऐसे अनेको साधु मुक्तिको प्राप्त हो गये कि उस जन्मनेमे उनको जानने वाला भी कोई नही था। कई ऐसे हुये कि उनका विश्वमे यश फैला था, सम्राट् भी ऐसे कई विश्व-विख्यात हुये, परन्तु उनके आन्तरिक निर्मलता नहीं थी तो वे सुगतिके पात्र नहीं हो सके, विश्वविख्यातोने उनका साथ नही दिया।

पुण्यका वैभव पाकर शान बताओ, मनमाना व्यवहार करो, दूसरोको सताओ, परन्तु मरनेके बाद यदि निगोद गये तो क्या बीतेगा ? भाजी बने तो टके सेर बिकना होगा। आज पुण्यके ठाटमे भले ही अमोल आके जाते होओ,

परन्तु आगे पैसे सेर और रंगन या मुफ्तमे चले जाना पडेगा।

### अपनी सच्ची इज्जत बनाओ

इज्जत तो इसीमे है कि कषायो, व्यसनो और पापोसे दूर रह स्वात्मामृत का पान किया जावे व स्वका प्रकाश प्राप्त किया जावे। परको ओछा तो नही मानें द्रव्य दृष्टिसे छोटे को भी शक्तित भगवान् बराबर शक्तिशाली माने। घमन्ड या ऐंठमे रह कर अपनेको बरबाद न करो, न अपना अगला भव बिगाडो।

मैं पर्यायसे ही तुच्छ हूं, द्रव्यदृष्टिसे देखें महान् हूं। इस प्रकार मुझमें महत्व व लघुत्व दोनो साथ हैं। यदि मुझमे प्रभुताईकी दृष्टि होती तो कभी की नालायकी मिट जाती, तब मेरे बडप्पन पर दोष नही रहता, यह भाव आजाना ही हित है।

प्राणी पुण्यके फलमे हर्ष और पापके फलमे हारा मान दुःखी होता है परन्तु पुण्यके पापमे हर्ष मानना और पापके फलमे हार मानना मार डाल देना है और इसीसे जगतके जीव दुःखी हो रहे हैं।

### पुण्यमे जीत व पापमे हार मानना जुवाका खेल है

कोई विवेकी मानव यदि इस चीजका त्याग करना चाहता है तो अडोसी पडोसी उसे सताते हैं। उस मार्गसे हटानेका प्रयास करते हैं, लुभाते हैं कि देखो अमुकने कितना कमा लिया, कोई अल्प वयस्क धर्माचरण करे तो यह शक की जाती है कि कही इसका दिमाग तो नही फिर गया। इस प्रकार, कोई पुण्यके फलमे जीत और पापके फलमे हाररूप जुवेको छोडना चाहता है तो अन्य उसे पथभ्रष्ट करते है। वस्तुत. पथभ्रष्ट अन्य कोई नही करता। अन्य अपनी कषाय चेष्टा करते हैं यह स्वयं लुभा जाता है। कोई वचन चाहे प्रिय बोले चाहे अप्रिय दु.ख दोनोंके निमित्तसे होता है। बुरा वचन बोले मानो तुरन्त तमाचे लगते हैं, मृदु वचनसे भीतर ही भीतर राग द्वेषकी मार पडती है। जो कटु वचन बोल या पीडा देकर या हूकूमतके बलपर जबरन काम कराता है उसके तो विवेक है ही नही, जो प्रिय वचन कह या प्रशसा व कीर्ति कहकर, काम कराता है, वह नीतिकी दृष्टिसे विवेकी है। उत्तम विवेकी वह है जो अपने कार्यके लिये

किसी परकी ही आवश्यकता नहीं रखता ।

### पुण्यका विश्वास न कर, धर्मका सहारा लो

धनीको तृष्णा वढती है । पुण्य परेशानी या फसाव ही तो प्रायः करता है, सबके चीखनेका निशान वनाता है, अविवेक वढाता है, पाप कमाता है और विषयोमे लुभाता है । भगपान, मदिरापान, हिंसा, शिकार, छल, वेईमानी आदि अनेक कलंक वसवा कर नरकका पात्र वना देता है। रे पुण्य ! तेरी करतूत मैं क्या क्या कहूँ ? तू तुझे बरवाद करनेपर उतारू है, तेरे भी रहते चैन नही। इसी कारण बडे बडे सम्राट पुण्यका वैभव छोड साधु सन्तोके पास दीनता करते हैं कि हे प्रभो मुझे क्लेशोसे वचा दीजिये । जो ऐसा करते हैं वे ही बडभागी है ।

जिन्हे पुण्यका फल गुण या भला मालूम होता है, वे अपना ससार वढाने वाले वहिरात्मा हैं। कर्मोके भारसे छूटनेका उपाय विवेक ज्ञान, स्वोन्मुखता, या सम्यक्त्व ही है । अन्य मित्र, वैभव, धन, सन्तान आदि नही; ऐसा जान अपने आपकी ओर अपनेको ढालना या ज्ञान की ओर उन्मुखता करना यही हित है ।

### दोनो प्रकारकी निर्जरा निजमे एकत्व होनेपर होती है

द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा ये उसके होती हैं, जिसके पारमार्थिक एकत्व स्वरूपकी दृष्टि होती है । जीवकी आदत एकताकी है, एकता आनदमे ही होती है, परन्तु आनन्दके स्वरूप का बोध न होनेसे प्राणी उस एकता या आनन्दको ठीक रीतिसे पा नही सकता ।

### दुष्टकी मु हजोरं से शिष्टकी ही वरबादी

जीवके साथ अनादिसे कर्मवन्ध हो रहा है, उसके हृदयके कारण वह अपनी एकत्वकी दृष्टिसे विमुख हो रहा है। बाह्य पदार्थ मुझसे भिन्न है उनका द्रव्य क्षेत्र काल भाव उनमे रहता है और मेरा द्रव्य क्षेत्र काल भाव मुझमे रहता है । अन्य वस्तुमे अन्य वस्तुकी एकता मानना मूर्खता है, परन्तु आज सारे विश्वमे अन्य वस्तुमे अन्य वस्तुकी एकता नजर आ रही है। शरीरमे आसक्तिवश रगड रगडकर नहाना, बाल सभालना, पौष्टिक और गरिष्ठ भोजन करना इत्यादिमे ही कर्तव्यकी पूर्णता मानी जा रही है। बाह्य पदार्थो मे, रिश्ता और ममत्व

आदि मोहके कारण हैं।

वाह्य पदार्थोंमे ऐसी कोई कला नही होती कि वे अपनेमें आपका रिश्ता या ममत्व पैदा करे, किन्तु शरीर पर दृष्टि गई और तुरन्त रिश्तेदारिया निकलीं कि यह हमारा चाचा है, यह हमारा पुत्र है इत्यादि। शरीर तो मैल रज वीर्यसे ही उत्पन्न होता है और उसमे ममत्व होनेके कारण रिश्तेदारिया पैदा होती हैं। रिश्तेदारियो से पक्षपातकी जागृति होती है। अपने रिस्तेदारपर कोई आपदा आवे तो झूठीको साची और झूठी वातको सत्य वनानेका प्रयत्न करता है, परन्तु यह पक्ष घृणित और निन्दाजनक है। पक्ष तो सर्वसामान्य चैतन्यमात्रका ही उचित होता है। देहमे एकता माननेसे जिनके जगह-जगह पक्षपात होता है, ऐसे मानवोंके निर्जरा सम्भव नही। जिनके परमार्थत. एकत्व दीख जाता है, निर्जराके पात्र वे ही होते हैं। इस एकत्वके दर्शनके लिये वहुतसी घाटिया पार करना पडती हैं।

जड़की दृष्टिकी अटक

१—प्रथम घटी तो जड सोना चांदी और मकान आदि पदार्थो मे, यह मेरा ही है, ऐसी सग्रहकी बुद्धि है। ऐसे मोहके परिणाम करने वालोके प्रति, ज्ञानीको वडा पश्चाताप होता है। परन्तु ज्ञानियोको भी उसका पश्चाताप तभी तक रहता है जव तक उनके ज्ञानकी जघन्य अवस्था रहती है, किन्तु मोहियोंके तो खुदकी गलती पर स्वय पश्चाताप भी नही होता। इस प्रकार धन, मकान, रोकडखाता गहना, जेवर आदि जड पदार्थ सभी मुझसे भिन्न हैं। ऐसी भावनाका वनाना प्रथम घाटीका उतरना है।

परिवार मित्रकी दृष्टिकी अटक

२—दूसरी घाटी जिसमे लोग अटक जाते हैं वह चेतन वन्धु, मित्र परिवार आदि हैं। मोही जन इनमें अपनी एकता वनाता है, जीवकी आदत ही एकता की है, परन्तु वह जहाँ एकताका भाव रखना चाहिये, वहाँ तो एकता नहीं रखता, परन्तु मोहवश वन्धु आदि चेतन पदार्थो मे अपनी एकताका भाव किया करता है। वन्धु आदिकका चैतन्य दीखता नही, उनके चैतन्यसे वार्तालाप भी नही किया जा सकता। दृश्यमान प्राणी तो अनेक पदार्थके सयोग हैं। इसीलिए

महर्षियोंने इन्हे असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहा है। बच्चोका शरीर नाक थूक इत्यादि का भण्डार है, इसमे प्रेम कैसा ? परन्तु मोही उसमे इतना मोहित रहता है कि यदि अपने बच्चेकी नाक भी निकल जाय तो उसको विना किसी हिचकिचाहट के पोछना है, उसका उस बालकसे प्रेम है और उसके मलमे भी ग्लानि नही, अपने निजके मलमे भी उसे ग्लानि नही होती, परन्तु कल्पित परके मलमें कितना द्वेष होता है, दुःखी भी होता है अनेक कल्पनाओकी विपदाओमे। फिर भी वह चेतन परिग्रहके मोहसे विलग नही होता। क्योंकि उनमे एकता कर गया। उसकी एकता तो होनी चाहिये थी मोक्षमार्गमे या आत्मस्वरूपमें, परन्तु वहा एकता छोड यह शरीरमे या शरीरीमें एकता कर बैठता है। देखो भैया ! श्रद्धा गुणका विकास होता है तो वह आठ अङ्गोको लेकर होता है सो सम्यक्त्व के आठ अङ्ग धार्मिक है।

### मिथ्यात्वके आठ अग अधार्मिक हैं

१—मोही गृहस्थ घरमे वडे निशक बने है। उनके कैसी निःशकता है कि उन्हे सिरपर खडे कालकी भी खबर नही, वे उसकी भी शका नही करते। २—परके उपकारकी पडोसीकी भुखमरीपर, दयाकी और धर्मकी भी उन्हे इच्छा नही, अपनी उन्नतिकी, भवके सुधार की और अपने गुणाकी वृद्धिकी भी इच्छा नहीं; इस प्रकार वे अपनेमे निःकाक्षितता का अस्तित्व मानते हैं। ३—उनका निर्जुगुप्सत्व भी विचित्र होता है कि उन्हें अपने सन्तानके, घरके रिश्तेदारोके मल मूत्रके साफ करनेमे घृणा नही आती विभावोमे तो लिप्त ही रहते। ४—मोहीका अमूढदृष्टित्व भी देखिये कि वह अपने ऐहिक कार्यमे कभी भी मूर्खता नही करता, विषयोके सेवन, उनकी रक्षा और साधन जुटाने और गृह व्यवस्थाके लिये वह वडा ही विशारद है, वह अपनेको जैसा उद्भट विद्वान् आकता है, वैसा अन्यको नही।

५—मोहीके उपगूहन अगका तो कहना क्या है, वह अपने, आत्मीयगुणो को खूब ढक रहा है तथा अपनेमे उन्हें उत्पन्न ही नही होने देता तथा अपने प्रेम भाजनोके अवगुणोको भी ढकता है और अपने गुणोको प्रगट करनेके लिये अपने मुंह भी वर्णन करता है, पत्थरोमे नाम खुदवाता है।

६—अपनेमे मोहका खूब स्थितिकरण करता है, कि वह मुझमेसे हट न जायें। कभी किसी सन्तका उपदेश सुन मोहसे विभीषिका भी होजाय, तो शीघ्र ही इस कानसे सुना और उस कानसे उडाया। यदि कोई विवेकी मोह छोड रहा हो तो उसे स्वय या रिश्तेदारो आदि द्वारा विचला कर मोहसे नहीं हटने दिया जाता है। इस प्रकार यह मोहीका स्थितिकरण है।

७—मोहीका मोहियोसे परस्पर बडा मोह (प्रेम) होता है, इतना कि एक मरे तो दूसरा भी साथ मर जाय। ज्ञानी रिश्ते या नातोमे दृष्टि नही रखता, इसलिये उसके उनमे ऐसा वात्सल्य (मोह) नही होता, उसका वात्सल्य आत्मीय गुणोमे ही होता है।

८— मोहीकी प्रभावना का तो कहना ही क्या है ? राग मोह, विरोध और भौतिक विलासोकी खूब प्रभावना (वार वार चिन्तवन) करता है। मोह (विवाहादि)मे फसनेका श्रीगणेश होते ही दो दो जोडे बाजे बजवाये जाते हैं। निशान घुमाये जाते और विविध सजावटें की जाती हैं। ये सभी मोहीकी प्रभावनायें हैं। जहाँ जहाँ बाजे बजे या सजावटें हो प्राय. समझ लेना कि वहाँ मोहको बढावा दिया जा रहा है। मोही ऐसे आठ अग पालता है। पर उनमे मिथ्यात्वका मिश्रण होता है।

जीवमे एकताकी आदत तो है, पर वह परपदार्थो मे ही अपनी एकता जोडा करता है, जिससे वह इस दूसरी घाटीमे अटक जाता है।

### देह बुद्धि की अटक

३—तीसरी घाटी निज शरीरमे आत्मबुद्धि है, अर्थात् निज शरीरको आत्मा मानना है। दूसरी घाटीसे निकलता है तो इस घाटीमे अटक जाता है। यदि अपनी नाक चपटी भी हो तो भी उसे दर्पणमे देख देख खुश होता है। देहमे इतनी आशक्ति रखता है, कि किसीने कुछ कह दिया तो तत्काल बिगड पडता है, कि मेरी बात क्यो नही मानी ? मेरी कुछ भी नही रही। परन्तु मरनेके बाद न तू है न तेरी बात है। जिसे समझता है कि यह मैं हू वह तू नही, और जिसे समझता है कि मेरी बात गई—वह तेरी बात नही। ये सब अवस्थायें कर्मवश प्राप्त होती हैं। बदलती बदलती रहती हैं। ये कर्मके नाटक हैं नाटक

करता बालक, यदि किसी दरिद्र या रोनेवालेका पाठ करे, तब प्रथम तो वह रो ही नही सकता, यदि कलावश रो भी दे तो उसे भीतरसे खेद नहीं होता। इसी प्रकार आप भी नाटक कर रहे हैं वास्तवमे न तो आप धनी है और न साधु सन्त ही हैं। आपका यह नाटक आपही जैसा नाटक करते रहने वाले मोहियो को नही दिखता, प्रभुने तेरा नाटक देख लिया अब प्रभुसे इनाम मांग लो।

मोही तो इसे देख प्रसन्न नही हो सकते। हाँ केवली आपका या सभीका नाटक देख रहे हैं, आपका नाटक देख वे पूर्ण प्रसन्न है याने निर्मल हैं। उन्हें प्रसन्न कर कभी उनसे अपने प्रदर्शनके नाटकोका पारितोषिक भी पाया? नही पाया तो लो, अब उस पारितोषिकके पात्र बनो। एक कविने कहा है—"नाट्य कृत भूति भवैरनन्तै काल मया नाथ विचित्रवेशैः। हृष्टोऽसि दृष्ट्वा यदि देहि देय, तदन्यथा चेदिह तद्धि वार्यम्॥" मैंने कभी किसीको मित्र, कभी किसीको शत्रु माना, कभी कुछ नाटक दिखाया, कभी कुछ। हे प्रभु! आप सर्वदर्शी हो, प्रत्येक प्राणीके द्वारा कृत प्रत्येक नाटकको आप देखते हैं और उससे अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं। आपने हमारे सभी नाटक देखे है। अब हमारा नाटक समाप्त होने जा रहा है, इसे देख आप प्रसन्न हो या नही।

मदारी खेल दिखाकर समाप्तिके पहिले ही दर्शकोसे पारितोषिक मागता है और वे उसे देते भी है। लोक प्रसिद्ध नाटककारोने उनकी समाप्तिमें पसंद आयेके अनुभवका इनाम मागा है। इसी प्रकार हे प्रभो! हमारे नाटक अब पूर्ण हो रहे है और आप उन सबको देख चुके हैं। यदि आप इन्हे देख, प्रसन्न हुये हैं तो हमे इनाम दो। कल्पना ही करलो—उस समय परम दयालु परमात्मा यदि प्रसन्नतावश कह दें कि प्रसन्न हू, जो चाहे सो माग ले तब भक्त कहे कि मैं जो मागू सो दे और मुझे अन्य वस्तुकी चाह नही, केवल मेरी आकुलता मिटा निश्रेयसपद प्राप्त करा दो और यदि प्रसन्न न हो तो हमारा ये नाटक मिटा दो, इसे क्यो देखते हो?

### आत्माकी प्रसन्नता स्वानुभवरूप दृष्टिमें है

छहों द्रव्योकी आदत नचने की हैं। न तो कोई द्रव्य स्थिर रहता है और न कूटस्थ ही रहता है। केवल हम ही नही नचते, सभीमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य

होते हैं ! वे किसीसे रोके नही जा सकते, पर उन नाटकोमे अपनी एकता न होने दे। इस प्रकार देहको आत्मा मानने और शरीरमे एकत्व बुद्धि रखनेसे यह प्राणी इस तीसरी घाटीमे अटकता है।

दो आदमी बात करते हैं, किसी एक के शरीर पर चीटीं चढ रही हो, कलईका छपका लगा हो या कोई कचरा लगा हो तो दूसरा उसको हटाता है, यह देख दूसरा खुश होता है, इस प्रकार देहमे आत्म बुद्धि लगे, पलपलमे राग पैदा होता है। ये भाव देहमे आत्मबुद्धिसे होते हैं।

शरीरमे आत्मबुद्धि रहने पर उसे व्यायाम आदि द्वारा पुष्ट करते हैं, परन्तु औरका थोडा भी काम आजाय तो परेशानीका अनुभव करता है। अन्त मे धनादि और शरीर छूटता है, जिससे परेशान होता है।

### सूक्ष्म शरीरकी चिपक

४—चौथी घाटी सूक्ष्म शरीर है, वह तैजस और कार्मण हैं, जो अन्य औदारिकादि शरीरोके बननेमे कारण हैं। इनके आश्रयसे ही नवीन शरीरोका निर्माण होता है। मोहियोंको असूक्ष्म शरीरोका पता नहीं होता, परन्तु उनके फलो (औदारिकादि शरीरो) मे लीन वे अवश्य रहते हैं, जिससे उसके मूलका भी मोह सिद्ध है।

### पुण्यकी अटक

५—पाचवी घाटी कर्म या पुण्य पाप है, पुण्यमे तो बहुत अटकते हैं, परन्तु पापमे कोई नही अटका। पापी पाप करता है, पर पाप बधनेकी भावना नहीं करता, भले ही पाप स्वयमेव उसके बध जाय,। प्राणी पुण्यकर्मको दौड दौडकर चाहता है और उन्हे करके अपने शेखी भी हांकता है, कह जाता है कि पूजा विधान करो इनके करनेसे बडा पुण्य होता है, परन्तु वास्तवमे ये पूजा विधान पुण्यके लिये नहीं किये जाते, ये तो अपने अशुभ भावोंको दूर करने के लिये ही किये जाते हैं। यदि पूजा विधानादि केवल पुण्यबधके उद्देश्यसे किये जाय तो समझना चाहिये कि हम घाटेमे रह गये। इसलिये पूजा विधानादिका उद्देश्य केवल यही होना चाहिये कि मेरी कलुषतायें व अशुभोपयोग हटें।

## स्वात्मदृष्टिका उत्साह जगाओ

परन्तु प्रायः आज पूजा विधानादि केवल पुण्यबंधकी चाह से ही किये जाते हैं। कोई भी धर्म कार्य किया जाय, फलकी चाह पहिले है। पुण्य बंधका फलतो धन या संतान का लाभ है, वे ही पुण्यसे मिलते हैं और मिलते रहेगे, किन्तु संसार तो नही छूटेगा। संसार तो पूजनादि द्वारा अशुभोपयोगसे हट कर विषय कषायके भाव न आने से बनी पवित्रताके पश्चात् स्वाश्रयसे छूटेगा।

कोई कहे कि अन्य गणित आदिकी प्रक्रियामें उपयोग लगाना भी तो अशुभोपयोगका वारक या रोधक है। फिर इसमें धर्म क्यो नही बताया ? इसका कारण यह है कि जिससे भावोकी स्थिरता हो (अशुभोपयोग हटे) और आत्म रुचि जगे, स्वानुभवका अवसर मिले, उसे ही धर्म कहा जा सकता है। गणितकी प्रक्रियामे अशुभोपयोग हटता है, परन्तु आत्म रुचि नही जगती।

आज मानव पुण्यको 'पुन्न' कहता है, शुद्ध नाम तक नही जानता। पुण्यसे इष्ट समागम होता और वे ससारके कारण बनते हैं। यदि कोई कहे कि पुण्य करना है, तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि धन खर्च करना है। कोई मर रहा तो कहा जाता कि पुण्य करलो, जिसका मतलब द्रव्यदान कर दिया जाय, जिसकी पुण्यमें अटक नही होती है वह तो सब कुछ त्यागकर चुका, वह भले ही घरमे रहते घटकी क्रियायें करे। घरके छूटे वह निजकी एकता प्राप्त कर लेता है।

## रागद्वेषादि भावोंकी अटक

६—छठवी घाटी रागद्वेष मोह आदि विकार है, पुण्यके उदयसे जो साता या रति होती है, उसमे प्राणी लुभा जाता है। कोई पूछता—सकुशल हो तो उत्तर देता है—क्या पूछना, बढ़िया दुकान चलती है, नाती पौते भी हैं, अगली वर्ष लडकेकी शादी होनी है। भैया ये आज सुगम है, पर आगे इनकी बडी कीमत चुकाना पडेगी। मोहका परिणाम कटु है। कूप-मण्डूपकी दुनिया कुआं है, सो आगे पीछेका पता नहीं, वर्तमान ही सत्य दिखता है। एक बार राजहस ने कहा कि मानसरोवर बडा भारी है तो मेढकने उछलकर कहा—इतना तो उसने कहा इससे भी बडा, तब मेढक बोला—तेरा कहना सरासर झूठ।

इसी प्रकार मोहीके रागादिक विभावोंसे बडी दुनिया नही होती। उसे अपनी निधि, प्रभुताका पता नही होता। हम ज्ञानमय हैं, हमे ज्ञानको निर्मल करना है, किन्तु इसके महत्त्वको नही जानता इस प्रकार यह विकारोमे अटक जाता है।

### चतुराईकी अटक

७—सातवी घाटी विज्ञानकला है। उसमे अटक जाता है, जरा कुछ ज्ञान पाये और इतराने लगे, आगामी विकास पर दृष्टि नही होती। अज्ञानकी लीला मे उलझ जाता है। सम्यग्ज्ञानीकी दृष्टि विशाल है। केवल ज्ञान पाये विना उसे पूर्ण सतोष नहीं होता और केवलज्ञानमे तो विकल्प भी नहीं।

### शुद्ध पर्यायमें द्रव्य बुद्धिकी अटक

८—वीं घाटी केवल ज्ञानकी अटक है। मैं केवलज्ञान स्वरूप हूं, प्राणी इस चिन्तवनमे अटक जाता, क्यो कि केवलज्ञान भी एक नाटक है फिर भी वह है उपास्य उत्तम पात्रका, वह आनदका बाधक नही। जब ज्ञानी अपने आपके स्वरूपको देखना चाहता है तब विचार करता है कि केवलज्ञान भी क्षणिक पर्याय रूप है, उस परिवर्तनरूप मैं नही हूं, मैं तो चैतन्य पिण्ड हूं।

इन ८ घाटियोंके पार हुये परमार्थ एकत्व देखनेवाले ज्ञानीके ही यथार्थ द्रव्य और भाव निर्जरा होती है। स्वभाव पर दृष्टि गये विना यथार्थ कार्यकारी निर्जरा नही होती। स्वभावदृष्टि ज्ञानाभ्याससे होती है। अतः अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग मानवका प्रमुख ध्येय होना चाहिये।

दुनियामें अनेक पदार्थ अपनी सत्ता लिये स्थित हैं, उनके अस्तित्व मात्रसे कभी किसीको कुछ भी हानि लाभ नही होता। भगवान्के निमित्तसें परंपरागत यथार्थ तत्त्वोपदेश हमे सहज प्राप्त हो रहा है। यदि हमने उनसे लाभ नही उठाया तो जीवन नि सार है, परन्तु जो इनको प्रत्येति, श्रद्धधाति, स्पृशति वही मतिमान है। वही सम्यक्त्वी शुद्ध दृष्टि है और वही कर्मोंके कर्तन (निर्जरा) में समर्थ होता है। कर्मो से रागादि हटाना चाहिये, वह ज्ञानाभ्यास से हो सकता है।

### निर्जरा का पात्र सम्यग्दृष्टि जीव है

सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवभी अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोकी अवस्था मे निर्जरा करने लगता है। उसको अभी सम्यक्त्व नही हो पाया, इसलिये उसे मिथ्या दृष्टि कह देते हैं, परन्तु वह नियमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इससे उसे सम्यक्त्वीके कुछ सम सातिशय मिथ्यादृष्टि मान लिया गया है। सम्यक्त्व प्राप्त कर चुके बिना उसका मरण भी नही होता। सम्यक्त्व परिणामकी महिमा बतानेमे आ नही पाती, किन्तु सम्यक्त्व को भक्तिवश कहना पडता। कल मिथ्यात्वके अष्टागों का वर्णन किया था, आज सम्यक्त्वके अष्टाङ्गोका वर्णन किया जा रहा है।

## स चान्तर्वहिर्निःशंकितः ॥८॥

सम्यग्दृष्टि अपने अतरङ्ग और वहिरंग दोनोमे निःशकित रहता है, उसे अपने स्वरूपका बोध हो जाता है और अपनी सत्ताके विषयमे भी उसे शका नही रहती। वह सोचता है कि मेरा यह पर्याय जानेके लिये आया है, रहनेके लिये नही और मैं बने रहनेके लिये बन रहा हूँ। इसलिये वह अपने अन्तरंगमे नि.शल्य रहता है।

इह लोक भय, परलोक भय, अगुप्ति, अरक्षा, मरण वेदना, अकस्मात्—ये सात प्रकारके भय न होना बाह्य नि.शंकता है। इन दोनोका परस्पर सम्बन्ध है, अतरंगमे नि.शकता होनेपर ही बाह्य नि शकता होती है।

मोही जन सोचता है कि गुजारा कैसे होगा ? जायजाद कैसे रहेगी ? नये नये कानून बन रहे हैं, चुनाव कैसा होगा ? इत्यादि शकायें मोहीको सदा सताया करती हैं, परन्तु इन सब शकाओका आधार शरीर ही है। शरीर मैं नही, मैं सुरक्षित हू, क्योकि सत् हू। मेरा नाश मैं चाहूँ तो भी नही हो सकता, न चाहूँ तो भी नही हो सकता, कोई चाहे तो भी नही हो सकता।

### आत्माका जीवतत्त्व अहेतुक है

आत्मा स्वयं जी रहा है, जीना आत्माका स्वाभाविक या पारिणामिक है, उसमें कर्मों की अपेक्षा कहां ? तो जब जीवत्वमें कर्मोंकी भी अपेक्षा नहीं तब

अन्य धनादिक आत्माके जीवत्वमे कारण कैसे हो सकते हैं ? मेरा लोक व परलोक मेरा आत्मा ही है, मुझे न इस लोकका डर है न परलोकका भय है। यहाँ आत्मासे ही मेरा काम चल रहा है और वहाँ भी इसीसे काम चलेगा और वह व्यवहार बाह्य वस्तुसे नही चलता, स्वत. ही चलता है और चलता रहेगा, ऐसे विचारसे उभय लोकका भय उसे नही रहता।

### ज्ञानीको परलोकका भी भय नहीं

परलोकका भय उसके होता है, जिसके खप्त दिमाक्मे यह बात घर कर गई है कि (जिनमे व्रतकी कल्पनाकी है) व्रत लेने या धर्म करनेसे नरक् तिर्यक् गति टल जाती है।

जिस दिन स्वप्रकाश जगता है, उस दिन व्रताचरणादिकी भी खबर नहीं रहती उसदिन वह अपनेको अपना प्रभु समझने लगता है। तब व्यसन, पाप आदिमें उसका चित्त नही जाता और उनमे उसकी प्रवृत्ति भी नहीं होती। तभी उसके व्रतोमे यथार्थता आती है, परन्तु यह योग्यता तब आती है, जब आचार विचार योग्य हो। आचार विचारकी योग्यता मूल गुण होनेपर ही होती है। मूल गुणोके बिना तो कोई जैन भी नही कहला सकता और न उसे व्यवहार जैन ही कहा जा सकता है। इतना आचार विचार तो होना ही चाहिये।

मेरा परलोक सुधरे, इस अभिप्रायसे धर्ममे लगना चाहिये। ऐसी भावना जब तक रहे तब तक, यही समझो कि ऐसी भावनावाला व्यक्ति धर्मसे अभी कोसो दूर है। धर्म जैसा है वैसा जानते ही अनन्यगति होनेसे आत्मा धर्ममें लग जाता है।

निःशंकितके ऐसी भावना होती है कि मैं अविनाशी नित्य ध्रौव्य, विगाड रहित। सुरक्षित, सुगुप्त और उपसर्गा विचलित हूं। जिनवाणी या द्रव्यके स्वरूप मे उसे शका नहीं होती, जिसे स्वय वीतरागता का परिचय होजाता है, उसे वीतरागकी वाणीमें शका हो ही कैसे सकती है ? वीतराग ऋषियोको वीतरागता का परिचय हुये बिना पद पद पर शकाये की जाती हैं कि अमुक सूत्र ऐसा होना चाहिये ऐसा क्यो लिखा ? शायद उमास्वामी या छापनेवाले भूल गये हो। दुनिया

की आधी अकल अपनेमे और आधी शेष सबमें आका करते हैं। शकाकुल रहने का एक यह भी कारण है। ऐसा भाव जिसके नही होता वह अन्तरग, वहिरग दोनोमे नि शक रहता है।

### ज्ञानी जीवको वेदनाका भय नहीं रहता

वेदनाभय—कोई बीमार होगया असह्य वेदना होने लगी तो भीत होने लगता है, छटपटाने व घवडाने, लगता है, परन्तु वेदनाको पीडा उसके ही होती है जिसके देहमे आत्मबुद्धि होती है। जिसके देहमे आत्म बुद्धि नही होती उसे रोगजन्य पीडा सता ही नही सकती।

### वेदना पीड़ाका नाम नहीं

वेदनाका अर्थ जानना है, सम्यग्दृष्टि इस अर्थ वाली वेदनाको जानता और मानता है, उसे अपनाता है। वह जाननेके अतिरिक्त अन्यको जानता ही नही इससे उसे वेदना (पीडा) दुःखद नही होती। स्वरूप से च्युत होनेपर जो वेदन होता है, वही दु ख है, स्वरूपपर दृष्टि रहे जो जानना होता है, उसमे कौन दु ख ? शरीरमे फोडा हो गया आत्मामे तो नही। शरीरमे फोडा हुये दु खानुभव क्यो किया जाय, परन्तु मानव की भावना वदल गई, वस्तुस्वरूप का वोध नही रहा इसीसे दुखी है।

### आत्मा स्वय सुरक्षित है

अरक्षाभय—मेरी रक्षा कैसे होगी इस वातका भय सम्यक् दृष्टिके नहीं होता, जीवकी सत्ता कभी नष्ट नही हो सकती, इसका लक्षण ही सत् है। जव नाश सभव ही नही तव अरक्षाका भय क्या ? फासीपर लटकने वाला या कठिन उपसर्गमे रहनेवाला "हाय मैं मरा" यह न विचार कर समता रखे स्वदृष्टि रखे तो दु ख न हो, परतु वह विचारता है कि मेरे पास या मेरे लिये जो कुछ वैभव या आराम है, वह यहीं है, यह अव मेरेसे छूट रहा है, परन्तु वह वैभवादि या उसीके समान या अधिक वैभावादि परभवमे नही मिलेगा क्या ? जीर्ण देह भी वदल कर नवीन प्राप्त होगा, किन्तु ऐसे तर्क भी आत्म-शोधनाके वाधक हैं।

## आत्माका प्राण नष्ट हो ही नहीं सकता

इन्द्रियादि दस प्राण हैं, इनमे आत्माका एक भी नहीं, ये सब विभाव (लगाये) प्राण है। आत्माका प्राण तो ज्ञान दर्शन या चैतन्य है, चैतन्य प्राण कभी भी नष्ट नही हो सकता। वह तो ध्रुव या सत् रूप है। फिर शरीरके नाशमे आत्माका नाश मानना वृथा है। शरीरके नाशको आत्माका नाश मानने पर लाखों वर्षोंकी आयु प्राप्त होनेपर भी शान्ति नही मिल सकती, शरीर सम्बन्धी एक कार्य खतम होनेपर दूसरे की और दूसरेके समाप्त होनेपर तीसरे की चिन्ता होगी।

कोई यह सोचा करते हैं कि अभी तो बहुत जीना है। दस वर्ष रहकर घर छोड देवेंगें, उनकी यह धारणा अधिक अनादरणीय नही है, परन्तु तीस तीस, ४०, ४० वर्षकी उम्र बीत जाने पर भी जब कुछ नही कर सके, तब दस पाच वर्षकी शेषायुमे वे क्या कर सकेंगे ? उन्हे अपने उक्त विचारोंमे सफलता मिलना कठिन है, वे निजको धोखा दे रहें हैं।

जो वस्तु जिस स्वरूपमें है या सामान्य विशेषात्मक है, वह स्वचतुष्टयसे समवेत तथा परचतुष्टयसे असमवेत है। ऐसा अनुभव आनेपर ही मानवमे आनन्दकी पात्रता आती है। क्योकि कर्तृत्वबुद्धिके अभावका यह अमोघ उपाय है। कषाय पाप और व्यसन आदिमे गहरे बने रहते, धर्मका मर्म नहीं आता। क्षमा, नम्रता, सरलता और उदारता आये ही धर्म हो सकता है, अतः होड लगाकर इनमे आगे बढे तो उसमे धर्म समा सकता है। इन चारोकी बडी आवश्यकता है।

## क्षमा बिना खुदकी बरबादी

अपने आपपर क्षमा नही करनेवाला, क्रोधकी भट्टीमें जलनेवाला, क्रोध न छोडनेपर अपना बिगाड करेगा या दूसरेका ? क्रोधाग्निमे जलनेवाला अपने को सभालेगा या धर्मको ? अपने क्रोधमे परको कर्ता मानना भ्रम है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यपर कोई असर हो ही नही सकता, परन्तु द्रव्योमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है। यद्यपि द्रव्यका परिणमन बहुधा किसी परका निमित्त पाकर होता है, परन्तु वह परिणमन, होता उसका उसीमें है। यह

असर सयोगकी दृष्टिमे हुआ है, परपदार्थसे किसी परमे असर मानना भ्रम है।

जिसका आश्रय लेकर क्रोध किया जाता है, उसका उस क्रोधसे वास्तव मे कोई अहित नही होता। पराये क्रोधका परपर कोई असर नही होता, परन्तु उस क्रोधका असर क्रोधकर्तापर ही होता है और उसीका अहित होता है। अतः अपने आपको क्षमाशील वनाना आवश्यक है।

### नम्रताका सब गुण साथ देते हैं

नम्रता—जिसके चित्तमे नम्रता नही है घमड है ऐसे व्यक्तिके चित्तमे धर्म का मर्म नही आमकता। शिक्षा विद्या लाभ और धर्मका मर्म अकड दिखा कर नही प्राप्त किया जा सकता। जो जितनी नम्रतासे इनका अभ्यास करेगा, उसके चित्तमे वे उतनी ही आसानी व अधिकतासे, इनका प्रवेश होगा घमडी इस लोकमे भी सुखी नहीं होता। आदर नम्रका ही होता है। जिसके नम्रता होती है, उसपर सभी झुकते हैं, नम्रता बिना मनुष्य मनुष्य ही क्या ? नम्रता बिना न लौकिक हित है न बाह्य।

प्राचीन समयमे छात्र सुखी और व्युत्पन्न होते थे, क्योकि वे विनय और शुश्रूषा द्वारा गुरुओको प्रसन्नकर अगाध विद्या अभ्यास करते थे, परन्तु आज नम्रता तो गई चूल्हेमे, अब तो शिक्षकको यह खतरा रहता है कि शूट या वार न कर दे कोई। पूर्व कालके शिष्य बडे ही विश्वसनीय होते थे, कि एक वार स्त्री पुत्र धोखा दे दे, परन्तु शिष्य धोखा नही देते थे। सरलता जो मायाचार या कठोरता करता है, उससे वैज्ञानिक भी हारे हैं। उनके मायाचारका बोध, नही हो पाता, मायाचारी भयकर पशु है, पशुकी क्रूरता का तो उसका भेष देखकर पता चल सकता है, परन्तु मायावी मनुष्यकी गुस्ताकी का पता ही नहीं चलता, वे क्या कल्याणके पात्र होगे ? उन्हे इससे कौनसा लाभ मिलेगा ? जिस के लिये यह मायाचार किया जाता है। इस मायाचारको हटाये ही यथार्थधर्म पालन हो सकता है।

### उदारतामे सत्य सतोष होता है

उदारता—ये हमारे अमुक कुटुम्बी मित्र व रिस्तेदार हैं, ये ही सब कुछ हैं, अन्य सव बुद्धिहीन है, उनमे ज्ञान ही नही, वे सब दीन हीन हैं—यह भाव

हुये कि अपनोसे राग हुआ, मोह बढा, जो कुछ है वह मुझमे ही है, इस प्रकार के भावसे उदारता भग होनेसे सत्पथ रुक जाता है।

पहिले जमानेमे कलह होनेपर भले ही अपने लडकेका अपराध न हो तो भी अपना लडका ही डाटा जाता था। जगत्के सर्व प्राणी चैतन्यवान एकसे है। वे सब अपनी अपनी पृथक् पृथक् सत्तावाले हैं, किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नही। जैसे जगत्के अन्य प्राणी मुझसे भिन्न हैं, उसी प्रकार निजका लडका भी मुझसे अत्यन्त भिन्न है। मोहीको भले ही यह बात समझमे न आवे, परन्तु जो अपने गले भी लगे, अपनी बात भी माने तो भी दोनोका अत्यताभाव है। आपके परिणमनसे वह नही परिणमता और उसके परिणमनसे आप नही परिणमते।

यदि कहो कि वे अपनी विषयेच्छामे या भोगोमे कारण बनते हैं, परन्तु यह भ्रम है। अपने भोगादिकमे वे कारण नहीं बनते, स्वय ही मलिन प्राणी अपने भोगोपभोगमे परको कारण बना स्वय नाना नाच नचता है, दुखी होता है। किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नही, ऐसा भाववान ही धर्मका पात्र होता है।

मैं एक आत्मा हूँ, अपने उत्पादादिसे परिणमता हू, परसे मेरा कोई सम्बन्ध नही, आत्मा जब निर्मलताकी ओर जाता है तब, स्वही निमित्त और स्वही उपादान बन कर निर्मल हो जाता है।

### अन्य कोई बाधक नहीं, विकल्प बाधकर है

स्वरूपपर दृष्टि रखनेवालोको भय नही होता इन भयोसे रहित व्यक्ति परमार्थका दृष्टा है। न तो शका रहनसे बडी हानि है और न बाह्य पदार्थोके सम्बन्धसे ही बडी हानि है, किन्तु बाह्य पदार्थोंके प्रति जो विकल्प चलते है वे ही हानिकर हैं, परन्तु उनपर किसीकी दृष्टि नही जाती, केवल झगडोमे विसवादोंमे और परवस्तुपर दृष्टि जाती है, उन्हे अपनी हानिका भी लक्ष्य नही होता।

मेरा विकल्प मिटे, आत्मीय आनद आवे, समता रसमे रह अपने आपको स्वभावमे रख सकू—इसी भावमे शान्ति आती है। जैसे मिर्च खानेवाला सी सी करता आसू डालता तो भी उसे नही छोडता, उसी प्रकार मोही परको अपना

कर दुखी होता, पिटता, फिर भी तल्लीन रहता है, उपेक्षा नही करता—क्या कभी किसीके मनमे यह भाव आया कि मेरे पिता मेरे कुछ नही मेरे भगवान् ही मेरे सब कुछ हैं। पिता या पुत्र मित्रको ही सब कुछ माना जाता है, धर्मात्मा साधु सन्तको कभी किसीने कुछ माना। जब इनमे मान्यताका भाव जमे, तब समझ होगी।

### धर्म बिना मनुष्य पशुके भी बराबर नही

आहारादि सज्ञाओके विषयमे मनुष्य पशुसे बुरा है। पेट भरनेपर पशु बढिया भी घास नही खाता, अनेक पक्षी भी रात्रिमे नही खाते, परन्तु मनुष्यके लेटर-बक्स भरा रहनेपर भी स्वादिष्ट चीज मिलते ही पेटमे झट जगह होजाती है। रोग होगया, डाक्टर रोकता भी है कि अमुक वस्तु मत खाना, पर नही मानता।

निद्रा—मुर्गोंके पास घडी नही होती फिर भी वह ठीक चार बजे जाग जाता है, परन्तु मानवके कर्णपर अलारमवाचके बार-बार टर्रानेपर भी वह जागृत नही होता। कई तो घन्टो दिन चढे तक घुराते रहते हैं।

भय—पशु अपने आप भीत नही होते। कुत्ता जब तक लाठी न देखे, हिरण जब तक शिकारीके हाथमे हथियार नही देखता तब तक भीत नही होता। यहाँ तो उपनाम निडर रखा जाता है, परन्तु टैक्सो, मुकद्दमो, सरकार, चोरोसे सदा ही भीत रहता है।

मैथुन—पशुओका ऋतु समय और एक बार ही गडबड घुटाला होता है, परन्तु मानवोंके समय और वारोका ठिकाना नही रहता। मनुष्योसे सजातित्वके नाते कविने पक्षपात किया कि मनुष्यको उक्त चार बातोमे पशुसे समता बता दी। यदि वह मानवका पक्ष नही करता तो निष्पक्षतया उसे मानवको पशुसे गया बीता बताना चाहिये था। मुझमे धर्मांकुर जगो। यदि वह न जगा तो समझना चाहिये कि अभी मेरे मिथ्यात्व ही बढ रहा है। कुटुम्ब-मोह अधर्मका सूचक और सन्त-मोह धर्मका सूचक है।

सम्यग्दृष्टि उपसर्गो और उपद्रवोसे भी विचलित नही होता। ऐसा परमार्थ-द्रष्टा ही मोक्षका पात्र होता है। ऐसे धर्मी ज्ञाता, आत्मलीन आत्मा मेरी दृष्टि मे तब तक श्रद्धेय बने रहे, जब तक मेरा विकल्प न छूटे। उन निर्ग्रन्थ,

नि:शल्य, श्रद्धावान ज्ञाताद्रष्टा निर्विकल्प पुरुषोका क्षणमात्र भी सहवास मिले तो श्रेयस्कर है।

### धर्म व धर्मात्माकी शरण लो

मानव विकलता या वेदना होनेपर मा या आजीकी गोदमे दौड़ता है। क्या कभी किसीने अपनी किसी विकलतामे वीतराग मूर्ति या साधु सन्तोकी शरणली ? यदि कभी ली होती तो सारी विकलता ही मिट गई होती।

रागीजन अपनाराग बढाकर दु ख मेटनेका प्रयास करते हैं, परन्तु रागसे राग कभी नही हटता। जैसे खूनसे खून नही धुलता। जिस रागसे वेदना पैदा हुई वही राग बढानेसे वेदना नही मिट सकती। वेदनासे छूटनेका उपाय सत् श्रद्धा ही है। वह श्रद्धा ज्ञानाभ्यास सुन्दर धारणाओ सहित अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसे ही ठीक हो सकती है। इसीसे परमार्थतत्त्वपर दृष्टि रह सकती है।

निर्जराका पात्र सम्यग्दृष्टि, अपने आत्मस्वरूपको पहिचानकर, उसीमे आनदमय प्रतीति होनेसे किसी बाह्य पदार्थ या परिस्थितिमे नही टिकता। विषयोकी इच्छासे रहित हो जाना ही आकाक्षत्व है। अपनेमे इस गुणके कारण वह विषयोकी इच्छा नही करता। उसके ऐसी प्रतीति होती है कि सभी रूप रस गध स्पर्श आदिक मुझसे भिन्न है, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नही, इनका सम्बन्ध जिन द्रव्योके निमित्तसे होता है वे भी मेरी नही, वे भी जड हैं, मुझमे उनका अत्यताभाव है, परन्तु उन्हे निमित्त पाकर विषय ग्रहण हमारी द्रव्येन्द्रिय या भावेन्द्रियके द्वारा होता है।

## अनाकांक्षः ॥६॥

विषय ग्रहण होनेपर भी सम्यग्दृष्टिका लक्ष्य उनमे अनाशक्तिरूप रहता है, वह भाता है कि मैं अनाकुल एक ध्रुव चैतन्य स्वरूप हू। विषयोसे पृथक् चैतन्यमात्र हू, इस प्रतीतिके कारण वह विषयसेवन करता हुआ भी उनमे उपेक्षित रहता है। वह बाह्य पदार्थके ससर्गमे सुख वा दु खका अनुभव नही करता, अपने आपमे रत रहता है।

मजा मौजकी अवस्थामे, उसका भीतरीनगा स्वरूप (खराबी कटु परिणाम)

जानता हुआ उसमे तीन नहीं होता। कर्मका निमित्तनैमित्तिक सबध दुर्निवार है। वस्तुस्वरूपको न जानकर स्वकी परिणति मानकर दुःखी होता है। विभाव परिणति बाह्यको निमित्त पाकर ही होती है। पुण्योदयमे मजामौजके ठाट बाट मिले तो फूला नही समाया, परन्तु सत्तास्थित कर्मके उदयवश मौजके समयमें भी कौनसी विपदा आजाय और वह सारी मौज मिटादे, यह मोहीको बोध नही होता।

### कर्म जड है, उसके कुछ भी विचार होता ही नहीं

किसीपर विपदा डाल दू य—ह भाव कर्मके नहीं होता, परन्तु कर्मका निमित्त पाकर अपनी मलिन योग्यतामे प्राणी स्वय दुःख सुखका अनुभव करने लगता है। मौजके वातावरणमे भी शाति नही समझना चाहिये कि विपदाये मुझपर आ ही नही सकती; मैं बडा पुण्यशाली हूँ, मेरा बडा ठाठ बाट है, विपदायें मुझ हीन पर ही आती हैं, क्योंकि ऐसा भावनावान् ससार सुखमे मग्न व्यक्ति अपनी सावधानी नही कर पाता और इसकारण विपदावोसे भेट होनेमे देर नही लगती। वस्तुत अब भी विपदामे है।

सम्यग्दृष्टि अनाकाक्ष रहता है, राज्य शासन चल रहा है, प्रतिदिन खुशीके समाचार आ रहे हैं, स्त्रिया विनयी और सन्तान आज्ञाकारी है, सबसे आदर होता है, ऐसे प्रसगोमे भी सम्यग्दृष्टि प्रसन्न रहता है, परन्तु उनसे पृथक् रहता है, उनमे अटकता नहीं है। वह समझता है कि यह सुख कर्मको निमित्त पाकर हुआ है, उसका विनाश अवश्यभावी है और वह बीचोबीच आये अनेक दुःखोसे आकीर्ण है। एक सुख पानेके लिये अनेक दुःख मोल लेना पडते हैं। जो वास्तव मे दुःखोसे भरा है वह सुख ही क्या ? जो आया भी, दुःखोका बीज बो जाता है, ऐसे सुखमे सम्यग्दृष्टिके आदर बुद्धि नही होती और न उस सुखकी उसे इच्छा ही होती है।

### ज्ञानीकी परख मोहीको नहीं

मोहियोको आश्चर्य होता होगा, परन्तु स्वहितैषीजन अनायास बडे बडे राज्यपाट और बडे बडे वैभव भी छोड देते हैं। राजा इन्द्र रावण द्वारा जीता गया, परन्तु शूरोंको नीतिके अनुसार उससे पुनः अपने राज्यके सभालकी प्रेरणा

की गई। उसे और भी कन्यादान ग्रामदान आदिका भी लालच दिया गया, परन्तु उसके चित्तमे वास्तविक विरक्ति आगई थी, वह उन प्रलोभनोमे नहीं लुभाया। उसने सभी प्रलोभनोको काकवीट सम माना।

अपने आनन्दकी बाधिकायें जगतकी प्रतीक्षायें व प्रलोभन ही बाधक है। मैं स्वय ही प्रभू हूँ, सर्वशक्ति सम्पन्न हूँ, ऐसी दृष्टि आये अपनी ओरका झुकाव होता है, तभी परम आनन्दकी प्राप्ति होती है। दुःख तो अपनी दृष्टि हटनेसे परकी ओर दृष्टि जानेसे ही होता है, परन्तु मोही को दुःखको मेटनेका उपाय या नही सूझता।

गृहस्थके भी अनाकाक्षित्व हो सकता है, परन्तु वह तब सभव है जबकि उसे कलकी चिन्ता न रहे। धर्म, अर्थ, कामका समतासे सेवक गृहस्थ उनका सेवन कर अपनी ड्यूटी निभाता है, उनमे तृष्णा या आशायें नही रखता। वह केवल वर्तमानके प्रोग्राममे लगा रहता है। उसे आगामी इच्छायें नही सताती, गृह कार्य व्यापार या व्यवहारमें उसके इच्छायें हो भी जाय, परन्तु उनके लिये उसे छूट है। उन इच्छाओंमें उसे पाप न लगे, ऐसी बात नही; किन्तु धर्म करके उस धर्मके कारण कोई इच्छा बनाना गृहस्थको भी उचित नही, क्यो कि ऐसी इच्छा हुये सम्यक्त्व नही रहता। पूजा विधानादि शुभोपयोगके कार्य केवल अशुभोपयोग या विपदासे हटनेके लिये ही होते हैं। शुभोपयोगके साधन फलकी इच्छा किये ससारके ही वर्धक होते हैं।

### इच्छायेंही दुःखकी जननी हैं

इच्छा की भी इच्छा बनी रहना, उसे बढाना या उसमे राग करना आनन्दका बाधक है। मैं विश्वके पदार्थोंसे जुदा हूँ, किसीसे मेरा हित नहीं, मेरे सुख दुख का निर्माता बाह्य पदार्थ नही, दुःख और सुखका होना मेरी कल्पना, विकल्प और गडबडीपर ही निर्भर है। जब तक खुदके कल्याणकी बात मनमे नही आती तब तक पूजन विधान आदि धर्म केवल बडप्पन परलोक के सुधारकी चाह या अन्य लौकिक सुखकी चाहसे ही किया जाता है। किसी परविकल्पोंकी अनेक आपदायें है, उनसे उसे छूटना है तो उसका उपयोग कहाँ जायगा? वहाँ ही तो जो स्वय आपत्तियोसे मुक्त होगा। जैसे जिसे अपनी

गरीबी मेटनेकी इच्छा है, वह गरीब के पास नही जायगा, किन्तु लक्षाधीशका ही शरण लेगा, उसी प्रकार जिसे यह समझ आगई कि मेरेमें विकल्पका उठना ही, विपदाका पहाड है। यदि विपदाओसे बचना है तो जिसके विपदा या दुःख नहीं है उसीके शरण जायगा।

### विपदारहित की ही शरण लो

विपदाहीन प्रभु या निज कारण परमात्मा हो सकता है। इसलिये वह ज्ञानव उस प्रभुके ही पास जायगा, वह प्रभु है मेरा अविचल चित्स्वरूप, जो कि परम शुद्ध निश्चयनय का विषय है—ऐसा वह ध्रुव सामान्य चित्स्वरूप समस्त विकल्प व विपदाओसे रहित है। वहाँ न विकल्प है, न अविकल्प है, वहाँ न दुःख है, न सुख है। वह परमशुद्ध निश्चयनय परिणमन ही स्वीकृत नही करता, जैसे ऋजुसूत्रनय दोके सम्बन्धको स्वीकार नही करता, उसी प्रकार परमशुद्ध निश्चयनय जीवके परिणमन पर्यायको स्वीकृत नही करता; परन्तु इसका काम, पर्यायका न देखना है, पर ऐसी अवस्थामे केवल चित्स्वरूप जाना जाता है। निर्जराका पात्र सम्यग्दृष्टि होता है, वह निज आत्मतत्त्व पर ही दृष्टि रखता है, उसके विश्रामके दो स्थान हैं—कार्य परमात्मा और कारण परमात्मा। अन्य कोई सुखके साधन नहीं होते। जब स्वभावमे नही जाता तो जिनका स्वभाव व्यक्त हो गया ऐसे कार्यपरमात्मा श्री अरहत देव, सिद्धदेवकी भक्तिमे जाता है। इन दो के अतिरिक्त अन्य विषयमे आप ऐसा समझें—जो पदार्थ जिसे प्रिय लगता है, जिसके लाभसे वह अपनेको धन्य या अहोभाग्य समझता है, उस ढगसे चलने वालेको वह पदार्थ शत्रु जैसा बन रहा है, जिसके फलसे आत्मामे इतना प्रमाद आता है, भविष्यमे उससे हुये कर्म बधके उदयसे घोर दुखी होगा। अपनी इच्छासे थोडा भी दुःख नही चाहा जाता, आराम ही आराम सब चाहा करते है। परन्तु आरामसे इतने महान् कर्मोका बन्ध होता है कि उनके निमित्तसे प्राणी घोर दुःखी होता है, नरक भी अधिकतर उस आराम भोक्ताको प्राप्त होता है।

### अबकी बार तो यह जीवन व्यर्थ न गमाओ

विवेकीके यह भाव होना चाहिये कि यह मानवभव मैंने कई बार पाया

और व्यर्थ गमाया, परतु यह मानवभव मैंने कई बार पाया और व्यर्थ गमाया परतु अबकी वारका पाया मानवभव व्यर्थ न जाने दूंगा, इसका सुलाभ लूंगा। मानव पर्यायका साफल्य चित्स्वभावकी उन्मुखता है। इसे पाकर मानव पर्याय सफलकर विश्राम पाऊगा। जब मूसलधार पानी वरसता है या बडी तेज धूप पडती है, तब घरसे बाहर नहीं निकला जाता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि से भी अपने स्वरूपसे बाहर नही निकला जाता।

आत्मस्वरूपसे बाहर निकलनेमें वह आपत्तिका अनुभव करता है। वह तो अपने आपके आनदमें मग्न रहता है। जैसे लुटेरो द्वारा सताया गया प्राणी दौडधूप कर रहा हो, और लुटेरे पीछा करते आ रहे हो, तब उसे किसी बडे का या किसी गुणस्थानका, सहारा मिलजाय तो वह वहां इतना विश्वस्त रहता है, कि वहांसे बाहर ही नहीं निकलना चाहता। उसी प्रकार कर्म या संस्कार जिसका पीछा करते आ रहे हैं, और उनके निमित्तसे जो अनादिसे दुःख भोग रहा है, ऐसी जीवको सुगुप्त स्थान चित्स्वरूपमे रमण या सुगुप्त प्रभुसे भेंट या शुद्धास्तिकायमें रमण होनेपर वह किसी और के सहारेकी चाह नहीं करता, वह अन्यसे बोलता है या व्यवहार करता है तो भी वहां अपने लाभका ध्यान रखता है। ऐसा अनाकांक्ष सम्यग्दृष्टि निर्जराका पात्र होता है।

### इच्छा करना खुदका अनादर है

इच्छाओका होना, उन्हे पूर्ण करनेका उत्साह रखना, देर न हो तुरन्त पूर्ण हो ऐसा भाव होना महान् अपराध है। परन्तु मोही इनके न होनेमें अपना अनादर समझता है। अभी होना चाहिये, देर नहीं होना चाहिये 'अन्यथा मेरी प्रभुता ही क्या—ऐसा भाव आत्माकी बडी कमजोरी है, परन्तु मोही इसमें अपनी बडी शान समझता है। ससारके विषयोकी या जड संग्रहकी वाञ्छायें इसे बरबाद कर रही हैं। इससे अपनेको विपदाग्रस्त मानना चाहिये।

दुकान सुरीतिसे चल रही है, बच्चे प्रसन्न है, यह देख आनन्दमें, मस्तमत होओ। इस रौद्रध्यानके फलमें बडी विपदाका पहाड टूटेगा। न जाने कौन भय आ जाय या मरण ही जाय। इससे निःशंक बन अपनी आत्माकी ओर रहो, इच्छाओं पर विजय करो, वही आत्माको अनाकांक्ष बनाता है। इच्छाओको

दवाता मसलना या वश करना सरल नही। स्वरूपके बोधसे ही ये इच्छायें खतम की जा सकती हैं। इच्छाही दुःखका कारण है किसीको धनका, किसीको सन्तानके राग का रोग लगा है। राग ही बडा रोग है, यह सभीके होता है, गृहस्थोंके भी और साधु सन्तोके भी। राग तो एक ही होता, परन्तु उसके विषय नाना होनेसे वह नाना प्रकारका मालूम होता है। मूल रोग राग (इच्छा) ही है। प्राणीको इच्छाका रोग लगा है, उसकी विजयका उपाय आत्माके निःशंक स्वरूपकी श्रद्धा हैं। मैं आनद या ज्ञानमय स्वतः हूं, रागादि मेरे स्वभावमे नहीं है—ऐसी श्रद्धा होनेपर वह राग रोग सहज ही दूर हो जाता है।

बडे बडे आविष्कार या वातोके जाननेपर भी मानव ज्ञानी तब ही कहा जा सकेगा, जब कि वह सर्व भिन्न निज प्रतीतिमे मग्न होजाय। लौकिक आविष्कार या बातें न जाननेपर भी तिर्यंच जैसे या नारकी जैसे भी आत्मस्वरूप का भानकर ज्ञानी हो जाते हैं।

### कोई अधूरा नहीं, फिर किसकी क्षति

यह आत्मा क्या आज अधूरा है ? किसीने खबर नही ली तो क्या मैं कुछ हानिमे पड जाऊगा ? जिसको तुम हानि समझते हो वह बाह्यवस्तुका वियोग है सुख-सामग्रीके वियोगसे हानि नही होती, हानि तो उसके संयोगमे ही होती है। सीता जन्मते ही भामण्डल द्वारा प्रेरित विद्याधरके द्वारा हरी गई, विवाहके कुछ समय बाद पतिके साथ बन जाना पडा, वहाँ रावण हर लेगया, बारह दिन अनशन करना पडा, रामरावणका युद्ध हुआ, वहाँ भी शल्य रही कि रामलक्ष्मण न मारे जाये। अयोध्या आई, कलक लगा। सगर्भावस्थामें बनमें छुडवा दी गई, सन्तानकी रक्षा कठिनाईसे कर सकी, सन्तानके बडे होते ही बाप बेटेमे युद्ध छिड गया। किसी ओर भी कुछ अनर्थ न हो जाय इस द्विविधामें व्याकुल रही। समझाये बुझाये फिर अयोध्या आई। अग्निकुण्डमे कूदना पडा। उदय अनुकूल था, देवोंने जल कुण्ड कर दिया। रामने और बन्धुओंने क्षमा मांगी। अयोध्या जानेकी प्रेरणा की। उसने उत्तर दिया कि मैं अपनी आत्मासे निकल कर बाहर नही जाना चाहती। आर्यिकाके व्रत ले लिये, तब दु.खोंका अवसाम हुआ। जब तक परपर दृष्टि रही तब तक क्लेश ही क्लेश भोगा। सबंधसे

मिला क्या ? सबसे सम्बन्ध छूटे ही आराम हुआ।

मोहमे लक्ष्मणका मुर्दा शरीर रामने ६ माह ढोया। फिर जरासी चीज मिले मोहित हो उसे ही सर्वस्व समझना कितनी भूल है। सर्व दुखोंका मूल लोभ है। इसका सबध इच्छासे है। लोभ त्याग बिना सत्पथ नही मिलता। भीतरमें इतनी अकाटच श्रद्धा अवश्य होना चाहिये कि मैं सबसे भिन्न हूँ, मुझे अनत ज्ञान, अनत दर्शन, अनत सुख और मुक्तिकी अवस्थाकी भी मुझे इच्छा नहीं और न मुझे बिभावत्व चाहिये, मुझे कोई भी विकल्प पसद नहीं ! मुझे केवल विकल्पातीत निश्चय समाधि चाहिये। सो चाहिये क्या ? ज्ञानीने ज्ञान देखा सो ज्ञाता रह जाना ही हो जाता है। मैं इस पर्यायमे कैसे अटल रहूँगा ? यह विकल्प भी मुझे नही सुहाता। कभी ऐसी चाह अवश्य हो जावे, पर वह मेरे उपयोगको बदल नही सके।

### केवल निज चित्स्वरूप ही जानता रहू

यदि कोई जबरन पूछे या भगवान्की ओरसे मानो कोई भी पूछे कि आखिर तुम चाहते क्या हो ? तो आवाज मिले कि मैं केवल ध्रुवचित्स्वरूप निजको जानता रहू और वह स्वरूप मुझमे स्थिर हो जाय मैं यही चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे त्रिलोकका ज्ञान भी नहीं चाहिये, अनतदर्शन भी नही चाहिये, केवल अपनेको देखता रहूँ। अनत सुखभी मुझे नही चाहिये, केवल मेरी आकुलता मिट जाय। आकुलता आत्माका स्वभाव नही। यह जैसा इसका स्वभाव है वैसा समरसरत बन जाय। अनतवीर्य भी मुझे नही चाहिये, मुझे इतने बलकी दरकार नही मुझे इतना ही बल मिले कि मैं खुद खुद मे हूँ, मग्न रहू और शुद्ध जीवास्तिकायसे नही चिगू।

अनाकांक्ष व्यक्ति प्रशस्त वा अप्रशस्त निदान न बाधकर अपने स्वरूपकी ओर उन्मुख रहता है। आजका मानव धर्म करके भी इच्छायें करने लगा, परन्तु करनेका कार्य नही किया। गलती रहित, शुद्ध चित्स्वरूपकी ओर उन्मुखता होना ही मानव जन्मका साफल्य है। वह उन्मुखता ज्ञानाभ्याससे ही सभव है। ऐसा जान ज्ञानाभ्यासका प्रयास करना लोभको ढीलाकर उदार सरल, नम्र और क्षमाशील बनना ही सन्मार्गमे लगनेका उपाय है।

## निर्विचिकित्सः ॥१०॥

निर्जराके पात्र स्वस्वरूपानुभवी सम्यग्दृष्टिको वाञ्छा भी आपत्ति दिखती है। मोहीको बाहर आपदा दिखती है, सम्यक्-ज्ञानीको भीतर। जिस कालमें, जिसे जिस विषयकी इच्छा होती है, उसे दुनियाँमे वही वस्तु सर्वोत्तम प्रतीत होने लगती है और वह उसी वस्तुमे या उसके पानेके प्रयासमे तन्मय होजाता है। अपने आपकी ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता, परन्तु, ज्ञानी अपनी सोन्मुखता से च्युत नही होता।

बाह्यमे सुख कभी भी नही होता। कोई व्यक्ति भक्तामर की आराधना करता है। देव देवियां आकर परीक्षा लेती हैं। उस समय वह उनपर लक्ष्य नही देता तो सिद्धिको प्राप्तकर लेता है। यदि उसका दृष्टिकोण बदल जाय और वह देव देवियोके उपद्रवोसे भयभीत हो जाय तो सिद्धि तो दूर रहे, दिमाक भी पागल हो जाता है। इसी प्रकार बाह्यपर दृष्टिसे आपदा ही आपदा आती है। जगतका कौन पदार्थ सुन्दर है, घडी, काच और सङ्गमरमर आदिमें जो चमचमाहट दिखती हैं, ये सब जड़ हैं। वास्तवमे इनमे न तो सुन्दरता है और न असुन्दरता। ये सब अपने स्वरूपसे ही ऐसे चल रहे हैं, न ठीक हैं, न भद्दे। जिसे हम अधिक सजाते हैं, जो सब से ज्यादा हमारे काम आता है, वह शरीर सुन्दर है क्या नही? यदि इसका कहीका भी एक थेंगरा खुल जाय तो तुरन्त मल ही मल बहने लगेगा, मलका ढेर लग जायगा। इसमे सारवस्तु कुछ भी नहीं दिखती। कही नाक, कही खून, कही मल और कही मूत्रसे भरा है। यदि इसपर चाम चादर न मढी होती तो कौआ और गीदड़ मड़राने लगते। यह महामलिन और मल मूत्रका भण्डार है, इसमे एक भी वस्तु सुन्दर नहीं।

### दिव्य शरीर भी आनन्दका साधन नहीं

कोई कहे कि देवोंके शरीरतो सुन्दर हैं, उनमें तो मलमूत्र नही होता, परन्तु वह भी तो जड होता है और जब भूख लगती है तब उसमें हीं पानीसा बहता ही होगा। मानवका शरीर मलसे बना है, मलसे भरा है और मल उत्पादक है। वह वान्छाकी वस्तु कैसे हो सकती है? सम्यग्दृष्टि किसी भी पदार्थकी

इच्छा नही करता। यदि वह तडफता है तो केवल अपने राग वा विकल्पो के पछतावामे या उत्तम हितस्थानोमे पहुचनेकी तडफमें और कोई तीसरी तडफ उसके नहीं होती। वह अन्य पदार्थकी चाह या इच्छा क्या रखेगा। पर या बाह्य पदार्थोंके झुकावमें बडी तड़फ रहती है और यह झुकाव मोहसे ही होता है, मोह का त्याग यर्थार्थ ज्ञानसे होता है। इसलिये ज्ञानार्जनका प्रयत्न करना चाहिये।

### तृष्णा व धर्मभाव साथ नहीं रह सकते

धन सचयके हेतु मानव कितना प्रयास करता है? कजूस पुरुष लखपति होजानेपर भी वह अपनेको भले ही चाहे जैसा समझता रहे, पर औरोंकी दृष्टिमे बनिया कहलाता है। पहिले जमानेमे प्राय जैन क्षत्रीय ही थे। आजके जैनियों मे भी यदि भली भाति ऐतिहासिक अन्वेषण किया जाय तो सबसे ज्यादा क्षत्रीय साबित होंगे, उनसे कम ब्रह्मण और उनसे कम वैश्य। शूद्र भी अवश्य कुछ निकलेंगे, किन्तु इसका अदाज नही कौन होंगे? वे क्षत्रियादि अपनी कर्तव्यविहीनता या स्वरूपके बोधका अभाव होने से केवल धन सग्रहमे रत होनेके कारण बनिया कहलाने लगे। जिसपर धनकी तृष्णाका भूत सवार है, उसके धर्मकी कथा ही क्या? क्योंकि धर्म और तृष्णाका परस्पर महान् विरोध है। जहाँ तृष्णा है वहाँ धर्म हो ही नहीं सकता।

तृष्णाका बचाव तभी हो सकता है जबकि वस्तुके यथार्थस्वरूपका बोध हो जाय। उसके होनेपर अनुराग कुछ होता भी हो, वह हानिकर नही होती। राग विरोध तो चारित्र मोहनीयका कार्य है, वह समय पाकर स्वयमेव नष्ट हो जाता है और सम्यक्त्वमे बाधक नही होता, परन्तु वस्तुस्वरूपका अवगम तो हो जाय कि मैं जुदा हूँ और ये जुदे हैं, ये मेरे हितमे साधक या बाधक नहीं हो सकते, जीवका शरण एक ज्ञान ही है, बाह्यवस्तु नही।

### सम्यग्दृष्टि विचिकित्सा या ग्लानिरहित होता है

आत्मा रोगी है, उसे बहुतसे रोग लगे है। सबसे बड़ा रोग चाहे जिससे नाक सिकोडना है। ऐसा करनेपर अनेक व्यक्ति पिट तक जाते हैं। आगम तो यह बताता है कि सभी प्राणी चैतन्यरूप समान हैं, सभीको सम्यक्त्व पानेका

हक है। जो आज करी हालतमे है वह भी सम्यक्त्व पा सकता है। सम्यक्त्वके प्राप्त होनेपर फिर क्या यह विभावोको अगीकार करेगा ? यदि कोई बुरा कार्य करता है तो वह मोहादिककी पराधीनतावश करता है, अपनी भीतरी समझसे हरगिज नही। फिर बताओ कि गलती उसनेकी या मोहने करवाई। नाक ही यदि सिकोडना है तो मोहपर सिकोडो, निरपराध मानवपर दया करो। यह नीति चरित्तार्थ मत करो कि सबलसे न जीते तो निबलके कान मरोड़ने लगे।

## लोग अज्ञान चेष्टा ही करते हैं

ईशाको जब फासीके तख्ते पर लटकाया गया, तब वह ईश्वरसे यही प्रार्थना कर रहा था कि हे प्रभो ! मुझ शूलीपर चढानेवाले इन लोगोको क्षमा करना और इन्हे सुमति देना। वह समझता था कि मुझे शूली देनेमे ये अपराधी नही, किन्तु इनका अज्ञान ही इन्हे प्रेरित कर रहा है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिका व्यवहार दूसरेपर घृणाका नही होता। भूख आये धैर्य रखते, उसमे घबडाते नही, परन्तु आज दावा तो यह रखते हैं कि हम जैनानुयायी हैं और जरा जरासी बातोंमे आग बबूला हो उठते हैं।

अपने आपकी गलतियोसे ग्लान हो जाना भी सम्यग्दृष्टिके नही होता याने वे घबडाते नही, भूखसे भी दुखी नही होते। आजका मानव जरासी प्रतिकूलता आनेपर क्रोधसे आग बबूलासा हो जाता है, फिर भी वह अपनेको जैन-धर्मानुयायी समझे, यह उसका कितना अज्ञान है ?

## ज्ञानीको होनी, अनहोनीका पूरा विवेक है

उपद्रव, विकार आने होते हैं, सो आते हैं। अनहोनी कभी नही होती, अनहोनी तो हम ही करते हैं, या अनहोनेको होना हमही बनाना चाहते हैं कि वाह्य पदार्थ हमारे हो जायें, मानव का दुखी होना अनहोनेको होना बनानेमे ही है।

त्रिकाल या त्रिलोकमें मेरेसे भिन्न कोई भी पदार्थ मेरा नही हो सकता। उनमे राग व आसक्ति कर मैं पातकी बन रहा हूं, पर वे मेरे हो नही हो सकते। मैं बडा सुखी हूं, श्रेष्ठ वातावरण है, परिवार भी पर्याप्त है—यह सोच सोच

कर हम बहुत प्रसन्न होते हैं, परन्तु तू जिन बाह्योंमें रमता है ये तेरे नहीं हो सकते।

## स्वमें स्थिति ही सम्पत्ति है

जो स्वमें च्युत होकर बाह्यमें रमता है, उसके सामने बड़ी विपदा है। ज्ञानी होनेपर सीताको रामसे मोह नहीं रहा, रामको भी सीतासे मोह नहीं रहा। सीताका जीव प्रतीन्द्र होकर वनमें रामके निकट आया और देवाङ्गना बनकर साधुरामको लुभानेका प्रयत्न किया, परन्तु वे मोहित नहीं हुये। सुकोशल की माता का मोह नहीं रहा, कीर्तिधरका भी मोह नहीं रहा। ज्ञानकी परिणति अपूर्व है, उससे ही मोह तथा दुःखका नाश होता है। ज्ञानको पानेके लिये घर कार्योंसे कुछ समय बचाना चाहिये, सत्समागम करना चाहिये और वहाँ रहना चाहिये, जहाँ ज्ञान व वैराग्यमें बढ़नेकी खुराक मिलती रहे। सुन्दर समागम, प्रशंसा वचन व विश्राममें तो जीव अनादिसे वर्तता या रमता आ रहा है और उसीके फलसे ही अनेक कष्ट सहता है। दुनियाके प्राणी आज जो खोटे उपयोग कर रहे हैं उनके परिणाम छिपे नहीं हैं।

ज्ञानार्जनके लिये कुछ सत्सङ्गवासमें रहना। चाहिये और कुछ समयके लिये घरका भी परित्याग करना चाहिये। कुछ प्रान्तोंमें ऐसी पद्धति है। कि ऐसा सुयोग मिले, किसी सत्संगके निवासमें ही अनेक विवेकी निवास करने लगते हैं, वे सोचते हैं कि प्रतिवर्ष बारह मास तो गृहस्थीके झंझटोंमें उलझे रहते, एक माह तो सत्संगमें रहें।

## ज्ञानयात्रा भी करो

जब कोई तीर्थयात्राको जाता है तो २, ३ माह प्रवासमें रहता है। वहाँ हर जगह अपने नये नये प्रोग्राम बनाता है और उन्हें करके बड़ा प्रसन्न होता है। ३ माहमें भारतके प्रायः सभी तीर्थोंकी वन्दना लेता है और जीवनमें फिर फिरसे कई बार ऐसा करता है, परन्तु वन्दनाके बीच कहीं सत् समागम मिल जाय और वहाँ वह एक मास ठहर जाय तो ज्ञान लाभ भी हो जाय, परन्तु अविवेकी मोही प्राणी ऐसा कब कर सकता है? ठीक ही है उसके प्रोग्राम तो रागके होते हैं, वह वैराग्यमें ठहरे कैसे? यदि उसकी तीर्थयात्रामें आत्म कल्याणकी

भावना होती तो वह सत्संगके प्रसंगमे ठहर सकता था।

### किसीने ज्ञानयात्रा का भी विचार किया क्या

किसी उत्तम स्थानमे जाकर ज्ञानार्जन किया जावे। दुनियामे आज जो कुछ हो रहा है वह सब राग का ढग लेकर हो रहा है। तीर्थयात्रा, दान, धर्मशाला निर्माण आदि आदि सब रागको ही लेकर हो रहे हैं। विरक्त दृष्टि या कल्याण दृष्टिसे करनेकी दिशामे और ही होती है। मूलमे यदि राग है तो उसका परिणाम दुःख ही होगा और यदि मूलमे वैराग्य है तो उसका परिणाम सुख ही होगा।

ज्ञानी ऊपर वाली चीज (पर्याय) मे रागादिक नही करता, उन्हे आते ही चला देता है। पर्यायोका स्वभाव ही जाना होता है, ज्ञानी उनमे अनुराग नही करता। जैसे सरकसमे जब किसीके पीठपर से चाक निकाला जाता है, तब वह अपना स्वास रोक लेता है, कलेजेको बडा कर लेता है, फिर उसकी पीठ परसे चाक निकल जाता है, तब वह चाक उसके शरीरको जरा भी चोट नही पहुचाता। उसी प्रकार जब जब रागादि आवें, तब तब अपने चित्तको कडा करो, उन्हे भीतर न घुसने दो, ऊपरके ऊपर निकल जाने दो। जो रागादिक को अपनेमे बसनेको स्थान देते हैं, वे बडी गलती करते हैं। कर्तव्य तो यह है कि उन्हे तुरन्त हटानेका प्रयत्न किया जाय, अपनेमे जगह तो हरगिज न दी जाय। यदि तुरन्त नही हटाया जायगा तो वे बड़ा दुःख देगे और उनका निकालना कठिन हो जायगा।

### किसीकी चेष्टासे अन्यको कुछ नहीं मिलता

दुनियामे कोई किसीका कुछ नही लगता। यदि किसीपर राग है तो वह स्वार्थ बुद्धिसे ही है, वाह्य वस्तुमे मोह व्यर्थ है। वाह्य पदार्थ त्रिकाल और त्रिलोकमे कभी न अपना हुआ न होगा, उसके प्रति इतना आकर्षण, खुदकी बडी कमजोरी है।

### जिसमें राग है, उसमें घृणा कैसे

सम्यग्दृष्टि न किसीसे राग करता है, न द्वेष- वाह्य पदार्थपर भुकाव बडी परेशानी है। विचिकित्सा, घृणा और आसक्ति बेइलाज है, सम्यग्दृष्टि बिना

बेइलाज रहता है। वह वाह्य पदार्थोमे ग्लानि नही करता, अपवित्र मल मूत्रादि से भी घृणा नही करता।

माताको अपने पुत्रसे तीव्र राग होता है तो वह उसके मल मूत्रादिसे भी ग्लानि नही करती, नाक सिकोडे विना ही उसे साफ कर देती है। उसी प्रकार जिसे धर्मात्मा या रत्नत्रय गुणमे अनुराग है। या जो रत्नत्रयके आधारोंको सेवा मे रहता है। उसे उनकी सेवामे ग्लानि नही होती।

धर्मीको धर्मीकी सेवामे ग्लानिकी तो वात ही क्या ? उसके, दूसरेके विभाव परिणमनो या पर्यायोमे भी घृणा नही होगी। ग्लानि मोहके उदयसे ही होती है ? मानव अपनी बुद्धिसे घृणा नहीं करना चाहता। ऐसी हालतमे घृणाके होने में मानवका अपराध क्या ? यदि घृणा करना है तो घृणाके उत्पादक मोहपर ही घृणा होना चाहिये। जिस व्यक्तिमें यह घृणा उत्पन्न हुई है उससे घृणा न कर, उसके उत्पाद पापमे घृणा करना चाहिये।

सुदृष्टिको जगत्के सब पदार्थ चैतन्यमय, प्रकाशमय, स्वसमान, सत्स्वरूप मालूम होते हैं। इसलिये वह किसी वस्तुके स्वभाव या निजके परभावमे विचिकित्सा नही करता। ग्लानि वस्तुके देखनेमे नही होती, उसमे विकल्प करने से ही होती है। ज्ञानीको ग्लानिके भावसे ही ग्लानि होती है, उसे किसी वाह्य पदार्थके प्रति द्वेष नही होता कि यह मुझमें क्यो आया ? विगाड करके इन्हे क्या मिल जायगा ?

### सम्यग्दृष्टि वेइलाज नही

ज्ञानी ऐसी चिकित्सा या इलाज करता है कि जिसके पानेमे एक सेकेंड भी नहीं लग सकता। एक वारके इलाजसे रोग नही मिटता तो दुबारा तिवारा इलाज किया जाता है, उसी प्रकार रागद्वेष इच्छा विकल्प, सुधार या विगाड भाव आते ही तुरन्त इलाज करना चाहिये। यदि ये तुरत न मिटें तो पुन पुन मिटानेका प्रयास करते रहना चाहिये।

(आत्मामें सुधार व विगाडकी अवनायें आती हैं) कोई अविवेकी रोगी दवा का सेवन करे और यह सोचे कि आठ दिन हो गयें, इस-दवासे कोई लाभ नहीं हुआ। हमें अव दवा नहीं खाना, पथ्य करते भी बहुत दिन हो गये, अब हमसें

नही होता, जो होना होगा सो होगा। इस प्रकार मनसे विवश हुये रोगीका रोग कुपथ्यमे जानेसे बढ जाता है और मृत्यु तक हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञान होनेके बाद भी यदि शिथिल हो गया और बिचारे राग या विभाव कई बार तो हटाये, ये फिर फिरसे आजाते हैं। बाह्यका त्याग करते करते बहुत दिन हो गये, इनमें झुकाव फिरसे हो जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्वको ओरसे जरासा चित्त फिरा तो अर्द्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण ससारमे घूमना पडता है और ग्यारहवे गुणस्थानसे गिरकर मिथ्यात्व तकमें आ जाता है। थोडी सी गलतीका इतना दुष्परिणाम होता है कि अनेक भवो तक संसारमे भ्रमण करता है। इस लिये विवेकीको ऐसी सावधानी रखना चाहिये कि जरा भी गलती न होने पावे।

### जो घृणाशील नहीं, उसके आनन्द ही वर्तता है

वास्तविक निर्विचिकित्सा उद्दायनके थी। उसके इस गुणकी प्रशसा इन्द्रकी सभामे होती थी। एक बार एक देवने परीक्षा ली। साधु बनकर आहारको आया और बहुत आहारकर वमन कर दिया। उद्दायन ने एक दो तीन बार उसे साफ किया, तनिक भी घृणा नही की। तब देवने असली भेष प्रगटकर उद्दायन की बहुत प्रशसाकी और कहा कि हे राजन तुम्हारे जैसे परिणामोके लिये देव तरसते हैं, भले ही कल्प लोकका अविवेकी मानव, स्वर्ग सम्पदाकी कामना करे, परन्तु ज्ञानी देवगण तो मानव पर्याय पानेके लिये ही तरसा करते हैं— जो परकी ग्लानिसे रहित स्वभाव दृष्टि रखते हैं वे धन्य है, वे ही अपने कल्याणमे लग रहे हैं। ऐसोकी सगतिके लिये देव और मानव सभी तरसते हैं, जिसे अपने आपका बोध हो जाता है, वह अपने आनदमे सतत मग्न रहता है।

### आनद चल रहा है, मत टोको

नीदके आराममे मस्त मानवको जब कोई उठाना चाहता है तो वह कहता है—अभी मत उठाओ, मैं अभी आनदमे लीन हूँ। उसी प्रकार सम्यक्त्वी जब अपने आपका आराम पारहा हो तब कोई झटपट या ध्यान उसे उस आनंदसे हटानेका कारण बनता है तब उसका आत्मा कहता है कि मुझे मत हटाओ, मैं अपना आनद ले रहा हू। स्वभावसे हटना बेइलाज है, उसीका नाम विचिकित्सा है। वह

सम्यग्दृष्टिके नही होती।

दुनियाके सारे झगडे छोटे वडेके भेदसे ही होते हैं। ससारके समस्त प्राणी समान शक्तिमान हैं, शक्तिका विकास हुये छोटा भी वडा कहा जाता और शक्ति का अविकास हुए वडा भी छोटा कहा जा सकता है। छोटे ग्रोर वडेका वास्तविक निर्णय यहा नही होता, वह मरनेके वाद ही होता है। जो यहाँ वास्तविक वडा था वह मरनेके वाद भी वडा वनेगा और जो यहाँ वडा वना फिरता है, वह मरनेके वाद जानेगा कि मैं वडा था या छोटा। अरे इतनी भी तो खवर न रहेगी ऐसा छोटा वन जावेगा। कोई वडा वननेसे वडा नही वनता, वडा तो अपने कर्तव्योंसे वनता है। अपनेमे इस वडेपनकी दृष्टि ही अपनी लघुताकी सूचक है जिसमे सत्पथ का अवलम्वन या निर्विकल्पता नही होती ऐसा भाव ही निज की लघुताका द्योतक है। घृणाकी जड छोटे वडेका भाव ही है, अपने आप कोई छोटा नही वनना चाहता, परन्तु छोटे वडेका निर्णय मृत्युके वाद हुई सुगति या दुर्गतिके सिवाय अन्य कोई नही कर सकता।

मनुष्य तो पशुवोंसे बडा है -

स्वरूपाचरण चारित्र सिंहो, वानरो, नेवलो, गवो, सूकरोंके भी हो जाता है और उसके कारण वे वडे कहे जा सकते हैं, परन्तु वह जिसके नही होता ऐसा मानव लौकिक स्थिति चाहे जितनी वनाकर क्यो न रहे, वह महत्त्व नही पाता। उन क्षुद्र तिर्यंचोंकी सुगति हो जाती और इसकी सुगति नही होती।

व्यर्थकी कल्पनाओंके जमानेसे लाभ नही होता। परपदार्थोंमे परिणतिकारक मोहके कारण रागसे आत्मा कलुषित होती है, यह मानव की वडी विपत्ति है। इसलिये ज्ञानीको यही कामना रहना चाहिये कि मेरा राग कव हट जाय? परन्तु मानव को इस ओर तो दृष्टि नही किन्तु दुनियांके रागद्वेष मोह इत्यादिमें इतराता चल रहा है। उसे इस वातका वोध नही होता कि इस इतराहटसे हमारे पर विपदाओंका पहाड टूटेगा।

विचिकित्सा हित रूप नही। इसलिये जगत्का व्यवहार जैसा वने वनता रहे, अपने आपको समस्त विकल्पोंसे हटाकर अपने आपमे लीन होना ही श्रेयस्कर है, इसीका नाम निर्विचिकित्सत्व है और यह सम्यग्दृष्टिका महान् वल है।

### अमूढदृष्टि अङ्ग

निर्जराका पात्र सम्यग्दृष्टि मोह व अज्ञानसे रहित होता है। वह आत्माके स्वरूपमे या अन्य तत्वोके स्वरूपमे मूढता रहित होता है। ये अग न रहें पर सम्यक्त्व बना रहे, ऐसी बात हो नही सकती। निश्चय और व्यवहारके भेदसे अग दो प्रकारके होते हैं। निश्चयके अगोकी सम्यक्त्वके साथ एकता रहती है भेद नहीं परन्तु पालनकी अपेक्षासे अगो और सम्यक्त्वमें भेदमे भेद दृष्टि हो जाती है। इसलिये अगोका वर्णन भेददृष्टिसे ही हो सकता है। आत्मा चैतन्य-मय है, शरीर उससे अत्यंताभाववान् है, शरीरका द्रव्य क्षेत्र काल भाव शरीरमे समवेत है और आत्माका आत्मासे, आत्माका शरीर नही और शरीरका आत्मा नही। शरीरका अधिकार शरीर पर होता है और आत्माका आत्मापर ही।

## अमूढः ॥११॥

जिनसे मुझे विकल्पोमे पडना पडा, मैं बोलनेवाला या सुनने वाला कहलाया, वे सब मेरे विकल्प या परिणमन अस्थायी हैं आते हैं और चले जाते हैं। जो आकर चले गये उनमे मुझे क्या मिला ? जो वर्तमान हैं उनसे भी क्या मिल रहा है और जो आगे होगे उनसे भी क्या मिलेगा ? मोहियोको जिनकी सदा धुन लगी रहती है, सम्यग्दृष्टि उन प्रतीतियोसे भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप रूप-भावो की प्रतीति करता है।

आत्माको दूसरा कोई बनाता है। यह भी मोह है, आत्मा भी न किसीको बनाता है न किसोसे बनता है। अनादिसे चला आ रहा है और चला जायगा। इसका कोई कर्ता नही और यह सबसे प्रथक् स्वभाव वाला अनन्तशक्तिवान् है।

ये शक्तिया आत्मासे सर्वथा प्रथक् नही, तथा शक्तियाँ और आत्मा सर्वथा एक भी नही। यदि आत्मासे शक्तियाँ सर्वथा जुदी होती तो उनके द्वारा आत्मा मे कुछ भी परिणमन नहीं हो सकता। यदि आत्मा और शक्ति सर्वथा एक मानेजांय तो ये दो में से किसी एक रूप बन जायगे, तब शक्ति व शक्तिवान्का अनन्तर भी नही बनेगा। इसलिये आत्मा शक्तिसे रहित होकर भी शक्तिशाली है। आत्मा इन सब समस्याओको सुलझानेमें अमूढ रहता है। इन शक्तियोको

समस्या हल न होने से दुनियाँमे मत प्रचलित हो गये, परन्तु स्याद्वादने उन सभी समस्याओंका हल किया ।

## मोह दूर हुआ, फिर चिन्ता क्या ?

कितने ही लोग उपदेशादि द्वारा इस परमतत्त्वको वात समझ जाय, पर वे बोल नही सकते । परमतत्त्वको तो तिर्यंच भी जान जाते हैं पर वे बोल नही सकते । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिभी उस परमतत्त्वको बता सके या नही, किन्तु वह स्वतत्त्वके विषयमे अमूढ रहता है तथा देवशास्त्र गुरुके विषयमे भी अमूढ रहता है ।

जिसका परिणमन, स्वसे मिल जाता है, वह देव कहलाता है । जिसका परिणमन स्वभावसे नही मिलता वह देव नही कहलाता । हर व्यक्तिको अपना अन्दाज लगाना चाहिये कि हमारा परिणमन स्वके अनुकूल चल रहा है या विरुद्ध । जहाँ स्वभाव और पर्याय दोनोकी समता है वह देव है ।

## जहाँ पर्याय व स्वभावका मेल हो जाता है वही परमात्मा है

भगवान् अपने केवल दर्शन ज्ञान, सुख और शातिसे स्वभावमें घुल जात है । जैसे हम यहाँ छटनी कर लेते हैं कि हमारेमे शक्ति तो अनत है, मर थोडी रह गई । वैसे वहा तो पूर्णतामे भी कुछ भेद नजर नही आता । यदि कोई कहे भगवान्मे क्या शक्ति होगी ? बोलते भी हैं नही, गुमसुम रहते हैं । शक्ति तो हम मल्लारियोमे देखो—जो दो दो तीन तीन मनके पत्थरको गेंदकी भाँति अनायास उठा लेते हैं, परन्तु अज्ञानीजन अन्यगुणोमे घुल मिल गये उनकी अनतशक्तिको कैसे जान सकते हैं ? उनके गुणोंकी छटनी या पार्थक्य हो सकना सभव नही । जो ज्ञानी भगवानके स्वभाव या उसके परिणमनकी एकताको जाननेका प्रयास करता है, वह भी उपयोगमे भगवद्रूप ही हो जाता है, फिर उसे भगवानके स्वभाव या उनके परिणमनको जाननेकी ही आवश्यकता नही रहती । ज्ञानी जो चीज है उसको जान जाता है, परन्तु उनके उसमे यह लघु है, यह महान् है इत्यादि विकल्प और कल्पनायें नही होती, परन्तु इन कल्पनाओमे पडा अज्ञानी भगवानकी जाननशक्तिको जान नहीं सकता ।

### देवशास्त्र गुरुकी आवश्यकता

केवलीका ज्ञान क्रमिक नही होता। हर एक वस्तुकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें उसमे एक साथ वर्तमानकी सी झलक करती हैं। यह ऐसा नही होता कि पदार्थकी जो पर्याय कभी भूत थी, वह आज उनके ज्ञानमे वर्तमान जैसी दिखे या पदार्थकी आज जो वर्तमान पर्याय है वह आगे भूत होजायगी। इस प्रकारका क्रम उनके ज्ञानमें संभव नही। यद्यपि रूढिवश यह कल्पना जरूरकी जाती है, परन्तु सिद्धान्तके गहरे अध्ययनसे यह निर्णीत हो जाता है कि केवलीके ज्ञानमे क्रम व आगा पीछा नही होता।

### सत् शास्त्र कैसे होते हैं

शास्त्रका लक्षण, जो स्वभाव या पर्यायकी समता वननेका उपाय दिखलाता है अथवा जिसके द्वारा देव बननेका उपाय मालूम पडता है अथवा जिन अक्षरो के वाचनसे देवत्वका उपाय विदित होता है, उन्हे शास्त्र कहते हैं। किन्तु जो विषय कषायको पोषनेकी बात सिखाता है अथवा ऊटपटांग चरित्रोको दिखाकर यह भी नही बतावे कि चारित्रनायक सुगति या दुर्गतिको गया, वह सच्चा शास्त्र नहीं। इन दो संकेतो को करणीके अनुसार नही बतानेवाला शास्त्र, शास्त्र नही। जो वाचकको विषय कषायोके निकट छोड देता है, वह उपन्यास कहलाता है।

### सद्गुरु कैसे होते हैं

गुरु—वह आत्मा जो निजज्ञायकस्वरूप ध्रुव अनादि अनन्त चैतन्यमय, अपने अपनेको बहुधा अनुभव करता है वह सुगुरु कहलाता है। जिसका परिणाम शान्त हो जाता है और जो विकल्प विषमता पैदा करते थे, वे छूट जायें ऐसी निर्विकल्पता समाधिकी ओर जिसका उपयोग होता है उसे गुरु कहते हैं। ऐसी पात्रता जिनमे होती है वे सर्वपरिग्रहरहित होते हैं।

सम्यग्दृष्टि देव शास्त्र गुरुके सम्बन्धमे जरा भी मोहका पात्र नही होता। जो आत्मा यो तत्त्वोका या देव शास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान करता है, वह श्रद्धावान या सम्यग्दृष्टि कहलाता है। इसलिये जिनागममे सबसे पहिले इन्हीं का बोध कराया जाता है।

**व्यवहारमें भी पूर्ण व पूर्णदेशना व उपलब्ध नेताकी आवश्यकता रहती है**

रोजगार सम्बन्धी देव शास्त्र गुरुको जाने बिना रोजगार नही होता। यदि कोई कुछ पढना चाहता है तो उसके लिये शिक्षा सम्बन्धी देवशास्त्र गुरुका जानना आवश्यक होता है। जो सगीत सीखना चाहता है उसे सगीत सम्बन्धी देवशास्त्र गुरुका जानना आवश्यक होता है। इसी प्रकार अन्यान्य कार्योंके विषयमें भी तत्सम्बन्धी देवशास्त्र गुरुका जानना आवश्यक होता है।

रोजगारका देव वह है, जो दुनियामें प्रथम या प्रमुख व्यवसायी माना जाता है। रोकड खाता, वही आदि रोजगारके शास्त्र हैं। मित्रवर्ग और सलाहकार आदि रोजगारके गुरु हैं। इनके सपर्क या ज्ञान बिना रोजगार व्यवस्थित नहीं चल सकता। इसी प्रकार हरऐक कार्यमें समझना चाहिये।

मोक्ष प्राप्ति जैसा उत्तम कार्य भी मोक्ष, मोक्षमार्गके देवशास्त्र गुरुके ज्ञान बिना नही बन सकता। देव वह है जो जैसा मोक्षेच्छुको बनना है वैसा ही उपदेश करे। शास्त्र मार्गप्रदर्शक हैं, शास्त्र मोक्षमार्गोपदेशक जिनवाणी है और मार्ग प्रदर्शक गुरु है—इन तीनोके ज्ञान बिना मोक्ष मार्ग नही मिलता।

**ज्ञानीके उलझन नहीं रहती**

जिसे जो घटना अच्छी तरह याद होती है उसे अलकारसे काकुसे या प्रश्नसे किसी भी रूपसे पूछो वह उसके विषयमे पूर्ण उत्तर देता है। इसी प्रकार विवेकी (ज्ञानी) किसो भी परिस्थितिमे रहता हो, या उसके सामने कैसी ही समस्यायें आती हों, परन्तु वह अपने आन्तरिक लक्ष्यसे च्युत नही होता।

गुरु आज्ञासे समन्तभद्रने व्रत छोड दिया और व्याधिशमनके अर्थ किसी देवमूर्तिका भोग खाने उडाने लगे, परन्तु विपदामे फसनेपर भी उनकी आन्तरिक श्रद्धा समाप्त नही हुई, परन्तु आजके जमानेमे तो वाह्य प्रवृत्तिमे तनिक भी गडबडी नजर आई, फौरन ही आन्तरिक श्रद्धाका खातमा आका जाने लगता है। समन्तभद्रकी आन्तरिक श्रद्धाका चमत्कार देखो, अन्तिम दिनमे एक दिन पहिले राजाने पूछा कि अब नैवेद्य बचने क्यो लगा ? समन्तभद्र बोले—उत्तमोत्तम माल खाकर अब भगवान अफर गये। राजाने कहा—तूने बडा अन्याय किया। कल तुझे

भरी सभामें इस भगवान्को नमस्कार करना पडेगा अन्यथा कालके ग्राम बनाए जाओगे। पहरा बिठा दिया कि समन्तभद्र कही भाग न जाय।

## आन्तरिक श्रद्धाका प्रभाव

रात्रिमें समन्तभद्रने 'स्वयम्भूस्तोत्र' रचना शुरु किया। एक देवी आई, कह गई कि धर्मकी विजय होगी। सभा भरी राजाको डर लगा कि यह तपस्वी महात्मा ज्ञात होता है। किसी प्रयोगसे मूर्तिको न फाड दे या मन्त्रादिकसे अदृश्य न कर दे। इससे मूर्ति साकलोंसे कस दी गई। अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का स्तवन प्रारम्भ होते ही शिवपिण्डी फट पडी और उसके बीचसे चमचमाता हुआ अष्टम तीर्थंकरका प्रतिबिम्ब निकल पडा। समन्तभद्रने उसे सविनय नमस्कार किया। सारी सभा श्री भगवान् चन्द्रप्रभुजी और समन्तभद्रका जय जयकार करने लगी। आन्तरिक अगाध श्रद्धाका समन्तभद्रको कितना सुस्वादु फल मिला।

श्रद्धा होते हुये भी चारित्र मोह कितनी विडम्बनायें करा सकता है। राम अगाध श्रद्धावान् थे, परन्तु चारित्र मोहवश छह मास लक्ष्मणके मृतशरीरको पीठपर लादे फिरे। क्यों भैया! उनसे तो आप ही अच्छे हैं कि प्यारेसे भी प्यारे के मरनेपर उसके मृतक देहको अग्निसात् करनेसे नही रोकते।

## बाह्य चेष्टासे आन्तरिक भावका ठीक मान नहीं होता

छोटा किसीको चाँटा मारने चले तो उसे अपनेमे क्रोध भरना पड़ेगा, तब कही यह किसीको एक चाटा मारनेमें समर्थ हो सकेगा, परन्तु बडा साधारण क्रोध किये चार छै. तमाचे मार सकता है। यहाँ यद्यपि बडेने दृश्य गलती अधिक की, परन्तु उसका क्रोध छोटेकी अपेक्षा कम रहा। इस दृष्टात से यह विदित होता है कि बाह्य चेष्टासे आन्तरिक भावका यथार्थ अनुमान नही लगाया जा सकता।

जैन धर्मके साहित्यमे भी ऐसे ऐसे अमोलरत्न भरे पडे हैं, परन्तु वे अभागो को नसीब नहीं होते। जिनागमके न्याय व्याकरण अलकार आदिको देखो और उनका सदुपयोग करो। केवल अपना संसारही लम्बा मत बनाते रहो। स्वयम्भूस्तोत्र है तो एक छोटासा स्तोत्र, परन्तु उसमें भक्ति और सिद्धान्तका भारी समावेश है।

श्री आचार्य समन्तभद्रजीके स्वयंभूस्तोत्रका एक पद्य ही सुन लो—
स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा। तृषोऽनुषंगान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः॥ यह सुपार्श्वनाथ स्वामीकी स्तुतिमे कहा गया है।

अर्थ—वास्तविक स्वास्थ्य अपने आपमे ठहर जाना ही है। कोई कहे कि स्वास्थ्य तो शरीरकी तन्दुरुस्ती या मैवामि है, परन्तु शरीर तो पर है, उसकी स्वस्थता पर दृष्टि गई, स्वास्थ्य रहा या पारस्थ्य बन गये, सदा अपने आपमे ठहर जाना ही स्वास्थ्य है। भोग स्वास्थ्य नही, वे तो पारस्थ्य हैं और उनमे पारस्थ्य क्षणिकपनेके कारण है। क्षणिक भोग स्वास्थ्यप्रद कैसे हो सकते हैं? कोई कहे कि क्षणिक ही सही, कुछ समयके लिये मिल तो जायं, उतने समय ही मजा आजायगा। उत्तर मिलता है कि नही, यह बात भी नही, क्योकि जितनी देर भोगका समागम है उतनी देर तृष्णाका संग है। कोई कहे तृष्णा भी रहे फिर भी मिल तो जाय तो उत्तर मिलता है—जब तक तृष्णाका योग है तब तक सन्तापकी शांति नही हो सकती। ऐसा प्रभो आपने ही तो बताया है।

आगे वे दूसरा श्लोक कहते हैं कि अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं। बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥

हे प्रभो! तुमही ने तो ऐसी बात बताई है कि जड शरीर अजड आत्माके द्वारा नेय है, जैसे जड मोटर अजड ड्राईवरके द्वारा चलाई जाती है। शरीर भयानक है, खूब सजधजकर आये। आनेपर सुन्दर प्रतीत मालूम होता है, परन्तु सोते से आनेपर जब आंख नाक मुंह अपने मलसे भिडे हो तब देखो वह सुन्दरता कहां विला जाती है? जवानीमे जो सुन्दरता रहती वह वृद्धत्वमे नहीं रहती।

कोई कहे कि पर (शरीर) तो भयानक रहे, परंतु उसमे रहने वाले हमें तो भयानक नही, हमें उसमे रमने दो। उत्तर— भयानक ही नहीं शरीर अपवित्र भी है। प्रश्न— हम अपवित्रमे ही रहे आवेगे रहने तो दो। उत्तर— शरीरमें अपवित्रता मात्र नही, वह क्षयवान् (नश्वर) भी है। प्रश्न—क्षयी भी रहे, रहने

तो दो। उत्तर—इतना ही नही शरीर सत्ताप करता भी है। ऐसे इस शरीरमें हित मानना व्यर्थ है।

### ज्योति प्रकट हुई वहां अधकार नहीं

सम्यग्दृष्टी किसी भी परिस्थितिमे मूढ नहीं बनता। आपका आत्मा नजर रहते वह बडा भाग्यवान् और वैभवशाली रहता है। दुनियांके उत्तमोत्तम वैभव वृथा हैं। यदि एक आत्मरुचि पाई तो सब पाया। नही पाई तो कुछ नही पाया।

सामाजिक और राष्ट्रीय कार्योंकी धुन भी तृष्णा ही है, परन्तु जब आत्म रुचि जागृत करते हुये नही बनता तब अन्यान्य कार्योंमे धुन सवार होती है। वे ही सत्य या कर्तव्य बन गये, तुम्हारी इच्छा है करो, परका विकल्प मानकर अपनेको दु.खी बनाते रहो। जैसे मानव नीचेसे जीना पार कर ऊपर आता है, उसका लक्ष्य केवल ऊपर आना होता है, जीनेकी सीढियोपर न तो उसकी दृष्टि होती न सख्या ही विदित होती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य आत्म रुचिकी ओर ही रहता है परकी ओर नही, परन्तु जैसे कोई ऐबी ऊपरसे नीचे जानेका विशेष लक्ष्य न कर केवल सीढियोके गिननेमे मस्त रहता है, उसी प्रकार मोही स्वकी दृष्टिमे तो लक्ष्य नही देता, परन्तु विकृत परिणमनोको अपनाना, या उनपर लक्ष्य देना ही अपना कर्तव्य समझता है।

### उपगूहन अंगका वर्णन

निर्जराका पात्र परमार्थ तत्त्वदृष्टा, सम्यग्दृष्टि महात्मा उपगूहक होता है।

## उपगूहकः ॥१२॥

उपगूहनका अर्थ छिपाना है, अर्थात् अपने गुणोको और दूसरेके अवगुणो को छिपाना उपगूहन कहलाता है। अपनेमे आयें गुणोके प्रगटता की भावना मलीनताके विना नही होती। मुझमे जो गुण है उन्हे दुनियामे प्रगट करू ऐसी भावना, राग या मोहके होनेपर ही होती है। दुनिया हमें जाने, यह भाव आना उत्तम नही। जिसके यह भाव आता है वह मोक्षमार्गमे नही चल सकता। दुनिया मुझे माने और मेरा अदब करे, इस भाव बिना गुणोका प्रकाशन नही

होता। अपने गुणोके प्रकाशनसे उनकी वृद्धि या अपने उत्साहमे कमी होने लगती है। जो अपने आप गुणोका प्रकाशन करना चाहता है, समझना चाहिये कि वे गुण उस रूप उसमे है ही नही। जो गुणी होगा, वह अपने गुणोको कभी प्रगट नहीं करेगा।

जो किसीका सच्चा मित्र या हितैषी होता है वह अपनी हितैषिता अपने मित्रके प्रति कभी, भी प्रगट नही करता कि मैं तुम्हारा हितैषी हूँ। कुछ मित्र ऐसे होते हैं कि जो अपने व्यवहार या आलकारिक रूपसे मित्रके प्रति अपनी मित्रता व्यक्त किया करते हैं। प्रथम तो मित्रता प्रगट किये विना वास्तविक हितकर्ता है दूसरा विविध तरीको से प्रगट कर करके मित्रताके कार्य करता है, परन्तु जब उपकार्य मित्रको अव्यक्त मित्रकी हितकारिता विदित होती है तब वह विशेष प्रसन्न होता है कि मेरा आन्तरिक हितैषी यही है। यदि ऐसा न होता तो यह विना प्रकाशन किये मेरा हितकार्य कैसे करता ?

किसी धर्मात्माके गुण वाहर प्रगट नही दिखते, पर भीतर समता, वात्सल्य, अपने कामकी धुन और आत्महितकी वाछा आदि मौजूद रहते हैं और कोई धर्मात्मा ऐसा होता है कि अपने छोटेसे भी गुणका जगह जगह प्रकाशन करता फिरता है। उन दोनोमे प्रथम धर्मात्माकी गहराई व अच्छाई जब आपको विदित होगी, तब आप इतने गद्गद् न होगे ? जिस धर्मात्माके गुण जाहिर नही होते और वे उसमे बने रहते हैं और वह अपने कल्याणकी धुनमे मग्न रहता है तो स्व और पर दोनोको लाभ पहुचाता है। जो उपगूहक नहीं होता, कभी कभी उसकी बुरी तरहसे कलई खुल जाती है।

### स्वप्रशसकमें पोल ही समझें

एक सेठके दो ही लडके थे और दोनो ही तोतले थे। वयस्क हो गये। सगाई की चर्चायें चली, नाई आया, पिताको चिन्ता हुई कि ऐसा न हो कि कही नाई को इनके तोतलेपनका बोध होजाय और विना सगाई किये चला जाय। उसने लडकोको समझा दिया कि जब तक नाई न चला जाय तब तक मु हसे कुछ भी नही वोलना। सगाईका दस्तूर होने लगा। दोनो लडके अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण पहिनाकर पचोंके बीच उच्चासनपर वैठा दिये गये। नाई भी पास ही जा बैठा।

वह निकट बैठे परिचितोंसे कहने लगा कि देखो कैसे सुन्दर बालक हैं। यह सुनते ही छोटे बालकसे नही रहा गया। वह बोल उठा—ऊं अबैं चण्डन मण्डन टी लगो नइयां। यह सुन तुरन्त दूसरा बोल उठा कि—हूँ डङ्गानेका कईती। यह सुनते ही नाई तुरंत समझ गया कि ये लडके बहुत तोतले हैं। उसने उस समय होती हुई सगाईमे टाल मटूल कर दिया। इसी प्रकार जो अपने आप अपने गुणोके प्रकाशनकी चाह करता है उसकी कलई खुल जाती है। स्वयं गुणो के प्रकाशनसे लाभ क्या? क्या कोई उन्हे बढा देगा या उनमे कुछ पुजो देगा?

सम्यग्दृष्टि अपने गुणोको क्या प्रगट करे, उसे तो अपनेमे शेष रहे अवगुणो के पछतावा से ही फुरसत नही मिलती। अपने गुणोका प्रगट करना बडोकी पद्धति नही। जिन्होने अपने आपका मार्ग नहीं समझा, वे ही लोग दूसरोको जाहिर करनेके लिये दूसरोकी अपने तनसे सेवा करते। सेवा करनेकी भावना दरसाते और अनुकूलताकी बोली बोलते कि ये हमारा गुण जान जाये। कुछ लोग अपने धनका खर्च भी दुनियाके या और के काममे इसीलिये करते हैं कि दुनिया हमे जान जाय, परन्तु दुनिया हमे समझ जाय इस भावनासे किया गया बडेसे बडा खर्च भी व्यर्थ है। इसके विरुद्ध गुप्त सेवा बडी ही आदरणीय है कि अनेकोका दुःख दूर करा दें पर ज्ञात भी न हो कि किसने कराया है? सम्यग्दृष्टि अपने तन मन धनका प्रायः ऐसे ही जैसे व धर्म कार्यके लिये गुप्त उपयोग करता है।

कभी कभी अन्यका दुःख मेटनेके लिये अपने गुण प्रगट करना पडते हैं? कि जिसके प्रभावसे दूसरे दब जाय या प्रभावाक्रान्त होजायें, परन्तु यदि स्वय शान्त रहा जाय वा दूसरोके मामलेमे अधिक नही पडा जाय। इन दोनोसे जो वातावरण बनता है, उससे दूसरेका दुःख अपने आप मिट जाता है। परके वातावरण से विह्वल होकर निज गुणोका प्रकाशन करना लाभप्रद नही होता, भले ही अपनेको कष्ट हो जाय, परन्तु अपने बडप्पनकी बात अपने मुखसे कभी नही कहना चाहिये। यह विचार मत करो कि हमारे गुण प्रकाशनका अच्छा असर हो जायगा। गुण प्रकाशन बिना अन्य तरीकेसे अन्यपर असर डालनेका प्रयास करना चाहिये। यदि असर पड़ जाय तो अच्छा न पड़े तो न सही।

## आत्मपतन ही हिंसा है

प्रश्न—दुनियामे पैर वगैरहके नीचे चीटी दबनेसे हिंसा मानी जाती है, किन्तु बाह्य शरीरके दबनेसे हिंसा कैसे होती होगी ? हिंसा तो भावोकी मलिनता हुये ही संभव है। यह भी कहा जाता है कि जो दब कुचलकर मरता है उसकी दुर्गति होती है, परन्तु दब कुचलकरके मरनेमे उसने स्वयं तो कोई अपराध किया नही, फिर वह दुर्गतिका पात्र क्यो माना जाय ?

उत्तर—उत्तम भोजन प्राप्त कर लेना, विषय सामग्री जुटा देना, वास्तविक उन्नतिके काम नही, परन्तु आत्माकी उत्तरोत्तर विशुद्धि ही वास्तविक उन्नति है। जगत्के जीवोका कर्तव्य है कि वे अपनी उत्तरोत्तर उन्नति करें। जब कोई कीड़ा मकोडा किसी अन्यके आघातसे मरता है उस समय वह प्रतिक्रियाका सामर्थ्य न होनेसे भले ही बदला न ले सके, परन्तु उसके भीतर तीव्र सक्लेश होता है और मरनेपर उस सक्लेशके कारण वह अपनी वर्तमान पर्यायसे हीन इन्द्रियोवाली हीन पर्यायमे जा पहुचता है। इस प्रकार दबकुच कर मरनेसे उसका पर्याय सम्बन्धी उत्थान या इन्द्रियो सम्बन्धी मतिज्ञानजन्य विकास रुक जाता है। इस प्रकार उसका ऐसा मरण उसकी दुर्गतिका कारण बनता है और इसी कारण उसके दब कुचलकर मरनेसे उसके शरीरका विघात हिंसा मानी जाती है।

यदि वह आघातसे नही मरता तो अपने शेष जीवनमे कुछ भावोको पवित्र करना और मरण समय भी परिणामोकी विशुद्धि करता तो वर्तमानभवसे भी उच्च भव और अधिक ज्ञान पाता। इसलिये कीडेके मर जानेसे उसका यह अहित हुआ। आघातसे हुये सक्लेशसे वह नीचोगतिको गया और मारकने उसका जीवत्व बिगाड दिया।

जैसे किसीको मरनेसे या आघात पहुँचानेसे उसे सक्लेश होता है, उसी प्रकार अव गुणके प्रकाशनसे अवगुणीको सक्लेश होता है। इस लिये किसीके अवगुण जानकर उसे प्रकाशित करना ठीक नही। अपने अवगुण प्रकाशनकी बात-जान कर, वह या तो जिद्दवस और अधिक अवगुणो की ओर बढ़ेगा, अथवा द्वेष कर प्रतिक्रिया करने को तैयार होगा।

विवेकीका कर्तव्य है कि अवगुणीको एकान्तमें शान्ति या प्रेमसे समझाये। मानजाये तो अच्छा, न माने तो विषाद न करे। यदि आपके परिणामोंमें वास्तविक निर्मलता होगी तो वह अवश्य मान जायेगा और यदि निर्मलता न होगी तो न मानेगा। मान जायेगा वह तो उसका हित होगा और यदि नही मानेगा तो वही स्वहितसे वंचित रहेगा। एक यह भी बात है कि यदि किसीको आप नही समझा सकें तो वहां अपनी ही योग्यताकी कमी आंकना चाहिये और सतोषकर आत्मकार्यमे जुट जाना चाये। सम्यग्दृष्टि अपने गुणोका प्रकाशन तो कभी नही करता, परन्तु जब उसे जनताका भय नहीं होता और अपने दोषोके निष्कासन का अभिप्राय होता है, तब वह अपने अवगुणोको अवश्य प्रगट करता है। इस पद्धतिका नाम ही जिनागममे आलोचना शब्दसे कहा गया है।

उपगूहन का नामान्तर उपबृंहण है। उपबृंहणका अर्थ बढाना होता है, सम्यग्दृष्टि अपने गुणोको बढाता है। गुणोको प्रगटकर या कहकर गुण बढाये नही जा सकते। गुणोके प्रकाशन से तो यही समझना चाहिये कि अपनेसे कुछ गुण निकालकर बाहर फेंक दिये।

दुनियामें कोई किसीका वास्तविक बन्धु मित्र या संबधी नही। ऐसी हालत में चुप रहते हुये अपना काम निकालो, किसीके समक्ष अपने गुणोके प्रकाशनसे काम नही सधता। जो अपने मुंह मियामिट्ठू बनता है उसकी उस हरकतको दुनिया सहज ही आंक लिया करती है। दुनिया मेरे बारेमे कुछ समझे तो मेरा हित हो, इस भावमे कोई तथ्य नही होता।

विवेकीका कर्तव्य है। कि वह उत्तरोत्तर अपने गुणोको बढाता चला जाय। दुनियामें मेरी प्रसिद्धि हो इस मिथ्या विकल्पमें नहीं उलझे। त्यागके पथमे भी आज पैंतरे बदलते दिखाई देते है। जिस समय गृहसे उदासी आवे, वैराग्य भावका आश्रय लिया जाता है, उस समय प्रारम्भमें उस मानवका विशुद्ध आत्म कल्याणका भाव रहता है। कुछ समय बाद भक्तोंसे सम्पर्क या सम्बन्धका जब मोह आ जाता है, तब आन्तरिक भावमें फिर गृहस्थीसी आ जाती हैं, तब फिर ठोकर खाता है, ठोकर खाकर फिर उठता है। इस प्रकार उसके जीवनमे कई उतार और चढाव होते हैं। कई ठोकरोके बाद यदि आन्तरिक विरक्ति हुई तो

फिर वह सन्मार्गमे आ जाता है। परन्तु जो यशोलिप्सा, आर्थिक स्थितिकी खराबी या कलह आदिके कारण विरक्ति जैसी दशापर आता है, अन्तमें उसकी यही दशा या स्थिति होती है जो कृत्रिम विरक्ति दशासे पूर्वमे थी।

**शांतिमार्ग, मोक्षमार्ग एक ही प्रकारका है**

भैया ! सच जानो मोक्षमार्ग तो एक ही है। सयमी हो, सयमासयमी हो; मोक्षमार्ग स्वभावावलवन ही सबका है।

यही हाल गृहस्थोंमे है। आप जिस गृहस्थोमे रहते हैं, उस ओर निगाह डाल कर मत सोचो, किन्तु इन्द्रियोका व्यापार रोक कर देखो तो चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक एक ही पद्धतिमे मोक्षमार्ग बनाया जाता है। मोक्षमार्गकी पद्धति सभी गुणस्थानोमे एकसी है, परतु प्रत्येक गुण स्थानमे जो ऐत्र शेष रहते हैं, वे मोक्ष मार्ग नही। मोक्षमार्ग स्वभाव आश्रित ही है, अगल वगलकी बातें मोक्षमार्ग नही।

केवली भगवान्, अपने अनादि अनत अहेतुक अबाध असाधारण स्वभावरूप निज ज्ञानको उपादान कारण बनाकर उस स्वभावके ऊपर प्रवेश करने वाले केवल ज्ञानके उपयोग रूप होकर स्वय परिणमते रहते हैं और चौथेगुणस्थान वाला भी अनादि अनत अहेतुक असाधारण निज ज्ञान स्वभावको कारणरूप से उपादान कर उस स्वभाव के ऊपर प्रवेश करने वाले, अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके उपयोगरूप होकर स्वय परिणमता रहता है। इस प्रकार चौथे से बारहवें गुणस्थान तक मोक्षमार्गकी पद्धति सबके एकसे होती है।

परन्तु चौथे गुणस्थान वालोको यह बाधा आ सकती है कि वह अपने इस मोक्ष मार्गके कार्य या अशको कदाचित कर पाया तो जब उसके बाह्य पदार्थ के त्यागकी ओर उपयोग हुआ कि इसके बीच उसे मुन्ना मुन्नी धन या वैभवकी याद आ जाती है, इन बाधाओके हटानेको ही पाचवें छटवें आदि गुणस्थान हैं।

उपवृंहणके हेतु अपनेमे से दीनता या लघुता का भाव हटाना चाहिये और हम यहाँ भी सब कुछ कर सकते हैं। ऐसा उत्साह का भाव लाना चाहिये, परन्तु ऐसा भाव कोई नही बढाता। आप भी उतने ही विशुद्ध हैं, जितने मुक्तिको प्राप्त

हुये अन्य महापुरुष थे। यदि आपके भी भाव बढ जाय तो घरसे छुटकारा हो सकता है।

आनन्द मानते हुये घर छोडनेसे सुख मिलता है, परन्तु जो छोडनेमे कष्टका अनुभव करता हुआ घर छोडता है, उसके कष्टकी निवृत्ति नही होती। जब कोई आत्मीय आनन्दसे भरा जाने लगता है, तब उससे घर स्वयं छूट जाता है, परन्तु घर छोडकर किसके बूते पर आरामसे रहेगा? आत्मीय दृष्टि बनने पर ही आराम से रहा जा सकता है सो वह शरण तत्त्व उसने पा लिया। जब तक यह भाव उत्पन्न न हो जाय तब तक घर छोडना भी व्यर्थ है। आत्मदृष्टि तब होती है, जब ज्ञानाभ्यास या सत्समागम किया जाता है।

गुण विकासमे ही सतोष करो

ज्ञानके बढनेपर आत्मरुचिका बल बढता है, फिर एकाकी रह आत्म कल्याण किया जा सकता है। हम कुछ नही कर सकते, ऐसा भाव घातक है। गृहस्थ गतवर्षकी अपेक्षा वर्तमान वर्षमे धनकी वृद्धिकी कामना करता है। हिसाब वगैरह से वृद्धि हुई जान हर्षित होता है और घटती हुई जान दुखी होने लगता है। इस प्रकार केवल बाह्य पदार्थोंका उपवृंहक वास्तविक सुखी नही हो सकता।

वास्तविक उपवृंहक या सुखी सम्यग्दृष्टि ही होता है। वह जब देखता है कि मेरे गत वर्षकी अपेक्षा, इस वर्ष कषायकी मन्दता अधिक है तब प्रसन्न होता है और जब देखता है कि कषायकी मन्दतामे गतवर्षकी अपेक्षा इस वर्ष कमी है तो वह दु:खी होता है। इसी प्रकार जब कभी वह अपना झुकाव, विषय कषायोकी ओर देखता है तब भी दु खी होता है। यह दु.ख हितकी उन्मुखताके लिये है। इसमें प्रसन्नता गुप्त है। बुरी आदत लोभ व निन्दाकी आदतको सभालो, इन्हे घटानेका भाव रक्खो। आजके युगमें मानव प्रतिवर्ष अपने मकान का तो एक मंजिल बढाता है, परन्तु अपनी आत्माके लिये प्रतिवर्ष एक गड्ढा खोदता है। भौतिक उन्नति तो अधिक की जा रही है, किन्तु अपने आपको गड्ढे मे धकेला जाता है।

यदि गुणोके उपवृंहणमे प्रेम है तो अधिकको जाने दो, एक धार्मिक बन्धुत्व

को ही बढाओ। इसी बात को ही देखो कि गत वर्ष सहधर्मियोमे वन्धुत्व कितनी डिग्री था और इस वर्ष कितनी डिग्री बढा, परन्तु जैसे कोई विदाउट टिकिट व्यक्ति चेकरको झकमा देकर प्रसन्न होता है कि मैंने कैसा उल्लू बनाया और जैसे चोर डाकू हिंसा या चोरी करके भी शान बगराते कि हमने कैसा वीरता का काम किया ? उसी प्रकार आज मोही अज्ञानी मानव भी करणीय आत्महित के काम तो करता नही, परन्तु बाह्य पदार्थोमें अनुरागी रह अपनी शान समझता है। शायद यह भी समझता हो कि मैंने हितोपदेशी भगवान्‌को कैसा बुद्धू बनाया।

यदि अपना बडप्पन चाहता है तो अपने गुण ढाको तथा दूसरों के दोषोंको मत प्रगट करो। ऐसा करनेसे ही गुण बढते हैं, दिखावेसे गुण नही बढ सकते हैं।

### दूसरोको प्रसन्न करनेकी चेष्टामें कुछ न मिलेगा

विशेषभक्त कहलानेके अभिप्रायसे बडे जोरसे गा बजाकर जो पूजा पाठ होते है, वे खुदके तथा औरोंके बडे बाधक हैं। हां एकान्तमे चिल्लायें तो बाधा नही आ सकती। जनसमुदाय के रहते चिल्लाना आपको और दूसरोको बाधक है। आज तो पूजासे भगवानका रिझाना तो गया, केवल पूजा सुननेके इच्छुक भाई या बहिनोका रिझाना रह गया। इनको रिझानेसे मिलेगा क्या ? भगवान्‌को रिझाओ। पूजा मनमे बोलना चाहिये। उपदेशकोने गलती नही की, उन्होने तो पूजामे मौन रहनेका उपदेश दिया, परन्तु लोगोने अर्थका अनर्थ कर दिया कि पूजा सम्बन्धी बातोसे इतर बातोमे मौन रहना। पूजा तो वह है कि हमारी बात हम ही सुनें, अन्य नही, अष्टक तो अवलम्बन मात्र है, उसको चिल्लाकर कहनेसे लाभ क्या और यदि बोलना ही है, सबकी एक राय हो तो मधुर स्वर से एक ही पाठ हो।

आप आज यदि मनुष्य भवमे नही होते तिर्यंच पर्यायमें होते तो तेरे बारेमें यहाँ जनता कुछ नही समझती, आत्माके सबन्धी, शरीरके ढाचेको भी कोई नही जानता। यह कुछ दिनमे जानेवाला है, थोडे दिनके जीतव्यमे यदि ऐब ऐब ही बढा लिये तो फिर क्या तत्त्व मिलेगा ? ये समागम जाने वाले हैं। गाडी छूट रही है, जीवन जा रहा है, इसका सदुपयोग करो, इसीमे भलाई है।

"कर्तव्य दृष्टिसे प्रतिदिन दो लाइनें नोट्स करते रहो और उनका उपयोग करो कि" "अपने गुण मत कहो, कोई न समझे मत समझने दो" ऐसी भाव बनाये उत्थान होगा, अपने गुणोको छिपाना और परके अवगुण नही कहना यह सम्यग्दृष्टिकी रीति है।

## शिवस्थापकः ॥१३॥

यह परमार्थदृष्टा सम्यग्ज्ञानी जीव, मोक्षके मार्गमे स्थित रहता है और दूसरोको भी स्थित रखता है। अगर कोई भ्रष्ट हो रहा हो तो उसको भी पुनः सन्मार्गमे लगाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। हम और आप ससारमे अब तक अनादि कालसे भ्रमण कर रहे हैं। अभी तक मोक्षमार्गमे स्थित नही हो सके। इसका कारण मोह है।

प्राणीके लिये सबसे बडा कर्तव्य मोक्षमार्गमे लगना है, परन्तु हमे मकान बनाना है, धन कमाना है, सन्तान पैदा करना है—यह कर्तव्य समझना भ्रम-मात्र है। मोहके अस्तित्वसे प्राणीको यह विदित नही होता कि दुनियामे मेरा वास्तविक कर्तव्य क्या है या यह मानव पर्याय मुझे किस लिये प्राप्त हुई है?

जन्म और मरणका चक्कर प्राणीके साथ अनादिसे लगा है। मानव पर्याय बडी कठिनाईसे उपलब्ध होती है। यदि यह व्यर्थ चली गई तो बडा अनर्थ हुआ, इसका साफल्य मोक्ष मार्गके वर्तनेसे ही हो सकता है। मानवकी धुन जैसे गृहस्थीके अन्यान्य कार्योमे होती है, वैसी मोक्ष मार्गमे क्यों नही होती? इसके अन्यान्य कारण मोह व अज्ञान हैं। मोही मानवका परमे आसक्तिका भारी भूत सवार रहता है।

मोही धर्मध्यान का पात्र नही होता, जैसे विषयी प्राणीको भले ही फकीर बनना पड़े, बेइज्जती सहना पडे या कितना ही परिश्रम करना पडे, परन्तु वह विषय साधनकी धुनमें मस्त रहता है। उसी प्रकार गरीबी या फकीरी आदि कैसी भी स्थिति सामने क्यो न आवे, परन्तु मोक्षमार्गमे तीव्ररटन या तीव्र भावना होना चाहिये। आत्मकल्याण की स्थिति दृढ होना ही वास्तविक हित है।

सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गमे स्वय स्थिर रहता है तथा औरोको भी मोक्षमार्गमे

स्थिर रहनेकी बात करता है। वारिषेण और पुष्पडाल मित्र थे। वारिषेण थे सम्राट् कुमार और पुष्पडाल साधारण स्थिति का। मुनि होनेपर पुष्पडाल के यहाँ वारिषेण आहारको गये। आहारके बाद वह उन्हे पहुचाने गया। एक मील दूर एक तालाब था। वहाँ पहुचने पर कहा कि स्वामिन् यह वही तालाब है जहाँ पहिले नहाते थे, यह नगरसे एक मील दूर है। वारिषेणने उसके कहनेपर ध्यान नहीं दिया, ३ मील बढ गये। पुष्पडालने फिर कहा कि यह वही मैदान है जहाँ हम और आप खेला करते थे, यह नगरसे ३ मील है। पुष्पडालकी आन्तरिक बात यह थी कि महाराज लौटनेको कहदें, परन्तु भक्तिवश वह स्वय नही कह सकता था। वारिषेणने फिर भी लक्ष्य नहीं दिया। पुष्पडाल भी आज्ञा पाये विना नहीं लौटा। मुनिराजके स्थानपर पहुचते ही पुष्पडालके भावोमे आवेग आया और विरक्त हो उसने उन्हींसे मुनिव्रत ले लिया। कुछ दिन बीते, वारिषेणको विदित हुआ कि पुष्पडालका शरीर अनुचित उदासी व्यक्त करता है। तव उन्होंने कारण पूछा, जिसे जान कर वारिषेणने अपनी माताको खबर भेजी कि हमारी बत्तीसो स्त्रियोको सजाकर रखिये, हम आज राजमहल आवेंगे। पहिले मा को सदेह हुआ कि मेरे पुत्रने ऐसा क्यो विचारा, पर दृढता करके उसने बहुओंको सज.कर तैयार कर दिया तथा एक काष्ठका और एक सोनेका सिंहासन रखवा दिया। दोनो मुनि पहुचे। वारिषेण तो काठके सिंहासन पर बैठे और पुष्पडालको स्वर्णसिंहासन पर बैठाया। उस समय वारिषेणने एकसे एक सुन्दर अपनी ३२ स्त्रियोको दिखलाते हुये पुष्पडालसे कहा कि ये स्त्रिया देखो, मैं इन्हे छोडकर साधु बना हूँ, परन्तु तू कानी आखकी एक ही स्त्रीपर इतना मोहित है कि पथभ्रष्ट होने जा रहा है। पुष्पडाल भी सावधान होगया कि जब वारिषेण सुन्दर ३२ स्त्रियोसे मोह छोड चुका तो मेरा एक और कानी स्त्रीमे प्रेम रखना व्यर्थ है। वहींसे प्रस्थान कर वह साधु कर्तव्यमे स्थिर होगया। आज जैसा मानव उस समय होता तो वारिषेण या दोनोकी खिल्लिया उडा देता, परन्तु वारिषेणने किस सरल और सौम्यविधिसे पुष्पडालका स्थितिकरण किया, यह आदर्श और अनुकरणीय है।

निज शुद्धात्म तत्त्वका सम्यक्श्रद्धान सम्यग्दर्शन इसीकी यथार्थ ज्ञप्ति

सम्यग्ज्ञान और इसीमें स्थिरता सम्यग्चारित्र कहलाता है और इन तीनोकी एकताका नाम मोक्षमार्ग है। विवेकीको अपने शुद्धात्म तत्त्व के विषयमे अपना विश्वास बनाना चाहिये कि मैं सबसे शुद्ध (खलिस या एक) हूँ। अध्यात्म ग्रन्थो मे शुद्धका अर्थ एक या खालिश किया गया है। मैं शुद्ध हूँ, केवल अपने स्वभाव रूप हूँ, परका निमित्त पाकर होने वाले औपाधिक भाव रूप मैं नही हू। इस प्रकार अपने शुद्ध आत्माका विश्वास होना चाहिये।

### परमात्मा और उपासनाके प्रकार

परमात्माके दो प्रकार हैं १ कारण परमात्मा, २ कार्य परमात्मा। कार्य परमात्मा अरिहत और सिद्ध हैं और कारण परमात्मा सभी आत्मायें हैं। मोक्षमार्गके लिये कारणपर मामाकी आराधना चाहिये। कार्यपरमात्माकी भक्ति सेवा उपासना इत्यादि शुभोपयोग है। मोक्षमार्गमें कारण परमात्माका आलम्बन है। अर्थात् उसमे केवल सहज शुद्धात्माका ही अवलम्बन आवश्यक होता है। यद्यपि पर्यायका पृथक् हो सकना शक्य नही, परन्तु बुद्धिसे तो पर्यायदृष्टि हटाई जा सकती है अर्थात् बुद्धिमें उसका विकल्प नहीं रहना चाहिये।

गुणपर्यायात्मक आत्माके सम्बन्धमें शरीर मैं नही, कर्म मैं नही, रागादि मैं नही, मतिज्ञानादि रूप मैं नहीं और केवलज्ञान रूप मैं नही तथा अन्य शुद्ध पर्यायरूप भी मैं नही, परन्तु सर्व परिणमनोसे रहित जो स्रोत उपयोगमे बचा वह मैं हू। उसीके अवलम्बनसे मोक्ष होता है। इसीलिये तो भगवान्का आदेश है कि यदि पूरी भलाई चाहना है तो हमारा भी अवलम्बन न करो, अपने कारण परमात्मामात्रका अवलम्बन करो।

परन्तु जिनकी स्थिति इतनी नहीं या जो अपने कारण परमात्माका अवलम्बन नहीं ले सकते। उनके लिये आचार्यों ने अपनी शुभ रागका कारण होनेसे, बतानेकी हार्दिक इच्छा न होनेपर भी, अपने दिलको मजबूतकर उन कमजोरोकी भलाईके लिये शुभोपयोगके कार्य बताये हैं। वैसे तो रागका उपदेश देना साधुओको कष्टमय होता है कि हम रागका उपदेश कैसे देते हैं?

शुद्ध आत्मतत्त्व (कारण परमात्मा) का आश्रय ही मोक्षमार्ग है। यद्यपि जीवोका उस कारणपरमात्माके आश्रयमे ध्यान नही जाता, उन्हे उसके

अवलम्बनमें बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है, परन्तु उसके अवलम्बन बिना धर्म का कोई भी कार्य शान्तिदायक नही होता। आत्मा ज्ञानमय है, सोच लो आत्मज्ञान करना है होजावेगा। सारे विकल्प छोड, कुछ समय ध्यान पूर्वक इस मर्मको समझो। चौवीस घटे तो बाह्य कार्योंमे उलझे रहते हो, अहर्निशमे कुछ मिनिट ही इस मर्मको समझो व उस शुद्ध आत्मतत्त्वसे भेंट करो तो समझना चाहिये आपने अनन्तकालके सचित दुःखोको टाल दिया और आप कारण-परमात्माके भक्त बन गये। यह करना ही मोक्षमार्ग है और इसीसे सम्यग्दर्शनमे स्थिरता रहती है। ऐसा प्राणी किसी कारणको पाकर यदि अपने उस शुद्धात्म तत्त्वसे विचलित होता है तो फिर उचित आश्रय बनाकर अपनेको फिर उस तत्त्व मे स्थिर कर लेता है।

मोक्षका कारण शुद्ध आत्माका श्रद्धान है तो ससारका कारण अशुद्ध पर्याय का आत्मरूपसे श्रद्धान है। मैं मनुष्य हू, परवार हूँ, धनी हूँ, गरीब हूँ, पडित हूँ, ब्रह्मचारी, त्यागी या साधु हू इत्यादि किसी भी प्रकारकी कल्पना या पर्याय विषयिक ऐसी श्रद्धा मिथ्यात्वमे शामिल की गई है। जिस बाह्य वातावरणको देख कर कारणपरमात्मत्वसे च्युति हो जाती है, उसे अपनाना ही मिथ्यात्व है। परमार्थदृष्टा व्यक्ति तो केवलज्ञानको भी नही अपनाता। उसमें स्व-स्वामित्व की कल्पना नही करता, क्योकि केवलज्ञान भी तो एक पर्याय है और पर्यायमात्र आत्मदृष्टिका नाम मिथ्यात्व है। इस लिये कारणपरमात्मा अनादि अनन्त अहेतुक एक चैतन्य स्वरूप होता है, उसमे न कोई सम्बन्ध है, वह न पडित है, न मूर्ख है, न साधु है। सरल दृष्टि होनेपर क्षुद्र तिर्यचभी सम्यक्त्वके अधिकारी होते है और सरल दृष्टिके अभावमे धनी मानी तथा समृद्ध मनुष्य भी सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं होता।

### तिर्यञ्च तक तो सयमासयमी हो जाते

कोई हाथी हरा घास खाना छोड सूखी घास खाने लगा और किसी भदभदे का प्रासुक पानी पीने लगा। उसका यह कार्य सम्यक्त्व बिना नही हो सकता। यही संयमासयमका एक रूप है, परन्तु वह अपनेमें प्रतिमाधारित्व का विचार नही करता। थोडा छोटा होकर वडा बनने रूप, त्रिज्ञानत्राजीकी

कलायें मनुष्यमें ही होती हैं। बेचारे पशु उस पेतरेबाजीको क्या जाने ? विज्ञानबाजीवश मानव तो अपने मे मिथ्यात्व होकर भी प्रतिमा आदिके रग ढग लगा लेता है, परन्तु तिर्यंचके ऐसी कल्पना नही होती तो भी वह सयमासंयम भावपर चलता है। यदि कोई मनुष्य शयनसे उठा हो और वह उस समय तक अपनेमे असत्यताका वातावरण नही बनाया या हो, तब उससे कोई बात पूछो तो ज्योंकी त्यो सच बतलावेगा। वह अभी तक अपनेमे भूठ नही भर पाया, इस लिये पैंतरा नही बदल पाया, उसी प्रकार ज्ञानी तिर्यंच अपने कर्तव्यमे कलायें नही लगाता, वह शुद्धभावसे अपने मार्गपर चला जाता है और उसका लक्ष्य शुद्ध आत्मदृष्टि होता है।

अपनी किसी भी स्थितिमे यह नहीं मानना कि मैं जिस रूप तुम्हारे ध्यानमे आ रहा हूँ, उस रूप हूं, सामान्यके ध्यान रूप भी मैं नही। सामान्यध्यानका जो लक्ष्य है तद्रूप मैं हूं, परन्तु मैं इस रूप हूं, ऐसा मेरा विकल्प, सामान्यमे भी नहीं रहना चाहिये।

पर्यायको आत्मा मानना ससार का कारण है। संसार है और समस्त पर्यायो व भेदोको सुबुद्धिसे निकालकर एक सामान्य स्वभाव मात्र अवशिष्ट आत्माका श्रद्धान मोक्षका कारण है। जिस परिणतिमे मैं जा रहा हूँ वह मैं हूँ। इसी विकल्पका नाम ससार है।

कोल्हूमें पिलनेवाला भी साधु वहाँ समता होनेपर भी मिथ्यादृष्टि रह सकता है। इसका कारण यह है कि उस साधुके यह भाव रहता है कि मैं साधु हूँ; इससे मुझे समता रखना चाहिये, द्वेष नहीं करना चाहिये। यहाँ साधुत्व पर्याय को मैं माननेसे कोल्हूमे पिलते समय भी समता रखने वाला साधु मिथ्यात्व का पात्र हुआ।

जब इतने महत्त्वके कार्यमे भी 'अपनापन' बाधक है तब हम कितनी छोटी छोटी लोक दृष्टिमे भी अनादरणीय पर्यायो या हालतोमे अपनापन मान रहे हैं। यह हमे महान् बाधक होगा, यदि किसी लिस्टमे १० नाम एक साथ लिखे होते हैं तो उनमे अपने नामपर प्रथम दृष्टि पडती है, यदि कही १० नाम

पुकारे जायें तो उनमे अपना नाम ज्यादा सुनाई देता है। यदि धर्म साधना है और संसारके विविध विकल्पोरूपी आपदासे बचना है तो केवल दिखावेमे ही नही, भीतर ही भीतर चुपचाप शुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान रक्खो और उसमे ही स्थिर रहनेसे अपने आपका मोक्ष मार्गमे स्थितिकरण होगा। यह करनेमे यदि कठिनाई प्रतीत हो तो आरभ व परिग्रह दूर करो जिससे बाह्यमे चित्त न डूवे। यदि इतनी ही शक्ति नही तो आरंभ परिग्रहको कम ही करो। कदाचित् यह भी नही कर सको तो उनके घटानेका बारबार भाव तो बनाओ।

## अपना भरोसा करो

अधिकसे अधिक शुद्ध आत्मतत्त्व, श्रद्धान और ज्ञानमें बढे, ऐसा सम्यग्दृष्टि अपनेको मोक्षमार्गमे स्थिर रखता है सो शांतिमें बढता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि अपन आत्माको कपायो व विपयोमे सलग्न रखता है, इससे वह ससारी है। यदि किसीका मोह कम होने लगता है तो आज सबधियो द्वारा ऐसी चेष्टायें की जाती है कि इसका मोह न कमे, प्रत्युत बढ जाय। इस प्रकार समझाया भडकाया या विचकाया जाता है कि कही घरसे न भाग जाय, जैसे बने तैसे मोहमे ही फसानेका प्रयास किया जाता है।

पाति रक्षतीति पिता—रक्षक, बनते तो पिता (रक्षक) है, परन्तु सन्तानके साथ प्राय दुश्मनीका कार्य करते हैं। जबसे सतानका जन्म होता है, तभीसे पिता उसे मोहमे जकडनेका प्रयास करता है। पढाता लिखाता तन्दुरुस्तीका लक्ष्य रखता और विवाह करता है। उसके बाद खुदकी परेशानियाँ ही देखो कि कहाँ कहाँ झुकना पडता है और कितने अनादर सहने पडते, नीति और अनीति करनी पडती है। जो आपदायें वे झेलते हैं, उन्ही जैसी आपदावोको विवाहादिक कर वे सन्तान पर पटक देते हैं। मोही और करे क्या ? जिसके पास जो चीज होती है, वही न वह दूसरेको दे सकता है। रक्षा करना तो गई दूर, सन्तानको जकडनेकी कोशिश किया करता है।

ऐसा निर्मोही जीव निर्मोहताके ढगसे स्वपरको विचारता है, परतु मोही स्वपरको मोहके ढगसे विचारता है। मोही धर्मसे दूर है, ज्ञानी धर्मका प्रेमी है।

## धर्मवत्सलः ॥१४॥

सम्यग्दृष्टि धर्मवत्सल होता है। आत्माका स्वधर्म आत्माका अनादि अनत ... रूप स्वभाव धर्म कहलाता है। वह धर्म किसी परके कारण उत्पन्न नही ...ता, वह आत्माके चैतन्यभाव रूप ही होता है।

धर्मात्माका प्रेम चैतन्य भावमे ही होता है। सबसे बलिष्ठ प्रेम धर्म प्रेम है, उससे नीचे दर्जेका प्रेम धर्मात्माओमे प्रम करना है और जो मोही मानव बाह्य वस्तुमे प्रेम करते है, वह अति निकृष्ट प्रेम है। धर्म प्रेम होते हुये भी अनुराग जब होता है तो उस अनुरागका विषय क्या बनाना? धर्मयुक्त आत्मा। जब कि मोहियोंका राग, धन या कुटुम्ब पर पडता है। जैसे बिजलीको कहाँ पटकना? यह हल कर तालावमे पटक देते है और मकानपर गिरनेसे रोक लेते हैं। उसी प्रकार रागकी बिजली हमपर गिर रही है, कहाँ पटकना उचित है? ऐसा उपाय करो कि उस रागको धर्मात्मापर पटक दो, कुटुम्बपर रागको मत पटको। भैया चलो ऐसा ही समझलो बिजली अपने मकानपर नही पटकी जाती। उसी प्रकार राग रूपी बिजली अपने कुटुम्बपर पटकना उचित नही। उस पर पटकनेसे खुदकी वरबादी होगी। इसलिये खुदको सुरक्षित रखो। रागका विषय धर्मात्माको बनावोगे तो धर्मात्मा तो अडिग है, उसका बिगाड नही और राग करनेवाला वरबादीसे बच गया।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मापर अहसान नही करता कि मैंने अमुक धर्मात्मापर अमुक प्रकार सेवा शुश्रूषाकी। वह तो केवल अपना राग धर्मात्मा पर पटक देता है। इसी प्रकार धर्मात्माका भक्त पर भी अहसान नही होता। यह तो। "गले पडे बजाये ढोल" के समान है कि राग भाव आनेपर शुभोपयोग करना पडता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको स्वय नही करना चाहता।

जब यह सोचा जाता है कि मैं अमुक का बाप हूँ तो उसकी शिक्षा व पालन पोषण आदिकी चिन्तायें होती हैं। अमुक का मैं वह हू तब उसके अनुकूल चिन्तायें करनी पडती हैं। जब प्राणी समझता है कि मैं स्त्री हूँ तो स्त्रीके अनुकूल चेष्टा करने लगता है। कल जो लड़की (कुंवारी) थी, वह यदि आज बहू बन

जाय तो उसकी सारी चेष्टायें तदनुकूल होने लगती हैं, पीठ दिखाना घूंघट डालना इत्यादि। यह इष्टिका ही तो खेल है।

### धर्मप्रेमी धर्मपर सब न्योछावर कर सकता है

जितना प्रेम सन्तान पर होता है उससे भी कही अधिक प्रेम धर्म या धर्मात्मापर हो जाय तो समझना चाहिये कि अब मुझमे धर्म वात्सल्य हुआ, परन्तु धर्मकी और मोहकी परीक्षाकी तराजूपर परीक्षा करते रहना चाहिये। कि धर्मका पलडा वजनदार है कि मोहका।

महर्षियोने घोर तपश्चरण रूप महान् त्यागकर धर्मानुरागसे उत्तमोत्तम ग्रन्थोकी रचनाकर लोकका भारी कल्याण किया। गृहस्थोमे भी कैसे कैसे तीर्थ स्थान बनाये, आज भी जिनको धर्म प्रेम होता है, वे आजकी आवश्यकतामे धन खर्च कर देते हैं। यह सब देख मोहियोको बडा अचरज होता होगा और वे उदास भी हो जाते होगे कि इन सन्तो और गृहस्थोने इतना श्रमदान और धनदान कैसे किया?

ज्ञानीको धर्ममे महान् वात्सल्य होता है। आजका मानव सन्तान और धनकी सेवामे कितना समय लगाता है, धर्म या धर्मात्माओके निकट कितना समय व प्रेम लगाता है, इसमे आकाश और पाताल जैसा अन्तर है। जिसका जिससे प्रेम होता है, वह उसका पुजारी होता है। कोई स्त्रीका कोई पुत्र, धन का और कोई भगवान्का भी पुजारी होता है।

### मोही परकी प्रशसासे अपनी प्रशसा मानता है

किसीको स्त्रीकी प्रशसा सुहाती है कि उसीने घर संभाला और गृहस्थी बनाई इत्यादि, परन्तु ऐसा कहना स्वयको बुद्धू साबित करना है कि स्त्री तो सब कुछ है, पर वह कुछ नही। प्रशसा करना ही भक्ति या स्तुति है। मोहियों का तो देव ही वही है जो उसके चित्तमे बसा है।

स्त्री पुत्रादिकोमे मोहीका अन्तरङ्गमे इतना अनुराग रहता है कि यदि वह बहिरगमें प्रगट होजाय तो भारी भद्द उड जाय। अन्तरग व बहिरग एक कर डालो। यदि मन्दिरमे बहिरग बन रहा है तो अन्तरग और कर लो तथा घरमे यदि अन्तरग बन रहा है तो बहिरग भी उसी प्रकार बनालो। कुछ शरम

भी अच्छे बननेमे मदद देगी। मोक्षमार्ग कठिन भी है और सरल भी है। सम्यक्त्व हुये तो वह सरल है, परन्तु मोह रहते कठिन है। मोही तो मोक्षमार्ग के निकट ही नहीं जाना चाहता, परन्तु ज्ञानी मोक्षमार्गमे मृत्युसे भी नही डरता।

अकलक और निकलकपर विपदा आई, दोनो आपसमे लड़ें कि मैं करूंगा, सैनिक बिल्कुल पास आगे निकलकने निर्भीकतासे प्राणोकी बाजी लगादी, उसके मानसपटलमे धर्म रक्षाके समक्ष प्राणन्यौछावर दुःखद प्रतीत नही हुई। अकलकको भी आखो देखते भाई का मरण खुद मरनेसे ज्यादा कष्टकर प्रतीत हुआ, परन्तु धर्म वात्सल्यवश वह उन्हें सहन करना पडा। सम्यग्दृष्टि धर्मके रक्षार्थ सब कुछ न्यौछावर करनेको सतत उद्यत रहता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके वात्सल्यका सक्षिप्त वर्णन करके अब सम्यग्दृष्टिके प्रभावक स्वगुणका वर्णन करते हैं—

## प्रभावकश्च ॥१५॥

यथार्थ ज्ञान हो जानेके कारण स्वय परपदार्थोंसे उपेक्षा रखनेवाला सम्यग्ज्ञानी अपने गुणोका प्रभावक होता है और उसके गुण उत्तरोत्तर बढते ही जाते है। उन गुणोके द्वारा दुनियांमे जैनशासनकी प्रभावना होती है तथा अपनी आत्मामें निर्मलता होती है और उस प्रभावनाका अनिष्फल प्रभाव अपना आचरण सुधारना है।

### स्वयका पता न होनेसे होनेवाली विडबना

परन्तु जो अपने आचरणको सुधारने रूप प्रभावनामें असमर्थ हैं, वे बाह्य दिखावोंमे प्रभावनाका तौल करते हैं। लम्बे चौडे भाषण सुने बहुत, किन्तु थोथे प्रस्ताव पास हुये, खूब जनता एकत्रित हुई, इसीमे प्रभावना मानी जाने लगी है, परन्तु यहां प्रश्न होता है कि ऐसी बातोंसे प्रभावना किनमें हुई, करने वालोंमे या देखने वालोमे ? यदि करने वालोमे हुई तो उत्सवके बाद वहांकी वहां रह जाना चाहिये। यदि दर्शकोसे पूछा जाय कि इस प्रभावना से तुम्हारे कितनी शान्ति आई तो उत्तर मिलेगा—नथिग अर्थात् कुछ नही।

### आत्माकी वास्तविक प्रभावना

आत्माकी प्रभावना पापोंसे छूटना ही है। जब तक पाप नहीं छूटते तब तक जैनशासन का प्रभाव नही हो सकता। पापो का त्याग भी तृष्णाके त्याग विना नहीं होता और तृष्णाका त्याग यथार्थ ज्ञान विना नही होता।

वास्तविक जैन सर्व पापोका त्यागी होता है, वह किसीको दुखकर बात नही करता, वैरविरोध नही करता और सबसे प्रिय व्यवहार करता है, परको मर्मभेदक या दुःखदायक बात नहीं कहता, छोटे छोटे महसूल आदिके चुराने का वह भाव नही रखता, परस्त्री पर वह माँ बहिन और बेटी जैसी दृष्टि रखता है तथा आवश्यक वस्तुओका परिमाण कर लेता है।

जो ऐसे आदर्श मार्गका अवलम्बन करता है, वास्तविक प्रभावना उसीके या उसीसे होती है। दुनिया उसपर विश्वास करती है और उसके अनुकूल चलनेके लिये सोत्साह रहती है।

### व्यावहारिक प्रभावनाका मुख्य उपाय

आज राष्ट्र, समाज और निजके लिये धर्म पद्धतिसे सेवा भाव सीखने और तदनुकूल सेवा करनेकी आवश्यकता है। कायरता छोड, सकटो और उपद्रवोंको हसकर झेलनेके उत्साहकी आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही जैन धर्मकी वास्तविक परक्षेत्रगत प्रभावनाकी जा सकती है, परन्तु आज ये भावतो गया, दिखाव टीपन रह गया, जिससे इतर जातिके लोगोंकी भी भावना जैनियोंके प्रति बदल गई। वे यहाँ तक कहने लगे कि "पानी पीवे छानकर और प्राणी मारे जानकर" अपने प्रति औरोकी इस दुर्भावनामे उनकी गलती नही, परन्तु उमका अनन्य कारण ठीक तौरसे अपनी ड्यूटी अदा नही करना ही है। यदि हमने यथाविधि पापोंका त्याग किया होता और अपनेको दुनियाके समक्ष आदर्श बनाया होता तो औरोको ऐसा कहनेका दुःसाहस कैसे होता ?

### स्वयका उत्थान परके उत्थानका कारण हो सकता

अपने उत्थानमे लगनेसे ही शासन और समाजका उत्थान हो सकता है, परन्तु जो केवल यह भाव रखता है कि मैं धर्म चलाऊगा, दुनिया मेरे उपदेश को मानेगी, जैसा मार्ग मैं बताऊगा वैसे ये चलेंगे, इससे ही उनका उत्थान

होगा, परन्तु अपने भीतरी उत्थानका कोई कार्य नही करता। उससे शासन व समाजका उत्थान सभव नही।

एक बार एक राजाने मन्त्रीसे पूछा कि अपने यहाँ ईमानदार कितने है और गैर ईमानदार कितने? मन्त्रीने कहा कि सभी ईमानदार हैं और सभी गैर ईमानदार हैं। राजा ने कहा कि ईमानदार भी और गैरईमानदार सभी कैसे है? साबितकर बताओ। मन्त्रीने कहा—अच्छा हम बताते हैं। उसने सारे नगरमे घोषणा करादी कि राजाको दवाईके लिये दूधकी आवश्यकता है। इस लिये आज आधी रातको हर व्यक्ति एक सेर दूध राजाङ्गणके कुण्डमे डाले। रात्रि हुई, सबके मनमे यह भाव आया कि नगर भरके लोग कुण्डमे दूध छोडे गे। यदि हम पानी ही छोड आवें तो इतने भारी दूधमे एक सेर पानीका क्या पता चल सकता है, परन्तु भाव तो सभीके बद थे, अधेरी रात थी, देखने वाला कोई था नहीं। सभीने कुण्डमे पानी ही पानी छोड दिया। सवेरा होते ही मन्त्रीने राजाको बताया। अब देख लो कि नगरमे कितने ईमानदार है? इस दूधके कुण्डमे सफेदी का निशान भी नही।

राजाने मन्त्रीसे फिर पूछा कि नगरके सभी लोग ईमानदार कैसे हैं? तब मन्त्रीने उत्तर दिया कि आज एक सभा बुलाइये और उसमे क्रमश: भाषण देने के लिये कहिये। फिर देखिये कि वे कैसी-कैसी ईमानदारीकी बाते हाकते है?

### आचरणका कारण वस्तु विज्ञान है

अनेकान्त क्या है? हर वस्तु स्वस्वरुपसे है, परस्वरूपसे नही। इस बातका अपनेपर असर होना चाहिये कि मैं भी अपने रूपसे हू, पररूपसे नही हूँ। ऐसा बोध होते ही परसे उपेक्षा होना चाहिये अर्थात् परमे अपनापन नही होना चाहिये। अनेकान्त दृष्टि निर्मलताकी पोषक है। स्याद्वाद वस्तुगततत्त्व बताता है, इत्यादि जैनधर्ममे बडे बडे आचार विचार लिखे हैं, जिन्हे ईमानदार उपदेशक दुनियाको बताते है, परन्तु स्वय कुछ नही करते तो अन्यत्र भी असर नही होता। जो स्वय करता है उसका वह तो फल प्राप्त करता ही है, अन्य जन भी उसके निमित्तसे लाभ पा लेते हैं।

जैनधर्मकी प्रभावना करना है कि उसके द्वारा अपनी प्रभावना करना।

आपको जैन धर्मपर तो दया आई, इससे उसके बढानेका उपाय सोचा, परन्तु अपने पर दया नहीं आई कि धर्म द्वारा अपनी प्रभावना कर लें, इतना झूठ दयालु बननेसे आत्म हित कभी नही हो सकता।

**प्रभावना केवल युदमे ही की जा सकती**

अपने गुणोको बढाने का नाम ही प्रभावना है। यह बात हो जाय तो सभी अपने कुटेवोको हटायेगें और अपनी अपनी निर्मलताको देखेंगें, तभी आत्माकी प्रभावना होगी, परन्तु यह बात कैसे बने ? इसका उत्तर आपही दे सकते हैं। अपनी बात या समस्याको स्वय ही हल किया जा सकता है। दो की घटना तो है नही कि पच आकर सुलझादें। यह तो एक आत्माकी ही घटना समस्या है, उसका निपटारा या हल स्वय आत्माही कर सकेगा।

सम्यग्दृष्टि विवश हो होकर विरक्त उपेक्षक होता है। उसे परपदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ भान होता है। इससे उनकी ओर उसका चित्त नही जाता। आपका भ्रम यदि समाप्त हो जाय तो आप क्या उसे जबरन फिर बुला सकेंगे ? ज्ञानी बने तब भ्रम फिर नही बुलाया जा सकता। ज्ञानी ज्ञानके कारण इस बातके लिये विवश है कि वह भ्रमभाव बना सके।

जैसे मिथ्यादृष्टि ज्ञानमार्गमे चलनेसे विवश होता है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी अज्ञान मार्गमे चलनेसे विवश होता है। किसीने रस्सीको साप समझ लिया, डर गया, परन्तु कडा दिलकर निर्णय किया तो भ्रम मिट गया। समझ लिया कि रस्सी है, फिर साप नही माना, वह उसे साप नही समझ सकता। उसके दिल का फेर हट गया, वह फिर नही आ सकता। उसका भय भी मिट गया। इसी प्रकार ज्ञानी जब पदार्थके यथार्थस्वरूपको जान लेता है, तब वह उसमे भ्रम बुलानेको समर्थ नही हो सकता। जब उसके अज्ञान ही नही आ सकता, तब परमे झुकाव या अपेक्षा कहासे हो सकती है और जब वह पर-पदार्थोंमे नही झुकता तब उसके स्वगुणोमे बाधक कौन हो सकता है ?

**ज्ञानीको अपने सद्गुणोमे उत्साह बढ़ाना चाहिये**

मुझे आपको आपमे लीन करना है। इसके लिये दुनियामे अपनेको सबसे छोटा मानना चाहिये और अपनेको औरोसे बडा माननेकी दृष्टि हटाना चाहिये।

आंख बन्द हो या प्रभुस्मरणमें झुकाव हो उस समय अपनेको प्रभुसे कम मत मानो, ऐसा किये ही, गुणोकी उन्नतिको साधन मिलेगा।

ज्ञान, तप, धन आदिकी अपेक्षा अपनेमे औरोसे बडप्पनका भाव मत करो, यदि इनसे अपने आपमे बडप्पनका भाव आवे तो समझना कि अपने आपको गिरानेका ही साधन बना है।

यदि प्रभुस्मरण या आत्मध्यानके समय भी मैं गरीब हूँ, तुच्छ हूँ, पापी हूँ, मेरा सुधरना असभव है यह विकल्प चित्तमे नाचें तो भी समझना कि कल्याण गया। इसलिये स्वको बाह्यमे बडा मत मानो, परन्तु ध्यान करते समय अपनेको प्रभुसे कम मत मानो। सन्तान और धनादिको तो बहुत पाला, अब कुछ स्वभाव दृष्टिको भी पालो।

जितना अपने आपकी ओर झुकोगे उतनी ही स्वकी ओर छलाग मारोगे। जितना अपने आपकी ओरसे दूर रहोगे, उतनी ही स्वकी अवनति होगी। पहलवान भी अपने आपकी ओर झुक कर ही छलाग मारता है तो तब ही प्रतिद्वन्दीसे विजय पाता है। अपनी ओर झुकाव हुये बिना ऊपरी ऊपरी उठानें लगानेसे अपना उत्थान नही होता।

### पापोंके त्यागसे ही महत्ता है

प्रभावनाके लिये पापोका त्याग, ईमानदारीका होना और तृष्णाका अभाव इत्यादि आवश्यक हैं। इन्ही गुणोके कारण पूर्वकालमे जैनोका महान् प्रभाव था। हमारा प्रभाव बढे, इसकी इच्छा मत करो। थोडेसे जीवनमे हम यहा बढ जायें, इस भावमे तत्त्व नही। प्रत्येक पदार्थ सत् स्वरूप है, जीव भी सदा रहेगा। आगामी बुरी हालतें या पर्यायें प्राप्त न हो इसका उपाय एक धर्म ही है, वही साथी है, उसके द्वारा आत्म प्रभावना करना चाहिये।

कुछ लोगोका कहना है कि धर्म बडी विषैली चीज है। इससे दुनियांकी बरबादी हो गई। जहाँ धर्म नहीं वहा खून खच्चर नही होता, परन्तु यह बात नही। जनताने पापके परिणामोको धर्म मान रखा है। धर्मका मतलब तो समस्त दुःखोका हरना था, पर कुछ मनचले लोग धर्मकी ओटमे पापकर धर्मको दोष थोप देते हैं।

सबको अपने अपने विचार पसन्द होते हैं। इससे मेरे विचारोंसे कोई सहमत हो या न हो, परन्तु मेरी तो धारणा है कि दुनियामें अर्वाचीन कुछ अनेक विख्यात साहित्यकार कवि या उपदेशक हुये, जिनके चरणोंमे लाखों न्योछावर होते रहे। लोग आखें बिछाते रहे, उन्होंने राष्ट्र, समाज या धर्मके लिये मौलिक मार्ग क्या बताया ? बताया, किन्तु द्रव्यगत शक्ति व परिणमन एव स्वभावकी दृष्टिसे वर्णन यथोचित न हुआ।

बडे बडे दार्शनिक हो गये। किसीने ईश्वरको जगत् का कर्ता बताया, किसी ने कुछ बताया, परन्तु उससे वस्तुस्वरूपका क्या प्रतिपादन हुआ ? कईने न्याय व दर्शनके ऊचे ऊचे ग्रन्थ बनाये, परन्तु उनमे जीवके उत्थानमे मूल बनने वाली कौनसी बात लिखी ? उन्हे स्याद्वादकी दृष्टिसे वस्तुस्वरूपके बतानेकी आवश्यकता है।

### धार्मिक उदारता लाना चाहिये

आज सत्यधर्मके पिछडने का कारण जैन साहित्यका अनुत्थान ही है, परन्तु इसका साहित्य कम नही है, धवल, जय धवल, महाधवल, समयसार प्रवचनसार और त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि साहित्य लोगोके सामने रखा जाना चाहिये। वे उनका गहरा अध्ययनकर तुलना कर देखे कि सत्य सिद्धात कितने महत्त्वकी वस्तु है, परन्तु जैन समाजने अपना साहित्य विद्वानो के समक्ष पहुँचाने का ही प्रयास नही किया। अपने बीच आप सब कुछ कर लें, परन्तु जब तक साहित्य का विकास नही होगा, तब तक सत्य धर्मकी वास्तविक प्रभावना हो नही सकती।

साहित्यके विकास बिना केवल आपका सोला व ऊपरी आचरण देख, इतर समाज आपसे घृणा और करने लग जाता है। साहित्य विकासके साथ ही धर्म प्रभावनाके लिये ईमानदारी परको स्वके समान मानना और अनुदारता नही रखना आदि होना आवश्यक है। अपने दोष अपनेको नही दिखते, इससे सभव है कि हमें अपनी कमजोरी भले ही स्वय महसूस न हो, परन्तु यह बहुधा देखा जा रहा है कि औरोसे व्यावहारिक भी इन गुणोमें हम बहुत पिछडे हैं।

मैंने उत्तम रीतिसे दया पाली, अमुक शुद्धि बनाली, शुद्ध भोजन किया, परन्तु

चित्तका विकार या मनका मैल नही घटा, पक्ष बना रहा कि ये मेरे हैं, ये दूसरे है तो तथा–आचरण खूब किये, पर ये मेरे समाजके हैं, ये नही हैं, यह भाव या पक्ष नही गया तो इन भावोसे महान् अहित होता है, इसे न भूलें।

भीतरी आचरण या अन्तरङ्गकी उदारता बिना साम्यभाव विनाशक भावना बन गयी है और 'अय निजः परो वेति' की भावना आगई। जैसा हम अपने के प्रति व्यवहार करते हैं वैसा परके पुत्रादिकके प्रति होता है क्या ? इन्ही भावोके कारण हम अपना उत्थान नहीं कर सकते।

**स्वय निष्पाप बनना प्रभावनाका मुख्य उपाय है**

प्रभावनाके लिये पापोका त्याग अत्यावश्यक है। बाहरी ढग या सम्मेलन आदि लोगोपर मौलिक असर नही डाल सकते। यदि प्रभाव होता है तो केवल अपने आन्तरिक पापोके त्यागसे। वह पडित या ज्ञानी जो स्वय पापोका त्याग न कर सके, धर्मप्रभाव कर सकेगा, यह सोचना गलत है।

एक लकडहारा था। उसने पाप त्यागका उपदेश सुना। सोचा कि और हिंसा तो मैं करता नही, केवल जगलमे खडे वृक्ष काटता हूँ, अब नही काटूंगा। सूखी लकडीसे ही गुजर करूंगा। इस प्रकार हिंसाका त्याग किया। २—अभी तक ॥) की लकडीके ॥।), ॥।≈) बताया करता था, तब कही ॥), ॥–) या ॥≈) मे बिक पाती थी। अबसे एक बात कहूगा भूठ नही बोलूंगा। ३—अभी तक कस्टम की चोरी कर लेता था। दूसरी गलीसे जाकर )॥ बचा लेता था। अन्य कोई चोरी तो करता नही था। आजसे कस्टमकी भी चोरी नही करूंगा। ४—जिनके धनका सहारा होता है या विशेष आरामतलब होते हैं वे कुशील के ऐबमे फस जाते हैं। गरीबोको कुशीलके ऐब के लिये फुरसत ही कहाँ ? मैंने परस्त्री पर तो निगाह ही नही डाली, स्वस्त्रीसे भी अब सम्बन्धका त्याग करता हूँ। ५–आठ आना कमाता हू, चौथाई धर्ममे लगा दूगा। (कितनी उदारता है, आठ आना कमाने वाला तो चौथाई खर्च करते उदार हो गया, परन्तु यहाँ लाखो कमानेपर भी एक पाई खर्च करनेकी हिम्मत नही होती। विवाह शादी आदिकमे तो पानीकी भाति हजारो रुपया उड़ा देंगे, परन्तु सच्ची प्रभावनाके लिये एक पाई भी न देंगे।)

दो आना धर्ममे खर्च करूगा, दो आना विपदाके लिये बचाऊंगा। ऐसा निश्चय कर गट्ठा लेकर लकडी वेचने चला और एक सेठकी हवेलीपर पहुँचा। सेठका नौकर मिला। नौकरने पूंछा कि लकडी कितनेमे देगा ? लकडहारा बोला— ॥) मे। उसने कहा पाच आना ले ले। यह आठ आनासे नही कमा, ।=) ।≡) मे मागा, नही दिया, चला गया। फिर बुलाया कहा ।≡)॥, ।≡)॥। ले ले. लकडहारेने डाट दिया कि तू किस बेईमानका नौकर है ? बारबार परेशान करता है। सेठ सुन रहा था। यह सेठने लकडी डलवा ली, पैसे दिला दिये और लकडहारेको बुलाया कहा कि भाई, तुमसे बात तो नौकर कर रहा था, मुझे बेईमान क्यो बनाया ? उसने कहा कि हमे बेईमान नौकरसे ही आपकी परीक्षा होगई। यह ईमानसे नहीं रह सका। इससे विदित होता है कि इसका मालिक भी बेईमान है। आपकी बेईमानीका इसपर असर पड गया, इससे इसका भी ऐसा रवैया बन गया। सेठने कहा कि जरा तुम भी अपनी ईमानदारीका परिचय दो, तब उसने अपने पच पाप त्यागका सारा विवरण उसे कह सुनाया।

प्रभावना कर सका तो वह लकडहारा कर सका कि जिसने सेठका भी चित्त बदल दिया।

## अन्तरङ्गकी शुद्धि साक्षात् प्रभावना है

भीतरी शुद्धि बिना प्रभावना के कार्योमे विशाल धन राशिके व्यय करने से भी कोई लाभ नही होता। हमारी प्रभावना का असर आपपर नही हो सकता और न आपकी प्रभावनाका हम पर। इसलिये उचित यही है कि सद्गुणोंका भडार भर अपनी प्रभावना करो, फिर आप प्रभावनाके निमित्त भी हो लेंगे। ज्ञानी मूर्खताके लिये विवश होता है और मूर्ख ज्ञानके लिये विवश होता है। जब अपने आपपर ध्यान आ जाता है या अपने प्रभुके पानेका भाव आजाता है, तब ही सच्ची प्रभावना हो सकती है।

आज धर्म करते हुये भी भगवान्की प्रसन्नताकी कामनाकी जाती है, किन्तु भगवान् तो परपदार्थ है, उनका स्वरूप आपको नही मिलेंगा, किन्तु उन्हें भी पर समझो। आपको अपनेमे ही निज प्रभुका दर्शन होगा, परन्तु शान, अहकार, ममकार छोड़नेकी आवश्यकता है। मेरी गुण वृद्धिको कोई देख न

लेवे वह गुणोको गुप्त रखे, चुपचाप बढता जावे, अपनी कल्पना परको दिखाने की न बनावे, कर्तव्य मात्र निभावे और कर्तव्य करके भी उसका फल नहीं चाहे। यह तो आपकी ड्यूटी है। जैसा करोगे वैसा पावोगे, फिर चाहकी जरूरत क्या और चाह किये वस्तु मिल भी तो नही सकती।

### अपनी शान्ति अपनी प्रभावनामे है

अपनी प्रभावना करना चाहिये। यदि वह करली तो अनतकाल अनन्त उत्सर्पिणी अपसर्पिणी कालो या परावर्तनोमे भ्रमण करते चले आये, इस बीच आज जो मानवभव पाया है, वह सफल हो जाय। जैसे किसीको ४ दिनके राज्य का प्रलोभन दिया जाय और फिर नगाकर भगा देनेको कहा जाय तो वह ४ दिनका राज्य स्वीकार नही करता। इसी प्रकार कर्मके उदयसे यदि सुख साम्राज्य मिला तो विवेक हमे बताता है कि यह जीवन चार दिनका है, इसमे क्यो भूला है ? चार दिनकी चादनीमे मोहित मत रह। सारी इतराहटको छोड कर आत्महितमे लगो।

तृष्णाको घटाओ। यह मत सोचो कि यहा तो व्यापारमें जोरकी मदी पडी है और प्रतिदिन तृष्णा घटानेका उपदेश दिया जाता है आमदनी नहीं होती है। न होने दो और जितनी होती है उसे भी उपेक्षाकी टोकनीमे डालो। भले ही पदार्थ कही रहे और हटा सको तो भी भावोमे से तो उससे मोह हटाओ, तृष्णासे उत्थान नही हो सकता, उत्थान तृष्णा घटानेसे होगा।

निर्मलता रहते अन्धेर नही होता। सम्पत्ति जितनी है, वह भी न रहे, परन्तु एक निर्मलता रहे। यदि निर्मलता नही रहेगी तो जितना अन्धेर अभी है, उससे भी डबल अधेर होगा। यदि निमलता है तो जो अंधेर आज है वह भी नही रहेगा, फिर देखना, क्या सुन्दर बात बनती है कि जगत् चरणोमें झुकेगा और यह जगत्से अलिप्त रहेगा। इसलिये स्वके उत्कर्ष के हेतु ज्ञानाभ्यास करो, जिससे तृष्णाका भाव घटे। तृष्णाभावकी वृद्धि होते न तो स्वकी प्रभावना हो सकती है और न शासन की।

इस प्रकार अष्ट अङ्गोका वर्णन करके कहते है कि सम्यग्दृष्टिका अब कर्तव्य और क्या होना चाहिये—

## परस्थितिनिर्जरार्थं स्वभावविभावौ विभेद्य स्वभाव उपलम्भनीयः ॥१६॥

परपदार्थमे स्थितिके झडानेके लिये स्वभाव और विभावका भेद न करके स्वभावकी उपलब्धि करना चाहिये। परपदार्थोंमे उपयोग लगता है, जिससे रागद्वेष मोहको आश्रयभूत वस्तु विषय होनेके कारण यह परोपयोगी मोही दुःखी होता है। दुःख दूर करना है तो वह उपाय करना होगा जिससे परपदार्थोंमे उपयोग न ठहरे। ऐसा उपाय है यह कि अपनेमे उपयोग ठहरावो। अपनेसे उपयोग तब ठहरे जब अपनेको अपनी प्राप्ति हो जाय। अपनी प्राप्ति स्वभावकी उपलब्धिसे हो सकती है। स्वभावकी उपलब्धि तब हो सकती है जब विभावसे स्वभाव विलक्षण है, यह भेद विज्ञान हो जाय। इस प्रकार यह कर्तव्य युक्त ही है कि पर पदार्थोंमे लगावको दूर करनेके लिये स्वभाव विभाव का भेद करके स्वभावकी उपलब्धि करना चाहिये।

विवेकी को अपनी भलाईके लिये क्या करना चाहिये और वह भलाई कहा है ? अपनेमे ही दृष्टि रखना भलाई है और परमे दृष्टिका जाना बुराई है। अपनी खोटी प्रवृत्तियोंको तो दूर करना ही, परन्तु लौकिक भलाईको भी दूर करना और स्व-स्थितिका निश्चय करना ही भलाई है। ऐसा किये विना न कर्मकी निर्जरा होती है और न आपदा मिटेगी।

कर्म अमूर्तिक मात्र वाला पदार्थ है। उसपर हमारा कोई अधिकार या वश नहीं चलता। कर्म की तो बात दूर रहे, वह अदृश्य वस्तु है, परन्तु जो हमारा हाथ चलता है, जिसका चलना हमे दिखता है, वह स्वयं ही चलता है हम उसके चलाने वाले नहीं, क्यो कि हाथ जड है और मैं चेतन हूं। चेतनकी क्रिया चेतन मे और अचेतनकी क्रिया अचेतनमे, अचेतनमे चेतन कुछ नही कर सकता। चेतन तो केवल अपनेमे इच्छा पैदा करता है, उस इच्छा मात्रको निमित्त पाकर योग होता है। योगका निमित्त पाकर वायु चलती है। वातको निमित्त पाकर शरीरकी शरीरमे क्रिया होने लगती है। इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमनमे उपादान नही बन सकता।

### ज्ञानी पुरुष पदार्थका मर्म जानते हैं

जिनके भेद विज्ञान होता है उनको यह रहस्य ठीक तौरसे समझमे आ जाता है। जिनके ऐसी प्रतीति है कि मैं ही हाथ चलाता हूँ, इस प्रकार जिनकी पर्यायमे जो आत्म बुद्धि होती है, इसीका नाम अज्ञान है। सम्यग्दृष्टि को तो ऐसी प्रतीति भी नही होती कि मैं बोल रहा हूँ, चल रहा हूँ। उमे तो ये अक्षर विवश होकर ही बोलनेमे आना पडते हैं। वह सोचता है कि न तो मैं बोल भी नही सकता हू। मेरे तो केवल इच्छा या बोलनेका परिणाम होता है। उसको निमित्त पा करके भाषा वर्गणायें वचन रूप होकर उच्चरित होने लगती हैं। उच्चरित होना, जड शब्दकी पर्याय है। जडकी पर्याय जडके उपादानसे ही हो सकती है, हमारे उपादानसे नही, परन्तु उसके उस परिणमनमे हमारी इच्छा निमित्तकारण मात्र पड़ती है।

शास्त्रोमे यह बात सुनी जाती है कि प्रत्येक आत्माके साथ कर्म चिरकाल से लगे आ रहे हैं, परन्तु वे कर्म कभी दिखते नही, उनका हमे पता नही। वास्तवमे सोचा जाय तो हमे तो सामने रहने वाली चीजो व शरीरका पता नही चलता, हमे तो केवल अपने सुख दु.ख, आनंद या केवल अपने परिणामो का ही पता है।

मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि दोनोको केवल अपने परिणामोंका ही पता होता है। मिथ्यादृष्टिके अविवेकसे सम्यक्दृष्टिको और सम्यग्दृष्टिके विवेक से मिथ्यादृष्टिको कुछ भी हानि या लाभ नही हो सकता।

### स्वभावावलम्बनसे कर्म झड़ते

अष्ट कर्मदहनाय धूप, कहनेमात्रसे या धूपके धुवां उडनेसे कर्म नही उडते। लक्ष्य तो परपर बना रखा है, शान्ति हो तो कहाँसे हो ? मैं कर्मोंके वश अनादि से ससारमे घूमता आ रहा हूँ, मुझे इनका नाश करना है, ये दुष्ट हैं, अज्ञानी ऐसा भाव बनाता है। वास्तवमे कर्म दुष्ट नही, दुष्ट तो आत्मा है, जो स्वकृत परिणामोको निमित्त बनाकर पुद्गल द्रव्यको कर्म रूप बना देता है। जब तक कर्मोंका लक्ष्य रहता है, तब तक कोई और कितने ही काम क्यो न करे उसके निर्जरा नही होती।

कर्मकी निर्जरा करो—यह उपचार कथन है। कर्मकी निर्जरा नहीं की जाती, परन्तु सब ओरसे चित्त हटाकर अपनी ओर देखना, सब विकल्प छोड़ स्वभाव को निरखना, इसीका नाम निर्जरा है जो जीवके होती है। कर्म मेरे हैं, इनकी निर्जरा करना है, यह कहना गलत है। कर्मोंका हममें अत्यन्ताभाव है, हम उनमें क्या कर सकते हैं ? वास्तवमें न तो हम कर्म कर सकते हैं, न रच सकते हैं और न मिटा सकते हैं। निमित्त नैमित्तिककी जो बात बनती है सो होती है।

### परवस्तुका परिणमन अपने आधीन नहीं

आप रोटी खा सकते हैं, परन्तु खाई रोटीका रस, रुधिर मांस हड्डी आदि का परिणाक आपके हाथ नही और उसका परिणाम भी आपके हाथ नही। भोजन करनेके बाद क्या कभी कोई विचारता है कि मैं इस खाये भोजन का अमुक-अमुक धातु इस परिमाणमें बनाऊंगा और अगर कोई ऐसा करनेका विचार भी करे तो अपने विचारमें सफलता पा सकेगा क्या ? परन्तु पेटमें गया हुआ अन्न जठराग्नि आदिका जैसा निमित्त मिलेगा वैसा स्वयमेव परिणमेगा। उसी प्रकार आप भी केवल अपना भाव (परिणाम) मात्रकर सकते हैं, परन्तु उसके निमित्तसे कितने कर्म आये, कितने कर्म घटे, बढे और रुके, यह आपके अधीन नही आप तो केवल अपना परिणाम मात्र कर सकते हैं।

कर्मका आस्रव, बंध, संवर, स्वयं होता, किया नही जा सकता। उसी प्रकार कर्मकी निर्जरा भी स्वयं होती है, की नही जा सकती। इसलिये परपदार्थ में जो अपनी स्थिति बन रही है कि मैं शरीरमें ठहरा हूँ, ऐसे मिथ्या भाव हटाने को अथवा परमें हमारी स्थिति नही रहे, इस हेतु स्वभाव व विभावका भेद कर स्वभावकी उपलब्धि करना चाहिये।

### मोही खुदको नहीं देख सकता

अनादिसे मोही जीव निरन्तर परवस्तुमें स्वत्वकी कल्पना करता व परका ही कार्य करता आ रहा है। स्वकी ओर उसका लक्ष्य न कभी गया है न जा रहा है। जैसे आंखका काम परको देखनेका है, वह अपने आपको कभी नही देखती। केवल आंख ही नही अन्य इन्द्रियोंका भी अपने आपपर प्रयोग नही होता। शरीरकी गर्मी, शरीरके किसी खास अवयवकी गर्मी उसी अवयव द्वारा स्वयं

नही जानी जाती, उसको जानने के लिये अन्य अग ही समर्थ हो सकता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि, खुदको नही देख सकता, दूसरेको ही देखता है। परमार्थतः देखो तो आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो अपना काम स्वय करता है, अपनेको अन्य की सहायताके विना स्वय ही जानता और देखता है परन्तु जब यह आत्मा स्वदृष्टिसे च्युत होकर परदृष्टिके सन्मुख होता है, उस समय यह आत्मदृष्टिसे च्युत हो जाता है। ऐसी अवस्थामे कहा जाता है कि यह मोही आत्मा परको ही देखता है।

जैसे कोई गाठ ज्यो ज्यों खोली जाती है. त्यों त्यो और तेज लगती जाती है। राग भी ऐसा भी है कि वह थोडा भी करने से फिर मिटाना दु.साध्य हो जाता है। इस लिये जिस रागको मिटाना है उसके समीप ही नही जाना चाहिये। अभी तो उम्र छोटी है, कुछ खेल खा लेने दो, हुये रागको पिछली उम्रमें मिटा लेगें, यह भावना गलत है। आनेके पहिले ही यदि सभल जावेगे तो राग अपनेमे घर ही नहीं कर पावेगा असावधान हो यदि अपनेमे रागको प्रवेश दिया तो एकवार भी रागसे परिचय हुये यह बढता ही जायगा, फिर उसको घटाना मुश्किल हो जावेगा। इस लिये यदि रागसे बचना है तो अनादि कालसे जो परमे स्थिति रह रही है उसे हटाकर स्वभावोपलब्धि करना चाहिये।

### निज निरपेक्ष स्वभावकी दृष्टि करो

यह स्वभावोपलब्धि परसे स्व-भावको पृथक् समझे विना नहीं हो सकती। इसके लिये यह समझना कि विभाव सहेतुक है, मैं (स्वभाव) अहेतुक हू। विभाव परनिमित्तसे होते जब कि स्वभाव अनैमित्तिक होता है। विभाव सादि होता है, स्वभाव अनादि होता है। विभाव शान्त और स्वभाव अनन्त होता है। ऐसी स्व-दृष्टि होनेपर उसी स्वभावमे स्थिर रहना निर्जराका उपाय है, किन्तु परमे ठहरना पर समय है वह आस्रव बधका उपाय है।

चौबीस घटेमें मानव जो जो क्रियायें करता है उनमे सोचे तो कि आत्म निरीक्षण कितने समय करता है अर्थात् बाह्यसे हटकर अपने ख्याल करनेमें कितना समय लगाता है। सम्यग्दृष्टि कोई भी काम करे, बीच-बीचमे अपनी ओर दृष्टि रखता है, वह अपना ख्याल नहीं भूलता। बडीसे बडी आपत्तियो

आसक्तिमें फसने पर भी उसे बीचोबीच, स्वदृष्टि (अपना ख्याल) आ ही जाता है।

जिसकी स्वदृष्टि होती है, उस ज्ञानीका लक्ष्य कितना महत्त्व पूर्ण रहता है ? जब वह आहार या किसी भी शारीरिक क्रियाके लिये प्रवृत्त होता है, तब वह णमोकार मत्र जपता है, मानो भगवान् परमेष्ठियोसे गिडगिडाता है कि हे भगवन् ! मैं आत्मदृष्टिसे च्युत हाकर भोजनमे प्रवृत्ति रूप विपदामे फसने वाला हू, मुझे आपका ध्यान इस विपदासे बचावे और मुझे वह बल दो कि मुझे इन आहारादि शारीरिक क्रियायोमे झुकना ही न पडे, यह वस्तु खाऊ, यह न खाऊ या मुझे और खानेको मिल जाय, ये गृद्धिके भाव मुझमे न आने पावें।

### पापका प्रायश्चित्त प्रभुभक्ति है

आहारके अन्तमे भी वह णमोकार मत्र पढ पढ करके पश्चात्ताप करता है कि हे भगवन् ! मैंने स्व-दृष्टिसे च्युत होकर अब तक विविध पदार्थोंके खाने मे गृद्धिकी, इतनी देर मैं अपने आपको भूला रहा। मैं आपके हाथ जोडता पैर पडता हू कि मुझे ऐसी शक्ति दीजिये कि ऐसा अनात्म भाव मुझमे अब न हो, जिससे मैं आगे बडी विपदाओ मे फसनेका पात्र बनू। कर्मों की व्यवस्था से भले ही मुझे ये क्रियायें करना पडे, परन्तु उस समय भी मैं आत्म दृष्टिमे बेहोश न होऊ।

इसी प्रकार स्वभावसे हटकर विभावमे लगनेके गृहस्थीके जो अन्य कार्यान्तर हैं, उनको कर्म व्यवस्था से करता हुआ भी सम्यग्दृष्टि अपनेको उस समय भी सावधान रखता है, हमारा भी कर्तव्य है, कि हम भी गृहस्थीका काम भले ही करें और कर्मकी व्यवस्थावश उन्हे छोड भी न सकें तो भी उनमे अपनी स्थिति का भाव तो हटा लें।

विवेकी ऐसी भावना करे कि मेरेमे एक क्षणको भी क्रोध नही आवे, क्रोध आनेसे दूसरे जलें, या न जले मैं पहिले जलूगा। श्रोताओको भी ठेस लगेगी। जो विष कईको ठेसका कारण हो, वह भाव मेरेमे नही आवें, ऐसी भावना निरन्तर रहे, फिर क्रोध आ ही नही सकता।

## अहङ्कारसे आत्माका ही घात है

मानमे अकड़े हुये पुरुषका धर्ममे प्रवेश नही हो सकता। धर्मको कोमल क्षेत्र अपेक्षित होता है जिससे दूसरे तुच्छ मानते हैं। वह मान मेरे अन्दर मत बसो। अमुकने ऐसा कह लिया, नुकसान कर दिया, यह सब कल्पनामात्र है। यदि तुम उस ओर दृष्टि नही दो, परवस्तु परका कुछ नही कर सकती, यह निश्चय कर लो, परमे कर्तृत्वको कल्पना मत करो तो परसे अपनी हानिका अनुभव ही नही होगा। अनर्थ तो परमे कर्तृत्वको कल्पनासे होता है। दूसरोके करने, कहनेसे दूसरेका बिगाड़ असभव है।

वह छल कपट जिसकी सभालमे मायावी भी असमर्थ है, करनेके बाद कह तो दी या कर तो दी, अब क्या होता, निरन्तर चित्तमे विविध कल्पनाये उत्पन्न होती हैं कि कही मेरे छल कपटका भडाफोड न हो जाय। जब चित्त इन चिन्ताओमे व्यग्र रहता है तब उसमे धर्मका प्रवेश नही हो सकता।

## लोभ गहन अन्धकार है

लोभके रङ्गमे अपनी दुनियाका पता नही रहता। लोभ के कालमें आत्म दर्शन भी नही हो पाता। इसका पिण्ड दसवें गुण स्थान तक नही छूटता। इसके रहते कल्याण का पथ, भलाई, सभ्यता, रक्षा और शिष्टाचार नही बन सकते, लोक वा परलोक बिगड जाना है, ऐसा लोभमनमे नही आवे।

दुनियाके प्रलोभनो (मजा मौजो) मे मत उलझे रहो, भगवानसे गिड-गिडाओ और अपने पर पछताओ या समाधिका उत्साह लाओ, यही प्रशस्त कर्तव्य है। यदि इससे विमुख हो गये, ऐहिक तरक्कीकर चारमे अच्छे भी कहला गये, तो भी वे कोई आपका हित नही कर देवेंगे। जिन क्रोधादिकोके कारण परमे स्थित रहते थे, उनकी निर्जराकर स्व और परका भेदकर स्वकी ओर झुकना चाहिये, मोहके उदयमे तुम हमारे हम तुम्हारे, इसीभावने ससार बढाया और दुःख लगाये तथा रुलाया, परन्तु उन भावोमे तत्त्व नही, जिनमे राग जाता है, वे अपने कुछ नही, सहायक भी नही, मोहको कल्पनामात्र है, जो ससार-परिभ्रमणकी कारण बनती है।

## मैं स्वभावमात्र हूँ

स्वका होना स्वभाव कहलाता है, स्वभाव ही चैतन्य है, स्वभावमात्र ही आत्मद्रव्य है। यह शकल सूरत मैं नही, भीतरी विकल्प भी मैं नही जो कल्पनायें बनती है वह भी मैं नही और ये ज्ञान भी मैं नही। इन सबका निषेध करते-करते जो बचा वः सत् ही मैं हूँ।

आप करना मानना, समझना, जानना, बन्दकर दो, कल्पना व विचार बन्दकरदो, अपने आपके विषयमे नित्य अखण्ड आदिका भी भाव बन्द कर दो तो आपको आपकी चीज मिल जायगी। जब परमे नहीं टिकोगे तो अपनेमे टिक ही जाओगे, किन्तु मोही यह न करके परमे टिकता है, जिससे उसे स्वका लाभ नहीं होता।

परसे पिण्ड छुडाकर अपने आपमे स्थिर रहना, इस प्रकार अपने स्वभावकी स्थिति परमार्थ, सार व उत्तम है। बच्चेको पाला पोषा बडा किया, बडा होने पर मा बाप पर उसका प्रेम रह जाता है क्या ? उसका प्रम नये मा बाप यानेः सास ससुर मे हो बह जाता है। यदि थोडा बहुत आप पर रहे भी तो भी उससे लाभ क्या ?

सासारिक प्रेमका यह रहस्य देख, बहुत तो उस इग्लैण्डको ही अच्छा कहेगे जहाँ जन्मसे ही राग नही सिखाया जाता। यदि उनका बाप भी उनके होटलमे खा जावे तो उसका भी बिल तैयार रहता है।

कई बातें हमारे यहां भी अच्छी हैं, परन्तु कुछ करने योग्य कार्योंको हम नही अपनाते, सो इस प्रकार किस्सा होती है कि जिसे दूध और शक्कर पीना है, वह यह विचारे कि दूध तो घरमे पीलें और शक्कर बाजारमे खालें। आवश्यक तो यह था कि दोनोका प्रयोग एक साथ होता उसी प्रकार जैसे हमारे मे ऊपरी दया या धर्म आदि चलते है, वैसे ही आत्मदृष्टि होना चाहिये थी, परन्तु आज हम दयाधर्म आदि ऊपरी कार्योंमे तो झुक गये, पर आत्मदृष्टि जाती रही। इसलिये यदि वास्तविक लाभ लेना है तो अपनेको अपनी कल्याण की भावनासे करना चाहिए। स्व और परके कल्याणके भाव ही समय समयपर सहज वृत्ति से निर्जराके कारण बनते हैं।

## सर्वत्र स्वभावकी महिमा है

जिस स्वभावका आश्रय करके सम्यग्दृष्टि निर्जराका पात्र होता है, वह स्वभाव क्या है ? उसका वर्णन व्यक्त और अव्यक्त रूपसे दो प्रकारका होता है—सर्व पर्यायोसे विनिर्मुक्त (भिन्न) अनादि अनत एकरूप, सर्व पर्यायोमे-जाते हुये भी किसी पर्याय रूप नही होने वाला स्वभाव अव्यक्त स्वभाव है। उपाधि या परके सम्बन्धसे रहित, परपरिणति रहित, प्रति समय रहने वाला स्वभाव व्यक्त स्वभाव कहलाता है। अथवा किसी परका निमित्त करके जिसमे परिणति नही होती या जिसकी किसी प्रकार की एक परिणति नही कही जा सकती, ऐसा निरुपधि और उपादान, कारणिक रूप स्वभाव व्यक्त स्वभाव कहलाता है। अथवा किसी परका निमित्त करके जिसमें परिणति नही होती या जिसकी किसी प्रकार की एक परिणति नही कही जा सकती, ऐसा निरुपाधि और उपादान कारणिक रूप स्वभाव व्यक्त स्वभाव कहलाता है।

कभी तो स्वभावकी प्रतिकूल व्यक्तिया और कभी अनुकूल व्यक्तियां होती है, परन्तु वे सभी स्वभावकी दशायें हैं, उन समस्त पर्यायोका उपदान कारण स्वभाव है, यह स्वभाव केवल यही व्यवस्था वनाता है कि इसमे जड़ पर्यायें नहीं हैं केवल चेतनपर्यायें ही हैं।

'सिद्धके स्वभावका ज्ञान होनेपर ज्ञाताके स्वभाव का ज्ञान जल्दी हो जाता है। जो वर्तमान पर्यायका उपदान कारण तो होता है, परन्तु वर्तमान पर्याय रूप नही होता, वह स्वभाव कहलाता है। क्रोधके समय भी क्रोधकी दशाका एक उपादान कारण होता है, परन्तु वह एक है, क्रोधरूप नही होता उसीका नाम स्वभाव है।

ऐसा विचार करनेपर क्या हम स्वभाव पर नही पहुच सकते तो फिर स्वभावकी प्राप्तिके लिये भगवानकी उपासना, की आवश्यकता ही क्या ? जहाँ शुद्ध पर्याय एक रूप हो गया वहाँ स्वभाव की स्थितिका मेल वन गया।

जिसकी वर्तमान पर्याय तो है, परन्तु वह वर्तमानपर्यायसे भिन्न है वही स्वभाव है, क्रोधादिकके विषयमे भी यही सोचा जा सकता है कि उनकी वर्तमान

पर्याय तो है, परन्तु वे वर्तमान पर्यायरूप नहीं, तो वहाँ भी हम स्वभावकी पहिचान कर सकते हैं।

## स्वभावके अनुरूप परिणति का होना स्वभाव पर्याय है

जहाँ शुद्ध पर्याय एकरूप हो गई, वह स्वभाव है और जहाँ शुद्ध पर्याय भिन्न रूप रही वह है विभाव। स्वभावका पृथक् पता लगा लेना दु साध्य है।

आत्माका स्वभाव तो अक्षोभका है, फिर तुम क्रोध आदि क्यो कर रहे हो? सिद्धमे कोई ऐसा विश्लेपण कर सकता है क्या ? नही, जहा शुद्ध पर्याय का मेल बैठ जाता है उसे स्वभायक कहते हैं, हमारी पर्यायका हमारे स्वरूपसे मेल नही बैठता, किन्तु सिद्धोके स्वरूपका सिद्धोकी पर्यायसे मेल बैठ जाता है।

पानीका सफेद व निर्मल स्वभाव है, परन्तु किसी कारण बस उसमे कीचड या गदगी आ जाय तो उसे देखकर कि इसमे यह गदगी, जलके स्वभावके विरुद्ध है, परन्तु उपायोसे उसकी गदगी हटनेपर वह पुन. निर्मल स्थितिमें आ जाता है। उसकी वह निर्मल स्थिति कैसे बनी ? स्वय बनी, उसीका नाम स्वभाव है। निर्मल स्थिति व स्वभाव एक ही बात है, परतु कारणस्वभाव कारण रूप है और कार्य स्वभाव कार्य रूप है।

ससारावस्थामे जब गन्दे गन्दे विकार हो रहे हैं तब प्राणीका स्वभाव सहज नही जाना जा सकता है और जाने तो स्पष्ट अन्तर समझ जाता है, परन्तु सिद्धमे गदगी नही आती, सदा समानता रहती है, इससे सिद्धोमे वह स्वभाव स्पष्ट नहीं जाना जा सकता। यदि स्वभावको जल्दी समझना है तो शुद्ध अर्थपर्याय देखना चाहिये।

## शुद्धपर्याय निरपेक्ष होती है

केवलज्ञान क्षायिक है, उसमे ज्ञानावरण कर्मका क्षय निमित्त होता है। इस दृष्टिसे सर्वप्रथम हुये केवलज्ञानको क्षायिक कहना उचित है, परन्तु सदा आगे आगे होने वाले क्षण क्षणके केवलज्ञानमे तो कर्मका क्षण कारण नही होता वे तो पारिणामिक या स्वभाव वन गये, फिर उन्हे क्षायिक क्यो कहते हैं ? इसीलिये न कि आगे आगेके केवलज्ञान प्रथम केवलज्ञानके समान ही होते

है। परमार्थतः सिद्धोमे औपशमिकादिके समान क्षायिक भाव भी नहीं, वास्तव मे वहाँ एक पारिणामिक भाव ही है।

सिद्धोका जो पुरुषाकार व्यञ्जन पर्याय बना है, उसमे हम यह नही कह सकते कि वह पारिणामिक है। क्यो कि वह सीमित आकार है, बधा हुआ है। इस आकार का कारण शरीर था, उसे छोडे करोडो वर्ष हो जाते हैं, किन्तु इतना अन्तर हो जानेपर भी वह आकार आज तक इसी रूप क्यो परिणम रहा है ? तो कहा जायगा कि पूर्व शरीर जिस आकारमे था, वही आकार रह गया, इस कारण उनके आकार को यदि औपाधिक कह दे तो अत्युक्ति नही होगी। यद्यपि उपाधि चली गई तो भी उसका कार्य बना है।

## शुद्ध अर्थ पर्याय ही निर्वाण है

व्यञ्जन पर्यायें साधारणतया नित्य भी होती है। उनमे निमित्त भी नही होता। अर्थपर्यायें ही अनित्य और नैमित्तिक होती हैं। व्यञ्जनपर्यायका आत्माके स्वभावसे मेल नही खाता, परन्तु सिद्धकी अर्थपर्यायका स्वभावसे मेल है। जब हम स्वभावको जाने तो उसकी व्यञ्जनपर्यायको नही जान सकेंगे। अर्थपर्यायको ही जान सकेंगे, उस अर्थपर्यायसे स्वभावका मेल होता है। इसी कारण भगवद्भक्ति के समय जो स्वभावकी दृष्टि है वह सवर निर्जराका कारण है और जो अध्रुवकी दृष्टि है वह सम्वर और निर्जराका कारण नही।

कल्याण का पथ भक्ति नही, कल्याण का मार्ग तो स्वभाव का आश्रय ही है। स्वभावका ज्ञान, निगोदिया या पापीको भूतार्थपद्धतिके ज्ञान से भी हो सकता है, उनका भी ध्यानकर हम स्वभावको जान सकते हैं। जैसे निगोदियाकी, जो विभाव अर्थपर्याय है वह किसका परिणमन है ? उत्तर—स्वभाव का। यह उत्तर आनेपर पर्यायदृष्टिको गौण करो और जिसकी पर्याय है उसे मुख्यता दो, स्व-भावका परिज्ञान तुरन्त हो जायगा, परन्तु विरुद्धपर्यायका ध्यान छोड स्वभावमे पहुचना कठिन है। इसी लिये भगवद्भक्ति वह सरल उपाय है जिससे कि भगवान्का ध्यानकर पर्यायसे छूटकर स्वभावमे आजाय।

श्रेणी चढते समयमे भक्तिका त्याग इस लिये है कि श्रेणी ध्यानसे ही होती है, भक्तिसे नही। पृथक्त्व वितर्क ध्यान द्वारा गुणसे पर्यायका, पर्यायसे

गुणका विचार होता रहता है तथापि उस ज्ञानसे तो श्रेणी चढी जा सकती है, भक्तिसे नही।

## आपका स्वरूप ही कल्याणमय है

आपके कल्याणके लिये आपमे कितना ऊचा तत्त्व है, जो भगवान्‌के ही समान है। आपकी पूरी महत्ता आपमें मौजूद है। भगवान्‌की महत्ता आपमें नहीं। अपना स्वभाव जानना है तो भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान पहिले सीधा, सरल उपाय तो अवश्य है, परन्तु उसका नतीजा निरपेक्ष नही। निजस्वभाव के अवलम्बन बिना भक्तिमात्र कार्यकारी नही हो सकता। स्वभावके अवलम्बन बिना हमारा कोई भी उद्यम कल्याणके लिये कार्यकारी नही हो सकता।

प्राणी किसी भी तत्वको यथार्थदृष्टिसे निरखे तो वह स्वभावदृष्टिमें आजाय या किसी तत्वके गुणको यथार्थ दृष्टिसे देखे तो स्वभाव दृष्टिमे आजाय।

पर्यायदृष्टि विभावकी ओर ले जाती है और फिर हम तो पर्यायका भी ठीक ज्ञान नही कर पाते। हमें हरएक पर्यायको। स्वय या अन्यरूप बनाने का प्रयास करते हैं और यहाका व्यवहार भी तो ऐसे ही चलता है, परन्तु इससे सिवाय विह्वलताके और कुछ हाथ नही आता। जिस भी परिणमनको अब आप देखो, विचार करो कि यह अमुक द्रव्यका परिणमन है, इसके परिणमनका संबंध अन्य द्रव्योके साथ नही अथवा बाह्यपदार्थसे इस बार परिणमन नहीं होता। जब यह विभाव रूप परिणमता है, तब विभाव उसमे निमित्त हो जाता है, परन्तु निमित्त स्वयं वस्तुको परिणम नही सकता। यह उपादानकी ही विशेषता है कि कैसे कैसे निमित्त पाये तो कैसा कैसा परिणमे। वस्तुके परिणमनमे निमित्त रूप द्रव्य कुछ नही कर सकता।

## प्रत्येक पदार्थ अपनी कलासे परिणमता है

हम तख्त पर ध्यानस्थ बैठ गये, इसमें तख्तकी करामात नहीं, शरीरकी ही करामात है। हमारे बैठनेमे तख्त से क्या करामात निकली? वह हमें क्या साधक बनी? वह तो अपने रूपादिसे अपनेमे ही यथावत् परिणम रहा है। अपनेसे बाहर तो वह निकल नहीं सकता। सब कुछ विशेषता हमारी ही है

कि हम चौकीको निमित्त पाकर ध्यानस्थ जैसे बैठ गये (परिणम गये), यह अवश्य है कि यदि यह तख्त नही होता तो हम इस रूप (आसनस्थ) न होते, परन्तु इस रूप परिणम गये, वह तख्तके असर या करामातसे नही। हम अपने ही असरसे तख्तको निमित्त बनाकर बैठ गये। इससे कहा जाने लगा कि तख्त के असरसे बैठे।

### परिणमनका ही नाम असर है

एक वस्तुके असरसे दूसरी वस्तुमे असर नही हो सकता। हमारे बोलनेमे भी श्रोताओका असर व करामात नही, यह हमारी ही विशेषता है कि कैसे श्रोताओंको निमित्त पाकर बोला जाय ? हम श्रोताओको निमित्त पाकर बोल रहे है तो भी हमारा बोलना श्रोताओ के असर या करामात से नही, वह तो हमारी ही विशेषता है। श्रोता तो न हमे प्रेरणा करते हैं, न कुछ सहायता ही देते हैं।

यद्यपि श्रोता न होते तो बोला ही नही जाता। इस लिये बोलनेमे, श्रोता निमित्त अवश्य है, परन्तु बोलनेमे जो उपयोग, जोर या शक्ति लग रही है उसका सम्बन्ध वक्तासे ही है या वह वक्ता की ही विशेषता हैं। (परन्तु व्यवहारीजन इन शब्दोमे कहा करते हैं कि महाराजका क्या अच्छा ?) इसी प्रकार वक्ताके शब्दोको सुनकर श्रोता प्रसन्न होना है या खिन्न होता है, उस की प्रसन्नता और खिन्नतामे भी वक्ताका असर या करामात नही। वह केवल वक्ताके वक्तृत्व को निमित्त पाकर अपनेमे केवल वैसा असर पैदा करता है। श्रोताके खिन्न या प्रसन्न होनेमे वक्ता कुछ नही कर सकता, परन्तु व्यवहारीजन इन शब्दोमे कहते कि महाराजका क्या असर पडा, परन्तु यह कहना या मानना कुछ बतानेकी शैली या भ्रम है, ववतृत्वको सुनकर खिन्न या प्रसन्न होना श्रोताका निजी असर या विशेषता है।

शुद्ध वस्तुका स्वरूप बहुत जल्दी जानना है तो वह उपाय एकीकृत, शुद्ध पर्याय का जानना है, परन्तु हम जरा जरा सी बातोमे पर्याय दृष्टि करके अपनेमे बुद्धिमान, श्रीमान् आदि पोजीसन घुसाते हैं, परन्तु वे पोजीसन विष हैं और आत्माकी बरबादी के कारण है। यही पर्याय दृष्टि है।

## पर्यायबुद्धि ही अशकुन है

घोरतपश्चरण व अटूट ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर भी पर्यायदृष्टि मोक्ष मार्ग या आत्मस्वरूपके तिरोहित करनेके लिये अटक या विघ्न है। पर्यायकी अटक हटे ही स्वभावका सामीप्य होता है, परन्तु जिनकी अटकोका ठिकाना नही वे स्वभावके निकट कैसे पहुच सकते है ?

लोग सोचा करते होगे कि यह तो बाबाओ का कार्य है कि वे गृहस्थीके कामो को अटक समझते हैं। इनको क्या ? कुछ नही बना या कुछ नहीं रहा वो बाबा बन गये। ये अभागे (भाग्यहीन) दुनियादारीकी बातोको क्या जाने ? उनका इनको क्या मजा ? उनके पानेके लिये बड़े नसीबकी जरूरत होती है। लोमडीको अगूर खट्टे, सामग्रियाँ न मिल सकी तो अटक बताने लगे, इसीलिये वे आज साधु सन्तोका, जैसे अनिष्टो को दुरत्ता जोडा जाता है कि दादा हाथ जोडते हैं, पिण्ड तो छोडो। उसी प्रकार बाह्य भावसे हाथ जोडने लगे।

परन्तु मैं जो मार्ग अपनाये हूँ, वह अहित है, ऐसा भाव अन्तरङ्गमे आता तो इस मार्गको अपनाने वालोको भी वे धन्य समझते। उनके अनुकरण की इच्छा रखते ऐसी हालतमे जो वे साधु सन्तोका विनय करते, वह वास्तविक विनय कहलाती, परन्तु ऊपरी हाथ जोडने से, वह धन्य है, इतना कहनेमात्रसे क्या लाभ ? यदि आपको अपना सयोग मार्ग ही ठीक जचता है तो भारी नम्रता भी वृथा है। यदि अपना मार्ग सदोष दिखने लगे, तभी समझो कि अब अपने मे विनय आई है। यदि यह नही हुआ तो यथार्थ विनय का प्रवेश भी नही।

## मैं अध्रुव नहीं, ध्रुव हू

हमारा जो परिणमन चल रहा है, वह मैं नही हू, उससे मैं अत्यताभाववान् हूँ। कई अनाज इकट्ठे मिले रखे है, गेहूके दाने अधिक है और चीजोके कम, वह गेहूँको पहिचानता है, मिश्रित अनाजमे से क्रमश एक एक अनाजको चुन चुनकर फेंकता है, काले काले सफेद मु ह वाले दानोको उठा उठा कर फेंकता है कि यह गेहूँ नही। इसके बाद लम्बे लम्बे दोनो ओर पू छ वाले और बीचमे सडक वाले दानोको उठा उठा फेंकता, कि ये भी गेहू नही। इस प्रकार क्रमश

अन्य सभी अनाजोको चुनकर अलगकर देता हैं, अन्तमे शुद्ध गेहूँओको प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार आत्मामे भी क्रोध, मान, माया, लोभ, पाप, कषाय, रागद्वेष आदि विकार आ मिले है, परतु मिश्रितदानोकी भाति आत्मासे इनका निकालना सहज नही, फिर भी इनको आत्मा को पृथक् समझनेके हेतु ऐसा भाव करो कि यह क्रोधी, मानी, दोषी, अदोषी, अपराधी और निरपराधी आदि सब अवस्थाओंसे गुजरने वाला रा एक आत्मा है। भले ही ये दोष क्रियात्मक रूपसे नही हटाये जा सकें तो भी अपनी बुद्धिसे तो इन्हे हटाओ। पहिले पर्यायको उपयोगसे निकालो, फिर गुणो परसे भी बुद्धि हटाओ, फिर एक जो अभेद रह जाय उसका नाम ही स्वभाव है। वह स्वभाव अरिहत व सिद्ध पर्यायसे मिल रहा है, इसलिये उनकी भक्तिका विधान है।

परन्तु अरिहत व सिद्ध आदिकी पूजाका साफल्य तभी हो सकता है, जब पूजक का अभिप्राय स्वभाव की ओर पहुचनेका हो, केवल पूजाके फलसे मैं देव इन्द्र या राजा हो जाऊ, ऐसे निदान मिथ्यात्व, पाप या बधके ही कारण होते हैं। धर्म बाह्य धर्मस्थानमे ही हो यह बात नही, किन्तु बाह्य धर्म स्थानमें भी पाप हो सकता है और दुकानमे बैटे ही धर्म किया जा सकता है। धर्म या अधर्म पूजक के तर्क पर निर्भर है। वस्तुत. धर्मस्थान आत्मा है। धर्मकी बात समझनेके लिये बाह्य धर्म स्थान निमित्त है।

### भगवद्भक्तिका प्रयोजन शुद्धात्मोपलब्धि है

अरिहत और सिद्धकी भक्तिका प्रयोजन स्वभावका आश्रय करना ही है। उनकी भक्तिका यह उद्देश्य बनाओ तब ही भक्तिकी सफलता और स्वभावकी प्राप्ति होगी।

यह उद्देश्य हुये बिना ही भक्तिके कार्योंमे विविध विकल्प, कलह और विसवाद होते हैं। पूजा करते करते लडाई हो जाती है। स्थान परसे लड पड़ते, राग रगसे लड पडते। यह सब भक्तिका उद्देश्य ठीक न होनेका कारण है। यदि ठीक उद्देश्य बनाकर भक्ति करे तो झगडा और विरोधका काम ही क्या ?

परन्तु आज तो मानव प्राय· केवल रूढ़ि आदत या लज्जावश हो मंदिर

जाते हैं, वहाँ जाकर यदि उस परमसौम्य वीतरागमय जिनमुद्राको देख अपने स्वभाव के पास पहुँचनेका यत्न करता तो झगडा होता ही कैसे ? वहाँ स्वभाव के ज्ञान के सरल उपाय भूतसिद्धकी अर्थपर्याय का ध्यान करना चाहिये। उनका ध्यान किये से वे तो हमारे ज्ञानमें नहीं टिकेंगे, किन्तु हम अपने स्वभावमे आजावेंगे। यही निर्जरा का कारण है।

अब उसही स्वभावका लक्षण कहते हैं—

**निरुपधिरुपादानकारणीभूत एकीकृतशुद्धपर्यायः स्वभावः ॥१७॥**

उपधिरहित नित्य उपादान कारण रूप तथा मेल किया है शुद्ध पर्यायसे जिसने, ऐसा स्वभाव होता है।

स्वभावकी दृष्टि बनानेके लिये हमे किसी भी पर्यायपर दृष्टि न रखना होगी। पर्यायका स्रोत स्वभाव है। पर्यायका जिससे उद्गम है वह स्वभाव है। इस कारण पर्यायपर दृष्टि रखकर कोई भी अपने स्वभावमे नही पहुँच सकता।

इसी प्रकार गुण भेदकी दृष्टि रखकर भी कोई पुरुष अविकल्प स्वभावमें नही पहुच सकता। जिस स्वभावकी उपासना परम कल्याणरूप है वह स्वभाव अविकल्प ही हो सकता है। विकल्पके आश्रयमे या विकल्पकी उपासनासे कोई भी पुरुष अविकल्प नही हो सकता। अविकल्प हुए विना कोई भी पुरुष शान्त नही रह सकता।

विकल्प स्वभावसे विपरीत स्वभाव वाले है। स्वभाव निरुपधि है तो विकल्प सोपधि है। स्वभाव कारणभूत है तो विकल्प कार्यरूप है। स्वभावका मेल शुद्ध पर्याय से है, किन्तु विकल्पका मेल तो दूर रहा यह खुद विकृत-पर्याय है।

विकल्प और स्वभावमे मित्रता नही, फिर विकल्पके आश्रयसे स्वभाव कैसे पाया जा सकता है ? अविकल्प त्रैकालिक अखंड स्वभावके आश्रयसे ही स्वभाव परिचित होता है।

### स्वभावोपलब्धिकी आवश्यकता

जिसका शुद्धपर्यायके साथ मेल, खाता है वह शुद्धस्वभाव ही हमारा परम

बधु पिता या मित्र है। आत्माका स्वभाव अनादि, अनन्त, अहेतुक और असाधारण है। कल्याणके लिये स्वभावकी दृष्टि आवश्यक है। स्वभावके अवलम्बन विना कल्याण हो ही नही सकता।

स्वकी दृष्टि होना बहुत कठिन है। मोही मानव जरा जरासी बाह्य अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोमे हर्ष और विषाद करने लगता है। परपदार्थोके विषयमे इष्ट, अनिष्ट, निज का, परायेका हित अहित इत्यादि कल्पनाओके नाते बनाता है। यह अपनी कमजोरी है, जो आत्माके साथ चिरकालसे चली आ रही है। आत्माको बलिष्ट बनानेके लिये स्वाध्याय, अध्ययन और सत्सगतिकी आवश्यक्ता है, परन्तु जिस अविवेकी या मोही के समयका सदुपयोग, इन समयके कार्योंमें नही होता उसका चित्त इतना कुपथगामी हो जाता है कि वह विविध विकल्पोमे ही उलझ जाता है और कभी कभी तो करने योग्य सांसारिक विकल्पोको भी भूल किसी एक ही विकल्पमे तन्मय हो जाता है और कभी कभी तो उसीमे अपना जीवन भी बरबाद कर देता है।

जिसके आत्मकल्याणकी लगन होती है, उसे आत्मकल्याण सम्बन्धी ही इतने काम होते हैं कि उसे उनसे ही फुरसत नही होती, परन्तु वह किसी काम के न हो सकनेका पछतावा नहीं करता। वह न तो पिछली बीती बातका ध्यान रखता है और न आगे क्या होगी ? इस बातका बाध ही बांधता है।

ज्ञानी देखता है कि मैं जिस पर्यायमे विद्यमान हूँ, मै इस वर्तमान पर्यायरूप भी नही हूँ। जिस समय वह बोल रहा है कि "मैं इस वर्तमान पर्याय रूप भी नही हूँ" इस कहनेके पूर्व ही वर्तमान पर्याय बदल गई, वह भूल होगई, ऐसी हालतमे वर्तमान पर्यायके विषयमे भी विकल्प वृथा है।

मैं तो वर्तमान पर्यायसे भी भिन्न स्वरूप अनादि अनत अहेतुक एक आत्मा हू। मेरा किसी अन्य आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नही, सभी आत्माओका निज चतुष्टय भिन्न भिन्न है। जैसे अन्य आत्मा मेरी आत्मासे अत्यत भिन्न है, उसी प्रकार हमारे वातावरण व समागममे रहने वाले हमारे स्त्री पुत्रादिकोंकी आत्मायें मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

## राग द्वेष ही खुदका बिगाड है

इस प्रकार अपने आत्मासे बहुत दूर रहने वालों पर दृष्टि रख उनमें हर्ष विषाद वैर विरोध या राग द्वेष करनेसे उन व्यक्तियोंका कुछ बिगाड नही होता। बिगाड तो राग द्वेषादिके कर्ताका ही होता है। राग और वैर अपने परम शत्रु हैं, परन्तु मोही मानव ने बाह्य प्राणियोमें तो शत्रुकी कल्पना की, परन्तु अपनेमें सदा बैठे रहनेवाले रागद्वेष रूपी शत्रु पर कभी पछतावा नही किया।

अनेक बार रागद्वेष रहित प्रभुको देखा, सोचा और निरखा, परन्तु यह एक बार भी नहीं सोचा कि हे नाथ। जैसे तुम हो, वैसे ही तो हम हैं, किन्तु आप अपने उपयोगमें ज्ञेयरूपसे ये विकल्पके भार क्यो लाद रहे हो याने आपके ज्ञानमें क्यो झलक रहे हैं ? इन रागद्वेषके विकल्पोको आज तक किसीने दुश्मन नही गिना। मोही मानव दुनियाको अपने विषयमें प्रतिकूलता में दुश्मनकी कल्पना करने लगा, परन्तु कोई प्रतिकूल बनता नहीं है। हम ही उसे अपनी कल्पना से दुश्मन मान लेते हैं। हमारी कषाय, पाप, व्यसन या इच्छाके अनुकूल किसीने वर्ताव नही किया कि उसे दुश्मन मानने लगे, उसमें प्रतिकूल हो गये। मोहियोकी दुश्मनताकी यही परीक्षा है कि उनके कषायो, व्यसनो या पापोंमें जो अन्तर डालते हैं, वे उनके दुश्मन हैं और जो इनमें मदद करते हैं वे बन्धु हैं।

जिन बाह्य पदार्थों पर दृष्टि रख हम आकुल व्याकुल हो रहे हैं वे हमारे काम नही आवेगे व उनके निमित्तसे अपनेमें हुये विभावोकी गडबडियां भी काम नही आवेंगी। अपने स्वभावको निरखो, उसीकी भक्तिमें रहो, अपने मार्ग को निरकटक बनाओ। जानना स्वभावकी परिणति है, परन्तु जानना जिसके परिणमन से बनता है वह जानना ही स्वभाव है।

आत्माका स्वभाव कैसा है ? इस बातको प्रकट करनेके लिये कहते हैं—

### आत्मनोऽसावनाद्यनन्ताहेतुकासाधारणज्ञानस्वभावः ॥१८॥

आत्माका यह स्वभाव अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव है। मैं चेतन हूँ, सर्वसे जुदा हूँ, सहज हूँ, अनादि अनन्त अहेतुक हूँ, मुझे किसीने पैदा नही किया, कोई मेरा नाश नही कर सकता। मैं सदा एक रूप बना रहता

हू, परन्तु मेरे परिणमन नाना होते हैं। जिसे ऊपरसे दिखते हैं तो नाना रूप दिखता है, जिसे भीतरसे देखे एक रूप दिखता हैं। ऊपरसे कषाय रूप और भीतरसे देखे अकषाय रूप दिखता है याने कषाय, अकषायके उभयसे रहित।

सभी आत्मा अपने आपके ईश्वर है। लोकमे कहा जाता है कि ईश्वरकी मायाको कोई नही जान सकता। सच है, ईश्वर आत्मा की माया किसी को नही दिखती, परतु यह माया उसमे आई कहांसे ? वह किसी जडसे तो आती नही, इस समस्याके हल करनेमे बडे-बडे दार्शनिकोने प्रयास किया, परन्तु वे उसे नही सुलझा सके और स्याद्वाद ने इस समस्याको सहज ही सुलझा दिया कि कर्मका निमित्त पाकर आत्मामे माया (परिणमन) होती है, परन्तु मैं उस कुमाया या सुमाया से रहित हूं। वह सहज ज्ञान जो अपने आप अनादि है वह मैं हूँ। हे प्रभो, मुझमे ऐसी बुद्धी रहे कि किसी परवस्तु पर मेरी दृष्टि नही फसे या मैं किन्ही विकल्पोमे उलझा नही रहू। स्वसे च्युत हो बाह्य को देखना या लौकिक हिताहितकी बातें विचारना विपदायें हैं। लोग पुत्र स्त्री धन सचय आदिमे बडा कष्ट कर रहे हैं उन्हे अन्तमे क्या मिलेगा और जिस समय कष्ट कर रहे हैं उस समय भी क्या मिलता है ?

### बाह्य सगका यत्न मत करो

विवेकी की सहज साधारण चेष्टामे जो आजाय उसे न्यायसंगत कहते है। परन्तु मायाचार, असत्य व्यवहार यद्वातद्वा चतुराईसे उपार्जित धन समझना चाहिये अन्यायका। यदि सहज चेष्टासे सिद्धि नही हो तो समझे कि अभी न्याय यही कहता है कि बाह्यदृष्टि होनेसे तुम इतनेके ही काबिल हो।

बाह्य पदार्थके रहनेसे या पूंछमे कमी रहनेसे आत्माकी योग्यता कम नही हो सकती, परन्तु ऐसी दृष्टि हुये, काबलियत (योग्यता) कम ही समझो। इससे अपने आपके स्वभावमे रत रहो, मिथ्याभावमे आनंद मत मानो, उससे आनंद हो नही सकता।

सम्यग्दृष्टि चाहे स्वोचित भिक्षा मागकर उदर पूर्ति करता है, परन्तु चक्रवर्तीके वैभवकी वह चाह नही करता। सयमका साधन शरीर है और शरीरका साधन आहार है, अत. आहार करना आवश्यक है।

सम्यग्दृष्टि कितनी ही आपदायें सहलें, पर उसके यह इच्छा नही होती कि किसीका अकल्याण या बिगाड होजाय। जैसे जो नदी वहती ही जाती है, कहीं अटकती नही है, उसका पानी स्वच्छ ही रहता है, उसी प्रकार उपयोग भी वहता है। यदि किन्ही सासारिक घटनाओमे नहीं अटकता है तो वह स्वच्छ रहता है। यह चीज अपने आपपर दया करनेकी है। मोही वडे होकर भी वच्चोसे बुरे वनते हैं। यदि यहा दो वच्चे लड पडते हैं तो फिर वे तुरन्त परस्पर मिलनेसे नही हिचकिचाते हैं तथा मोही अपनी लडाईको वर्षों याद रखते हैं। वडा किसीसे अटक जाय यह उसके लिये महान् क्लेशकी वात है।

### वात भी मेरी कुछ नहीं है

मैं आत्मा अनत ध्रुव स्वभाववान हूं, जिसे देखकर वोल रहा हूं इस विकल्प रूप मैं नही हूं। अमुकने मेरी वात नही मानी, इस प्रकार विकल्पवान भी मैं नही हूं, मेरे न वोल है, न वात है, न शरीर है, न आप है। जव यहाँ कुछ और ही ध्येय होगया तव क्या विवाद या क्या विसवाद। जव तक स्वभाव दृष्टि नहीं आती तव तक यह प्राणी नाना विकल्प सदोहमे झूलता रहता है।

अन्त समीका होता है। थोडी सी पोजीसन वने, उसमे इज्जत मानी क्षण-क्षयी मौजोमे जीवन विताया तो आगेको क्या कर पाया ? वहुत समय नहीं बीतेगा और वह दिन आयेगा कि हमे नई शकल धारण करना पडेगी और नये ही वातावरणमे पहुचना होगा। इस पर्यायका एक तागा भी हमारे साथ नही जावेगा। थोडे समयका यह समागम हर्ष विषादका कारण वनकर मुझे वरवाद कर रहा है। इसका हर मानवको पश्चात्ताप होना चाहिये।

स्वभाव अनादि है। सहज ज्ञान भी अनादि है। वह कवसे प्रारभ हुआ, यह विचारा नही जा सकता। इतने काल तक यह प्राणी अपने सहज स्वरूपको भूल कर दु.खी होता आ रहा है। अव कडा चित्त करके, स्वानुभव करके प्रकाशमे आलिया जाय या स्वस्वरूपमे पहुँच लिया जाय, तव यह दुनिया मेरे लिये वदल जायगी और नई दुनियामे पहुच होगी। इस हेतु स्वभाव दृष्टि आवश्यक है।

स्वभावदृष्टि वह डोर है जिसके द्वारा परिणमनके सम्वन्धसे आत्मामे लगे

विकल्प आकाशमे कितने ही दूर चले जाय, पर वे स्वच्छंद नही रह सकते। कितने ही हलें डुले, पर सीमासे ज्यादह नही हिल डुल सकते, क्योंकि स्वभाव रूपी डोर ज्ञानीके हाथ है, वह विरुद्ध बढनेसे रोक देगा और अपनी ओर खीच लेगा।

### स्वभाव प्रवृत्तियोंसे नहीं मिलता

यह स्वभाव, वैर, विरोध, कलह, राग, आसक्ति, भक्ति, अनुराग और पुण्य कार्य आदि किन्ही प्रवृत्तियोसे नही मिलता। किन्तु पहिले निश्चयनयकी दृष्टिका विषय होता है, फिर पिण्ड, क्षेत्र, कालकी सीमा तोड देखता है तब सूक्ष्म विकल्पके पश्चात्, आत्मामे निर्विकल्प स्थिति आते ही स्वभावसे भेंट होती है। मानव ने सबसे मेल किया, बडे बडे उत्सव किये, धार्मिक प्रसगोमे भी रहा, मूर्तियोकी भी स्थापना की मदिर भी बनवाये, समवशरणमे जा जा कर साक्षात् भगवानके शरीरको भी निरखा, परन्तु आज तक चैन नही मिली। कितना आकुल और व्याकुल बन रहा है, इसका एकमात्र कारण स्वभाव दृष्टिका अभाव ही है।

मैं तो सामान्य हूँ, विशेषरूप भी हू, किन्तु किसी विशेषमात्र नहीं हू। परिचयमे तो विशेष ही आता है। विशेष (पर्याय) नश्वर होते हैं, सामान्य स्थायी तत्त्व होता है। यदि किसीने सामान्य रूप मुझे नहीं पहिचाना तो हर्ष विषाद क्या ? जिसे स्वभाव की दृष्टि होगई वह जिन होगया। भगवान् बन गया या जिनेन्द्रका लघुनन्दन होगया। तिर्यंच नारकी और देव भी जिन बन जाते हैं तो क्या मनुष्य जिन नही बन सकते।

### तत्त्वत विजयी कौन है ?

जो स्वभावपर आने वाले विकल्पको हटाता है उसे जिन कहते हैं। जो स्वभावकी स्थिरतारोधक, तर्कणायें हटाता है वह जिनेन्द्र कहलाता है। जो तर्कणाओके हटने पर जो पूर्ण पवित्रता प्राप्त कर लेता है वह जिनवर कहलाता है।

सातिशय मिथ्यादृष्टि स्वभावकी प्राप्तिके लिये, जितना काम (पचलब्धियो की प्राप्ति और अधःकरणादि परिणाम) कर लेता है उतना काम सम्यग्दृष्टि

को भी आवश्यक नही होता। कर्मोंको अधिक मात्रामे भगाना, सातिशय मिथ्या दृष्टिको ही भगाना आवश्यक होता है। जो सम्यक्त्वसे धुने मिले हैं, ऐसे अन्तरात्मावोको अथवा भगवानको भी उतना कार्य करना नहीं होता, यह सारा काम स्वभाव दृष्टिसे ही होता है।

प्राक् पदवीमे स्वभावदृष्टि वाले मानवके व्यवहारमे अन्तर नही आता। वह बन्धुओसे मिलता जुलता भी है। धन व सन्तान की सभाल व पालन भी करता है, परन्तु अन्तरगमे सर्वके प्रति समताका वर्ताव रखता है, किसी को स्व नही समझता, एक समान सबको जुदा समझता है।

मोही इन गुजरे हुये विकल्पोके कारण समतासे च्युत हो दुनियाके आराम मे फंस जाता है, जिससे उसे स्वभावके मदिरका सुख नही मिलता, परन्तु जो सभी विकल्पोके राहोसे बचकर समताकी गली चलता है, वह स्वभाव समुद्रमे पहुँचकर शाश्वतिक विश्राम लेता है।

सम्यग्दृष्टि बाह्य बातोको तो उडा ही देना चाहता है। देखेको अनदेखा, सुनेको अनसुना कहेको अनकहा कर या मान लेता है। वह समझता है कि मुझे केवल डटकर अपने ध्येयमे आना है, विकल्पोके ही घास पूसमे यदि उलझा रहा तो असली धान्यके बरबाद होने पर लाभ नही होगा।

मोही मानता है कि अमुकको गिरा ही देना चाहिये, यह बात ऐसी बन ही जाना चाहिये, बदला ले ही लेना चाहिये, परन्तु ये सब उसकी थोथी बातें हैं और अमूर्त्तिक आत्माके उत्थानमे विशेष बाधक है। सम्यग्दृष्टि घरका भी कोई हो तो "गले पडे बजायेसरे" कुछ तो कहना ही होगा, सरलतासे कह देता है या योही उडा देता है, करने याग्य हो तो करता है अन्यथा उपेक्षाभाव करता है।

### ज्ञानी अनर्थक बातोंमे पडता ही नहीं

सम्यग्दृष्टि, निन्दा, चुगली व क्रोधकी बातें तो कानमें आनेके पहिले ही भगा देता है। वह सोचता है कि इनसे आत्माका भला नही होता, मुझे क्षणिक विकल्पोंको हृदयमे स्थान नही देना है।

परिचयसे सुलझे हुये लोग भी उलझ जाते है। कोई स्त्री या पुरुष दो ही

प्राणी रहे, किसी बच्चे को देखा, प्रेम किया, पास बुलाया, वार्तालाप किया, स्नेह बढा, मनमे गोद लेनेका भाव हुआ ले लिया। स्नेह बढता गया, तरह तरह के विकल्प हुये। चैन नही मिली तो वह स्नेह उस लडके के विरोधमे आगया। जहाँ स्नेह बढा वह खेद का कारण बन गया।

साधारण स्नेह तो लौकिक आनन्द देता है, वही विशेष हुये दु खका कारण बन जाता है। जिससे ज्यादा प्रेम होता है, लडाई झगडा भी उसीसे होता है। जिससे स्नेह नही ऐसे राहगीर से कोई नही लडता। जब तक स्नेह साधारण रहा लडई दूर रही। जब स्नेह विशेष बना तब झगडा भी बना। इन सब आपदाओंसे हटनेके लिये हमे स्वदृष्टि का अवलम्बन लेना चाहिये।

## जीवका लक्षण क्या

उत्तर—अमूर्तिकपना। गलत, क्यो कि अमूर्तिक तो धर्मादिक भी है।

उत्तर—जिसमे राग न हो वह जीव है। गलत, यह लक्षण किये, तुम तो बन गये, जीव और भगवानको बना दिया, अजीव ऐसी हालतमे जीवका अव्याप्ति आदि त्रयदोषरहित लक्षण चेतना ही है, जो जीवके सिवाय अन्यमे नही पाया जाता। वह अनादि अनत अहेतुक कर्मोसे अनुत्पन्न स्वसे भी अनुत्पन्न और किसी अन्यमे न पाया जानेवाला स्वभाव ही चेतना है।

प्राणीने अपनेमे अनेक विकल्प लगा रखे हैं। जब जब स्वभावका ध्यान नही आवे तब तब समझो कि हम विकल्पो मे अटक गये हैं। जब जब परमे अटक होती है, तब तब स्वभावकी दृष्टि आ नही सकती, यह स्वभाव कर्मोको ध्वस्त करनेके लिये कृष्णके समान है।

यदि हम अपने जगन्नाथका आश्रय लें तो कोई भी प्रभु हमारी सहायता नही कर सकता। पहिलेसे बिगडे कोई नही थे, सबसे पहिले जब जैनधर्म था, तब किसी भी देवमे बिगाड नही था। रागी द्वेषी गुरुओके रूप धीरे-धीरे आये और वे आगे भी विरूप होते गये। जिन जीवोकी पूजाकी प्रथा चली वे पहिले जैन धर्म से संबध रखते थे या तो उनका करेक्टर (आचरण) स्वय बिगड़ा या कुछ अफवाहोंने उन्हे बिगाडा।

दुनियांमे जितने कृष्णादि देव हैं वे उस देव (स्वभाव) के ही वाचक हैं और जितनी काली भवानी दुर्गा देवियां हैं वे भगवती अनुभूतिकी वाचक हैं। इसलिये देव (स्वभाव) और देवियो (अनुभूतियो) का आश्रय लिये ही स्वभावोपलब्धि होती है। इसलिये दुनियाके रिश्तोंमे नाता तोड अपने भगवान् व भगवतीका आश्रय लेना ही हितकर है।

भगवान् चैतन्यस्वभाव की दृष्टिके लिये और उसकी स्थिरताके लिये क्या करना चाहिये ? अब इसके उत्तरमे कहते हैं:—

## तत्स्थैर्याय सकलरागादिविकल्पास्त्याज्याः ॥१६॥

उस स्वभावदृष्टिकी स्थिरताके लिये समस्त राग विकल्प छोड देना चाहिये। स्वभाव अविकल्प है, अतः अविकल्पकी दृष्टिका उपाय रागादि विकल्प नही है। रागादि विकल्पोंसे रागादि विकल्प ही बढते हैं। रागादि विकल्पोको परभाव जानकर उनमे उपयोगको न जोडे, यह उपाय स्वभावदृष्टिकी स्थिरता का है। जहाँ रागादि विकल्पका आश्रय हेय है, वहा यह तो प्रथम सिद्ध है कि समस्त परवस्तुवोका आश्रय करना अत्यन्त हेय है।

### स्वभावावलम्बनका प्रशस्तफल

अपने आपमे अपरिमित सुखपानेकी चीज अनादिसे सदा एक रूप चला आया और जिसकी बुनियाद पर हम सुख और दुःख पाते हैं वह मूल स्रोत, हम मे अनादिसे चला आ रहा है, परन्तु उसपर दृष्टि नही होनेसे विह्वलता ही हाथ आ रही है।

स्वभाव व वर्तमानके परिणमनमे अन्तरकी दृष्टि से देखे तो विदित होगा कि स्वभाव पवित्र है और परिणमन अपवित्र है। वास्तवमे परिणमन भी स्वय अपवित्र नही, परन्तु वह दुःखका कारण है, इसलिये उसमे अपवित्रता का भाव कर लिया जाता है।

जो परिणमन दुःखके कारण बनते है, उन्हे हम अपवित्र कह देते है, परन्तु वे परिणमन जब जैसा योग पाते हैं तब तैसे होते हैं। वह उनका स्वभाव है। हमारा दुःख या सुख किसी अन्यसे नही होता, हम अपनी मिथ्या कल्पनासे ही

परको सुख या दुःखका कारण मान लेते है और हमारी इस कल्पनाका नाम ही विपरीताभिप्राय है।

जो सुख और दुख दोनोमे समान बना रहता है वह स्वभावका उपासक कहलाता है। जैसे दिगम्बर योगीश्वर सुख और दुःख दोनोमे समान रहते हैं या परमात्मा मोहियोके कल्पित इष्ट और अनिष्ट द्विविध पदार्थोंको देखता हुआ भी समदृष्टि रहेता है, उसी प्रकार हमारा स्वभावभी सुख और दुःख दोनोमे क्या समस्त पर्यायोमे समान रहता है वह कभी भी विषम नही होता, सम ही रहता है, किन्तु परिणमन उस स्वभावको उसके स्वरूपकी भाति जान नही पाता, जब तक परिणमनमे आत्मबुद्धि है। स्वभावदृष्टि ही हमारी माता व रक्षिका है, उसकी स्थिरताके लिये हमे क्या करना है और उस ओर हमारी दृष्टि कैसी बनी रहे ?

उसकी स्थिरताके लिये समस्त राग विकल्प छोडने योग्य हैं, परन्तु हमारी स्थिति ऐसी है—मिलने वाले बन्धु मुझसे मिलते है, वे कहते हैं—जैसी इच्छा मैं करता हूँ, उसके अनुकूल वह नही करता। ये विकल्प आपको हटाने होगे। आपका लौकिक प्रयोजन भले ही इन विकल्पो या समागमोसे सध सके, पर वास्तविक प्रयोजन इन विकल्पो या समागमोसे नही सध सकता, नष्ट हो जाता है।

सभी समागम व राग, विकल्पके कारण हैं, जिन्होनेस व छोडा, बनमें रहें, जंगलमे विचरे अपनेमे लीनताका यत्न किया, वे ही यथार्थ आनन्द लूट सके, परन्तु हम मोही, कमजोर, अशक्त, पापभरे निरन्तर समागमों और रागके विकल्पोमे फसे रहते, अपना क्या कल्याण कर सकते है ? कल्याणका सुयोग राग और विकल्पके साधनोमें नही, राग और विकल्पको छोड एकान्तमे सत्समागममे रहना ही स्वभावकी स्थिरताका बुद्धिपूर्वक बाह्य कारण है।

रागादि विकल्पोका त्याग जैसे हो तैसे हो प्रवर्तना बुद्धिमानी है। इन विकल्पोंका त्याग कैसे हो, उसका सीधा एक सरल उपाय यही है:—

## तत्त्यागाय स्वभावो दृश्यः ॥२०॥

उन रागादि विकल्पोके त्यागके लिये स्वभावकी दृष्टि करना चाहिये। यहा प्रश्न किया जा सकता है कि स्वभाव दृष्टिका उपाय तो बताया, विकल्पो का त्याग और विकल्पोके त्यागका उपाय बताया। स्वभावदृष्टि इस प्रकार तो इनमें परस्पर इतरेतराश्रय दोष आता है?

उत्तरः—कोई दोष नही आता, क्योकि इन दोनोमें परस्पर साध्यसाधकपना है। ये दोनो एक साथ भी होते हैं। अत मुख्य गौणका विभाग करते हुए यह बात उचित हो जाती है।

परमार्थद्रष्टा निर्जराका पात्र सम्यग्दृष्टि, अपने आपमे अपने सहज स्वभाव का ध्यान करता है, परन्तु वह उस सहज स्वभावका भी विकल्प नही करता। वह केवल यही सोचता है कि वह कौन परमार्थ तत्त्व है, जिसके परिणमनमे मैं विकल्पमुक्त रहूं। ऐसा वह निज स्वभाव ही है। जो उपाधि रहित स्व परिणतिका उपादान कारण शुद्ध पर्यायसे मेल खाने वाला, अनादि, अनत, अनुत्पन्न, असाधारण ज्ञान स्वरूप है, उसकी दृष्टि एक अमृतपान और आत्मवल वर्धक है, परन्तु उसके लिये समस्त राग विकल्प छोडना आवश्यक है।

## एतदर्थ वस्तुज्ञान का यत्न आवश्यक है

जैसे यहाँ, किसीका प्यारा पुत्र जब ज्यादा बीमार पड जाता है, तब पिता सारा धन खर्च कर देता है, कर्ज भी निकाल लेता है। जैसे बने तैसे पुत्रको बचानेका प्रयास करता है कि भले ही सब कुछ जाय पर पुत्र बचा रहे, उसी प्रकार जब कोई गृहस्थोसे विरक्त होता है तब अपने स्वभावकी स्थिरता या उसमें मग्न रहनेके लिये सब कुछ बलिदान करनेको तैयार हो जाता है। घर कुटुम्ब और समागम सभी छोड देता है, जहाँ चीटिया ही बन्धु, हिरण ही परिवार, हिंसक जानवरोका भय और मौतका साम्राज्य रहता है, ऐसे विकट स्थानोमे जाने और रहनेका उनके उत्साह होता है। आचार्य श्री-अमृतचन्द्रने तो यह बताया है कि जिन्हे स्वभावकी स्थिरता की चाह है वे अपने शरीरको भी अपना न समझें, उससे भी ममत्व छोड देवें, राग किसी भी वस्तु का क्यो न हो, वह स्वभावका साधक नही, बाधक ही है।

वह स्वभाव समस्त ज्ञानकी कलाओसे रमणीय है। उसकी सुन्दरता उसकी

कलाओ द्वारा अवगत होती है। सहज सिद्धकी कलाओसे ही उसे जाना जा सकता है। वह वचनसे नही कहा जा सकता। वह प्रभुता हममे भी मौजूद है, वह प्रभु अपरिमित गुणोकी पक्तियोका नायक है, वे गुण किसका आश्रयकर रह पाते हैं, वही सहज सिद्ध स्वभाव कहलाता है।

स्वहितैषी सोचता है कि मैं कुपूत निकला कि अपने स्वभावसे बिछुडा और परेशानियोका पात्र बना। मैं अन्य बाह्य पदार्थोंमे अटक गया औरकी तो बात क्या, प्राणीका जीवत्व भावभी किसी परवस्तु पर नही टिका। वह आहार बिना भी नही मिल सकता, परिकर के बिना भी नही मिट सकता। जीवत्व किसीकी कृपासे नही रहता, वह तो प्राणीका सहजस्वभाव है। यह स्वभाव किसी भी प्रकार स्थिर हो, परमार्थदृष्टाका यही अभिप्राय होता है और उसके पानेके लिये वह समस्त राग व विकल्प छोड देता है।

**जो बिगाड़का कारण होता वही मोहीको सुन्दर लगता**

जिन वस्तुओके आश्रयसे राग बनता है मोही उन वस्तुओको सुन्दर मानता है। 'सु' उपसर्ग है, अन्तमे अरच् प्रत्यय है, 'उन्दी क्लेदने' धातुसे बनता है। जिसका अर्थ भली प्रकार तडफाकर मारने वाला होता है। जैसे शहद लपेटी तलवार चांटनेसे जीभ काट देती है। उसी प्रकार मोहके उदयसे रचित ऐन्द्रिय सुखोमे अशुद्धोपयोगोके द्वारा अपने ज्ञान और दर्शनरूप प्राण कट जाते हैं, अर्थात् मलिन हो जाते हैं।

भौतिक पदार्थोंका इतना भारी बोझ है, उससे मोही आशारूपी गड्ढेमे समा गये हैं। इतना भारी बोझ उठाकर आत्मा कैसे जीवित है ? यह आश्चर्य की बात है। आहार का मिल जाना, स्त्री योगका प्राप्त हो जाना, धनका मिल जाना महत्वकी बात नही, ये सब पशु होनेपर भी मिल सकते हैं। परिग्रहके रहते या परिवारमे रहते मानव जितने भोग भोगता है, उतने ही किस्मके भोग तिर्यंचोको भी उपलब्ध होते हैं। जिस प्रकार भाव व लौकिक कुछ प्रशस्त कार्य कर अपनेको कृत्यकृत्य मानता है वैसे ही पशु भी कुछ अच्छे कार्यकर प्रसन्न होते हैं। आज मनुष्य जिस सुखको ललचाता है, वैसा ही या उससे भी अधिक सुख घोडा आदि पशुओमे दृष्टिगोचर होता है। जगली हिरण वगैरह अपने

परिवारका कितना सुख भोगता है ? इस प्रकार पशुओंमे मनुष्योसे ज्यादा सुख दृष्टिगोचर होता है। एक ओर असमञ्जसताकी यह बात होती है कि मनुष्य को संतानपालन, विवाह शादी और व्यापार आदिकी चिन्ता भी रहती है जिस से उसके सुखमे समय समयपर बाधायें भी उपस्थित होती हैं।

### तिर्यञ्चोंको तो यह चिन्ता भी नहीं

इस प्रकार मानवोंका सुख सबाध और तिर्यंचोका सुख निर्बाध होता है। आहार भी पशुओंको जहाँ जाय वहाँ तैयार मिलता है और उसके लिये उन्हें कोई किसीका बिल भी नही चुकाना पडता।

अपने मनको जो भला जच जाता है वही सुख माना जाता है और उसीको पानेके प्रयासमे मानव अपनी मानवता खो देता है। यदि लौकिक इन्द्रिय सुख पाना ही कर्तव्य माना तो वह तो पशु होकर भी प्राप्त कर सकते थे, पर मानव क्यो हुये ? मानव पर्यायकी सार्थकताके लिये अब हमे क्या कदम उठाना चाहिये ?

तीस तीस, चालीस चालीस, पचास, पचास, वर्ष तो यो ही गमा दिये, आत्मिक उत्थानका अब तक कोई कार्य नहीं किया। मोहकी मात्रा, अल्पवयमे जितनी थी, उम्रकी वृद्धिके साथ ही उसमे भी वृद्धि करते गये। ज्यो ज्यों आयु बढती है, त्यों त्यों अकल्याणोकी ओर झुकाव बढता जाता है। इस पर भी चाल यह चली जाती है कि लोग समझें कि मैं, अब एक भला मनुष्य बन गया हूँ। अपना पोजीसन रग ढग ऐसा बनाया जाता है कि दर्शकको उसकी असलियत का बोध नही हो पाता। ऐसी हालतमे उसके मनुष्य होनेका लाभ ही क्या ?

### स्वाधीनताकी बात सरल ही होती है

रागी और मोही मानव स्वभावकी प्राप्तिके लिये यदि कुछ करना और कहना चाहे तो एक कठिनाई सी प्रतीत होती है, परन्तु प्रथम प्रथम उसमें भले ही कठिनाई प्रतीत हो, बार बारके अभ्याससे स्वभावकी स्थिरता हो सकती है। परन्तु यह तभी सभव है, जब राग और विकल्पोका परित्याग किया जाय। वह ज्ञान द्वारा ही साध्य है।

पूर्वकाल मे सुलटे महापुरुषोको देखो जो भले मानव थे, उन्होने रागो और विकल्पोका परित्याग किया, जिससे वे मुक्तिके पात्र बने, किन्तु जो रागी, विकल्पो व भोगोमे ही लीन रहे, वे दुर्गतिको प्राप्त हुये। इनमे पूर्वकालिक जीवन प्रायः सभीका खराब बीता, केवल एक तीर्थंकरको तथा कुछ विरलोको छोड, सभी किसी न किसी कुपथके पथिक प्रायः रहे।

तीर्थंकरोके कुपथसे बचनेका अनन्य कारण यह है, कि देव और इन्द्र और नरेन्द्र आदि उनके विविध महोत्सवोमें नौकरसे बने रहे खूब प्रभाव बढाया, फिर भी उनके सन्तान होती रहीं। वे राज्य भी करते रहे, भोग करते हुये भी पूजा और सम्मान पाकर भी अन्त समयमे यदि वे दीक्षा नही लेते तो उन देवो आदि को कहनेके लिये यह होता कि ये बडे धोखे बाज निकले। तीर्थंकर होने वालेको अद्भुत निर्मलता होती है।

### उत्तर जीवन भला तो सब भला

जिनका उत्तर कालिक जीवन भला रहा, उन्होने सब कुछ पालिया, परन्तु जो पूर्व जीवनकी भाति मलिन रहे उन्होने कुछ नही पा पाया। त्रस पर्याय दो हजार सागरको मिलती है। उसमेसे अधिकाश तो २, ३, ४, इन्द्रियोके भवोमे बीता, उससे कुछ कम सयम हीननरक और देवपर्यायमे व्यतीत हुआ। इस प्रकार मनुष्यभव आटेमे नमकके समान् बहुत कम प्राप्त होते हैं, भाग्यवश वह मानवपर्याय प्राप्त हुई है तो इसे व्यर्थ गमाना उचित नही।

बाहिरी चाह व अन्तरगका आनन्द दोनो साथ नही मिल सकते, इनका परस्पर विरोध है। निर्धनता आये विषाद करना और धन आये फूलना उचित नही। धन तो जड वस्तु है, वह आपके चतुष्टयसे भिन्न है। धन कमानेमे जुटे हुए लोग उतने मानवोके नौकर हैं, जितने मानवोके वह उपयोगमे आवेगा। यदि पुण्योदयसे धन आवे, आने दो, परन्तु उससे लगाव या जुटाव न रहे तो नौकर नही बन सकते। धनके संग्रहकर्ता चोर, डाकू, राजा, बन्धुओ और मित्रो के नौकर ही समझो। इस प्रकार वे अनेकोकी तो नौकरी बजाते रहते हैं, परन्तु धनके उत्पादन, रक्षण और वर्धनमे स्वय महान् दु.खी रहते है।

यदि धन नहीं हो तो उदरपूर्ति कैसे हो ? मुझे तो किसी कामसे मन नहीं लगता। इसलिये केवल अपनी व कुटुम्बियोंकी भूखके शमन मात्रके योग्य धन कमाना उचित था, अधिक धनसंग्रहकी परेशानीमें लाभ क्या ? पुण्योदयसे आता आने दो, वह इच्छुकोंमें वितरित कर दो। कमाये हुये धनका भोग तो अनेक करेंगे, परन्तु उसके संग्रहमें की गई नीति और अधर्मका फल संग्रहकर्ता को ही भोगना पड़ेगा।

### शुद्ध आचार ही वास्तविक इज्जतका हेतु है

कोई कहते है कि धनके बिना इज्जत नहीं होती, परन्तु उपर्युक्त कथनसे तो यही निश्चय हुआ कि धनसे इज्जत बढ़ती नहीं, घटती है। इज्जत बढानेका उपाय तो आचारका पालन है। दूसरोंकी दृष्टिमें या दूसरोंके लिये अपनी इज्जत बढानेका भाव ही स्वस्थताले भ्रष्टता है। भीतर अवगुण बने रहें और उन्हें हटानेका समय नहीं मिले और निरन्तर 'धनसंचयमें लगे रहें। परके लिये इज्जत बढानेमें लाभ क्या ? अपने लिये तो अपनी इज्जत बढाना चाहिये, परन्तु जो धनके प्रति अतिशय अनुरागी हैं, उनके प्रति स्वभावका उपदेश, "उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायति गर्दभा" के समान व्यर्थ है।

राग और विकल्प, स्वभावको बुरी तरह कुचलकर खुद मरमिट जाते हैं। ज्ञानी विचारता है कि हे रागभाव ! तुम्हे तो मरना (हटना) ही है, मुझ पर दया करो, मेरे स्वभावको क्यों कुचलते हो ? कदाचित ऐसी भी स्थिति होती कि तुम भी रहे आते और स्वभाव भी बना रहता, परन्तु तुम आकर जाते हो तथा होकर मिटते हो। इससे तो यही अच्छा है कि तुम सदा बने रहो, परन्तु इतनी तुममे दम कहां ? तुम तो क्षणिक हो, यदि तुम इतना नही कर सकते हो तो तुम आओ मत तथा स्वको स्वके अनुभवमे लगा रहने दो। इसके लिये हमे जो वातावरण हमारे राग विकल्पके कारण हैं, उस वातावरणको दूर करना है। यदि किसी कारणवश उसे दूर न कर सकें तो दूर करनेका ध्यान तो अवश्य बनाना चाहिये।

आज स्थिति ऐसी है कि एकान्तमे कोई अपना भला नही कर सकता। जो वडे धर्मात्माओके बीच अपनेको सावधान नही बना सकता, वह अपनी

सावधानीके लिये परको निमित्त बनाता है। वक्ता जो कुछ कहता है उसका असर उसपर ही हो सकता है, अन्यपर नही। श्रोतापर तो असर तभी होगा, जब भीतरीभाव या चाह होगी। सो यह असर श्रोताओका स्वयका है।

विशिष्ट समयके समागमके अतिरिक्त वक्ता अपनी बात अपने लिये ही नही रख सकता, परन्तु वह कल्याणका साधन अवश्य होता है।

### हितके अर्थ अपनी अद्वैतताका विचार करो

स्वभावकी प्राप्तिके लिये कर्तव्य यह है कि मैं केवल एक अकेला रह जाऊ। अमुक मेरा प्रिय हितैषी या बन्धु है—ऐसे द्वित्वमे गये व्याकुलता व विह्वलता ही बढती है। हे प्रभो ! हमे "दो" मत दिखाओ स्वभावकी चेष्टाके लिये यह भाव सिंहवृत्ति है।

यह आत्मा, विकल्पके बधनमें इतना बध गया है कि स्त्री अपनेको पतिके अधीन मानती है। पति अपनेको स्त्रीके अधीन मानता है और पिता अपनेको पुत्रके अधीन मानता है। अमुक कुछ व्यक्तियोने या अमुक यूथने, मुझे अपने अधीन कर लिया है—यह भाव स्ववृत्तिसे च्युत होनेपर ही आता है। एक यही बात, वास्तविक पद्धतिमे उतर जाय तो सदाके लिये भला हो जाय।

सम्बन्ध बुद्धि या परिचयमे अधिक उतर जाना, परिग्रहको बढा लेना, जडोसे अपना बडप्पन मानना आत्माके लिये कलक है और वह आत्मप्रभुकी प्रभुता का बाधक है।

ठेस या आसू आना चाहिये कि मैं किन कल्पनाओमे अटका रहा कि अब तक स्व प्रकाशके विछोहमे बना रहा। स्वभाव ही प्रियतम है, स्वभाव ही पति है और स्वभावही स्वामी है।

### स्वभाव परिचय अनुभवगम्य है

स्वभाव एक ऐसी वस्तु है कि वह पकडने, जानने व देखनेमें नही आता। वह एक ऐसी अलौकिक वस्तु है जहाँ न कुछ है, वहाँ सब कुछ है। उस स्वभाव के निकट रहनेसे आत्माको सर्व बल व निराकुलता प्राप्त होती है। वह सहज सिद्धके रूपमे मौजूद रहता है।

स्वभाव ही खशम है—ख, का अर्थ इन्द्रिया है और शम का अर्थ शमन या खतम करने वाला है। स्वानुभूतिका स्वभाव ही खशम है। इससे विचलित हुये महान् दु ख होता है। उसे पानेके लिये धनादिक जड, मान्यता और इज्जत आदि सभी कूडा करकट छोडना होगे, ऐसा ज्ञान मनमे कुछ तो लाओ। परकी सेवामे चौवीस घटा विताते हो परन्तु खुदके लाभ असली चीज ज्ञानाभ्यास या स्वभावके साधनमे पन्द्रह मिनिट भी नही देते, फिर तुम्हारा भला कैसे हो ? जो कूडा करकटके लिये प्रयास करता है उसके हाथ कूडा करकट ही आता है, किन्तु जो स्वभावके लिये प्रयास करता है वह कभी न कभी स्वभावको ही प्राप्त कर लेता है। स्वभावके लाभ बिना पूर्ण विश्राम वास्तविक सुख और शाति का लाभ नही होता है।

### हितके लिये पुरुषार्थ स्वयको ही करना पडेगा

स्वभावमें उपयोगकी स्थिरताके हेतु समस्त रागादिक विकल्पोका त्याग आवश्यक होता है और रागादिक विकल्पोके त्यागके लिये स्वभावकी दृष्टि आवश्यक है, परन्तु देखनेमे यह बात अटपटी सी जचती है कि उसके लिये उसकी आवश्यकता और उसके लिये उसकी आवश्यकता क्यो ? इसका रहस्य यह है कि जीवके करने का काम तो एक ही है और वह है स्वभावका देखना। स्वभावके देखे रागका त्याग स्वयमेव हो जाता है, इस लिये रागका छोडना कोई स्वतत्र कर्तव्य नही रह जाता।

जब कभी किसीके इष्टका वियोग हो जाता है तब वह उससे दु.खी होता है, उस समय लोगो द्वारा उससे कहा जाता है कि भैया ! उस ओरका ध्यान हटालो, परन्तु दस पाच आदमियोकी तो बात क्या ? सैकडो आदमी भी उससे उस ओरसे ध्यान हटानेको क्यो न कहे, उसका ध्यान उस ओरसे हटना तो दूर रहा, प्रत्युत बढता ही है, औरो के द्वारा ध्यान हटानेके प्रोग्रामसे कभी किसीका ध्यान नही हटता।

इसी प्रकार कोई किसीको समझावे कि राग बुरा है, इसे हटा दो या कोई किसीसे कहे कि मेरा राग हटा दो, इस प्रकारके प्रोग्रामसे राग नहीं हटता, प्रत्युत भूला हुआ राग और सामने आ जाता है।

राग छोडनेका उपाय तो यही है कि जो अनादिसे राग रहित है उस स्वभावपर दृष्टि जावे। यदि किसीको इष्ट वियोगका दुःख सताता है तो इसे तीर्थ स्थानादि स्थानान्तर ले जानेका प्रयास किया जाता है, जिससे कि वह अपने उस वियोगके दु.खको भूल जाय। एक उपाय यह भी करके देखो—ज्ञान-साधना के लिये योग्य संगतिमे रहा जावे।

मोहसे छुडानेका क्रोधसे छुडानेका नियम नही कराया जाता। किसीको तुम कहो कि मोह या क्रोध छोड दो—ऐसी प्रतिज्ञा करानेसे क्रोध मोह आदि नही छुटाये जा सकते। करणानुयोग और द्रव्यानुयोगमें निजका पौरुष ही फलवान होता है, पौरुष किया जायगा तो इन अनुयोगो के निर्देशानुसार निज विकास का काम चलेगा, अन्यथा नही। नियम करानेकी सफलता चरणानुयोग मे ही हो सकती है।

### मोह और राग बिना स्वयकी भावनाके नहीं छूटते

विभावोके त्यागके लिये स्वभावका दर्शन आवश्यक होता है। कैसी भी स्थिति आयें मैं अपने आपको सावधानी रखूंगा, असावधानी न होने दूंगा, मैं सत् हूँ, अखण्ड हूँ, अनादि हूं, अनन्त एकस्वरूप और चैतन्यरूप हूं। ये परिचय मायाजाल या भ्रम है; कभी आत्मनीन नही हो सकते। मेरा ध्रुव स्वभाव अरिहतमे सिद्धमे शुभोपयोगमे, विकार परिणति और पुण्यके कार्योंमे नही मिलेगा, वह अन्यत्र कही नही मिलेगा, किन्तु सबकी दृष्टि छोड विश्रामसे बैठो तो अपने आपमे मिल जायगा।

जैनागममे ६ काल माने गये हैं—औरोके यहाँ भी सत, द्वापर, त्रेता और कलि नामके ४ युग माने हैं। प्रथम कालको सत् मान लिया जाय, द्वितीयको द्वापर, तृतीयको त्रेता, शेष ३ कालोको कलि मान लिया जाय तो सनातन और जैन से युगोका विभाजन सामंजस आजावेगा।

इस कलियुगमे कई महापुरुष हो गये है। जैनागममे भगवान् श्री रामका चरित्र बहुत ही आदर्श बताया गया है, परन्तु उन रामको भी अपने जीवनमे सुख कम हुआ और दुःख ज्यादा। लक्ष्मणकी मृत्युका दुःख तो उन्हें सीताके

वियोगसे भी ज्यादा असह्य हुआ अन्यथा वे उसके शवको ६ माह लादे नही फिरते।

इन पौराणिक बातोपर वर्तमान कोई जनता भले ही विश्वास न करे, परन्तु इनकी सत्यतामे जरा भी संदेह नही। यदि ये कल्पित होती तो वीतराग महर्षियो को स्वय पसन्द नही होती तथा वे ऐसी मिथ्या मनगढन्त बातें लिख कर अपनी वीतरागतामे धब्बा क्यो लगाते? कई सन्तोने जो उपदेश दिये हैं, उनमे उन्होने अपने स्वार्थका लक्ष्य रखा। उन्होने बलिदान करने या भोग चढानेका उपदेश दिया, क्योकि उसका सर्व भाग या कुछ अश स्वय उन्हे मिलता था ऐसा संभव है। एक विद्वान ने तो जैनियोकी पूजाके विषयमे भी यह कल्पनाकी है कि अष्टद्रव्यसे पूजन करनेका मतलब जैन साधुओके आतिथ्यका था। उसके उपदेश से भक्तो द्वारा उन्हे जलशुद्धिके लिये, आहारके लिये, चन्दन औषधिके लिये, अक्षत पुष्प नैवेद्य (मिष्टान्न) आहारके लिये, पढनेके लिये दीपक, वायुशुद्धिके लिये धूप, खानेके लिये फल उपलब्ध होते थे। चढावाके रूप मे पूजा पहिले साधुओकी ही होती थी। जब साधुओका मिलना कठिन हो गया तब अरिहतो और सिद्धोकी पूजा द्रव्य चढावाके रूपमे होने लगी। यह एक प्रमुख विद्वान्की कल्पना है, परन्तु सत्य क्या है? यह इतिहास जाने।

### समझना तो खुदको ही पडेगा

श्रीरामके जब तक निज अनुभूति नही जागी तब तक अनेकोने समझाया, पर शवका त्याग उन्होने नही किया। देव भी समझाने आये, रामके सामने ही रेत पेलने लगे। रामने पूछा यह क्या करते हो? देवोने कहा—हम तेल निकालते हैं। रामने कहा कि कैसे मूर्ख हो, क्या रेतसे तेल निकलता है। देवोने कहा कि तुम भी मूर्ख हो, कही मुर्दा भी जीवित हो सकता है? तुम्हारे भाई तो मर चुके। रामने कहा—तुम्हारे बाप मर गये होगे। तब देवोने जब, राम एक पर्वत पर पहुचे तब पत्थरकी शिलापर हल चलाना शुरु किया। रामने पूछा—यह क्या करते हो? तब देवोने कहा—कमल बोते हैं। रामने बुरी तरह फटकारा कि मूर्खों पत्थर पर भी कभी कमल होते हैं, तब देवोने कहा कि मुर्दा भी कही भोजन करते हैं? तब भी रामने मोह नही छोडा, परन्तु जब स्वयके अप्रत्याख्यानावरण

कषायके विलयका समय आया, उसी समय, देवोने उनके सामने मरे बैलोसे जुता हुआ रथ तैयार कर दिया, उसका निमित्त पाकर रामका भाव बदल गया और उन्होने शवसे मोह छोड दिगा, हजारोने हजारो बार समझाया तब नही माने और जब अपने आपकी आवाज लगी तब मोह छोडते देर नही लगी।

## शब्द भले बुरे नहीं

मोही मानव औरोकी दी हुई गालियोसे भडक पडते हैं। परन्तु उन गालियो से कोई खराबी नही होती, उनके अर्थपर विचार किया जाय तो हर एक गाली का अर्थ बडा सुन्दर है और वे शुद्ध संस्कृत शब्दोके अपभ्रंश शब्द हैं, जैसे—उचक्का=उच्चकः अर्थात् सबसे ऊंचा। गधा=गदहः अर्थात् ससार रोगका नाशक। निठल्ला=निष्ठाल अर्थात् श्रद्धाको उत्पन्न करने वाला। इन सभी लौकिक गालियोका अर्थ एकसे एक सुन्दर है। वास्तवमे ये गालिया नही प्रशसाये हैं। गालिया तो वे हैं जो धार्मिक उपदेशक दिया करते हैं। वह श्रोताओ से बीचो बीच अनेक बार मोही, अज्ञानी, मूढ, पापी, नारकी, निगोद का पात्र आदि आदि कहा करते हैं। परन्तु उनके सुननेसे कोई बुरा नही मानता। यही तो प्राणियोंका मिथ्या भिनिवेश है कोई कहे कि हम गालिया भी सह लेगें, परन्तु राग तो छुटा देओ, किन्तु यह व्यथा है। राग छुडानेकी चीज नही वह तो स्वभाव दृष्टि हुये स्वयमेव छूट जाता है।

मैं परको जानता नही, अनेकोको जानकर भी एक हू, अपनेको ज्ञेयाकार को जानते हुये भी इन सभी विभिन्न ज्ञेयाकारोसे भिन्न हूं। मैं सबको देखता हुआ भी सबसे न्यारा हूँ, अपने देखनेसे भी न्यारा हूँ। जिसके मूल पर देखना व जानना होता है वह तो मैं हू परन्तु जानना देखना परिणमन मैं नही।

## कषायका मूल पर्याय बुद्धि है

घमण्ड पर्यायोपर ही आया करता है। लोक पर्यायमे फसा है। उसके यह बुद्धि नही आती कि मैं जानने देखनेसे भी परे हूं। जिसके बूनेपर जानना देखना होता है, वही मैं हूं। ऐसा अनादि निधन सनातन निर्विकार, आर्य सत्य ऐसा वह मैं स्वभाव हूं, उसके देखनेमे लगनेसे पर्यायोके सब झगडे स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

अधिक पढना, भूलनेके लिये होना चाहिये परन्तु वह भूलना कलाके साथ होना चाहिये। भूलनेकी कला ज्ञान बढानेसे आती है। खूब विद्या पढना चाहिये परन्तु उन सबको भी भूलने का लक्ष्य रहना चाहिये तभी हम निर्विकल्प समाधि मे आया जा सकता है। निर्विकल्प समाधि, वस्तुके आवश्यक सर्व प्रकारके ज्ञान के बाद ही हो सकती है।

स्वभावकी महिमा दिखानेको आचार्योंने रागद्वेषका वर्णन किया कि ये राग और द्वेष हैं। इन्हें देख कर मानव पहिचान लेवे कि इनका मूलाधार चेतना है। जैसे किसी मकानके एक कोनेमें दीपक रखा है और वह जल रहा है, ओटमें बाहर बैठे दर्शकोंको वह दीपक नही दिखता, तो भी दीपकके द्वारा प्रकाशित वहाँ रखे हुए टेबिल और पुस्तक देखकर उस मानवको वहाँ दीपक के जलनेका बोध हो जाता है। उसी प्रकार आत्म प्रदेशोमें सर्वत्र ज्ञानका दीपक जल रहा है, परन्तु वह अज्ञानियोको नहीं दिखता। वे ज्ञानको आत्माके एक कोने मे रखा समझते हैं, कोनेमे पडे रहनेके कारण वह ज्ञान उन्हें नही दिखता। तब वे पूर्व दृष्टात टेबिल और पुस्तकके समान राग और द्वेषपर दृष्टिपात करते हैं। वह राग और द्वेष मूर्त धनादिक पदार्थोंमें नहीं दिखता इससे उसका मूलाधार चेतना प्रमाणित होता है। इस प्रकार आचार्यों द्वारा वर्णित राग द्वेष स्वभावके परिचय करानेके हेतु होते हैं। परन्तु इन राग द्वेषोको लीनताके हेतु नही देखना चाहिये, केवल उस प्रभुकी लीलाके लिये देखना चाहिये जिसकी लीला ये रागद्वेष हैं।

वह लीला अरिहत सिद्ध अवस्थामे रहते प्रभुकी मत मानना, उनकी लीला तो अनन्त चतुष्टय मय होती है, परन्तु वह लीला लटोरे, खचोरे की दशामे रहनेवाले प्रभुओ की ही लीला समझना।

यदि सम्यग्दृष्टि नारकी भी हो जाय तो वह, वहाँ, मारो पीटो मरो पिटो की लीलायें खेलता है किन्तु विवेक अन्तरमे रहता है। यदि पशु भी हुआ तो वहाँ हरे घास और अप्रासुक पानी छोडने आदिको लीलायें खेलता है। मनुष्य भी हुआ तो विविध रागो की लीलायें खेलता है। अन्तमे केवल ज्ञान की लीलायें खेलता है।

जिस स्वभावकी ये सभी लीलायें हैं, उसे देखे तो राग, द्वेषकी लीलाये मिट जाती हैं। ऋषियोके द्वारा प्रदत्त राग द्वेषो सम्बन्धी सयोग वियोगका उपदेश स्वभावके बोधके लिये ही किया गया है, विषय साधनोमे रागद्वेषके हेतु नहीं। चक्रवर्ती जैसे वैभवशाली व्यक्ति, भी वैभवके रागमे ही नही रगे रहे उन्होने अन्त समयमे उसे हेय जान छोडकर स्वहित किया।

### अधम पुरुष भी कैसे तिर सकेंगे

सौदास राजाको मास खानेकी लत पड गई। मनुष्यके मासके प्रति भी उसका चित्त गया। वह रसोइयाको पारितोषिक देकर सुकुमार बालकोका मास बनवा कर खाने लगा। बच्चोको पानेका यह उपाय किया कि हर दिन सवेरे लड्डू बाटना शुरु किया। लड्डू बाटते बाटते अतमे जो अकेला बालक रह जाय उसे मासके हेतु पकड लिया जाने लगा। इस प्रकार रागका वर्णन वीतराग ऋषियोंने आर्षग्रन्थोमे किया। इसका उद्देश्य केवल इतना था कि ऐसे दुष्ट भी अन्तमे महापुरुष बने और भी अधमसे अधम पापियोका अन्तमें सुधार हुआ और उन्होंने शिव धाम तक पाया। उत्साह रखने और बढानेसे असंभाव्य कार्य भी संभाव्य हो जाते हैं। इसी महान उद्देश्यको लेकर ही वीतराग महर्षियोने स्वनिर्मित ग्रन्थोमे रागका वर्णन किया, उनसे परिचय बढानेके लिये नही।

अपने रागद्वेष पर दृष्टि न देने वाले जीवोको ये रागद्वेष स्वभावका अव बोध कराते हैं और जीवो के आत्ममदिर मे जल रही ज्ञान ज्योतिका अनुमान कराते हैं। परन्तु जो राग पर ही दृष्टि रखते हैं, उन्हें अपनाते हैं, उन्हें ये स्वभावावबोध या ज्ञानज्योति से बहुत दूर धकेल देते है।

इसी प्रकार आगमोमे कर्मोका वर्णन परिवर्तनो और सुखो दुःखोका वर्णन केवल स्वभावावबोधके लिये किया गया है।

एक बालक अन्य बालकके खिलौने को देखकर रोता है, माता डाटती है, मुख बन्द करती और पीटती है पर वह खिलौने लिये बिना नही मानता। किन्तु माता बच्चेका रोना बन्द करनेके लिये तो इतने कष्ट सहती है पर यह नही करता कि उसका खिलोना उसे दे दे तो उसका रोना अनायास बन्द हो जाय।

इसी प्रकार रागरूप खिलौनेके लिये, रागके दुःखको मेटनेके लिये, मोही

मानव कमाने धमाने आदिके विविध कष्ट सहता है, परन्तु इससे बालक की आत्माका रोना नही मिटता। उसे मेटनेके लिये शान्त चित्तसे। ज्ञानवानो की सगतिमें रहकर सरस्वतीकी उपासना कर, अपने स्वभाव रूप खिलौनेको दिखाया जाता तो सारा रोना मिट जाता। सरस्वती माता बडी चतुर है, रूपे मोहीको उसका सत्य खिलौना बता कर उसे खुश कर देती है।

मैं स्वचतुष्टयसे सत् हूँ, अन्यके चतुष्टयमे मेरा सत्त्व नही। शरीरके एक एक परमाणुका आत्माके साथ अत्यताभाव है। जगत्के सर्व अन्य आत्माओं के साथ भी मेरा अत्यताभाव है। यह अपने स्वभावका अवलम्बन लेकर परिणम रहा है। इसके परिणमनमे अन्यकी सहायकी आवश्यकता नही।

आत्माकी यह एक कला है कि अपने विभाव की योग्यतामे दूसरेको निमित्त पाकर विभाव रूप परिणमता है परन्तु वह निमित्तकी कला नही। उसीकी निजी योग्यता है कि परका निमित्त पाकर कषायो या इच्छामय परिणम जाता है।

## स्वतन्त्रताकी दृष्टि स्वतन्त्र बना देती है

जैसे मैं स्वतत्र हू उसी प्रकार जगतके सर्व प्राणी स्वतंत्र हैं। ऐसा ज्ञान होनेपर स्वभावकी निकटता होती है। परेशानी कारक विकल्पोसे मुक्ति होती है। विकल्पोसे छूटनेका उपाय स्वभाव दर्शनके बिना अन्य नही।

मोहका इतना भारी असर हो रहा है कि मन्दिर जाते व्यक्तिसे यदि पूछा जाय कि किधर जारहे हो तो उत्तर मिलता है कि मन्दिरजी। फिर पूछा जाय कि क्यो जाते हो तो उत्तर मिलता है कि भगवानके दर्शनके लिये। परन्तु कभी किसीके मुखसे यह उत्तर नही मिला कि हम स्वदर्शनके लिये मन्दिर जाते हैं।

यदि भगवान पर ही दृष्टि है तो उसी का दर्शन गहराईसे कर लिया जाय। उस अनन्त चतुष्टय के पुञ्जके स्थापना सहित वीतराग मुद्राको देख अपनी कलासे उसमे स्वस्वरूपको देखलो। परन्तु आज तो मन्दिरोंमे स्वदशन तो दूर रहा मूर्ति दर्शनमे भी कठिनाई पडने लगी। अब तो झगडे और वितण्डावाद भी मन्दिरोंमे बढने लगे। बडे मैदानमें, एकान्तमे, यदि एक दो ही मूर्तिया मन्दिरमे हो तो सभव है कि वहाँ मूर्ति दर्शनसे स्वस्वरूप का बोध हो ही

जाय, परन्तु शोरगुल सयुक्त वर्तमानके मदिरोमे वह बात कहाँ ?

हमारा अभिप्राय यह नही है कि उपरोक्त खराबियोंके कारण मन्दिर जाना ही छोड दिया जाय, परन्तु उनके वातावरणमे सुधार होना आवश्यक है। विना सुधार हुये, केवल कोलाहल, विसवाद और झगडोके स्थान देवायतनोसे कोई लाभ नही। मदिर कई जगह ऐसे भी है जहाँ वातावरण अतिशय प्रशान्त रहता है।

एक ही मन्दिरमे अनेक वेदिया, जनताके वट जाने और शाति वने रहनेके अभिप्रायसे वनाई जाती थी; परन्तु आज तो वह भाव ही गया। आज तो वेदिया, सङ्गमर्मरके पत्थरमे मोटे मोटे अक्षरोमे नाम उकरवाने या डलवानेके अभिप्रायसे वनने लगी हैं। वहाँ पूजकोका कोई ध्यान नही, स्थान नही।

यदि कही पर किसी कारण किसी वेदी पर पूजा नही हो सकी तो वडा तरस खाया जाता है कि वडा अनर्थ हुआ, आज भगवानकी पूजा नही हो पाई, भगवान् भूखे रह गये। परन्तु भगवान् पर दया मत करो दया तुम अपनेपर करो कि तुम तो विना पूजनके मत रहो, ऐसा हुये भगवान् बिना पूजाके नही रहेगे। पूजा हो जाना भगवान्का कर्तव्य नही वह तो तुम्हारा, कर्तव्य है।

स्वभाव निरखनेके प्रयोजनमे व्यवहार धर्म होना चाहिये ही। किसी त्यागी को देख उसे आहार देनेका फल यह नही है कि हम इसपर दया करने वाले कहला जांय। प्रत्युत यह फल या भाव होना चाहिये कि हम भी ऐसे ही त्यागी बन जाय। यदि हम अपने धर्मसे चलते होंगे तो पात्रको आहारका लाभ मिलेगा ही।

### कल्याण निवृत्तिसे ही प्राप्त होगा

दस रुपयेकी पूंजीवाला भी पेट भर लेता है। किन्हीके लाखोसे भी सन्तोष नही होता, इस लिये धन झंझटकी चीज है। इससे निवृत्त होना ही श्रेयस्कर है। बोझको दूर करनेका मौका मिला यह भाव रख दान करना चाहिये जिससे इस बोझसे छूटकर स्वात्मलाभ हो। सङ्गमर्मर के पटियो, वेदिकाओ, मदिरके फरसो और दीवालोपर सुनहरे और वडे वडे अक्षरोमे नाम लिखानेके अभिप्राय

से जो धन दिया जाता है, वह वास्तवमे न दान है न धर्म है। वहाँ तो धर्म भी नही मिला और धन भी गया। वास्तवमे धर्म तो वही है, जिसके प्रसगमे स्वभाव दृष्टिका लाभ हो। सर्व विपत्तियोसे दूर रहनेके लिये स्वभावकी दृष्टि होना आवश्यक है, यही हित है और यही वास्तविक कल्याण है।

## तमभिप्रेत्य बाह्यसंयोगं निवर्तयेत् ॥२१॥

रागादिक विपत्तियोकी निवृत्तिके लिये निजस्वभावका दर्शन आवश्यक है और इसके दर्शनके लिये अन्तरगका कार्य करना एव बाह्यसे बचना आवश्यक होता है। बाह्यमे झुकावसे निज स्वभावकी सिद्धिमे बाधा आती है। अतः निज स्वभावकी उपलब्धिके लिये बाह्य सयोगोसे निवृत्त होना चाहिये। बाह्य सयोगोकी ओर जितना झुकाव होगा, उतनी ही स्वभावसे च्युति होती है। जिसके स्वभाव दृष्टि होती है, उसे उस दृष्टिसे चिगानेके लिये कोई भी पर सयोग समर्थ नही हो सकता।

कुछ महापुरुष विशाल तपस्वी और ज्ञानवान भी हो गये, परन्तु जिस समय बाह्य प्रसगोकी ओर उनका ध्यान गया उस समय वे अपने तपश्चरण से भ्रष्ट हुये और अपना महत्व खो बैठे। श्री महादेव दिगम्बर जैन ऋषि थे। उन्हे ११ अंगो और ६ पूर्वों का ज्ञान था, जिससे दुनिया उनकी पूजा करती थी, परन्तु १० वें विद्यानुवादकी सिद्धिके समय वे विद्याओके लोभमे आगये जिससे निष्कामतासे च्युत हो गये। बाह्य सयोगकी दृष्टिने सारा महत्त्व खो दिया। कथा ग्रन्थोमे और भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे विदित होता है कि बाह्य प्रसगोसे बडे बडे ज्ञाता भी च्युत हो गये, परन्तु जिनकी दृष्टि बाह्य प्रसगोसे विमुख रही, उनको बाह्य प्रसग कुछ भी असर नही कर सके। यही कारण है कि जैन साधुओके सघमे, अनेक साध्विया और श्रावकायें रहती हैं। फिर भी उनकी परस्पर विशाल आदर्श भावना रहती है, दिगम्बर जैन साधु होकर भी पुष्पडालको प्रतिबोध करानेके हेतु वारिषेणको एकसे एक सुन्दर और युवती अपनी ३२ रानियोके बीच जानेका प्रसग आया, परन्तु उन्हे देखकर भी उनके

चित्तमे जरा भी विकार नही आया, प्रत्युत वे पुष्पडालको आत्मबोध करानेमे कारण हुये।

### अन्तस्तत्त्वकी दृढता होनेपर बाह्य अर्थ बाधक नहीं होता

जम्बूस्वामी अन्तिम श्रुत केवली थे। उनके मनमे वैराग्य जागा। वे रात्रि के समय अपनी ८ रानियोके बीच बैठ वार्तालाप कर रहे थे। रानियां तरह २ के हाव भाव दिखा रही थी और रागभरी कथायें सुना रही थी एव वैराग्यको मूर्खताकी बात सिद्ध कर रही थी। चाहती थी कि हमसे स्नेह करें, स्नेह बढे और गृहस्थीमे ही रहे. परन्तु वे हार्दिक भावनासे विरक्त हो चुके थे। स्त्रियो का कोई भी हाव भाव उन्हे विचलित करनेको समर्थ नही हुआ।

सुदर्शन बडा धार्मिक सेठ था। अतिशय सुन्दर था। इससे रानी मोहित हो गई और उसे रनवासमे बुलाया। चतुर्दशी का दिन था, वह श्मशानमे ध्यानस्थ था, दासी उसे उठाले गई। वहा रानीने उससे निसकोच संभोगकी प्रेरणा की चेष्टा भी कर डाली। बचनेका अन्य उपाय न देख, सुदर्शन बोल उठा—मां आपका कहना तो ठीक है, पर खेदकी बात है कि मैं तो नपुंसक हूँ। वह कर्तव्य या सत्पथसे च्युत नही हुआ। रानी जैसी सुन्दरी युवतीमे नही लुभाया, जिससे आपदा आनेपर भी स्वर्गधाम पधारा।

सहज सुख प्रभुका दर्शन ब्रह्मचर्यसे ही उपलब्ध होता है। ब्रह्मचर्य जैसा सुख, अब्रह्मचर्यमे नही—स्वादिष्ट और गरिष्ठ भोजन, सुगंधित तेल, रागवर्धक वार्तालाप सौन्दर्यका अवलोकन ठड और गर्मीके मिटानेका प्रयास इत्यादि पाचो इन्द्रियोके विषयोका सेवन ही व्यभिचार है। ये आत्म स्वरूपसे चिगाते है। जो आत्म स्वरूपसे चिगाता है, उसे ही व्यभिचार कहते हैं।

प्रश्नय—दि ऐन्द्रिय विषयोमे प्रवृत्तिका नाम व्यभिचार है तो मैथुनको ही व्यभिचार क्यो कहते हैं?

उत्तर—इसका कारण यह है कि अन्य इन्द्रियोके विषयोमे आत्मा सावधान रह सकता है, किन्तु मैथुनके प्रसगमे आत्मा बेहोश हो जाता है, वहां

सावधानी नही रखी जा सकती। इसी लिये व्यभिचार शब्द मैथुनमे प्रसिद्ध होगया।

स्वभावको देखो, सभी विषयोसे रहित एकस्वरूप ही दृष्टिगोचर होने लगता है। उस समय यदि बाह्य सयोग बने रहें तो भी वे कुछ बिगाड नही कर सकते। चारो ओर से पदार्थ चिपटे भी रहे फिर भी वे कुछ नही कर सकते—ऐसी प्रतीति आजाय तो समझना चाहिये कि अब हमारी बाह्यसे निवृत्ति हुई। बाह्य पदार्थोंमे जब हम इष्ट और अनिष्टकी कल्पना करते हैं, तभी ये निमित्त बनते हैं।

### मैं शाश्वत अकेला ही हू

मैं अकेला हूँ। जितना हूँ उतना ही रहूँगा। वही मेरा बडप्पन है। दुकेलेमे आत्माकी हानि ही होती है और मोह सताता है। लडके आदि विनयी और योग्य हुये तो, तो यह भाव बढता है कि इनके लिये कुछ रख जाऊ, कर जाऊ। इस प्रकार अपने से अत्यताभाववान, हाड मासके पिण्ड सतानादिमे नाना प्रकार की मोहजनित कल्पनाओमे अपना समय बिता देता है। यदि पुत्र सपूत है तो वह स्वय अपने पैर पर खडा हो जायगा, उसके लिये धन सग्रह करनेकी तुम्हें क्या आवश्यकता ? यदि पुत्र कुपूत निकल पडा तो तुम्हारे कष्ट सचित द्रव्यका दुरोपयोग करेगा, इससे उसके लिये धन कमानेकी जरूरत क्या ?

अनत शक्तिवान् आत्मा किसी भी स्थितिमे हो उसे खानेके लाले भी पडे हो तो भी बाह्य सयोग उसे हानिकारक नहीं हो सकते। भगवान् ऋषभने ६ माहका उपवास किया। पारणाके समय बराबर ६ माह तक अन्तराय होता रहा। इस प्रकार १ वर्ष तक अन्न जलके न मिलनेपर भी उनका बिगाड नही हुआ। वे अपने पथसे विचलित नही हुये और अपनी आन्तरिक शक्ति से अपने आपको सभाले रहे। कोई कहे कि पापका उदय आया होगा इससे अन्तराय हुआ, परन्तु ऐसा अपने विषयमे कभी किसीने नही सोचा कि न जाने कौन पाप आजाय।

बच्चोकी रक्षा करना, विविध साधन जुटाना, अभी मेरी सपत्तिमे पडोसी की अपेक्षा कमी है इत्यादि यत्न और भाव साक्षात् पाप हैं। उतनो ही हो

जाय तो फिर यह सोचा जाता है कि मेरी सपदा अभी शहरके प्रमुख धनीसे कम है। पुन. कदाचित् उतनी हो जाय तो राष्ट्रके प्रमुख धनीसे कमी आकी जाने लगती है। तृष्णाकी महिमा केवल ज्ञानके समान है कि उसमे दुनियामे कितने ही पदार्थ बढ जायें, वे उसमे समा जायें इसी प्रकार तृष्णामे भी जगत्के सारे पदार्थ समा जाय तो भी सन्तोष नही होता। तृष्णा विषके समान और नैराश्य अमृत पानके समान।

### स्वभावदर्शन जैसा सुख अन्यत्र नहीं मिल सकता

यदि अपनेपर दया है तो स्वभावका अनुभव करो और विषय दृष्टि हटाओ अन्यथा अपनी स्त्री भले ही डेढ आखकी क्यो न हो? पुत्र कैसा ही खराब क्यो न हो? उसकी प्रशसाके पुल बाधे जाते हैं। वास्तवमे निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो दुनियामे एकसे एक सुन्दर स्त्रिया और गुणी सन्तानें मौजूद है। उन पर किसीका प्यार नही जाता, परन्तु जिनमे प्राणीका मोह होता है वह लटोरा घसीटा कैसा ही क्यो न हो? मोहीकी दृष्टिमे प्रियगुणी और आज्ञाकारी दिखता है।

प्रत्येक मानव अपनी प्रशसा इन शब्दोमे सुनना चाहता है कि इनका लडका बड़ा अच्छा है। ऐसा सुनकर वे बहुत प्रसन्न होते हैं, परन्तु उन्हे यह विदित नही होता कि लडके की प्रशसा होनेका अर्थ खुदकी निन्दा होना है। कि लडका तो इतना सगुण है तो बाप कोरा बुद्धू है, परन्तु मोही मानव इस वास्तविक रहस्यकी ओर दृष्टि ही नही दे सकता, पुत्रकी प्रशसा सुन सुन खुश होता है।

मोहकी चाल तो देखो कि यह आत्मा स्वपरिणमन से ही परिणमता है, उसका किसी अन्यसे कोई नाता नही, परन्तु किसीको भला और किसीको बुरा मानता है। पर वास्तवमे वे कोई भी पदार्थ भले या बुरे नही, मेरेको तो मेरा प्रकाश ही भला है और मेरा अप्रकाश ही बुरा है।

### स्वभावद्रष्टा निर्भर रहता है

स्वभावदर्शन वाला व्यक्ति किसी भी स्थितिमे ऊबता या घबडाता नही हैं। उसकी जो स्थिति आज है, वह सोचता है कि यह भी न रहे, परन्तु सर्व वैभव मेरेमे है वह बना रहे। यदि धन जाता है तो जाय, धनके जानेसे मुझमे तो कुछ

कभी नहीं आती। यदि लोग मुझे नहीं जानेंगे तो न जानें, परन्तु मेरी मेरेमे जानकारी वनी रहे।

सोचने योग्य यदि कोई परिस्थिति है तो शरीरका रोग ही है कि मेरे शरीरमे कोई महान् व्याधि न हो जाय। प्राय: रोगीका आचार व धर्म विगड़ जाता है। यदि आचार व धर्म है तो सब कुछ है। यदि वह विगडा तो सब विगडा। शरीरका आत्माके साथ कुछ सबध है। शरीरकी विचलितता आत्मामें कुछ उथल पुथल पैदा कर देती है, परन्तु आन्तरिक चेष्टासे अपनी ओर देखे, न रोग दिखता है और न शरीर दिखता है। शरीरमे रोग हो, उससे प्रज्ञानघन विचलित नही होता।

स्वभावके दर्शनके लिये अन्तरगको पुष्ट करना आवश्यक होता है और इसके लिये जो कुछ भी करना पडे करना चाहिये। सपदा, सतान और शरीर से भी मोह छोडना चाहिये। आरभ और परिग्रहसे दूर रहना चाहिये। सपत्ति के सग्रहमे प्राणी अपना सर्वस्व गमा देता है। सपत्ति बढ जाय तो प्रसन्न होता है, टोटा पड जाय तो हाय तोवा मचाता है। यदि ज्यादा सपत्ति बढ जाय तो वहु भाग इन्कम टैक्समे चली जाती है, उससे भी यदि कुछ वचती है तो अधिक व्यय बढा दिया जाता है। फिर वरावर हो जाती है। धनी भी हो गये तो चैन नही मिलता। जितना धन उतनी ही उलझन।

### स्वभावदर्शन बिना नाना श्रम करने पडते

मोही मानव अपने आत्माके सहज स्वभावके प्रवबोध बिना भूल पर भूल करते हैं। खूब धन कमाने मे लगे रहते हैं, उससे अपनेको पुण्यवान समझते हैं। साधु सन्तोका निर्वाह अपनेपर अवलम्बित समझते हैं और दुनियाका आश्रय अपनेको समझते हैं वे वाह्य सयोगसे निवृत्तिकी ओर ध्यान भी नही देते।

वज्रदंत चक्रवर्ती जब विरक्त हुये तो वडे लडकेको बुलाया और कहा कि यह राज्य सभालो। लडका—पिताजी आप क्यो छोड रहे है? चक्रवर्ती—इस राज्यसे मुझे शाति नही मिली। स्वहितेच्छुको यह बहुत बुरा है, अब मैं इसे छोड आत्महित करूगा। लडका—यदि राज्य इतना बुरा है तो बुरी चीज

मुझे क्यो देते हो ? मैं भी इसे स्वीकार नही कर सकता । यह सुन सभी सभासद दहल गये । चक्रवर्तिके उत्तराधिकारीका कहाँ तो इतना निर्मोहत्व और कहाँ हम नगण्योका जरा जरासे सयोगोमे व्यामोह ? अनेक तो ऐसे ससार चतुर है कि कहो धर्मसस्थाओको हडप जाँय । उनमे किसीसे पूछा जाय तो यही उत्तर मिलता है कि हम तो धर्मका खाते हैं। उनका कहना भी ठीक है कि वे अपनी कमाईका नही खाते, धर्म (धार्मिक संस्थाओका) की कमाई खाते हैं। आज तो भावनायें इतनी विगड गई है कि मदिरोमे भी जूतो और जेवरोकी चोरी हो जाती है ! भैया। मदिर आते समय जूता पहिनकर आना ही नही चाहिये । जीव दया और नि शल्यताका इसमे लाभ है।

अम्बाला की बात है—वहाँ एक ब्राह्मण पडित था । उसकी जैन धर्मसे बडी रुचि थी । उसने वहाँ देखा कि वृद्ध जैन जूता पहिन मदिर आते और बाहर जूता उतार देते हैं। वे कैसी स्तुति करते हैं इसका नमूना बताया । सामने ही भगवानकी मूर्ति है, वे मूर्तिको देखते और पढते हैं कि त्वमेव माता और जूतो की ओर दृष्टि करके कहते है कि "पिता त्वमेव"। इसी प्रकार भगवानकी ओर दृष्टि करके कहते कि "त्वमेव बन्धुश्च" फिर जूतोकी ओर देखकर कहते कि "सखा त्वमेव"। उसने यह दिलचस्प घटना हमे सुनाई। तब समझाया कि जिनके स्वरूपकी दृष्टि नही, उनकी इन सयोगो की ओरसे दृष्टि हटे कैसे ?

### सबकी दुनिया अलग अलग है

जो जितने सस्कार या अभिप्रायसे युक्त है उसके उतनी ही छलागे हैं। वह जिन अभिप्रायोमे रहता है, वार वार उन्हीमे छलांगे मारता है। यदि वे प्रसग समाप्त हो जाय तो स्वभावमे रहनेकी हिम्मत प्राप्त हो जाय ।

अपना साहस बनाकर आस ब्रह्मचर्यसे रहकर सत्सगको पाकर ज्ञान साधन मे जुटना चाहिये । बाह्य सयोगमे प्रधान तृष्णा वाली चीजें है, इस लिये जिससे तृष्णा बढती है, उन वस्तुओका त्याग आवश्यक है, परन्तु उनका त्याग हो जाय तो हो जाय, न होजाय तो मूलहानि नही, परन्तु उनमे हितकी कल्पना का भाव तो हट जाना चाहिये ।

जिन प्रसगोसे आकुलता बढती है, भले ही गृहस्थ उनको छोड न सके,

परन्तु उसके भावोंमें उच्चता तो रहनी चाहिये। उच्च उद्देश्य हुये थोडी न थोडी सफलता मिलेगी ही, परन्तु थोडा या छोटा उद्देश्य बनाये, उससे भी बहुत कम सफलता मिलती है। बी० ए० पढने वाला जब आगामी कक्षामें जाने की चाह रखता है उसे बी० ए० मे सफलता मिलती है।

केवल सुनने या बोलनेसे सुख नही होता। केवल अपनेमे अपना दर्शन होने से ही सुख होता है। यही जितने मुमुक्षु हुए सबको करना पडा। चक्रवर्तियोंने षट्खण्डका वैभव भोगा, खूब भेटे मिली, सत्कार हुआ, फिर भी उन्हें उनका त्याग करना पडा। ज्यो ज्यो उम्र सरकती है, त्यो त्यों बडोंके काम करना बडोंके काम हैं। वे भरे पूरे ठाटके बीच विज्ञान भाव पाये एकदम विरक्त हो जाते हैं और अपना महत्त्व प्रगट करते हैं।

जो बडोंने किया उसका भी तो ख्याल करो

जिन्होंने जङ्गलोका वास पसद किया, महलोके आरामको छोडा उन्होंने सुख पाया। जो बडोने किया वही करना सभीका कर्तव्य है। आदर्श, बडे या पूर्वज बिल्ला बिल्ला कर तो मरे नही तो हमे भी आर्तरौद्र करते हुये नही मरना चाहिये। पूर्वजोंने लोकोत्तर जीवन बनाया था, परन्तु यहाँ पचास पचास, साठ साठ वर्ष बिता दिये, तो भी जीवनके सार्थकयका कुछ भी काम नही किया। उचित तो यह है कि परिवार का जो कुछ भवितव्य होना हो सो हो, अपनी आजीविकाके योग्य पचास या कम, अधिक रुपया माहवारका साधन रख सत्समागममे रह, धर्म साधन कर आत्महित किया जाय, परन्तु अपनेपर इतनी दया किसे है? जिसे हो उससे बढकर सौभाग्यशाली और कौन होगा?

आत्मा सत् है, सदा रहेगा, कभी नष्ट नही होगा। इसमे स्वभाव प्रभुका दर्शन किया तो इससे भी बढकर स्थिति मिलेगी। परन्तु स्वभावकी दृष्टि नहीं हुई, केवल सोना प्रभु, चादी प्रभु, लडका प्रभु, स्त्री प्रभु बताते फिरे तो बडा अधेरा आने वाला है कि पश्चात्तापको भी स्थान नही मिलेगा। यदि इस विपदासे बचना है तो समस्त बाह्य सयोगोके विकल्प छोड स्वभाव दृष्टि पाने के लिये वस्तुके यथार्थ परिज्ञानमें जुट जाना चाहिये। ज्ञानमार्गके बिना कल्याण का एक कदम मात्र भी प्राप्त नहीं होता।

## स्वभाव द्रष्टा ही सच्चा विनयी हो सकता

स्वभावकी रुचि हुये बडी विनय आजाती है। अपना गर्व किसे दिखाना, किसपर शान जमाना, दूसरोको अपनी शान या शाबासी दिखानेका भाव औरो को अपनेसे बडा समझना है। उनको बडा समझकर के ही तो अपनी शान उन्हें दिखाई जाती है मुझमे इतने गुण हैं। कि कोई जान भी नही सकता। जितने लोग जानते हैं वे तो शतांश भी नही, यह परमार्थतः सही है, किन्तु इस परमार्थ मे तो मानको अवकाश ही नही। गुण दूसरोको दिखा दूं यह भाव तो उचित नही। यदि जगत्के जीव ज्ञानी हैं और उन्हें अपनी शान दिखाऊ तो मैं ही उन की हंसी का पात्र बनूंगा। यदि ये अज्ञानी हैं तो भी उन्हे अपनी शान दिखाना बेकार है, क्योकि अज्ञानियोमे अपनी शेखी दिखाना बेवकूफी ही है तो फिर किसे अपनी शान या बात दिखाऊ ? इन विकल्पोको छोडनेसे स्वयमेव अपनेमे गुणोका भंडार भरता है। ऊचा दुनियामे साबित होनेका विकल्प होना अपनेको छोटा बनाना है। अगर किसी विरोधीने विरोध उठाया और उसका मुकाबला करनेका कार्य हुआ तो समझो विरोधीमे कुछ दम है, परन्तु मुकाबला करनेका कार्य नही हुआ, उपेक्षा करदी गई तो समझ लेना चाहिये कि विरोधीमे कुछ दम नही। इसी कारण बडे किसीका प्रतिवाद नही करते।

परके प्रति चेष्टा वाणी और भावना ऐसी होनी चाहियें जो उभयको सुख-कर हो। आजका मानव इन बातो पर तो ध्यान नही देता, परन्तु इनके बिना अपने को धर्मी मान लेता है, जो कि सर्वथा अनुचित है।

## ज्ञानशून्य क्रियायें झूठी हैं

बाह्य क्रियायें अन्तरंग भावकी अनुमापक थी, परन्तु मोहियोकी कृपासे वे बाह्य क्रियायें आज व्यभिचारिणी बन गईं अर्थात् उनको देखकर अन्तरगका कुछ पता नही चलता। जिस शारीरिक, वाचनिक व मानसिक चेष्टासे आन्तरिक वैराग्य जगे, उस चेष्टाको व्यवहारमे व्यवहारधर्म कहते है, परन्तु ज्ञानी ऐसे बैठते हैं, ऐसे हिंसाका परिहार करते हैं, ऐसे ही हमे करना है, ऐसे भाव मात्र से धर्म नही होता।

धर्म तो आत्माका श्रद्धा ज्ञान और चारित्र है, इनमें तरक्की है तो धर्म है। यदि इनमें अवनति है तो धर्म नहीं।

मकार, उदुम्बर, व्यसन और अभक्ष्योंका त्यागकर अधिक और अटल ब्रह्मचर्यसे रहकर सत्समागम में रहे। तत्वाभ्यास किये स्वभाव दृष्टि सहज ही प्राप्त हो सकती है अन्यथा नही।

## स्वभावमाश्रित्य स्वमिदतयानुभवेत् ॥२२॥

बाह्य सयोगसे निवृत्त होकर बुद्धि पूर्वक वह उपाय होना चाहिये जिससे स्वभावमें प्रवेश हो सके और उसका दर्शन प्राप्त हो।

(स्वभावका आश्रयकर) यह ही मैं हूँ—ऐसा अनुभव तभी होता है, जब कि वह प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार जब अपने आपका अवलम्बन होता है, तभी यही अनुभव होता है कि यह ही मैं हू, परन्तु प्राणीने जब कभी अनुभव किया तब अन्य पदार्थोंमे ही स्वका अनुभव किया। मोहियोने जैसा यह (आत्मा) है तैसा अनुभव कभी भी नहीं किया। इसी कारण अनेक पर्यायो और लम्बे काल के बीतनेपर भी प्राणीने यथार्थ अनुभव नही पाया और न यथार्थ आनन्द।

जब तक रस्सीमे सापका अवबोध रहता है दर्शककी घवडाहट तभी तक रहती है। जब रस्सीको रस्सी समझ लिया तब घवडाहट कौन करेगा? उसी प्रकार जब हर एक आत्मा उन उनके पृथक् चतुष्टयसे पृथक् पृथक् दीखने लगे, अपनेसे उनका अत्यताभाव और उनसे अपना अत्यताभाव विदित हो जावे तो फिर विह्वलता उत्पन्न ही क्यो हो? यदि उस समय भी आकुलता हो तो समझना चाहिये कि उस अत्यताभावके ज्ञानमे अभी भ्रम है। यदि साधारण आकुलता हो तो समझना चाहिये कि वह प्राणी अपने यथार्थ ज्ञानका उपयोग नही कर रहा है।

स्वभावका अवलम्बन करने वाले महात्माको जो आनन्द प्राप्त होता है उसे बाह्य वातावरण भग नही कर सकता। यथार्थज्ञान होनेपर भी यदि वह किसी कर्मकी विवशतावश उसका उपयोग नही कर सकता तो भी उसके अन्तरगमे उसके उपयोग करनेकी भावना अवश्य रहती है।

## ध्रुवस्वभावके द्रष्टाका उद्देश्य दृढ होता

अकपनादिक सात सौ मुनियोको दुःख पहुचानेकी गरजसे हड्डी, काष्ठ, चर्म इत्यादि सग्रहकर जब अग्नि प्रज्वलित की गई, तब वे यह सब जानकर भी स्वभावसे विचलित नही थे। अन्यथा वहांसे अन्यत्र भाग जाते। स्वभाव पर दृष्टि आये प्राणी सभी आपदाओको झेलनेके लिये सशक्त हो जाता है। कोई भी आपदा, विपदा उसके निश्चित् ध्येयसे विचलित करनेको समर्थ नही होती।

आगमके इन कथानकों को असत्य नही कहा जा सकता, क्योकि इनके रचयिता बडे बडे प्रतिभासम्पन्न और सुधारक भावनाके थे। गप या झूठ दिगम्बराचार्योको पसद नही होता। असत्य लिखने से उनकी वीतरागतामें क्षति पहुचती। इसलिये जो कुछ उन्होने लिखा उसमे सन्देहको तनिक भी स्थान नही। जहा लम्बी दूर तक तैरनेकी दौड होती है, वहा जो उस दौडमे प्रथम आना चाहता है, उसे उसमे सफलता पाने या प्रथम आनेके लिये अपने दिलको बडा कड़ा बनाना पडता है और ऐसा किये वह अपने उद्देश्यमे सफल हो जाता है, परन्तु वह तैराक दौडके प्रारम्भमे ही अथवा मध्यमे साहस बिगाड़ देवे तो वह तैरकी दौडमे सफल नही होता। उसी प्रकार कठिन विकल्पोको हटाने के लिये मनकी बलवत्ता स्वभावकी लीनता बडी उपयुक्त साबित होती है। सघे बघे महात्माओके कठिन उपसर्गोके अवसर पर अति जटिल स्वभाव दृष्टि होती है, जिससे घोर उपसर्ग व परिषह आदिक उनको उनके ध्येयसे विचलित करनेमे साफल्य नही पाते।

श्री अकम्पनादि महामुनियोने भी उक्त उपसर्गके समयपर अधिकाधिक स्वभावलीनताका अवलम्बन लिया और वे स्वभावकी ओर ही लीन हो गये, जिससे वह घोर उपसर्ग उनको अपने पदसे विचलित करनेको समर्थ नही हुआ।

## सब एक धुनिके हों तो विवाद नहीं होता

वीतराग दिगम्बर साधुओका लक्ष्य बाह्य वातावरणोमे नही रहता। वे एक सघमे कितने ही क्यो न हो सबका एक लक्ष्य रहता है और वह है लक्ष्य खुदकी उपलब्धि। यही कारण है कि हजारो मुनियोका सघ होनेपर भी उनमें परस्पर विसंवाद झगडा या वैमनस्य नही होता था। उनमे ऐसा अनुशासन और आज्ञा-

कारित्व होता था, जैसा अनुशासन किसी भारी सेनामें भी नही होता। यह आत्मीय अनुशासनका प्रभाव है। उससे सब व्यवस्था स्वयमेव बन जाया करती है।

जब अपने स्वभावका अवलम्ब न लेकर आत्मा अपनेमे लीन होता है उस समय यह दिखता है कि यह ही मैं हूँ, यही आत्मा मेरा है, यही मेरा होगा, अन्य सभी भ्रमजाल है। इस प्रकार बडी धीरताके साथ अपने आपका अनुभव होता है। एक आसनपर प्रभु और शैतान दोनो नही बैठ सकते। शैतानके बैठने योग्य आसनपर प्रभु नही बैठ सकता और प्रभुके बैठने योग्य आसनपर शैतान नही बैठ सकता।

जिस समय अपने धर्मकी डयूटीकी जाय उस समय यदि एक मिनिट भी विकल्प जालोसे छुटकारा होजाय तो घटो चिल्लानेकी अपेक्षा धर्मके लिये वह एक मिनिट भी अधिक महत्वका है, परन्तु मोही मानवका लौकिक कार्योमे इतना हट है कि उनसे हटना ही नही चाहते। धर्मके प्रसगोमे कभी किसीने ऐसा हट किया क्या ? कभी भी ऐसा विचारा क्या कि "परसे दृष्टि छोड-स्वस्वरूपका अवलम्बन किये विकल्पो से राग छूटनेपर ही सवर या निर्जरा होती है और तभी प्राणी भाव और द्रव्य कर्मसे मुक्त होकर शान्ति लाभ पा सकता है, सो हमें तो इस शुद्ध भावको ही पाना है"

### नि शङ्क होकर धर्ममार्गमे लगो

यह सोचना वृथा है कि यदि धर्मकेमार्गमे लग गये तो व्यवहारके कार्य कैसे चलेगें क्यो कि हममे ऐसे सस्कार हैं कि धर्ममे लगनेपर भी कुछ समय तक व्यवहारके कार्य होगे ही, वे छूट नही सकेंगें परन्तु वे व्यवहार कार्य प्राणीके परमार्थकी ओर झुके रहे यदि होते हैं तो होते रहे, उनसे प्राणोकी कुछ भी हानि नही होती, परन्तु वे व्यवहारकार्य प्राणीका बाह्यकी ओर झुकाव होते समय यदि होते हैं तो बडा अनर्थ करते हैं।

वस्तुविषयक यथार्थज्ञान होनेपर लौकिककार्योको करते हुये भी प्राणी अकर्ता कहा जाता है और उनके करनेसे उसके ज्ञानमे कोई क्षति नही पहुँचती। जैनागममें तो अपराधीको अपराधसे बचनेके लिये चारित्रमोह की बढिया आड

बतादी, जिससे सम्यग्दृष्टि लौकिक कार्यकर्ता भी रहे, फिर भी अकर्ता कहा जाय, अपनेको बडी छूट मिल गई और चारित्र मोह को दोष मढ दिया, परन्तु वास्तवमें जिसे वस्तुका यथार्थज्ञान हो गया वह लौकिक कार्योंको करता हुआ भी अकर्ता है।

किसीके यहाँ जब कोई मर जाता है, उस समय वह नहाता, शुद्ध होता और इष्ट जनोके मनानेपर भोजन भी कर्ता है, परतु खानेको उसकी हार्दिक इच्छा नही होती। फिर भी लोगोके बार बार मनानेपर वह खाता है, किन्तु हार्दिक रुचि न होने से वह खाता हुआ भी नही खाता है तथा लोग उसे समझाते हैं कि भाई ससारकी ऐसी ही रीति है, अब दु.ख मत करो, धैर्य रखो। वियोगातुर कहता है कि हाँ। भैया ! अब धैर्य रखेंगे, परन्तु उसका हार्दिक दु ख नही जाता। इस लिये वह बोलता हुआ भी अनबोलता है। इसी प्रकार वस्तु विषयक यर्थाथज्ञानवान, लौकिक कार्यको कर्ता हुआ भी करनेकी हार्दिक रुचि न होनेसे अकर्ता हैं। यह दु.खसे भलेका अकर्ता है, ज्ञानी ज्ञानबलसे सर्व प्रवृत्ति का अकर्ता है।

जैसे जेलके कूटना, पीसना, दलना बटना, इत्यादि कार्योंको कैदी हार्दिक भावना से कदापि नही करना चाहता, परन्तु जेलर की व्यवस्थासे उसे वे काम करना पडते हैं। उसी प्रकार यथार्थज्ञानी लौकिक कार्योंको हार्दिक रुचिसे कदापि नही करता। चारित्रमोह की विवशतावस उसे लौकिक कार्य करना पडते हैं।

ज्ञानीके जब एक अखण्ड स्वप्रदेशमात्र वस्तुका ज्ञान हो गया तो लौकिक कार्य न जाने कौन कराता हैं, वह स्वय उनका कर्ता नही। जिस ओर जिसकी उन्मुखता है उसके खिलाफ यदि वह कुछ करता है तो समझना चाहिये कि वह उस कार्यको स्वय नही करता, किसीकी प्रेरक निमित्ततासे ही करता है।

मुनि श्री विष्णुकुमारने वामनका रूप बनाया। याचनाकी, तीन पेंड जमीन मांगी। इस प्रकार स्वभावदृष्टि वाले भी साधुको रागने ऐसा सताया कि उन्हें स्वभावविरुद्ध उक्त कार्य करनेको विवश होना पडा। यदि उन्होने अपनी हार्दिक रुचिसे ऐसा किया होता तो उस समय उनके सम्यक्त्व और विक्रिया दोनोकी

समाप्ति हो जाती। इससे मालूम होता है कि वे उन कार्यों को करके भी अकर्ता रहे। इससे निश्चित होता है, जिसे यथार्थ, ज्ञानके कारण स्वभाव दृष्टि हो गई है, उसे लौकिक कार्य करना भी पडे तो भी वह अकर्ता ही रहता है।

### निजस्वभावका आश्रय ही अपना सर्वस्व धन है

सर्वस्वधन यही है कि अधिकसे अधिक स्वभावके भीतर जाया जाय और वह इतना कि आगेका कुछ भान भी नहीं रहे और वहाँ स्वभावका आश्रय ले यही हित है, यदि यह नही हुआ तो महान् अहित है।

गृहस्थोंको त्यागियोंके समागमसे महान् लाभ है, परन्तु गृहस्थोके समागमसे त्यागियोको बाधा है। कोई भी त्यागी जब किन्ही गृहस्थोके समागममें रहता है तब उसके संगसे गृहस्थोको पर्याप्त लाभ पहुँचता है, परन्तु इससे त्यागियोके दैनिक आवश्यक कर्तव्योंमे उत्साहहीनता, त्रुटि या कमी हो जाती है। इस लिये गृहस्थो के समागमसे त्यागियोका व्यक्तिगत बडा बिगाड होता है। त्यागी प्रगति आपसे अलग रहनेमे ही हो सकेगी, आपके सपर्कमे नही, पर योगी सपर्कसे आप है। जो अपनी स्थितिके अनुकूल वातावरणमे जितना रहता है वह उतना ही की प्रगति हो सकती अच्छा है। त्यागीको त्यागियोका वातावरण ही उपयुक्त हो सकता है, परन्तु गृहस्थोका वातावरण उसके उत्कर्षका। बाधक होता है। जो बडोको देखता है वह बडा बन जाता है अतएव गृहस्थोकी दृष्टि त्यागियोपर रहे वे बडे बन जाते हैं। परन्तु जो छोटोको देखता है वह छोटा बन जाता है। इस न्यायसे त्यागी की दृष्टि गृहस्थो पर रहे वह आगे नही पढ सकता। हम तो ऐसे गृहस्थको अच्छा समझते हैं कि वह ऊपरको (विशिष्ट चारित्रवान्को) ताक त्यागीसे रहा है, किन्तु त्यागीकी दृष्टि यदि गृहस्थपर होती तो वह छोटा है, क्योंकि वह नीचेको (कम आचार वालेको) ताक रहा है। इस परीक्षासे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वदृष्टिसे महान् उपकार और परदृष्टिसे महान् अपकार है।

स्वभाव दर्शनका विशेप आश्रय लेनेके लिये घरमे रहता हुआ भी गृहस्थ सफल हो सकता है, परतु गृहस्थोके परिचयमें उलझा त्यागी स्वदृष्टिका विशेप आश्रय लेनेके लिये सफल नही हो सकता। चाहे गृहस्थ हो, चाहे त्यागी हो,

जिसे जो वाह्य प्रिय वन जाता है, उसका आश्रय उसे प्रगति नही करने देता। वाह्य स्थिति अच्छी बनानेका भाव भी प्रगतिकारक नही होता। हमारी यह स्थिति भी हमारी भी तरक्की, दया नही कर सकती। वह तो भीतरी गुणोंके आश्रित है। यदि गुण दृष्टि दया करेगी तो ही हमारी प्रगति हो सकेगी।

## निजमे ही करनेकी बात देखो

धर्मके लिये देव पूजा तथा स्वाध्यायादि कोई भी कर्तव्य बता दिये जायें, परन्तु वास्तवमें "करना इतना ही है, जो यह (आत्मा) कर सकता है, किन्तु प्राणी जो कार्य नही कर सकता है" उसे करना चाहता है, यह गलती है। हम वाह्य पदार्थका कुछ नही कर सकते, हम तो अपने स्वभाव या दुर्भाव ही कर सकते हैं। परका वहाना लेकर हम अपने स्वभावको वेखबर कर रहे हैं।

स्वभावका अवलम्बन तो सभी करते हैं, परन्तु कोई खबरमे और कोई वेखबर मे। वेखबरीकी अवस्थामे जो स्वभावका अवलम्बन किया जाता है वह मिथ्यात्व है और खबरदारीकी अवस्थामे जो स्वभावावलम्बन किया जाता है, वही सम्यक्त्व है। प्राणी परका अवलम्बन त्रिकालमे नही कर सका और न कर सकेगा, किन्तु परका अवलम्बन, रक्षण करता हूँ—यह अभिप्राय करे तो संसारवर्द्धक भाव है।

क्रोध आदि भी करते रहो, परन्तु खबर रखते करो कि यह इसी (आत्मा) की परिणति है, यहींसे उठा है, वाह्यसे नही आता। ऐसी खबर रख कषायकी जाय तो विशेष हानि नही होती, वहाँ तो कषाय उत्पात भी नही मचा सकती। परन्तु जब कषाय आती है तब ऐसी खबर नही रहती, उस कषायका कारण या अपराधी परको माना जाने लगता है, पर ऐसी बात नही कि क्रोध आते समय उसको उक्त प्रकार खबर रखी ही नही जा सकती हो। मोह और कषाय मे अन्तर है।

निर्धनको धनीके वैभवमे अचरज हो सकता है, पर उस धनीको तो अपने धनमे औरोंकी अपेक्षा कमीका ही अनुभव होता है अचरजका नही। इसी तरह ज्ञानी जब कषाय आते या रहते उसका पूर्वोक्त प्रकार ज्ञान या सावधानी रख सकता है। यह वेखबर नही होता, यह अचरज अज्ञानमे होता है। ज्ञानी तो

वहा भी कमी देखता है। बेखबर तो मोही ही होता है।

धर्ममें बढनेके लिये यह कर्तव्य करना चाहिये कि ज्ञानियोसे भेंट और उन की कलाओसे परिचय हो, ज्ञानियोकी आदतका पता चले और उनका आन्तरिक बोध होवे इससे स्वभावावबोधकी परीक्षा होती है।

किसीको रथ या कारमे अकडा बैठा देख ज्ञानीके यह भाव हो सकता है कि बैठ लो बच्चू कितने दिन बैठते हो, जो करना हो सो कर लो, देखें कितने दिन करते हो ? यदि कोई स्त्री सजी धजी, लाली भी लगाये ऐठमें आती है तो उसकी मूर्खतापर यह भाव हो सकता है कि लगा लो, कितने दिन लगाती हो, कभी कभी उनकी इस नादानी व मूर्खताको देख हसी भी आजाती है, जिसे देख उन्हें यह भी आशंका होती होगी कि यह दर्शक हमे देख दुर्भावनावश हस रहा है क्या ? हम परमे अकारण ही विविध कल्पनाओको कर डालते हैं, उन कल्पनाओके प्रति अपने भावको नही रोक सकते, यह हमारी बडी कमजोरी है, जो हमे हमारे स्वभावके अवबोधमे बाधक होती है।

सामाजिक कार्योमे झुकाव तो दूर रहा उनमे थोडीसी अपनी इच्छा भी हो जावे तो भी फासी है। और निज समाधिको बाधक है, परन्तु जब यथार्थ ज्ञान होजाता है, तब परवस्तुकी चिन्ता या इच्छाका आधार ही क्या ? अतएव हरएक जिज्ञासुको अपने भीतर ज्ञानकी महिमाके लिये अपनेसे बडोके आदर्श पर दृष्टि रख तदनुकूल बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

### पराश्रयज बात ही विडम्बना है

स्वभावकी ओर उन्मुख होकर यह ही मैं हू, इस प्रकार अनुभव करना ही स्वहित है। यह शरीर और रागादिक उपाधिजन्य हैं, यह मैं नही हूँ। मेरेमें होनेवाले नाना विकल्प रूप भी मैं नही हू। मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, शुद्ध चैतन्य ही मैं हू, यह भाव देर तक बना रहे, यही कल्याणका मूल है। ऐसी भावनामें एक क्षणमात्र भी बीते तो भी श्रेयस्कर है, परन्तु अन्यथाभावमें, वर्षों का भी बीतना हितकर नही।

स्व से हटकर अन्यमें रहना विशाल विपदा है। ज्ञानीजन स्वस्थितिके लिये ही समस्त परिग्रह का त्याग कर साधु बनते हैं। महान् सम्राटोको विशाल

विभूतिमे भी सन्तोष नही हुआ। इसलिये उन्होने उसे छोड, स्वस्वरूपमे स्थितिका प्रयास किया। इसीसे वे सारी विपदाओंको दूर कर शाश्वत संपत्तिके स्रोत निज आत्मापर पहुँचे। धर्मके लिये क्या करना है? इसका निर्णय करना प्रथम आवश्यक है। जगत्का कोई काम "करना पडे" यह बात और है तथा "करना है" यह बात और। जो करना पडता है, वह अनुराग, आपका कर्तव्य (करना) नही बने तो समझना चाहिये कि आप अपने उद्देश्यमें सफल हैं। यह शुभानुरागका प्रताप है कि ज्ञानीका जो कर्तव्य नही उसे वह करना पडता है। स्वभावानुरागके प्रतापसे ज्ञानी भी पूजादिक करता है, पर वह उनसे छोडते नही बनता। शुभानुरागका प्रभाव ही ऐसा है, परन्तु उसके लक्ष्यमे ये रहता है कि ये पूजादि मुझे करना पडते हैं, परन्तु मेरे कर्तव्य नही, मैं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम हूँ।

जब पूजा की यह बात है तो गृहस्थीके विषयमे भी मुझे कमाना पड़ता है, परन्तु कमाना मेरा काम नहीं। मुझे सन्तानादिका पालन करना पडता है, परन्तु पालन मेरा काम नही। जब अन्तरगसे ऐसी तर्कणाये व विचार उठें तो हे प्रभु! (आत्मन) तुम अपने ही पास पहुंचते जाओगे, अपना कल्याण सरल है, पर समतासे विचारो तो सरल और घबडाहटसे विचारो तो कठिन।

## सत्याग्रहसे स्वतन्त्रता मिलती

स्वतन्त्र होना सरल है, परन्तु इसके लिये अपने लक्ष्यके सत्याग्रहकी आवश्यकता है तथा आत्माके साथ अन्याय करने वालोंके साथ असहयोग करने की आवश्यकता है। यदि अपनेको आजाद बनाना है या गुलामीसे हटाना है तो अपने विभावोसे असहयोग और उपेक्षा आवश्यक है। उनमें इन्ट्रेस्ट कदापि नहीं होना चाहिये। यह मैं हूं यही लक्ष्य रहे, पर्याय बुद्धि न आवे, यह भाव हो कि हे विकल्पो, मुझे मत झुमलाओ। मैं न मनुष्य हूँ, न त्यागी, न गृहस्थ, न गरीब, न धनी इत्यादि ये कोई भी मैं नही हूँ। ये विकल्प जो लालच देते हैं उनसे असहयोग करो। स्वस्वतन्त्रताका लक्ष्य और विभावोसे असहयोगके बल पर ही आजादीका लाभ होगा।

वह कौनसी भावना या विचार है, जिसके बलपर सत्याग्रह व असहयोग दोनो आन्दोलन सफल होते हैं ? वह है "शुद्ध चिद्रूपोऽहं" की भावना अथवा "ॐ शुद्ध चिदस्मि"। दुनियामे मेरा कौन मित्र, कौन बन्धु और कौन पुत्र हैं ? जब कि मैं केवल स्वप्रदेशोकी सीमामे ही कार्य करता हूँ। उसमे दूसरोका कोई भी सम्बन्ध नही हो सकता। ऐसी हालतमें कौन मकान, दुकान, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही, ये जड पदार्थ बडे ही उजड्ड हैं, दुनियामे फसानेके जाल हैं अथवा वे उजड्ड नही, उजड्ड तो स्वय आत्मा बन रहा है जो अपने स्वरूपको भूल उनको अपनेसे लिपटाता है।

### अपने विचार पर अपना निर्माण है

अपने आपको जैसा मानोगे, अपनेमे वैसा ही व्यवहार बनेगा यदि अपने को धनी मानोगे तो धनी सरीखी ही शान शौकतका व्यवहार करना पडेगा। मनुष्य मानोगे तो मनुष्योचित् दया, परोपकार आदि करने पडेंगे। यदि अपनेको आत्मा मात्र मानोगे कि मैं एक शुद्ध चैतन्य तत्त्व हू तो आपका व्यवहार ज्ञाता दृष्टा बने रहनेका होगा।

यदि गरम जगहसे पानीका स्रोत चलेगा तो वह पानी भी गरम होगा, शीतस्थानसे पानीका स्रोत शीत होगा। उसी प्रकार जहाँ मानवता होगी वहाँ माननीय व्यवहार बनेगा और जहाँ आत्मतत्त्व का भाव होगा वहाँ आत्मीय भाव बनेगा।

लोकमे देखा जाता है कि जिनके चित्तमें हर्ष होता है उन्हे विशाल शहर मे सर्वत्र आनद ही आनद दिखाई देता है और जिन्हे किसीका शोक हो उन्हे बाजे भी क्यो न बजते रहे तो भी सारा नगर शोकाकुल प्रतीत होता है।

मोही जन तो औरोको मोहके ढगसे ही देखेगा, उन्हे अच्छा मानेगा, साधु सतोको ऐसा मानेगा कि घरमे कोई या कुछ रहा न होगा इससे साधु सत बन गये, परन्तु ज्ञानी ऐसा सोचा करता है कि ये मोही जन मोह करते तो नजर नही आतें, इनके ऊपरसे तो मोह नही दिखता, ये मजाक सी कर रहे या मजाक की आदत बन गई है। कोई ज्ञानी या मोही इसके विरुद्ध बातकर रहा हो तो वह अपवाद मार्गकी बात है।

स्वभावरूप अनुभवके हेतु मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हू, यह जाननेके प्रयत्नसे साध्य नही, जानना उसका कारणमात्र है चैतन्य कैसा है, यदि यह स्पष्ट समझना है तो आन्तरिक चारित्र बनाना होगा, सर्वराग विकल्पोंको छोड देना होगा; समस्त रागवृत्तियोसे उपेक्षाकर जाय और अपने समस्त परिणमनो से भी उपेक्षा कर जाय, तब स्वभावको अवश्य दिखना पडेगा, वह जायगा कहाँ ?

जैसे भक्त कहा करते है कि हे नाथ ! मेरी तेरेमे अपूर्व भक्ति है, मैं तेरी ही रटनामे रहनेवाला हूँ, तू भागकर जावेगा कहाँ ? भक्तके वश भगवान् होते हैं इत्यादि। इसी प्रकार हे सहज सिद्ध प्रभु ! यदि तेरे पर मेरी अतिशय भक्ति है, यदि मैं तेरे देखने, आश्रय लेने और सामीप्यके लिये यदि मैं इतना फकीर हूँ कि जडपदार्थोंसे तो क्या रागादि समस्त परिणमनोसे उपेक्षा कर लूंगा तो हे प्रभु ! तुझे दिखना पडेगा, तू जायगा कहाँ ? वह सहजसिद्ध प्रभु मैं ही हू।

## ॐ शुद्धं चिदस्मि ॥२३॥

ॐ, मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। इस सहज सिद्ध चैतन्य प्रभुके जाने बिना ३४३ घन राजु प्रमाण लोकके प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त बार जन्म लिया। लोककी एक अंगुलप्रमाण जगहमे अनगिनते प्रदेश हैं तो फिर हाथ, कोश, योजन, द्वीप, समुद्र असख्याते हैं। उनमे कितने प्रदेश न होते होगे ? ऐसे ३४३ घन राजुप्रमाण लोकमे ऐसा कोई प्रदेश नही बचा, जहाँ अनन्त बार इस प्राणीने जन्म न लिया हो तो भी सहज सिद्ध प्रभु नही बन सका।

अनन्त स्थावर त्रस, तिर्यंच् देव नारकी और पशु पडे हैं। उन सबमें मनुष्य बडा है। मनका भाव बता देनेका सामर्थ्य है जो अन्योको नसीब नही होता। ऐसा मानव पद पाकर यदि मन को दुरुपयोगमे लगाया, तब तो इसीमें भलाई थी कि तिर्यंच ही रहते, जिससे मानव पर्यायके वे भव तो स्टाकमे बचे रहते, जिनका सदुपयोग स्वात्मोपलब्धिमे किया जाता।

### हृदयकी शुद्धि तो कर ही लो

खुदको शान्त बना लेना ही मनका सदुपयोग है, पहिले यह करना चाहिये, पीछे और कुछ देखना चाहिये। विवेक से ठीक आरामगृहमे अपनेको बसा लो !

अपने हृदयमे प्राणीमात्र के प्रति विरोधका स्थान नही रहे। किसी परके रागका भार सबसे न्यारे इस विचारे हृदयपर ज्यादा न आजाय। इन दोनो आपदाओ से बचाकर हृदयसे शान्ति करो, फिर दूसरेका भला उसके निमित्तसे होना होगा तो होगा ही।

जो कषाय कम हो रही हो उसे बढानेका प्रयास मत करो। जो कषाय बढा ने का प्रयास करना है उसके पर्यायमे अधिकानुरक्ति है, परन्तु इसका परिणाम भला नही होता। सदा यह भाव रहना चाहिये कि हे प्रभो, वह समय जल्दी प्राप्त हो जाय कि जिससे कषायसे निवृत्तिका मार्ग मिले। दूसरोसे राग या विरागका सबध बढानेसे दुनियामे कौन सुखी हो सका, ऐसी कोई भी पौराणिक ऐतिहासिक या वर्तमान घटना बताओ कि अमुक राग या विरोधसे अमुक सुखी हुआ। यदि विवेक नही है तो घर, समाजमे और देशमे बडा तो पापके उदयमे ही होता हैं। विरोध व रागकी कला बडोमे ही होती है। यदि वह उनमें न हो तो बडापन आता है।

### आत्मभावनाका सत्फल अवश्य मिलेगा ही

जिन्हे स्वका अनुभव करना है, शातिमे रहना है, उनका कर्तव्य आत्म भावना करना है। उसे मैं शुद्ध चैतन्य हू शेष दुनिया उसे अपने हितके अर्थ शून्य नजर आती है। वह आकाशवत् निर्लेप हो जाता है और अह्लादका पुज बन जाता है, परन्तु जानना तो चाहिये था स्वको, किन्तु मोही मानव उस ओर तो लक्ष्य नही देता, दुनियाको जाननेका प्रयास करता फिरता है। कमाना चाहिये था स्वके साम्यस्वभावको, पर कमाते हैं जडको, जिससे विह्वलता ही हाथ आती है। कई तो ऐसे सडे गले खराब चीजोको एक कमरेमे जमा करते जाते हैं, कोई चीज सस्ती मिलती है तो आवश्यकतासे ज्यादा सग्रह कर लेते हैं। वे यह नही समझते कि आवश्यक वस्तुओका सग्रह भले ही रह जाय, पर अनावश्यक वस्तुओके सग्रहकी क्या जरूरत ? लोग बाह्यपदार्थोंका सग्रह करते है, पर उनमे आराम नही मिलता। आराम मिलेगा तभी, जब कि बाह्य पदार्थो के सग्रह करनेकी बुद्धि मिटे और अलौकिक एक शुद्ध चैतन्यका सग्रह रह जाय। उसका उपाय मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हू, यह प्रायोगिक भावना ही है।

खूब सोचलो कि शरीर जलेगा, खाक होगा या नही, फिर इसमें इतनी मुहब्बत क्यों ? इस शरीरके रहे काल तक हमें अपनी चीज (शुद्ध चैतन्य) की प्राप्तिके मार्ग पा लेने का मौका मिला है। इतने मात्रसे भले ही शरीरको ग्राह्य कहा जाय, किन्तु इसे दुष्ट समझकर जैसे यह कोई खराबी नही पैदा कर दे, इस अभिप्रायसे दुष्टका आदर किया जाता है, उसी प्रकार इस शरीर की सेवा करो कि यह रोगादिकका आश्रयकर हमारे चैतन्य स्वरूपकी प्राप्तिमे बाधक न बन जाय। भीतर यह भाव रखो कि इस दुष्ट का मेरे से जरा भी लगाव न रह जाय औरमैं अशरीर बन जाऊ। वस्तुतः परपदार्थ चाहे शरीर हो अन्य कोई दुष्ट नही। दुष्ट शिष्ट आत्माका परिणाम है।

मैं तो समस्त विपदाओंसे भिन्न आनंदका पुञ्ज हूँ, परन्तु इस दुष्ट शरीर के सबबसे विह्वलता होती है, इसे किसी तरह स्ववश किया तो फिर आजादीसे अपनी ड्यूटी (चैतन्य प्राप्ति कार्य) पूरी होती है। शरीर "मैं" नही हूँ, वह मूर्तिक है, मैं अमूर्तिक हूँ, वह जड है मैं चेतन हूं; शरीर भी कोई चीज नही, अनेक अनु परमाणुओंका पुंज है शरीर स्वय कुछ नही, इन अनन्तानन्त परमाणुओंके सामने मैं सबसे न्यारा हूं, मुझमें अकेले शक्ति है कि जब मैं अपने आपमें रम जाऊगा तब ये शरीररूप अनंतानत परमाणु पुज मुझसे स्वय छूट जावेंगे। जब ये अनन्तानन्त (मिलकर) मुझे बरबाद कर सके तो मैं अकेला ही अकेलेके आश्रय रह परकी सहायताकी अपेक्षा बिना इनका नाश कर सकता हूँ।

### मैं सर्वदा स्वरूपमय हूं

जब मैं मिथ्यादृष्टि था तब भी इस शरीर रूप नहीं था; जब सम्यग्दृष्टि हुआ, तब भी इस शरीर रूप नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चैतन्य हूं, बार बार ऐसी ही भावना होना चाहिये। यदि इन भावनामें मग्न होना है तो तृष्णा व लोभ को छोड़कर धन वैभवको तुच्छ समझना चाहिये। यही आपको आधार बना है और यही शांतिदायक हो सकती है, अन्य नहीं। साम्यभावके विकास बन जाय, ऐसे बड़े तुम्हारे सामने धन, कौनसी वस्तु है ? श्रद्धा प्रतीति और आत्मोन्मुखता ही हमारे और आपके मतलबकी बात है।

यह वहिरात्मा इन्द्रियोकी सहायता चाहता है और ये 'इन्द्रिया कुमतिरूप वेश्याके पास ले जानेकी दलाल है। आत्माको कुमतिके पास ले जानेका इनका व्यवसाय है। यह वहिरात्मा इन्द्रियोके द्वारा स्वसे पराङ्मुख होकर देह परको स्व मानता है। यदि नरकी हुआ तो नारक शरीरको माना कि यह मैं हूँ। यदि तिर्यंच हुआ तो तिर्यक् शरीरको माना कि यह मैं हू। यदि जवलपुरमे पैदा हुआ तो स्वको जवलपुर का माना।

जवलपुरमे पैदा होकर भी यह भाव नही बना सका कि मैं जवलपुरका नही हूँ, चैतन्यमात्र हू। जिस शरीरमे गया उसरूप अपनेको मानने लगता है। केवल स्वको ही शरीरमे नही लपेटता, किन्तु दूसरोको भी अपने शरीरमे लपेट डालता है और विविध कल्पनायें दौडाता है कि यह हमारी स्त्री पुत्र, हैं इत्यादि।

आत्मा तो सवसे निराला, आत्म प्रदेशोमे रहने वाला है, परन्तु तेरी क्या मति भ्रष्ट हो गई कि तू परमें ममत्वके विकल्पोंमें फंसता है। इसलिये हे ज्ञानिन्! देह और रिश्तोका विकल्प छोड़ (धन और वैभवका भी विकल्प छोड, यह धन भी कुछ नही, यह वैभव भी कुछ नही, गाली गलौज भी कुछ नही, मैं केवल अपने एक परिणमनसे ही परिणमता हुआ चला जाता चैतन्य तत्त्व हूं।

अपनी रक्षा कर, दूसरेके भले बुरे कहने सुननेसे तुझमें कोई फर्क या बात नही आती। मैं चैतन्यमात्र हूं, परन्तु इसे जानने वाला कोई नही। यदि कोई होता तो मेरे प्रति भले बुरे की कल्पना ही कोई नही करता। जव मुझे जानने वाला भी कोई नहीं तो फिर कौन वन्धु और कौन मित्र,' मैं चैतन्यमात्र हूँ, ऐसी धारणा किये सहज सिद्ध प्रभुका वारवार दर्शन होगा।

जव यह सहज सिद्ध प्रभुका दर्शन होता है तव हजारो विपदायें स्वयमेव टल जाती हैं। विपदायें प्रभुसे मुख मोडनेमे ही सताती हैं, किन्तु प्रभुके सन्मुख जुडनेमें मानव जन्म सफल होता है।

जगतमे थोडे दिनकी मुसाफिरी है। किसीने कुछ भला बुरा किया तो किया। उस भलाई या बुराईका या उसके करने वालेका साथ थोडे समयके लिये होता

है। उस ओर अपना उपयोग कर, तू अपनी आगेकी यात्रा क्यो विगाडता है ? किसीने कुछ कह दिया तो कह लेने दो। तुम अपने अनन्य लक्ष्यपर दृढ रहो तो तुम पर उसका कहे सुनेका असर ही नही हो सकता। जब हृदय इतना शुद्ध बन जाता है, तब सहज प्रभुका दर्शन स्वयमेव हो जाता है।

# ७ वां अध्याय

## पूर्णशुद्धस्वरूपसमवस्थानं मोक्षः ॥१॥

पूर्ण शुद्ध स्वरूपमे समवस्थित हो जाना मोक्ष है। स्वरूपस्थिति ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। स्वरूपसे स्खलित होकर नाना दशायें पाना परतन्त्रता है और यही ससार है।

जगत्के सभी प्राणी स्वतंत्रता या गुलामीसे मुक्ति चाहते हैं। प्राणी कितना ही कम परिस्थितिका क्यो न हो, परन्तु वह पराधीन रहनेमे प्रसन्न नही रहता। प्राणी जब तक अज्ञान रहता है, तब तक पराधीनतासे मुक्त नहीं हो सकता। अज्ञान या भ्रमके दूर हुये पराधीनता स्वयमेव दूर हो जाती है।

प्राणी अपने आपका खोकर इन्द्रियोके विषय सम्बन्धी दुष्कार्योंमे या बाह्य कल्पनाओमे अपना समय बिताता है, परन्तु उससे प्राणीके इष्टकी सिद्धि या हित न हुये हैं न होगे। बारबार इन्द्रिय विषयोके भोगोकी इच्छा व नवीन नवीन कल्पनाओकी उत्पत्ति होती रहती है। आन्तरिक हितकी भावना भली होनहार से होती है।

हाड मास चाम आदिके पुञ्ज, स्त्री, पुत्रादिका सुहाना पापमे होता है, उनमे आत्मीयत्व बुद्धि भ्रममात्र है। किसी आत्माका किसी बाह्यसे कोई सयोग नही। एकका परिणमन दूसरेके परिणमनमे कुछ भी मदद नही कर सकता निमित्तका कथन उपादानकी कला देखकर ही किया जाता है। कोई निमित्त किसी वस्तु को जबरन नही परिणमाता।

प्रत्येक पदार्थ अनन्त सामर्थ्यसे सम्पूर्ण है, मेरा अनन्त सामर्थ्य मेरे लिये आपका आपके लिये और प्रभुका प्रभुके लिये है। कोई किसीके परिणमनमे

सहायक नही होता। परिणमनकी सारी व्यवस्था उपादानकी शक्तिसे ही चल रही है। उपादानमें यह कला स्वय होती है कि किस निमित्तको पाकर कैसे परिणमे ? जगत्की यह व्यवस्था सनातन है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, उसमें परिणमनकी भी शक्ति स्वतन्त्र है, परन्तु वह परिणमन किसी निमित्तको पाकर होता है। स्वभाव परिणमन ही केवल काल निमित्त है।

### जीव अपनी कल्पनासे ही पराधीन है

प्राणी परविषयक कल्पनामे रहकर व्यर्थ दु खी होता है, कोई अपनेको कुटुम्बका अधिकारी मानता है, कोई अपनेको किसी सस्थाका अधिकारी मानता है, अपनी मान्यतासे स्वयं ही पराधीन बन जाता है। अपनी योग्यतामे हुये भ्रमवश प्राणी स्वय कल्पना करता है ,कि मुझे अमुक वस्तुने पराधीन कर दिया। इस प्रकार अपनी अनादि स्वतन्त्रताको खोकर परतन्त्र बन दु.खी हो रहे हैं।

अतः जैसा वह स्वतन्त्र है, वैसा जानने वाला रहे, इसीके प्रतापसे चरम विकास और परम आनद प्राप्त होगा, स्वके अवलम्बनसे उस दशामे पहुचना कि जहां एक हो जाय, उसे ही मोक्ष कहते है।

मोक्षको तीन लोकके ऊपर देखने वाले या आगमसे उसे जानने वाले, बाह्य पर दृष्टि रहते मोक्ष मार्गमे नही आ सकते। मोक्ष तो अन्तरमे है। अन्तरसे जो सहज वातावरण बनता है, वह मोक्षका मार्ग कहा जाता है। छूटनेका नाम ही मोक्ष है। अर्थात् आत्माका अपने विभाव विकल्पोका छूटना ही मोक्ष है, जैसे खूनसे खून नही घुलता, उसी प्रकार विभावका विकल्प भी विकल्पपर दृष्टिसे नही मिटता।

### दृष्टिको अटक ही वास्तविक अटक है

गृहलिङ्गमें रहे या त्याग लिंगमे रहे, परन्तु दृष्टिलिङ्गमें न अटकना चाहिये। व्यवहार धर्ममे प्रवृत्ति हो, पर उसमें दृष्टि नही रहे, मुझपर जो गुजरे या गुजरना है, मेरी ज्ञान दृष्टि रहते गुजर जाय, पर गुजरेमे मेरी दृष्टि नहीं अटके, ऐसा दृढ स्वभावका अनुभव किये, विकासकी चरम दशा स्वय प्राप्त होती है। ऐसे भावके विकासमें त्यागिलिङ्ग आना ही पडता है।

आत्मा स्वयभू है। वह स्वकी क्रिया स्वमे करता है। इस पवित्र मर्मको जाने विना यह दृष्टि अब तक अपनेही घरमे रह रह कर, किन किनको निरखती रही। मिथ्यात्वीकी अवस्थामे वह दृष्टि हममे ही बनकर बाह्य वस्तुओको निरखती रही, परन्तु बाह्य वस्तुओको निरखने पर भी यह दृष्टि बाह्य वस्तुओ मे नही रह सकती थी। यह आत्मा अपनेको भूल बाह्य वस्तुको आत्मा मानता था। सुख तो ज्ञान और आत्मामे ज्ञाता ज्ञानमे अभेद भाव होना ही है। ऐसी हालतमे बाह्य वस्तुओमे सुख खोजनेका अर्थ तो बाह्यको आत्मा मानना है। इसी प्रकार आत्माका सुख आत्मामे रहता है, तब बाह्यमे उसकी खोजका अर्थ बाह्यको आत्मा मानना है। बाहरसे सुख माननेका मतलब स्वको खो बैठना है।

जीवकी ऐसी दृष्टि सदा से चली आई है। शरीर ही मैं हूँ, ऐसा मानकर सदा उसीका पोषण करता रहा है। शरीरका पोषण तो उसे सम्बद्ध पडौसी समझकर करना चाहिये था कि यह अपनेमे रोग, उत्तेजना और किसी प्रकार का विकार पैदाकर दुष्टता न कर बैठे। इसलिये इसे किसी भी प्रकार समझा लो। शरीरका पोषण पुष्टि के अभिप्रायसे भी किया जाता है कि इसके पुष्ट रहते विविध ऐन्द्रिय भोगोको भोगनेमे सफल हो सकूं, परन्तु एक पोषण उपेक्षा से होता है और दूसरा आसक्तिसे। इस प्रकार शरीरके उक्त द्विविध पोषणमे महान अन्तर है।

मिथ्या दृष्टि शरीरको याने पर्याय मुग्ध आत्मा, बाह्यको अपना मानता है तथा इज्जतोको, कलाओको और प्रतिष्ठाओको अपना मानता है, पर हे जीव! तू चित्स्वरूप द्रव्य है। वास्तवमे तेरा चित् या चेतन भी नाम नही, तू किन शब्दो मे कहा जाय, निश्चयसे तेरा कोई नाम नही, तू नामसे अव्यक्त है। रागके प्रभावसे अवक्तव्य चैतन्यमे भी नामादिककी कल्पना करदी गई है।

### अहङ्कारका कारण नाम प्रत्यय भी है

जैन सम्प्रदायमे गृह छोडनेके बाद उस व्यक्तिके गृहत्याग प्रतिमाग्रहण क्षुल्लकत्वग्रहण, ऐलकत्व और साधुत्वग्रहणके समय नाम बदलने की प्रथा है, जो कुछ रहस्य रखती है। नामसे नामान्तर कर देने पर समझना चाहिये कि पहिला नाम और उस अवस्थामे कृत महत्तीय कार्योकी दृष्टि मर चुकी, खतम हो चुकी,

अर्थात् उस नामके रहते कृत कार्योंमे नामकी चाह गई, नामान्तरके हो जानेसे पूर्वनामकी शान गई, उसमे कृत स्वकार्योंसे महत्त्वाकाक्षा हट गई। इस प्रकार नामोंके बदलनेमे बडी भलाई प्रतीत होती है और वह पद्धति गर्वके भावको मिटानेवाली है। नामान्तर हो जानेपर पूर्व नाम सम्वन्धि प्रसिद्धि भी बदल जाती है। यदि शुरुके और बदले हुये सभी नाम एक साथ बोले जाय तो समझा जाय कि पूर्वकी प्रसिद्धि नामान्तरमे रही, पर ऐसा होता नही।

हमारा प्रत्येक लक्ष्य ऐसा होना चाहिये जिसमे अपने आपको पतित होनेसे बचा सकू, किसी जीवकी हिंसा मत करो, प्रत्येक प्राणी चेतन है, चरमसे चरम उन्नतिकी, उसमे योग्यता है आपके द्वारा सक्लेश पहुचानेसे, वह अपनी योग्यता से च्युत होकर दुर्गतियोमे जा गिरता है। इससे उसे दुर्गतिमे पहुँचानेके कारण मत बनो। किसीका दिल मत दुखाओ। दिलके दुखनेसे उसके परिणामोमे सक्लेश होगा और वह खोटे बधन बाध लेगा। उसने तुम्हारा क्या बिगाडा, तुम्हारी क्या खोटी करता था, जिसमे तुम उसके कर्मबन्ध करानेमे या उसे मोक्षमार्गसे दूर करनेमे कारण बन गये। किसीकी मोक्षमार्गकी योग्यता कम करानेमे निमित्त बनना व्यवहारमे बडा पाप है। किसीको शाति मार्गसे भ्रष्ट कर देना बडा अन्याय है।

## ज्ञानीकी क्रिया परपीडाकारी नहीं होती

यह प्राणी जब स्वदर्शनका आश्रयकर उसीकी ओर सन्मुख रहता है तब परसे अपने प्रति जैसा व्यवहार चाहता है, वैसा ही स्वय भी अन्यके प्रति वर्ताव करता है। विवेक होनेपर मिथ्या भ्रमजालसे छूटनेपर कठिनसे कठिन गोरख-धधेसे मुक्ति होनेपर जीव सुखी होता है, परन्तु प्राणी सुखके हेतु गोरखधधो को अधिकाधिक बढाता है। सुख तो उन गोरखधधोकी मुक्तिसे ही सभव है, गोरखधधोसे नही।

तू ही सत्य प्रतिभास या सच्चा अवलम्वन है। तेरे दर्शनसे प्रभुकी महिमा पहिचानी जाती है। तेरे दर्शनके विना सिद्धका दर्शन सभव नही, तेरे दर्शन विना प्रभु सम्बन्धी वातें विचारनी ऊपरी ऊपरी वात सी हैं।

स्वदृष्टि एक डोरी है, उपयोग पतग है, बाह्य पदार्थों की दिशामे उडना

पवनके झकोरे हैं। जैसे पवनके झकोरोसे पतग जब विरुद्ध दिशामे उडती है तब पतगचालक अपनी कलासे उसे अपनी ओर खीच लेता है। भले ही वह मन चाही जगहके आसपास विचलित होती रहे। उसी प्रकार अरिहत और सिपद्धर रहनेवाली दृष्टि जब किन्हीं कारणोसे अन्य दिशामें जाती है, उस समय सुदृष्टि रूपी पतगचालक उसे उस ओरसे मोड लेता है। वह डोर हाथमें रहते उपरोक्त झकोरे मनचाही जगहके आसपास विचलित करती रहती है। ऐसा ही सही, करती रहे, परन्तु हे नाथ ! तुम्हारे भीतर ही मेरा पालन बना रहे। परके सबधमे मेरी कल्पना न दौडे। कोई बडेसे बडा हो तो मेरा क्या सुधार कर सकता है ? कोई दुष्टसे दुष्ट हो तो क्या मेरा बिगाड़कर सकता है? जैसे सभी द्रव्य स्वमें परिणत रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपनेमे ही परिणत होता हूं, ऐसा विचार किसी बाह्यके विकल्पमे नही फसना चाहिये।

### परकी अटक व हिचक ठीक नहीं

स्वप्रभुके दर्शनमें धन वैभवका त्याग, मान मर्यादाका त्याग हो जाना चाहिये। जिस किसीसे अतरगसे क्षमाकी आदत सस्ती बन जाना चाहिये, क्यो कि मुझे अभी बहुत बडा काम पडा है। मेरी ऐसी प्रवृत्ति होना चाहिये जिससे उसमे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। इस लिये मिथ्याभिप्रायोका परित्याग कर स्वभावका आश्रय लेने वालो ! सहज स्वस्वभावमे स्थिर रहना चाहिये। यह स्थान अपनेमे ही है।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, सहज स्व स्वभावमे स्थिरताका कार्य प्रारम्भ करता है, परन्तु वह चारित्र मोहके तीव्र उदयवश, उसे पूर्ण नही कर पाता। उसी कार्यको १४ वें गुण स्थान वाला जीव पूर्ण करता है। कार्य दोनोका एक ही था, जो काम अन्तमे सिद्ध रूप बनकर दिखाई दिया, उसका श्रीगणेश अविरत सम्यग्दृष्टि ही करता है।

जैसे आमका पेड लगाता तो कोई और ही है, फल दूसरा कोई खाता है। उसी प्रकार अविरतकी पर्यायमे जिसने मोक्षमार्गका बीज बोया, उसकी सन्तान दर संतान पर्यायोने उस अकुरका बार बार सिचन किया, किसी पर्यायने कच्चा

फल खाया, किसीने अधपका फल खाया, परन्तु सिद्ध पर्यायने पूर्णपका फल खाया।

सत्य मोक्ष मार्ग वही है जो अन्तमे परिपूर्ण दीख जाय। चौथेगुण स्थानमे उसका सामान्य रूप दिखता है। वही चौदहवें गुणस्थानमे साङ्गोपाङ्ग या परिपूर्ण दिखने लगता है। मेरा मोक्षमार्ग मेरे अन्तरमे है, शरीरमे नही व उसकी परिणतियोमे भी नही, प्रवृत्तिमे नही और वातावरणमे भी नही।

### अन्तरावलोकन ही सच्चा व्यापार है

जब इस जीवकी स्थिति किसी बाह्यमे नहीं अटकती एक अन्तरावलोकन मात्र होता है। उस समय पूर्ण शुद्ध स्वरूपमे जो अवस्थान होना है, उसी का नाम मोक्ष है। वह स्वरूप स्थिति कुछ अशोमे चौथे गुणस्थानमे शुरु होती और चौदहवेमे पूर्ण होती है।

किसी भी परकी दृष्टिमे विकल्प नही मिटते और मोक्ष भी नहीं मिलता। मोक्षमार्गमे जानेके लिये उत्तम सहनन मिले, श्रेष्ठ भाव, व्रत नियम मिले, तीर्थंकरके समवशरणमे जानेका अवसर मिले, द्वादशाङ्गके ज्ञानका अवसर प्राप्त हो, ये सब तो जाने दो, ये सब स्थूल हैं, इन्हे छोडना हैं। मुझे वह केवल ज्ञान मिले या सिद्धावस्था मिले, यह विकल्प भी त्याज्य है। अनुरागियों ने ही इसका नाम मोक्षमार्ग रख दिया है, मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प स्थिति का नाम है।

सम्पूर्ण पर दृष्टि छूटे आत्माकी जो स्थिति बनती है उसीका नाम मोक्ष या मोक्षमार्ग है। बाह्य दृष्टि देने पर गृहस्थ लिंग व साधु लिंग दोनोसे मोक्षमार्ग चलता है, परन्तु उसकी पूर्ति साधुलिंग मे होती है। बिना साधुलिंगके मोक्षमार्ग की पूर्ति हो नही सकती, परन्तु साधुलिंग भी निश्चयकी दृष्टिमे मोक्षमार्ग नही है, ऐसा समन्वय जिस ज्ञानीके ज्ञानमे हो जाता है वास्तवमें वही मोक्षमार्ग का पथिक है और वही धन्य है। यथार्थमे अन्तर या बाह्य दोनों पथोसे गुजर जाने वाला पथिक ही मोक्षमार्गका पथिक है।

### केवलकी केवलता ही निर्वाण है

मोक्षमार्ग ४ थे। गुणस्थानसे प्रारभ होकर १४ वें मे पूर्ण हो जाता है।

उसके बाद उसकी परिणतिका मोक्ष नाम नही रहता। सिद्ध प्रभु अब मुक्त नहीं और ससारी भी नही, वे तो जो हैं सो हैं। मुक्त तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमे हुआ था। अब तो अनेको वर्ष बीत चुके, अब मुक्त कैसे ? अब तो वह स्वस्थितिमे है। मोक्षका काल तो एक समय मात्र है। वह अनतानत काल रहने वाली स्व स्थितिमे कहाँ ? उस समय उसकी स्थिति अनत चतुष्टय रूप है। उसे मुक्त शब्दसे जाननेमे तुम्हारा बिगाड है। स्वस्थिति वालेको मुक्त शब्द से जाननेमे, आपके अभिप्राय मे दो का आश्रय हो जायगा और दो का आश्रय "दो मामाका भानजा भूखा ही रह जाय" कहावतके समान विकल्पसारक है।

प्रभु मुक्त हैं, उसे मुक्त शब्दसे जाननेमे आपकी दृष्टि शुद्ध स्वरूपमे नही रही, चेतन या जड पर्याय पर पहुच गई। स्वस्थितिमे भगवानको मुक्त कहना उचित नही। किसी के पिताको कैद हो गया हो, छूट आये बहुत दिन हो गये हो, फिर भी कोई पूछे कि तुम्हारे पिता कैदसे कब छूटे तो उसे बुरा लगता है। उसका लक्ष्य अपने पिताके अपराधीपनकी ओर जाता है। तीसरे श्रोताओको भी वह बात सुने, उस कैदीके सारे अपराध स्मरण हो जाते है। इसी प्रकार भगवान्को ससाररूपी कैदसे छूटा, बार बार मत कहो उससे ऐसा कहनेमे उसका अनादर है। जो यदि उनके राग होता तो उनके गिडगिडानेका कारण बनता कर्मसे मुक्त कहना और कैदसे छूटा कहना दोनोका अर्थ समान है।

## अपनी स्थितिमे अपनी करनी कारण है

प्रभु आज जिस स्थितिमे है, उसी स्थितिका ध्यान करो। द्वैतका आश्रय छोडो तो अपना सहज प्रभु दृष्टिगोचर होगा। यह अपने आपके चतुष्टयमे रहने वाला जीव कितनी खोटी गलियोमे गुजर रहा है। गुजरे, फल किसे चखना पडेगा ? श्रेष्टमन पाया, कुछ समझमे आया तो घर, धन, वैभवका मोह छोड भीतरी विशुद्ध ज्ञान ज्योति जगाओ। अपना आत्मा न तो दूसरेका सुधार कर सकता है और न बिगाड ही कर सकता है। अतएव उनके सुधार या बिगाडके प्रयासमे ही अपनी उत्तम पर्यायका दुरुपयोग मत करो।

मोक्षको तीन लोकके ऊपर मत देखो (तको)। मोक्षमार्ग के लिये अरिहंत परमात्माके शरीरको मत देखो, न मूर्तिको देखो। मोक्षमार्गके लिये चरणानुयोग

समय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का पार्थक्य कहा जा सकता है कि इसमें श्रद्धा गुण पूर्ण हो चुका है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है तथा इसमे मतिश्रुतके रूपमे जो ज्ञान हैं वे सम्यग्ज्ञान हैं तथा जो अनायास स्वरूपाचरण चारित्र उत्पन्न हुआ है, वह सम्यक्चारित्र है, परन्तु सिद्धोमे सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र का यह पार्थक्य नही बताया जा सकता। क्योकि वे वहाँ एक रूप हो जाते हैं और सिद्ध होनेके अनन्तर पूर्व पर्यायमे भी एकरूप होते हैं। इसी लिये मोक्षमार्गमे दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोकी एकता हो जाती है।

जैसे मटकेमे भरे हुये विर्रा अनाजमे, प्रत्येक अनाज पृथक् पृथक् ही रहता है, चातुर्य के बल पर उसमेसे प्रत्येक अनाज अलग अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्माके ज्ञान दर्शन चारित्र पृथक् नही किये जा सकते। आत्मामे जो श्रद्धा ज्ञान चारित्र है वह अभिन्न (एकरूप) रहता है। आत्मामे वे जैसे हैं, तैसे समझमे आजावे और इसके लिये सही तर्कणायें चलें, तब आत्मामें दर्शन ज्ञान चारित्र सुख शांतिका बोध होता है, परन्तु वस्तुत वे एक हैं उनमे शक्ति भेद नही।

भगवान्का वह स्वरूप जिसे लोग मूलगुणधारी या सिद्ध आदि कहना चाहते हैं, परन्तु जिन जिन रूपोसे वे कहना चाहते वह भगवान्का स्वरूप नही, पर जिसे इन शब्दोसे कहना चाहते है, वह ऐसा दर्शन ज्ञान चारित्रका एकत्व ही है।

भगवान्को कहाँ देखना, उसे ऊर्ध्व लोकमें मत देखो, सिद्ध शिलापर चित्त मत दौडाओ। कर्मोसे छूट गया—इस विशेषतामें चित्त दिये भी सिद्ध दर्शन नही होगा उसका दर्शन तो वही करा सकेगा जो सिद्धकी बराबरीका हो और हमारा सम्बन्धी हो —वह है चैतन्य स्वभाव। उसे देखो, मनावो, सिद्धके दर्शन हो लेगें।

जैसे किसी बडे राजाका दर्शन वही करा सकता है जो राजके समान व्यवहारका ज्ञाता हो और उसमे अपना परिचय हो, किन्तु ऐरो गैरोके साहाय्य से राजाका दर्शन नही हो सकता, उसी प्रकार सिद्ध प्रभुका दर्शन भी हमे उसके थ्रू हो सकता है, जो सिद्धके समान हो और उससे हमारा परिचय हो वह अपने आपमे स्वभावके रूपसे मिलेगा। जब हम इस स्वभावसे प्रार्थना करें, देखें और

आदर करें तथा उसे पाने की इच्छाप्रकट करें, जैसे ये मेरा घनिष्ट मित्र मुझे प्राप्त होजाय, ऐसा व्यवहार इससे करें, यही मुझे सिद्धोसे मिला देगा, परन्तु सिद्धोके प्रदेश, वह सिद्धशिलाकी जगह और सिद्धोका वह गुणवैशिष्टय मुझे सिद्धोसे नही मिला सकता। वह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी एकता अपने आपके ज्ञानसे ही मिल सकती है।

### मोक्षमार्ग आत्मविकास है

जैसे शुद्धि अथवा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शनादिकी एकतारूप है, उसी प्रकार मोक्ष किसीका स्वरूप नही, वह न जीवका स्वरूप है, न कर्मका स्वरूप है। यह तो दो पदार्थोंके बीच, किसी घटनाकी कल्पना करली गई है। वह शुद्ध समवस्थान स्वरूप सम्यग्दर्शनादिको एकतारूप है। जैसे मोक्षमार्ग भी सम्यग्दर्शनादिकी एकतारूप था।

अब वहा, एक शुद्ध चेतनाका स्वाभाविक विकास है। कितने ही गुणोको तो सिद्धोसे पहिले ही उडा दिया जाता है, जैसे उनके समकित आदि आठ गुणोमें चारित्र कहा आया, क्या उनमे चारित्र नही था? चारित्र ते ही रागादिक पर्यायें होती हैं। पर्याये उडनेपर वह गुण ही उड जाय यह आश्चर्य की बात है, परन्तु ऐसा नही, गर्भित होते जाते हैं अनेको परिणमनशुद्ध-पर्याये, इसीलिये धवलामे सिद्ध भगवानको सयम, सयमासमय और असमयमे रहित लिखा है।

आत्मामे न श्रद्धा है, न ज्ञान है, न चारित्र है। वह एक है, अखण्ड है। फिर उसमे दर्शन ज्ञानचारित्र क्यो बताया? पूज्य आचार्योंने नासमझ हम लोगो पर यह एक प्रकारकी दयाकी है। वस्तुतः सिद्धोमे उनके सम्यक्त्वादि ८ गुणोमे से कोई भी गुण नही रहता। इन ८ गुणोके पृथक् वर्णन द्वारा छद्मस्थ जन उन ८ गुणोकी एकताके विषयमें कुछ समझ जाय, यही इन ८ गुणोके कहनेका प्रयोजन है कि छद्मस्थ इनको समझ जाय और उनकी पृथक्ताको छोड उनकी एकताको जान ले। ८ गुणोकी एकता हुए विना फिर उन गुणोमे पृथकता हो नही सकती। सिद्धावस्थामें उनका एक, मिश्रण (अभेद) बन जाता है। वह स्वरूपसमवस्थान, सम्यग्दर्शनादिकी एकतारूप है।

## परम्परागत धर्म व्यवहार भी लाभकर है

इस स्वरूप समवस्थानको हम जान रहे है। जन्मते ही तो नही जानते थे, कुछ सामान्य शिक्षा लाभ करने पर तो नही जानते थे, धर्मग्रहणके प्रारम्भमे तो नही जानते थे, परन्तु एकतास्वरूपको जाननेके पहिले हमारी जो विभिन्न अवस्थायें थी, वे सब हमारे इस ध्यानकी कारण बनती रही।

वह निश्चयतत्त्व, अखण्ड स्वरूपकी बात आपके या जिस किसीके समझमें है या समझमे आगई तो वे सभी यही से अपना ज्ञान शुरू करें। यह बात एकदम प्रैक्टिस (अभ्यास) के योग नही कि तुम शुरूसे हमे यह बता देते कि इस बुनयादसे चले व चलते रहे। इसीके हेतु व्यवहारकी जरूरत है और व्यवहारसे परमार्थका लाभ झट उठाया जा सकता है, शुरूसे परमाथ नही होता, परन्तु व्यवहारपूर्वक ही परमार्थका लाभ उठाया जा सकता है। ज्ञान मार्गमे आनेका यही उपाय है।

जो विकल्प उस स्वरूपको नही देखने देता या सिद्धस्वरूप से नहं मिलने देता वह विकल्प हमारा ही बताया हुआ है। इस विकल्पका सिचन बाह्य पदार्थोसे किया जाता है। विकल्पोका आधार अज्ञान है।

स्वरूपसमवस्थान ही हमारी आखिरी मंजिल है, जिसे सोचे बिना, ख्याल बिना और दृष्टि बिना याने समस्त अनुरागको त्याग कर हमे प्राप्त करना है। श्री भट्ट अकलंकदेव ने भी कहा है कि जिसके मोक्षकी भी इच्छा नही रहती वही मोक्षको पाता है। जिसकी चाह होती। वह मिलती नही और यदि मिल जाती है तो उसकी चाह नही रहती, चाह होते ही यदि वस्तु मिल जाती होती तो उसके पाने पर मौज मानी जाती, परन्तु ऐसा त्रिकालमे न हुआ है, न होगा। जब मैं विषयोको चाहता हूँ, तब वे मिलते नही और जब वे प्राप्त हो जाते है, तब चाह नही रहती। ऐसी हालतमें जब कि वे हमे वक्त पर काम नहीं देते तो हम ही उनसे क्यो न रूठ जायें ?

## मैं स्वय ऐश्वर्यसम्पन्न हूं

मैं स्वय आनन्दका भंडार हूँ, मैं ही वास्तविक प्रभु हू। आनन्दकी पूर्ण अवस्था अपनेको अपने आपमे ही मिल सकती है। यह स्वरूप समवस्थान आनन्दकी

पूर्ण अवस्था है, वह स्वयके उपायसे प्राप्त होती है। मोह रागद्वेषको खतम करनेका प्रयास करो। आज पुण्यके उदयमे नाना कल्पना करना और भोग भोगना सरल है, परन्तु परिणाममे ये बहुत महगे पडेगे। जैसा चाहा वैसा इष्ट किया, परन्तु ये भी बहुत महगे पडेंगे।

हे चेतन! समझ स्वय दुखी मत हो, अपनेको अपनेमे निरख, विकल्पो से दूर रह और स्वरूपमे प्रवेश कर। स्वका एक क्षणका भी स्पर्श अनन्तकाल सुख देगा, किन्तु बाह्य पदार्थोका निरन्तर भी स्पर्श विह्वलता ही पैदा करेगा।

जो सरल व स्वाधीन है या स्वाधीन होने योग्य है, उस पर तो जिसकी दृष्टि नही जाती, परन्तु जो दुखका कारण या पराधीन है, उसपर जिसकी दृष्टि बनी रहती है, ऐसे आत्माको समझानेवाला दुनियामे कोई नही, किन्तु अपने हितके लिये स्वय प्रयास करना होगा।

### प्रत्येक द्रव्य परसे नग्न है

जगत नगा है, स्वार्थी है सब स्वपरिणमनसे परिणमते है। कोई किसीका मददगार नही और हो भी नही सकता। अपने आपकी भलाईके लिये स्वय प्रयत्न करना होगा। साक्षात्परमेष्ठी भी मेरा उद्धार नही कर सकता, फिर अन्य ससारियोकी चर्चा ही क्या? मेरा उद्धार तो मेरी समझ ही करा सकती है। निरन्तर स्वमे ऐसी सन्मति बनी रहे कि यह स्वसमवस्थान ही सर्वोत्तम विभूति है। ऐसी तर्कणायें बनी रहे कि यही सर्वोत्तम साम्राज्य है। इससे च्युत हुये चर्मचक्षु खोले, बाहर देखा तो तृष्णायें बढने लगी कि अमुक इतना प्रसिद्ध है, अमुक इतना बडा नेता है, अमुक बडा धनवान है, मुझे भी ऐसा बनना चाहिये।

सिद्ध हमसे बडे होंगे। उनमे से किसीका इतिहास जीवित है क्या? जो थोडे ही समय पूर्व सिद्ध हुये हैं ऐसे ऋषभ व महावीर आदिका इतिहास यद्यपि जीवित है, परन्तु वह या तो दूषित है या भक्तोकी सख्याकी अपेक्षा नगण्य है। किसीका सही इतिहास तो कही नही दिखा, अन्यत्रकी बात जाने दो, उनका पूरा इतिहास तो हमारे शास्त्रोमे नही मिलता। सिद्धोका इतिहास

किसी भी जगह नही मिलता और न वह हो ही सकता है। एक अपने चित्त मे कल्पनाओंके उडान बनाते रहना क्या यह मोक्षमार्ग है या मोक्षमार्गमे चले जीवकी बाह्य स्थितिके अनुसार अपनी बाह्य स्थिति बना, कल्पनाओंके उडान बना लेना मोक्षमार्ग है क्या ? वह न तो किसी ग्रन्थसे और न किसी स्थानसे प्राप्त हो सकता है। मोक्षमार्ग भी इतिहासमें नही बन सकता, उसे अपनी स्थिति ही बना सकती है।

### मनके बहावमे बहना ठीक नहीं

इस मनको एक मिनिट भी चैन, सत्य या आराम तो मिलता नहीं, निरन्तर कल्पनाओकी पैनी नोकोसे सत्यका गला घोटता रहता है, उसमे मोक्ष नही मिल सकता। मोक्ष तो आत्माकी एक अनिर्वचनीय अवस्था है, और वह सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रकी एकता स्वरूप है।

जैसे कोई मा बच्चेको चन्द्र दिखलाना चाहती है। वह अगुलीकी सीध मे चन्द्रको दिखाती है। उसी प्रकार हम बच्चोको जिनवाणी माता मोक्ष दिखाना चाहती है। वह कहती है कि जो ऊर्ध्व लोककी चरम सीमामे रहता है, कर्म रहित है। जहासे सिद्ध हुआ है, ठीक उसी स्थानमें तनुवातवलय मे है, जो स्वय बोधसे या दूसरोसे प्रतिबुद्ध होकर मोक्ष गया है, आगामी कर्मके सबधसे रहित है, देखो बालको उसे सिद्ध कहते हैं। सिद्धोका स्वरूप बतानेके लिये ये विकल्प, जिनवाणी माताकी अगुलिया हैं, परन्तु वह सिद्ध स्वय अनिर्वचनीय है और अपने पूर्णरूपमें समवस्थान होना है।

यह पर्यायका वर्णन भी यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे अल्पज्ञोको कठिन लगे, परन्तु यह सरल व आपेक्षिक दशाओका वर्णन है। यह सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र सहज ज्ञानादिकी अवस्थायें हैं, आत्माके गुण नही। आत्माका गुण तो मात्र एक चैतन्य है और चैतन्यसे भी आत्माका क्या पता लगाया जा सकता है, यह तो एक प्रतिभास या इशारा करना है। पर ऐसा चैतन्य जो कि अन्य अस्तित्वादि गुणोंकी उपेक्षाकर रह सका हो, उस आत्माका स्वरूप क्या है ? यह कोई भी शब्द नही बता सकता। हम अपना ज्ञान शब्दो द्वारा बताना

चाहते है, पर ये शब्द हमारे ज्ञानको ही भग कर देते हैं। शब्द-रचना यथार्थज्ञानकी वाधिका है। जैसे सफेद पुद्गलकी दशाका इशारा है, इसको वतानेवाला तो वह ज्ञान है जिसमे सफेदकी कल्पना ही न होवे।

### निश्चयके पहिले व्यवहार तो होता ही है

कोई छतपर चढकर कहे कि आजाओ भैया ! पर सीढियो पर लात मत रखना। जब हम सीढियोपर लात रखे थे तब छतपर नही थे, तुम भी सीढियो पर लात रखोगे तो छतसे विलग रहोगे। उसका ऐसा कहना ठीक नही, क्यो कि बिना सीढियोके छुये, छतपर कैसे जाया जा सकता है ? हा, सीढियोसे गुजरना तो किन्तु सीढियो पर रुकना मत। यदि अटक जाओगे तो छतपर न आसकोगे, ऐसा कहना उसका ठीक है। इसी प्रकार मोक्षमार्गमे आत्माकी चरम दशाकी प्राप्तिके लिये जीव कहा २ गुजरा, पर अटक ही पतित करती है। यदि अटकके नही तो पार हो जाय।

### वस्तुतः अटक पर्याय मे होती है

कोई दर्शनकी स्थितिमे, कोई ज्ञानकी और कोई चारित्रकी स्थितिमे अटक जाता है। कुदेव व सुदेवके निर्णयकी दृष्टिसे दर्शनमे अटक होती है। अधिक ज्ञानमे ललचानेसे ज्ञानमें अटक होती है। जैसे ११ अंग ९ पूर्वके ज्ञाता श्री महादेव दशम विद्याकी सिद्धिमे अटक गये, मुनिपदसे भ्रष्ट हुये और अन्य बाहरी रूपमे जीवनयापन करना पडा। यह करना, यह छोडना ऐसी अटक चारित्रकी अटक है।

वाह्य चारित्रमे वहुधा बाह्यके त्यागी अकटते हैं और वे किसीके करनेमे या छोडनेमे अटक जाते हैं, क्योकि ये अपनेमे अमुकके त्यागीपनका बाना समझने लगते हैं। अरे तुम अपनेपर दया करो और अपनेमे त्यागीपन पर्याय का भाव छोडो। तुम आत्मामे त्यागीपन पर्यायकी बुद्धि करते हो, यह तुम्हारा पर्यायाभिनिवेश है। जैसे कन्या विवाह होते ही दूसरे दिन इस अभिप्रायके ऊपर कि मैं बहू हूँ, शर्म करती, पीठ दिखाती और विविध कलायें करती है। उसी प्रकार पर्यायबुद्धिक मैं मनुष्य हूं तो यह करना, मैं साधु हूँ तो यह करना, मैं नेता हूं तो ये करना आदि कर्तव्य-बुद्धिया आजाती हैं। स्वभाव

## विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपनिजशुद्धात्मानुभूतिः सम्यग्दर्शनम् ॥३॥

विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूप निज आत्माका अनुभव ही सम्यग्दर्शन कहलाता है, किन्तु लोग अपने इष्टदेव शास्त्र गुरूकी श्रद्धाको ही सम्यक्त्व कहते हैं। तब केवल बाह्यदृष्टिके कारण अपने ही देवशास्त्र गुरुको ही मानते है और परके देवशास्त्र गुरूसे घृणा करते हैं। कही वेदान्तका शास्त्र रखा हो, उसे देखकर ही नाक सिकोडने लगते हैं। अपनेसे भिन्न देवकी मूर्तिपर दृष्टि गये अपशकुनसा माना करते हैं। जैन प्रभुके द्वारा वर्णित, अतिशय महनीय सम्यक्त्वकी दृष्टिमे यह बाहरी घृणा भीतरी मिथ्यात्वको सूचित करती है। अनिष्ट वस्तुसे उपेक्षाका भाव तो सम्यक्त्वका साधक हो सकता है, परन्तु घृणाका भाव सम्यक्त्वके लिये बाधक है।

गेहूँओकी सुन्दर और बडी राशिमे चनेका एक दाना भी खटकने लगता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि किसी भी जीवको खटकनेवाला नही होता। वह बडा उदार और सुधारक होता है। अन्य देवादिकमे उसके उक्त प्रकार संकुचित वृत्ति नही होती। वह उस संकुचित वृत्तिको अपने मिथ्यात्वका कारण आँकता है। स्वरूप यथार्थज्ञान अहितका उपेक्षक रहता है। भीतरका ज्ञान खुले बिना जो रूपक बनता है वह ऐबको ही पुष्ट करता है। एक जैन शिष्य किसी ब्राह्मण गुरुके पास पढता था। एक दिन गुरु उसे दर्शन कराने मन्दिर ले गये। गुरुने वहाँ की मूर्तिको नमस्कार किया। शिष्यने और भी बडे तेज हाथ जोडे। गुरुने प्रश्न किया कि तुम तो जैन हो, तुमने इतनी भक्तिसे हाथ कैसे जोडे ? जैनशिष्यने उत्तर दिया कि जो शिक्षा देता है वह वन्दनीय होता है, इससे मैंने गहराईसे नमस्कार किया। गुरुने कहा- इस मूर्तिसे क्या शिक्षा मिलती है ? शिष्य ने कहा—इस मूर्तिसे हमे शिक्षा मिलती है कि जिसे संसारमें रुलना है वह हम जैसे स्त्रीको पासमे रखे।

### घृणा कभी मत करो, ज्ञाता बनो

धर्मके नामपर अजैन देवादिसे या अजैन से घृणा करना, इस बातको

साबित करता है कि अभी तुममे पर्याय दृष्टि नही गई। चेतनको निरखनेकी आदत नही बनी। इसीलिये तुममे परकीय देवादि या अजैनोमे चैतन्य निरखने की योग्यता नही आई। फिर तुम जैनोमे चैतन्य कहासे देख सकोगे ? पर्यायसे रागद्वेष करनेके कारण अजैन से द्वेष और जैनसे प्रेम करते हो, चैतन्य पर दृष्टि नही देते।

सिद्धका स्वरूप, अपना स्वरूप और जगत्के जीवोका स्वरूप चैतन्य पर दृष्टि रखनेसे ही नजर आता है। कमाने के समय कमानेकी, पालनेके समय पालनकी और खानेके समय खानेकी ड्यूटी निवाही, परन्तु जब कोई काम न हो तब तो धर्मकी ड्यूटी करो। जगत्के प्राणियोमे चैतन्य मात्रका निरखना, उनकी पर्याय परसे दृष्टि हटाना यही धर्म है।

चाहे जीवन भर अजैन साधु व अजैनोका समागम मिले, पर उनमे घृणाका भाव न हो। जैसे सिद्धोमे केवल एक चैतन्यस्वरूप होता है, उसी प्रकार वही स्वरूप अजैन या नास्तिकोमे भी है। उनके चैतन्यमात्र पर दृष्टि रखना व उनकी पर्यायसे दृष्टि हटाना ही सम्यक्त्व है। अपनी पर्यायसे भी तो दृष्टि हटानेमे सम्यक्त्व का अनुभव मिलेगा।

## समानताका दर्शन करो

सबमे समानतासे रहने वाला विशुद्ध ज्ञान व दर्शनरूप सहज स्वभाव सिद्धो मे, सम्यक्त्वियोमे और नरकोमे भी समानतामे बतता है। उसका अनुभव होना ही सम्यक्त्व है। अनुभव तो सभीके होता है। कोई अपनेको धनी, कोई अपनेको त्यागी, कोई अपने को मुन्ना मुन्नी का बाप अनुभव करता है, परन्तु ऐसे अनुभव वाले सभी व्यक्ति एक ही कोटिके व्यक्ति हैं, जिनको अपनी जिस पर्यायमे आत्मबुद्धि है, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।

मिथ्यात्व व सम्यक्त्व दोनो ही जब होते हैं, तब एकदम पैदा हो जाते हैं और जब छूटते हैं तब एकदम छूट जाते हैं। मिथ्यात्वकी गलतीसे अपने इस सहज प्रभु पर अपनी किसी भी परिस्थितिमे मैं यह हू ऐसा प्रपच लग जाता है, जिससे वह स्वय अपने ऊपर समाजके प्रमुखत्व, श्रीमत्त्व, धनित्व, त्यागित्व आदिके कल्पित भार लाद लेता है। केवल ये विकल्प गृहस्थोमें ही होते हो

लो नहो, त्यागियोमे भी लगने लगते हैं और हम अपनेको आपका हितकर समझने लगते हैं।

### कोई किसीका कुछ करता ही नहीं

वास्तवमे न तो हम आपका न आप हमारा कुछ कर सकते है। परिवार मित्रादि भी कोई किसीका कुछ नही कर सकते है। आपको कुछ जरूरत हुई, मनमे आया तो आप हमसे कुछ पूछा करते हो, मैं कुछ कहने आता हू तो भी मै आपके लिये कुछ नही करता। मेरे मनमे रागादिकसे जो विकल्प हुआ उसी से मैं आता हूँ और बोलता हूँ, क्योंकि अकेले रहनेमे ऐसी बाते बोलनेमे नही आती और हमारा उपदेश हमे सुनने नही मिलता।

जिन्हे धर्म करना है, उनकी रुचिया धर्म बनाती हैं। जहा कुछ धर्मीजन होते है वहा धर्ममे गडबडी नही आती। इसलिये अपनेमे वे रुचिया आवे, जिनसे अपनी व धर्मकी व्यवस्था बने।

भगवान् सिद्धका स्वरूप जितना ही मन दौडाओ नजर नही आता। मूर्त इन्द्रियोका व्यापार अमूर्त प्रभुके स्वरूपको पानेमे असमर्थ है। इन्द्रियोके व्यापार, विकल्प या कल्पनाओके छूटते ही प्रभु स्वयमेव दृष्टिगोचर होगा।

अपने को बडा मत समझो, स्वयको बडा समझकर कोई बडा नही बनता। मैं बडा हू, यह बुद्धि आवे, तब समझना चाहिये कि मेरा बडप्पन गया। मैं अमुक समूहमे प्रधान हूँ ऐसा भाव आते ही बडप्पन की इतिश्री समझो। बडप्पन का विकल्प छोड कर्तव्यमात्र निभाते जानेसे बडप्पन स्वयमेव समुपलब्ध होता।

अचरज व प्रेम नही किया ठीक ही है कि जिसके स्वको उपलब्धि होगई या जो स्वके निकट जा वैठा, उसके अचरज होनेकी वात ही क्या ?

जव तक स्वस्वरूपका मानवको परिचय नही होता, जिसके विना कि आज तक जगत्में घूमते रहे, नाक थूकके पिंड शरीरको अपनाते रहे, तव तक क्षणमात्र भी वास्तविक विश्राम नही मिला। जिसे स्वभाव मान रखा है उसे मिटा दो तो शांतिका लाभ होगा।

सच पूछो तो जहा राग या मोहकी कमी रहती है ऐसी अल्पवयमे हम उन्नत या अच्छे थे। ज्यो ज्यो वडे हुये राग व मोहको वढाया तो समझना चाहिये कि हम विगड गये। यदि कोई त्यागी भी हो गया और यथार्थ ज्ञान नही तो वह गृहस्थावस्थामे ही अच्छा था। धन वढ गया, परन्तु ज्ञान नही है उल्टा अहकार ही वढा तो निर्धन ही अच्छे थे कि लाखो और करोडो की उडाने तो नही आती थी।

## स्वभावके परिचयसे ही बडप्पन है

स्वभावके परिचय विना जो वढ गये उन्हें घट गया समझो। जो उम्रमे वढ गये, वे भी घट गये समझो। हम ६०, ७० या ८० वर्षके हो गये, यह समझ कर मोही प्रसन्न होता है, परन्तु समझना यह चाहिये कि हमारे कल्याणके समयमे इतने वर्ष कम हो गये। अहकारमे वढ गये प्रसन्न होते हैं, परन्तु इसका मतलव तो यही है न कि हम कपायमे इतने पतित हो गये, परन्तु मिथ्याभिनिवेशवश, मोही मानव खरावीको भी अच्छाई मान रहा है और गलतियोपर उसकी दृष्टि नही जाती।

जहा राधा मिलन अर्थात् स्वानुभूतिमे मेल है वही चैन है, परन्तु स्वानुभूतिसे चिगे कि गलतीमें आगये। निजकी अनुभूति विना सारा वैभव वेकार है। छोड कर सव जाना है, फिर तृष्णा किस वातकी ? छोड जाना है विरोध किस कामका ? छोड जाना है, मोह किस कामका ? एक दिन यह भी नहीं रहेगा। जिस स्थितिमे आये हो वह स्थिति भी नही रहेगी। दुनियाको अपना कर्तव्य, पौरुप या प्रभाव वतलाये कुछ नही मिलेगा, चुपचाप छिपकर

अपनी बात सम्हाल लो। तुम स्वय अधिकारी मत बनो, दूसरे तुम्हे अधिकारी मानकर काम निकालें तो निकालने दो।

### घरमे सुविधा है क्यो दु.खी होते

मेरा स्वरूप शुरुसे याने अनादिसे शुद्ध चैतन्य स्वरूप था, है और रहेगा। अनन्तकाल तक उसके दर्शनसे स्वजीवनको सफलकर परमानद प्राप्तकर, विशुद्ध ज्ञानदर्शनरूप निज आत्माका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। मोही-जन का अपने हितकर अनुभवकी ओर लक्ष्य नही जाता और वह अपनेको अमुकलाल, अमुकचन्द्र आदि अनुभव करने लगता है, परन्तु यह लकडीका घोडा नही है कि उसे चलानेके लिये किसीकी आवश्यकता पडे, वह तो सचमुच का घोडा है। चाहे अभी कुचाली घोडा हो तो भी लकडी के घोडेसे अच्छा है। आज खोटे मार्ग पर जारहा है—लगाम लगाओ और खोटे मार्ग जानेसे मोड दो, अच्छी आदत पर आजायगा चाल तो है उसमे। आत्मा आत्मा ही है। आज ससारभावमे है, उपयोग बदलदो, स्वके उन्मुख हो जावो, मोक्षमार्ग हो जावेगा। चाल तो है इसमे है ही।

मैं ५० हजारकी स्थितिवाला हूँ, मैं अमुक हू, इस प्रकार अपनेमे दुर्विचारो की आदत है। उस आदतकी ओर अपनेको रोको और इस आदतमे ढालो कि मैं चैतन्य हूँ, मुझमे ये धनित्वादिके कोई भी भेद नही।

विवेकीको करना तो स्वज्ञानार्थ उद्यम है, परन्तु नही करे तो जीवन व्यर्थ जायगा। ५ मिनिट भी आत्मस्वरूप पर दृष्टि दो, सारे विकल्प छोड केवल यही काम करो तो भला होगा। मैं शुद्ध चैतन्य हू, यह विचारा जा सकता है। शरीर मैं नही, परिस्थितिया और वेशभूषा मैं नही तथा भीतरी कल्पना मैं नही, क्योकि ये सब जाने वाली चीजें है। जो जाने वाली चीज है, वह मैं नही हू और जो रहने वाली है वही मैं हू। बोलना, विचारना, देखना और सोचना भी मैं नही। ये भी होते और भाग जाते है, किन्तु मैं एक शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ। ईमानदारीसे एक समयको ऐसा भाव आजाय तो जीवनकी सफलता है।

## जो है वह मरता नहीं है

वाह्य वस्तुयें तुम्हारे उपयोग किये विना मरती नही जहा की तहा पडी रहती हैं। वे भाग नही जाती वे तो सत् है। अपने उत्पादादिसे परिणमती रहती हैं, उनकी चिन्ता मत करो। उनकी कोई भी स्थिति आपके सुधार या विगाडमे कारण नही हो सकती। उनके चिन्तामे न लगे रहो, शान्ति व विश्राम से बैठो। जो स्वको सम्हालना है, वह उसे ग्रन्थ रचना करते, सुनते व सुनाते भी वह आनन्द प्राप्त हो सकता है।

सूखे घास फूसको खाकर आरामसे बैठा पशु जुगाल (रोथना) करता है। मुख चलाते चलाते भी यदि उसे आत्माकी अनुभूति हो जाय तो वह सम्यग्दृष्टि वन जाता है। उस समय वह भले ही साकलोसे वधा हो और गोवरमें भी लथपथ हो, उसे ये सव भिन्न दिखने लगते हैं।

शूकर वन्दर, नेवला सम्यग्दर्शनका अनुभवकर देव हो जाते हैं, जिन वन जाते है। सम्यक्त्वके पानेमे कौनसी कठिनाई है ? अपने विचार मात्र तो ऐसे बनाना है, धन तो लगना नही है। कोई कहे कि क्या करें आजीविका के हेतु धनका सरक्षण करना भी तो आवश्यक है, रहे, उसका सवर्द्धन भी किया जाय, परन्तु उसमे उपेक्षा भाव रहे तो धन भी सम्यक्त्व होनेमे वाधक नहीं होता।

स्वचैतन्यको सोचते समय कुछ ध्यान जमने लगे तो रागीको घवडाहट आती है कि हमने अमुकसे इतना मोह व राग बढा रखा है अब उसका क्या होगा ? परन्तु उसके ये भाव, सवन्ध या झुकाव आत्माके रहस्यको नही पा सकेंगे।

## लाभ अलाभका निर्णय तो कर लो

स्वलाभके हेतु ज्ञानाभ्यास करना आवश्यक है, परन्तु मोही मानव ने वाह्य धनादिके सग्रहमे कितनी मूड मारी, कितना समय लगाया, वारहों महीना उसीमें जुटा रहा, ज्ञानाभ्यास हेतु वर्षमे एक माह भी नही लगाया। सर्वोतम विभूति स्वकी अनुभूति है और ऐसी निजकी अनुभूति ही सम्यक्त्व है।

भूतार्थनयसे ७ तत्त्व और ६ पदार्थको जाने सम्यक्त्व होवेगा ही, परन्तु

वह तव होगा जव ईमानदारीसे वाह्यकी चाह हटाओगे। एतदर्थ अपनेको दुनियामे मुफ्त पैदा हुआ मानना होगा और यह मानना होगा कि मैं दुनिया के लिये मनुष्य नही अन्य कुछ हू। मैंने दूसरोके सम्वन्धके लिये ही मानवभव पाया है, यह विकल्प छोडे। सोचे कि मैं हू कौनसी मूली गाजर ? मैंने कौनसा वडप्पन पाया ? आपके ज्ञानमे मेरेमे जो वडप्पन है वही भगवान्के ज्ञानमें खाक जचता होगा। यदि अपनेपर दया है तो अपनेमे ये वडप्पन आदिके विकल्प छोडो।

त्रियोगकी कोई भी चेष्टा हो, वह विपदा है। उससे वचकर आवे, किस पद्धतिसे समार व मोक्ष वनता है, इसको समझें। अभूतार्थनयसे जाने गये ये सात तत्त्व समारको वढाते है और भूतार्थनयसे जाने गये ये सात तत्त्व सम्यक्त्व (मोक्ष मार्ग) को वढाते हैं।

### मोक्षमार्गकी वात भगवान्की वाणी है

आप्तके वाक्योको दिलचस्पीमे सुने, उनके एक एक वाक्यकी भी प्रशसा नही की जा सकती। वे तो मव कुछ लिख गये, वडी दया कर गये, परन्तु हम कुपूत नही वने रहे और उनके इस श्रमसे कुछ लाभ उठाले तव अपनी भी प्रशसा है।

सप्ततत्त्व वालकों को भी जन्मसे सिखाये जाते हैं और भी सीखते है, पर वे भूतार्थ रीतिसे नही सिखाये जाते और भूतार्थ रीतिसे तत्त्वोके जाने विना सम्यक्त्व नही होता। दो को देखना अभूतार्थ है और एकको देखना भूतार्थ है।

जैसे नेत्र परवस्तुको ही देखना है, अपने आपको नही देखता, उसी प्रकार मोही स्वको नहीं देखता केवलपर परदृष्टि रखता है। इन्द्रिया कोई भी क्यो न हो, वे अपने आपको स्वय कदापि नही जानती परन्तु परके जाननेमे ही प्रवृत्त रहती है। उसी प्रकार मोही सदा परमे उलझा रहता है, स्वको नही जानता। जिन इन्द्रियोका मानवको भारी अहकार होता है, वे इन्द्रियरूपी कुत्ते स्वय इतने कमजोर हैं कि आत्मारूपी मालिककी प्रेरणाके विना, स्वय कुछ भी करनेको समर्थ नही होते।

## निजके अनुभव बिना प्रयास व्यर्थ है

जैसे मिष्ठान्नको बनानेमे सहायक चम्मच खूब प्रयास उठाती है, फिर भी मिष्टान्नका स्वाद नही ले पाती। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विशाल प्रयास उठाकर भी स्वका स्वाद नही ले पाता और स्वका स्वाद हुये बिना सम्यक्त्व का लाभ नही होता। इसमे सम्यक्त्व पानेका प्रयत्न करना चाहिये।

## आत्मसाधनाके उपाय

अपनी हार्दिक आवाजसे, दुनियासे उदास केवल १३, १४ वर्षकी आयुमे साधु होकर निरन्तर आत्मसाधनामे अपना यत्न बनाते हुये, श्री आचार्य कुन्दकुन्दने महत्त्वपूर्ण ४ उपायोके द्वारा जो आत्मोपलब्धिकी है, उन्हीके शब्दोमे सम्यग्दर्शन के वे चार उपाय इस प्रकार हैं—

१—विविधशास्त्रोका पूर्ण परिज्ञान करना। भले ही यह मोहियोको न रूचे, परन्तु इन शास्त्रोका सकेत ज्ञानियोके लिये माता पिताके समान सहायक होता है। २—जिनके सामने विपक्षादि नही टिकते, ऐसी विविध सुयुक्तियोका अवलम्बन। ३—विज्ञानघनमे डूबे गुरुओकी सेवासे जिन्हे प्रसाद मिला था, ऐसे गुरुओकी परम्पराका अवलम्बन। ४—निरन्तर झडता हुआ स्वसवेदनज्ञान।

भूतार्थनयसे ज्ञात ये नवपदार्थ सम्यक्त्व हैं। वास्तवमे ये स्वय सम्यग्दर्शन नही, परन्तु सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक पदार्थके पर्याय गुण व द्रव्यको जाने बिना पदार्थो का यथार्थ बोध नही हो सकता।

दशा, हालत, परिणमन व पर्याय—ये सभी एकार्थवाचक शब्द है। हमे जो कुछ दिख रहा है, वह पर्याय है, जो सोचनेमे आरहा वह भी पर्याय है, जो कहनेमे आरहा वह भी पर्याय है। इसी प्रकार मानने और सुनने मे जो जो आता है वह सब पर्याय है। दुनियामे जितनी दोस्ती या लडाई हो रही है वह सब पर्यायकी पर्यायसे हो रही है।

## पर्यायमे मत उलझो

पर्याय पर्यायकी इस उलझनको देखकर ज्ञानियोको हसी आती होगी कि

जो मूलाधार (द्रव्य) है, वह तो मौन है, किन्तु जैसे बरसाती मेंढक टें टें करते हैं, पर वह टें टें कितने दिनके लिये या दिन दो दिन का पैदा हुआ स्यार चिल्लाता है पर वह चिल्लाना कितने दिनके लिये ? उसी प्रकार राग-द्वेष प्रेम वगैरह पर्यायें चिल्ला रही हैं।

जिसका जिसमे प्रेम होता है उसे उसका दोष नही दिखता, परन्तु जिसे उस अव्यक्त तत्त्वकी स्पृहा है, उसे सामान्यकी मुख्यता कर देखे वह दिखेगा ही। जो नष्ट होता है या जिसके खण्ड होते हैं वह पर्याय कहलाता है। पर्यायकी पहिचानका नष्ट होना और खण्ड होना—ये दो ही लक्षण हैं। इस लिये जो जो नष्ट होता या जिसका भेद हो सकता उन सभीको पर्यायें समझो।

भेद (टुकडे) दो प्रकारके है ? क्षेत्रापेक्षया ? कालापेक्षया। लोक क्षेत्रके टुकडो से अधिक परिचित है, परन्तु कालकी अपेक्षासे हुये भेदोसे कम। क्षेत्रापेक्षया जो भेद (टुकडे) होते हैं वे झट समझमें आ जाते हैं, परन्तु कालापेक्षया जो भेद होते है वे कम समझमे आते हैं। हैं वे भी सुगमज्ञेय, किन्तु दृष्टि नही।

## जो पर्यायें हैं वे सभी विनाशीक हैं

आत्मामे जो विचार होकर नष्ट होते हैं, क्रोधादिक होकर नष्ट होते हैं, शरीरकी आकृति बनकर नष्ट होते है, ये सभी पर्यायें है। यद्यपि क्षेत्रापेक्षया आत्माकी पर्यायोका अकन नही हो सकता तथापि आत्म-द्रव्यमे कालापेक्षया पर्यायोका अकन होता ही है। जैसे किसीको ६० वर्ष जीना है तो समझना चाहिये कि वह ६० वर्षका पूरा एक मनुष्य है। उसमें ३ टुकडे (भेद) माने जाते हैं—बालक १ भेद (टुकडा) है युवा दूसरा और बूढा तीसरा भेद (टुकडा) है। ये आत्मा (जीव) के कालकृत भेद (टुकडे) हुये। इसी प्रकार विचारोमे भी कालकृत भेद (टुकडे) होते है। वस्तुत. तो अखण्ड एक वस्तु है व प्रतिसमय अखण्ड एक परिणमन।

क्रोधादिक पर्यायें हैं, आस्रवादिक भी पर्यायें हैं, जीव अनादि अनन्त, अखण्ड एक ही है, उसकी जितनी पर्यायें होती हैं, वे सब उसके अश

है। दुनियामे जो मतमतान्तर हैं, वे भी पर्यायें हैं। स्याद्वादसे जो गिरा और जहा अटका, वही उस स्याद्वादकी पर्याय या भेद है। इसी प्रकार रागद्वेष आदिक सभी पर्यायें हैं।

## पर्यायोका आधारभूत वस्तुतत्त्व है, तथ्य है

अमुक पर्याय किस शक्तिकी है ? उस शक्तिका जो आधारभूत होता है, वही द्रव्य या तत्त्व कहलाता है। सिद्ध शुद्ध दशाका नाम है, इसमे वह तत्त्व नही पर्याय है। अरिहत सिद्ध आचार्य, विचार आदि सभी जीवके भेद या पर्याय हैं। इसलिये वे तत्त्व नही। उन सभी अशो या पर्यायोमे रहनेवाला जो एक है वही तत्त्व है। धर्मी है, द्रव्य है, वस्तु है।

आम जो अपनी प्रारम्भिक अवस्थामे हरा था, वही आगे नीला वना और कुछ आगे चलकर पीला वना। एक ही रूप अपनी ही योग्यतासे तद्रूप वदलता गया, अपनी उन सारी दशाओका आधार वह आम एक ही रहा। इसलिये यहा (काला) हरा नीला पीला पीला आदि पर्यायें ठहरी और आम तत्त्व साबित हुआ।

पर्यायें तो दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उनमे एक रूप रहनेवाला तत्त्व दृष्टिगोचर नही होता, शक्ति (तत्त्व) सब दशाओ व समयोमे एक ही रहती है, परन्तु दशाये या पर्याये भिन्न २ समयमे भिन्न २ होती हैं।

इसी प्रकार आममे खट्टापन, खटमिठ्ठापन और मीठापन आदि पर्यायें है। उन खट्टेपन आदि सभी पर्यायोमे रहनेवाला रस एक गुण (शक्ति) है। जो सभी अवस्थाओमे एक रूप रहता है, अवस्थायें बदलती रहती है उसकी।

इसी प्रकार हल्का भारी ठडा गरम—ये चार पर्यायें हैं और उन सबमे रहनेवाला स्पर्श एक (गुणशक्ति) है। इसी प्रकार गधके विषयमे भी समझना चाहिये।

रूपादि चारो एकप्रदेशी परमाणुमे भी एकाश्रय व अभिन्नतामे रहते हैं। ये चारो परमाणुके गुण हैं और उनके अभेद पुजका नाम, परमाणु (द्रव्य) है।

सत् श्रद्धा, असत् श्रद्धा, कम ज्ञान, अधिकज्ञान, सच्चारित्र, असच्चारित्र—

ये सब आत्माकी पर्यायें हैं। इनकी आधारभूत शक्ति या मूलाधार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण कहलाता है। विश्वासके आधारभूत, शक्तिका नाम श्रद्धा (सम्यक्त्व) गुण है। थोडा ज्ञान और केवलज्ञान आदिके आधारभूत गुणका नाम ज्ञानगुण है।

## आत्माकी शक्ति अद्भुत है

आत्मा अनंत शक्तिमान् है, परन्तु आज इसकी शक्ति मन दो मन चार मन बोझ उठानेमे आकी जाने लगी। आत्माकी शक्तिया श्रद्धान ज्ञान चारित्र आदि हैं और उन सभी शक्तियोमे रहने वाला एक आत्मा द्रव्य है।

दुनियामे जीव अनतानत, पुद्गल अनतानत, धर्म एक, अधर्म एक, आकाश एक, काल असख्यात—इस प्रकार इतने पदार्थ हैं,—ये सभी अनन्त शक्तिमान हैं। उन शक्तियोको हम जान पाये या न जान पाये। उनकी जो दशायें हैं, वे पर्याय कहलाती हैं।

पर्यायें २ प्रकारकी हैं—१—शक्तिकी पर्याय, २—द्रव्यकी पर्याय। सम्यग्दर्शन और रागादिक शक्तिकी पर्यायें हैं। मनुष्यत्वादि द्रव्यकी पर्यायें है, क्योकि वह कार्माण वर्गणाओ, आहार वर्गणाओ मनोवर्गणाओ, और तैजस वर्गणाओ के मेलसे बना हुआ है।

क्रोधादिक चारित्र शक्तिकी पर्यायें है, चारित्रशक्ति आत्माका गुण है, आत्माकी शक्तिसे ये क्रोधादि होते है, अन्य किसीकी वजहसे नही। मिथ्यात्व श्रद्धा शक्तिकी पर्याय है। विज्ञानबाजिया ज्ञानशक्तिकी पर्यायें हैं। दुःख आनन्द शक्तिकी पर्याय है, क्योकि वास्तवमे दु.ख आनन्दगुणका ही विकार है।

## तत्त्वके दर्शनकी पद्धति

यहा पर्यायोको गौणकर गुणको मुख्य करना। पश्चात् गुणको गौणकर द्रव्यको देखना। एतदर्थ द्रव्य गुण पर्यायका वर्णन आचार्यश्री करते है। धर्मकी प्रत्येक बातका मर्म या उद्देश्य अचल स्वभावरूप धर्ममे पहुंचनेको है तो वह व्यवहार धर्म है। इस पद्धतिसे जानना व्यवहारधर्म है।

सम्यग्दर्शनकी बात अत्यन्त अपूर्व है। अब तक जितने सिद्ध हुये है वे

सब सम्यक्त्वके माहात्म्यसे हुये हैं। मिथ्यात्वके समान कोई अकल्याणकारी और सम्यक्त्वके समान कोई कल्याणकारी नही। विषय कषायोमें झुकावका अनन्य कारण अज्ञान या मिथ्यात्व ही है। इस जीवका यह धधा अनादि कालसे चल आया है कि परवस्तुओमे मुझे यह करना है, मुझे यह करना है और उसको अपना अधिकारी मानना।

पूर्वकालमे धर्मात्माओके सघ चलते थे और वे स्वय अपने सघमे एक शासक के अनुशासनमे रहते थे। जो कि स्वय धर्मात्मा होते थे, चुनते थे। शासककी नही अटकी होती थी कि हम इन पर अपना शासन करें, फिर भी शिष्य शासकके अनुशासनमे रहते थे, जिससे सघ सुव्यवस्थित चलता था। इसी प्रकार गृहस्थीमे भी हम लोग बढिया ढगसे रहे, हमारा काम अच्छा चले, इस हेतु किसी एक व्यक्तिको प्रमुख बनाया जाता है, किन्तु उस प्रमुखके चित्तमे यदि यह भाव आजाय कि मैं सबसे बडा हू और मुझे इन सबको अपने शासनमे चलाना चाहिये। इस प्रकार जब यह अपने को बडा मानता या औरो पर अपना शासन चलाना चाहता है तो सब काम बिगड जाता है, परन्तु यदि वह प्रमुख सुबोध होता है तो अपने से छोटोको अपने अनुकूल रखकर गृहस्थीकी सारी व्यवस्थायें व्यवस्थित रखता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी यदि हजारो व्यक्ति साथ हो तो भी स्व और परको क्षोभका कारण नही बनता।

### ज्ञानकी योग्यताका सदुपयोग करो

मोही मानव बडे २ कठिन हिसाबो और सूझोमे कितनी पैनी और बडी बुद्धिका प्रयोग करता है। एक २ पैसेके पीछे हिसाबमे घटो बिता देता है, परन्तु खुदकी चीजपर बुद्धिका तनिक भी प्रयोग नहीं करता। यह उसकी भूल है। सम्यग्दर्शन सचाई यथार्थता और समस्तगुणोमे सत्यताका आधायक है। सम्यग्दृष्टि हजारो उपसर्गोंके आने पर भी अपने धर्मसे नही चिगता। जैसे सुयोग्य शिष्य गुरुमे कुछ त्रुटि आने पर भी गुरु विनय नही छोडता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी अपना धर्म नही छोडता। मन्दिरमे जानेसे झगडा होता है, कषाय बढती है, इससे हम वहा नही जायगे, ऐसी गाठ व शल्य सम्यग्दृष्टि को नही होती, वह नि.शल्य होता है।

सम्यग्दृष्टिको आत्मलाभ या स्वस्वरूपकी प्राप्तिरूप विशाल कार्य होता है कि उसे उसीसे ही फुरसत नही मिलती, परन्तु कोई आग्रह करे तो उसे सन्मार्ग अवश्य बताता है। जैसे वास्तविक साधु भोजन भी बैठकर नही खा सकते। उन्हे अपनी साधनाका बडा काम पडा होता है। यदि वे अन्य बातोंमे पड जायें; उनके लिये उन्हे फुरसत हो जाय तो उनका साधुत्व भी विकल्प हो जाय। दिगम्बर साधु "विद्यार्थी" होता है, वह डायरेक्टर नही बनता। किसी का कोई मुखिया बने तो आश्रितोका तो सुधार होता है, परन्तु स्वयकी मिट्टी पलीत हो सकती है।

तीनों लोको और तीनो कालोमे सम्यक्त्वके समान कोई श्रेय नही और मिथ्यात्वके समान कोई अश्रेय नही। अपने आपकी ओर बुद्धिका जितना झुकाव रहता है, उतनी ही शांति बढती है। इसलिये अपनी पैनी बुद्धिको पैने सांसारिक कार्यों पर प्रयोग कर उसकी धार मोथली नही बनाना चाहिये। जितना अपने आपकी ओर झुकाव होगा, उतनी बुद्धि बढेगी। जगत्के सबध प्राणीको ससारके अनत दुःखके कारण बनते है।

## उपासककी सार्थकता उपासनामे है

श्रावकको उपासक भी कहते है। उपासकका अर्थ यह है कि जो निर्ग्रन्थ पनेकी उपासना करे, जिसकी ऐसी साधना बन जाय कि मेरे द्वारा किसीको भय न हो और रागद्वेषादिक भाव निकल जायें, ऐसा उपासक स्वमे भी निःशक होता है, परन्तु यह सब सम्यक्त्वके होने पर ही हो सकता है। छोटी लड़कियां जब खेल खेलती है तो कोई सास बनती है तो कोई बहू बनती है, परन्तु उनमे सासादिकी वास्तविक कला नही आती, किन्तु जब कोई लडकी भले ही वह उम्रकी कम क्यों न हो बहू बन जावे, उस समय घंटोके बाद ही उसके चित्तमे और के और बात जम जाती है कि मैं बहू हू, अब लज्जा घूंघट करना चाहिये इत्यादि। उसके लिये इन बातोंकी सिखानेकी जरूरत नही होती। वह उन कलाओंको स्वय सीख जाती है। इसी प्रकार सम्यक्त्वके लिये हिंसादि पचपापोके त्याग करानेकी जरूरत नहीं होती और न त्याग कराये उन का त्याग हो सकता है, परन्तु सम्यक्त्व होते ही वे सब अपने आप दूर हो जाते हैं।

कोई कहे कि यह सब तो है, परन्तु कैसे काम करें ? चित्त इतना चचल है कि किसी कार्यमे नहीं जमता। भैया ! चिन्ता न करो, यह हाथकी बात नही, कितना ही परिश्रम क्यो न करो, किन्तु सम्यक्त्व होने दो, अपने आप सारी चीजें अपने मे स्वय प्रगट हो जावेंगी।

### अनुभवकी चीज अनुभवसे ही गम्य है

सम्यग्दर्शन अनिर्वचनीय वस्तु है। यह कहा नही जा सकता और देखा, जाना नही जा सकता। इसकी बात जाने दो। अभी इमरती खाकर आओ, पूछने पर उसका भी स्वाद आप भली भाति नही बता सकते। मिश्रीका स्वाद भी नही बता सकते। उसी तकार सम्यग्दर्शनका अनुभव कैसा होता है ? यह भी नही बताया जा साकता है। इसीलिये सम्यग्दर्शनके कारणो या व्यवस्थाओंसे ही सम्यग्दर्शनका अवगम कराया जाता है।

भूतार्थनयसे तत्त्वोका जानना सम्यग्दशनका कारण है। एक को देखना भूतार्थ, दो पर नजर जाना अभूतार्थ है या जहा सम्बन्ध दीखता वह अभूतार्थ है। एक रहना एक की दृष्टि या एक का निरखना भूतार्थ है। अनेक पर भी दृष्टि जाय, परन्तु वे पृथक् २ दीखें तो भूतार्थ है।

अशो या टुकडोको पर्याय कहते है। शक्तिको गुण कहते है और दोनोके पु जको द्रव्य कहते हैं। द्रव्यको मिलाकर देखना, गुणोको मिलाकर देखना पर्याय को टुकडे कर देखना, शक्तिको टुकडे कर देखना, द्रव्यको टुकडे कर देखना यह सब अभूतार्थ है, परन्तु कोई मिलाओ त अलग करो यह भूतार्थ है। किसीको किसी में मत मिलाओ यह कहना चाहे कुछ अच्छा लगता है। किन्तु किसीको किसीसे अलग करदो यह कहना मोहियोका बुरा लगता होगा, परन्तु तुम्हारा आत्मा जो है उसमे कोई दूसरा न मिल सकता है, न पृथक् हो सकता है। पर इस राह पर दिमाग न लाने से यह चर्चा ही कठिन लगती होगी।

### किसी भी एक को देखकर तत्त्वके दर्शन करो

कहा जाता है कि जीवमे कर्मका आना आस्रव व है, कर्मका बधना बध है, कर्मका रुकना सवर है, एक देश झडना निजरा और सबका झड जाना मोक्ष है, परन्तु यह दृष्टि सम्यक्त्वका कारण नही, यह केवल अबोध बच्चोका

समझानेको है। ये तत्त्व सम्यक्त्वके कारणके कारणके कारण भले ही बन जाये पर साक्षात् सम्यक्त्वके कारण नही हो सकते।

सम्यग्दर्शनका मतलब सकल्पविकल्पसे रहित मात्र निर्विकल्प रह जाना है, किन्तु जो उपरोक्त आस्रवादिमे मोक्षकी कल्पना करता है उसे निर्विकल्पकताका लाभ नही होता। सबको एकदृरा देखना भूतार्थ है। यद्यपि जीव और कर्मका सघर्ष है, परन्तु दोनोको जुदा २ देखना चाहिये। जीवोके साथ कर्मका रंच मात्र भी सम्बन्ध नही। मोही मानव घूमता, कष्ट उठाता व विह्वल होता है, फिर भी जीव और कर्मसे सबध नही। कर्म और जीवके पृथक् २ चतुष्टयो को समझे यह बात सहज ही समझमे आ जायगी।

**समस्त द्रव्य अपने अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप है**

कार्माणवर्गणा या कर्म परमाणु अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावमे और जीव अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावमे रहते हैं।

जो अखड सत् है वह द्रव्य है। जीवका क्षेत्र जितना चेतनाका आधार है वह उसका क्षेत्र है। प्रत्येक जीव अपने ही निज प्रदेशोमे रहता है। जैसे आप कमरेमे नहीं रहते। वास्तवमे आप अपनेमे ही रहते। कमरेमे रहते समय भी कमरेसे आपका कोई सबध नही होता। जीव जीवमे ही रहता, लोकाकाशमे नही। इसी प्रकार पुद्गल पुद्गलमे, इसी प्रकार सभी द्रव्योमे घटाना चाहिये।

जीवका काल—जीवकी हालत, पर्याय या परिणमन ही जीवका काल है। जीवका भाव—जीवका असाधारण स्वभाव ही जीवका भाव है। जैसे अग्निका स्वभाव औष्ण। इस प्रकार जीव व कर्म अपने २ द्रव्यक्षेत्र कालभावमे रहते हैं। दोनोका सबध न कभी था, न है, न होगा। इन दोनोमे परस्पर सयोग संबध भी नहीं व तादात्म्य सम्बन्धभी नहीं, केवल निमित्तनैमित्तिक भाव है।

जीव अमूर्तिक और कर्म मूर्तिक है। जैसे भौतिक पदार्थोसे साइस समझमे आ जाता है, उसी प्रकार कर्ममे जीव नहीं, जीवमें कर्म नही, यह बात भी इनके स्वतन्त्र चतुष्टयको समझे सहज ही समझमे आ जाती है तथा जीवके कषायभाव आदिको निमित्त पाकर कर्मका परिणमन व कर्मके उदय आदिको निमित्त पाकर जीवका परिणन समझमे आ जाता है।

भूतार्थसे कर्मका आस्रव कर्म, जीवका आस्रव जीव करता है अर्थात् जीवका आस्रव जीवसे और कर्मका आस्रव कर्मसे होता है। कर्ममे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागके पड जाने के लिये कर्मका आना कर्मका आस्रव है और जीवके रागद्वेष होना जीवका आस्रव है। उसमे उपयोग लगाना जीवका वध है।

### व्यवहारका विरोध न कर निश्चयका अवलम्बन लो

सम्यग्दर्शन व्यवहारको गौण कर होता है, व्यवहार पर दृष्टि रहे सम्यग्दर्शन नही होता। सम्यग्दृष्टि अन्य किसीको अन्य किसीका स्वामी नहीं समझता है।भी ठीक देखो, मालिक नौकरके जबरन कामन ही करा सकता। नौकर स्वय चाहे मालिककी इच्छासे भी अधिक कार्य करदे। जब आप करोगे तभी आपकी व्यवस्था बनेगी न करोगे तो नही बनेगी, परन्तु अन्य आपकी व्यवस्था नही बना सकता।

किसीसे दुश्मनी है, वह सामनेसे निकल गया, उसने इतना ही अपराध किया, परन्तु उसका ख्याल कर तुममे द्वेषादिक आये, वे तुमने ही उत्पन्न किये। कोई तुम्हारे रागका पात्र बना, वह केवल तुम्हारे सामने से निकल गया। उसमे यह मेरा है हितु है इत्यादि कल्पना तुमने स्वय बनाई उसने क्या कर दिया। दुनियामे न कोई सुन्दर है, न कोई असुन्दर है। मनुष्यकी कल्पना ही वस्तुको सुन्दर और असुन्दर बनाती है।

अपने बच्चेका मुख नाकसे लिपटा हो, लारसे भरा हो तो भी प्यारा लगता है और दूसरेके बच्चेके मुख पर जरासी भस ही लगी तो वह बुरा लगता है। सुन्दर और असुन्दर कोई वस्तु नहीं होती, तुम्हारा राग ही सुन्दर और असुन्दर बनाता है।

### कर्म जीवका काम नहीं करता

कर्म तो आ गये बन्ध गये और चले गये, कर्म इतना मात्र करता है; पर जीव अच्छा विचार लिया, बुरा विचार लिया, चुप बैठ लिया इत्यादि करता है। दोनोके काम अलग २ हैं, फिर भी दोनोके बीच एक कम्पनी सी चल रही है।

आप किसीसे प्रेम कर सकते हैं यह भ्रम है, फिर भी प्राणी फूला फूला फिरता है। किसीसे प्रेम करता है, किसीको पति, पुत्र मानता है। पर वास्तवमे कोई किसीका कोई नही। वे उसके बिगाडके ही कारण बन रहे है। प्राणी अपनी स्वतन्त्रता खोकर गुलाम और स्त्री आदिक बन रहा है, स्त्री आदि जैसे नाच नचाते नचता है। बन्दरसा बन रहा है और अपनी स्वाधीनता छोड पराधीन बन रहा है। स्त्री पैरकी जूती मानी जाने लगी, स्त्रियोने पुरुषोको दास समझ रखा है। चैतन्यका इस प्रकार अनादर हो रहा है। जहा ये भेदभाव छोड आत्मदृष्टि रख समानता होती है वही सत्य मिलता है।

### कोई किसी अन्यपर प्रेम कर ही नहीं सकता

प्रेम चारित्र गुणकी पर्याय है, चारित्रसे होता और चारित्रमे ही होता है, चारित्र आत्माका गुण है, इससे प्रेम आत्माके प्रदेशोसे बाहर नही निकल सकता। आपका प्रेम हममे और हमारा प्रेम आपमे नही आ सकता, खुदका प्रेम व द्वेष खुदमे ही किया जा सकता है।

प्रेम द्वेष करने वालेकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। उसे इस बातका बोध नही रहता कि एक द्रव्यकी पर्याय दूसरे द्रव्यमे न तो कुछ कर सकती और न उत्पन्न हो सकती है। जीवकी दशा जीवसे, कर्मकी दशा कर्मसे ही उत्पन्न होती है। जो जिससे उत्पन्न होता है, उसे उसके पास ही बैठा दो या जिसका जिससे सबध है उसे उसके ही पास बैठा दो। स्वकी चीज स्वके सामने राख परीक्षा करो, व्यग्रता मिटेगी, अन्यथा बढेगी। कर्मके आस्रव बध सवरको कर्म के सन्मुख कर दो और जीवके आस्रव बध सवरको जीवके सन्मुख कर दो तभी भूतार्थदृष्टि आयगी।

कर्मका आस्रव कर्माणुओसे होता है। यह प्रकृति प्रदेशस्थिति अनुभाग बध, कर्मसे हुआ, ऐसा निरखने पर दो प्रभाव आते है—

(१) कर्मका आस्रव-कर्मसे हुआ तो जरूर, परन्तु जीवका निमित्त पाकर हुआ करता था, परन्तु ज्ञानी इस प्रसगमे जीवको भी नही देखता। वह यही सोचता है कि आस्रव कर्मने ही हो रहा है, निमित्तके उपेक्षणसे, कर्म अपने समयको लम्बा नही कर सकता है।

(२) दूसरा प्रभाव यह हो रहा है कि आस्रव पर्याय जिस द्रव्यसे उत्पन्न हुई है, उस द्रव्यको देखनेसे पर्यायदृष्टि मिट जाती है और द्रव्यदृष्टि रह जाती है।

सत्यका ज्ञान होनेपर जीव सत्यकी ही ओर जाता।

अध्रुव व ध्रुवका सामना करनेपर ध्रुव रह जाता है, जिसकी जिसमें सजातीयता है वह प्रधान बन जाता है। जिस समय कर्मका आस्रव कर्मसे हुआ विचारा जाता है, उस समय आत्माकी निमित्तदृष्टि हट जाती है। जिस समय केवल द्रव्य ही दिखाता है, उस समय यह आत्मा स्वानुभूतिमे आजाता है और महान् आनंदका अनुभव करता है।

मोही परमे उलझा है, इससे उसका भला नहीं होता। वह एकको जाने बिना भटक रहा है। दुनियामे कोई मित्र साथी व बिगाडकर्ता नही है। अपने पैर पर खडा होकर अपने स्वरूप को देखो। उससे च्युत होकर परकी गुलामी न करते रहो।

सुयोग गुरु व शिष्य जो दोनों ही गुलामीमे न रहना चाहते हैं, दोनों ही स्वमें बसना चाहते हैं। फिर भी उनमे विनयका व्यवहार, आज्ञाकारिता आदि कितने बढ जाते हैं। व्यवहार कितना ही बढ जावे पर उससे मूलमें परतन्त्रता नही आती। विनय तप है, गुलामी पाप है।

हम उपासक हैं, हमे निर्ग्रंथव्रतसे शिक्षा लेनी है कि हम स्वसाधनमें कैसे लगें? कर्मका आस्रव कर्मसे कैसे हुआ है? यह जाननेमे साधना करें तो निज सामान्य हाथ आजायगा।

पर भी द्रव्य है, आत्मा भी द्रव्य है। द्रव्यत्वसे दोनो समान हैं, ज्ञानी आत्मा दोनोको समान देख रहा है। समान दिखे एक पर ठहर नही सकता। परमाणु पर तो स्थिरतासे ठहरा नहीं जा सकता तो अपने आपपर ठहर जाता है। यह भूतार्थनयसे कर्मको देखने का फल है। कर्मका आस्रव कर्मसे हुआ, देखने का फल अन्तमे स्वानुभवका कारण बन जाता है।

इसी प्रकार बंध संवरादिकके विषयमे कर्म व जीवके पृथक् पृथक् देखे द्रव्यदृष्टि एकत्व व सामान्य रह जायगा। जिसके दिखें यह जीव अपने आपमें

लीन हो जायगा, अनाकुल परिणमनका अनुभव करेगा। वही स्वानुभूति है और उसीका नाम सम्यक्त्व है।

### जीव अपनेमे ही परिणमता है

स्वके चतुष्टयसे जीवकी जैसी योग्यता बनती है, जीव वैसा ही परिणमन करता है। लोग ऐसा कहा करते हैं कि भगवान्ने जैसा देखा है वैसा होता है, परन्तु हमारी ऐसी धारणा है कि जैसा हम करते हैं भगवान् वैसा देखते हैं। बात एक ही है, किन्तु अन्तर इतना हो जाता है कि ज्ञानमे तो ज्ञेय निमित्त है, किन्तु ज्ञेयमे ज्ञान निमित्त नहीं। मलिन आत्मा अपने चतुष्टयकी योग्यतासे तदनुकूल निमित्त बनाकर स्वय परिणमता है।

रागद्वेष आदिक भावोका होना ही जीवका आस्रव है। श्रद्धा और चारित्र जीवकी शक्तिया हैं। उन श्रद्धा और चारित्रके विकारसे सभी गुणोमे अन्यथा परिणमन होता है। गुणस्थान भी श्रद्धा और चारित्र ही से बनते हैं। यद्यपि योग भी कारण हैं परन्तु वह गौण है। इसलिये श्रद्धा और चारित्र गुणके तारतम्यका नाम ही गुणस्थान है। श्रद्धा और चारित्रके विकारसे गुण स्थानो की हानि होती है।

जीवमे मोह श्रद्धा शक्तिसे उत्पन्न होता है और रागद्वेष चारित्र शक्तिसे उत्पन्न होता है। ज्ञानावरणके उदय या क्षयोपशमसे जो बात होती है, उससे आस्रव नही होता। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदय या क्षयोपशमसे अथवा अन्य वेदनीय आदि कर्मोके उदय या क्षयोपशमसे हुये सुख दु.ख, आयुष्य, शरीरादिक, उच्चनीच, कुल या विघ्नादिसे भी आस्रव नही होता।

### आस्रवकी चक्की मोहकी चलाई हुई है

जिनागममें विभिन्न कर्मोंके आस्रवके जो जो कारण बताये हैं, वे आपेक्षिक हैं और वे सभी मोहसे मिले हुये मिलेंगे। यदि उन कारणोमे मोहकी पुट है, तब तो आस्रव होता है अन्यथा नही।

मिथ्यात्व, अवरति, कषाय और योग ही आस्रव हैं। इनमे योग तो कोई दम नही रखता, शेष ही साम्परायिक आस्रवके कारण समझना चाहिये। इनमें से मिथ्यात्व तो श्रद्धागुणका विपरीत परिणमन है और अविरति आदिक

चारित्र गुणका विपरीत परिणमन है। इस प्रकार श्रद्धा और चारित्रके विगाड से ही आस्रव होता है।

श्रद्धा गुणका विकृत परिणमन मिथ्यात्व है। वह निमित्तसे पैदा होता है या आत्मासे ? इसका निरपेक्ष उत्तर तो वन नही सकेगा। क्यो कि यदि निमित्तसे हुआ तो उसका असर निमित्तपर होना चाहिये और यदि आत्मासे पैदा हुआ तो सदा आत्माभे रहना चाहिये। तो भी मिथ्यात्व आत्मासे आत्मा मे प्रगट होता है। इसी प्रकार अविरति आदि भी आत्मासे प्रगट होते हैं। इस लिये आत्माके आस्रव आत्मासे ही होते हैं क्योकि मिथ्यात्व आदि उस समय आत्माका परिणमन है।

आस्रवभावोको यहांसे हुये ऐसे निरखे दो प्रभाव प्रगट होते हैं—(१) मिथ्यात्वादिक आत्मासे प्रगट हुये हैं, दूसरे से नही, ऐसा देखने से जीवके रागादिक टिक नही सकते। (२) दूसरा प्रभाव यह होता है कि जब उस आस्रव को आत्मद्रव्यसे प्रगट हुआ देखा, तब ध्रुव और अध्रुवपर दृष्टि गई कि यह आस्रव ध्रुवसे पैदा हुआ है। उस समय अध्रुवसे दृष्टि लुप्त हो जाती और ध्रुवदृष्टि प्रगट हो जाती है। मात्र वही दृष्टिगोचर होता है, जो द्रव्यसे सबध रखता है। उस समय यह आत्म, अपनेको अनाकुल स्मरण करता है, जो सम्यग्दर्शनका कारण होता है।

## सर्वोच्च महत्त्व एकका है

एककी ओर झुकना ही श्रेय है। एकसे चिगे वडी ही विपदा होती है। एककी ओर झुकनेपर सन्मान असन्मान प्रशसा वदनामी छोटा बडा उच्च नीच भय शका आदिक स्थान नही पाते। एकका डा आदर है। सख्या भी एकसे शुरु नही होती, एकका नाम अद्वैत है, विभिन्न मानवो द्वारा एकका नाम ईश्वर रखा गया है। निज एककी ओर वना रहना सर्वोत्तम उपाय है।

एकका मर्म न जानने वाले विभिन्नमे एककी कल्पना करते है। खुदका मोक्ष और ससार भी खुदके एकसे वनता है। एकको पाया तो सव वैभव है, नही पाया तो खाली हाथ है। एकके विना कुछ युक्ति नही, किस पर दृष्टि रख सतोष करें। अनेकोका सहारा तकनेवाले असहाय हो जाते हैं। इसलिये

एकका सहारा हो अथवा कुछ भी विकल्प न करो, यद्यपि यह स्थिति बहुत देर तक नही होती, पर होती अवश्य है। इसके होनेपर हो आत्मदर्शन होता है।

"अर्हन्पुराण पुरुषोत्तम पावनानि, वस्तू नूनमखिलान्ययमेक एव" इत्यादि प्रमाणोसे निश्चित है कि अष्टद्रव्य चढाना इत्यादि कार्य करते हुये भी "एक" दिखना ही है। जिसे स्वभगवान्के मर्मका परिचय होता है, उसे पूजनमे भी जल चन्दनादि नही दिखते, केवल एक दिखता है, परन्तु यह स्थिति तब आती है जब आन्तरिक स्थिति जगती है।

जिसकी श्रद्धामे जो बसा उसे वही दीखता है

जब किसीके इष्टका वियोग हो जाता है तो उसे केवल वही एक दिखता है। वह चाहे जगलमे रहे चाहे बाजारमे रहे, वहा की कोई चीज उसे नही दिखती, केवल उसी पर दृष्टि रहती है। उसी प्रकार ज्ञानी कुछ भी करे या चारित्र मोहके उदयसे उसे कुछ भी करना पडे, परन्तु उसे एक निज स्वभाव ही दिखता है अन्य प्रतिमा वगैरह नही दिखती। वह निज स्वभावको ही उपादेय मानता है। अन्य साधनो पर यह दृष्टि नही रखता। यद्यपि वह गुजरता सब परिस्थतियोमे है, पर उसका लक्ष्य केवल एक होता है और उस एक पर लक्ष्य होना ही सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व ज्ञान भूतार्थसे ही होता है और भूतार्थ एकत्व को बढाकर ही अपना कदम बढाता है। लोक सोचते हैं, बच्चे नही है हो जांय, लेनडोरी लग जाय। धन नही है हो जाय, अभीक्ष्ण निदान चलता रहता है। यदि कुछ मिल भी जाय तो और तृष्णा बढ़ती है। वह प्रथम स्थितिको नही सोचता कि पहिले कितना सुखी था। समागमके बढे तरह २ की शंकायें उत्पन्न हो गई, जितना ही समागम सम्बन्ध या मोह बढ़ेगा उतना ही दुःखी होगा। यदि समागममे नही रहे अपने आपमे बसे तो परम सुखी होगा। तभी आत्मा का प्रत्यक्षीकरण होता है।

यह आत्मा अनादि सिद्ध है, अपने आपमे अनादिसे और तादात्म्यमये चला आ रहा है। शरीरके परमाणु त्रिकालमें भी हममे नही मिल सकते

और इसके परमाणु शरीरसे भी नही मिल सकते, शरीरसे ही नही यह कर्मों से ही अत्यंत जुदा हैं। निमित्तको पाकर स्वय ही रागी द्वेषी और विविध कल्पनाओंका कर्ता बनता है।

इस प्रकार परिणमनो, शक्तियो व द्रव्यमे अपने को एकहरा निरखनेका स्वभाव बनाये जीव अपने पास ही रहता है और सम्यक्त्वका अनुभव करता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका कुछ वर्णन करके अब सम्यग्ज्ञानका लक्षण कहते हैं:—

## अखण्डरूपप्रतीत्या सह वस्तुज्ञप्तिः सम्यग्ज्ञानम् ॥४॥

अखण्ड निजरूपकी प्रतीतिके साथ २ वस्तुओंका ज्ञान होना सम्यक्ज्ञान है। अखण्ड निजस्वरूपकी प्रतीतिके विना चौकीको चौकी और मालाको माला समझना भी मिथ्याज्ञान है और अखण्ड निज स्वरूपकी प्रतीतिके रहे रस्सीको साप समझने मे भी मोक्षमार्गका सम्यग्ज्ञान विगडता नही है। अखण्ड निज स्वरूपकी प्रतीतिके विना रस्सीको रस्सी समझना भी मिथ्याज्ञान है। लौकिक ज्ञान न सम्यग्ज्ञान है, न मिथ्याज्ञान है। लोककी अपेक्षा सम्यक् मिथ्या हैं वे, मोक्षमार्गकी अपेक्षा नही, यदि अखण्ड निज स्वरूपकी प्रतीति है तो जो जानो सो जानो फिर सम्यग्ज्ञान है। यदि वह नही है तो जो भी जानो, सभी मिथ्यज्ञान है।

लोगोको (श्रोताओंको) यह बात अटपटी सी जचेगी कि सापको रस्सी जानना सम्यक्त्व कैसे है और सापको रस्सी जानना मिथ्यात्व कैसे है? परन्तु सम्यक्त्व मिथ्यात्व यथार्थ प्रतीति और अप्रतीतिपर अवलम्बित नहीं, किन्तु निज स्वरूपकी प्रतीति और अप्रतीति पर अवलम्बित है। निजस्वरूपकी प्रतीति होने पर लौकिक अयथार्थ भी ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। निज स्वरूपकी प्रतीति न होने पर लौकिक यथार्थज्ञान भी मिथ्या- ज्ञान कहलाता है।

### सम्यग्ज्ञान होने पर ठीक पता चलता है

किस पर राज्य जमाना है? शास्त्रोकी जानकारीमे, कानूनोकी जानकारीमें या अन्यान्य कार्योंमे, किन्तु इनमे कब्जा जमानेसे और कोई लाभ

नही, कब्जा जमाना चाहिये सम्यग्ज्ञान पर, जिसके होने पर स्वस्वभाव कब्जे मे न आये यह ज्ञान नही।

लक्ष्मणके मरे राम कितने विह्वल हुये ? जब उनसे कोई कहता था कि मुर्दाको क्यो लिये फिरते हो, तब वे कहते थे कि तुम्हारा बाप मुर्दा हमारा भाई नही, किन्तु अन्तरगमे अखण्डस्वरूपकी प्रतीति थी तो वे मुर्दाको जिन्दा कहकर भी सम्यग्ज्ञानी थे। यदि कोई कहे कि जब रामके अखण्डस्वरूपकी प्रतीति थी तो विह्वलता क्यो बनी ? इसका उत्तर यह है कि स्वरूपकी प्रतीति उनकी आत्मीय वस्तु थी और विह्वलता चारित्र मोहकृत थी। हा यह बात जरूर थी कि प्रतीतिका अनुभव नही कर रहे थे, तब अनुभव कर रहे थे वे बाह्यके विषयका।

जैसे किसी इष्टका मरण हो जाय तो कुछ भी काम करते रहो चित्तमे वही दिखलाई देता है, उस समय दूसरी क्रियायें सर्वथा बन्द हो जाय यह बात नही होती, भोजन भी करता है, वह भी ऊटपटाग, अधूरा नही विधिपूर्वक पर कटोरी आदि नही खा लेता। चित्त कहीं रहता पर कार्य कुछ और भी होता रहता है। इसी प्रकार चित्त ज्ञानीका तो स्वयकी ओर रहता है, परन्तु कार्य और और भी होते ही रहते हैं। उनमे प्रवृत्ति चारित्र मोहके उदयसे और निवृत्ति चारित्र मोहके क्षय, क्षयोपशम या उपशमसे होती है।

## आत्मा अखण्ड परिपूर्ण है

आत्माका स्वरूप अखण्ड है। उसमे न क्षेत्रकृत टुकडा है, न कालकृत टुकडा है। मतिश्रुत और केवलज्ञान ज्ञानके अश है, ज्ञानगुण नही। जीवकी पर्यायें जीवका स्वरूप नही, जीवमें होती जरूर हैं।

ज्ञान अखण्ड है। वह द्रव्य क्षेत्र कालको गौणकर भावको मुख्यतासे ही जाना जायगा। वह पारिणामिक चैतन्यमय, अद्वैत या एकत्वकी प्रतीतिसे जाना जाता है। ज्ञान-ज्ञाता ज्ञेय व ध्यान ध्याता ध्येयसे एक होने पर ही स्वकी स्थिति बनती है और जब ज्ञानादिक सभी एक हो जाते है, तभी स्वानुभूति होती है।

## सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

निज अखण्ड स्वरूपकी प्रतीति सहित ज्ञान वृत्ति सम्यग्ज्ञान कहलाता है। वस्तुकी जिस ज्ञानसे स्वरूपकी प्रतीति हो जाय वही सम्यग्ज्ञान है। बाह्य वस्तुओका ज्ञानमात्र सम्यग्ज्ञान नही, क्योकि सम्यग्ज्ञानका मतलब वस्तुके द्रव्य गुण और पर्यायका ऐसा सही बोध होना है जिससे स्वका स्पर्श हो जाय।

दुनियाके लोग जानते सब हैं, पर उसकी असलियत या गहराई तक पहुचते कम हैं। यदि किसीसे पूछा जाय कि घडी कहा बनी, कैसे बनी, किसने बनाई तो अज्ञानी मानव झट उत्तर देगा कि जापानमें बनी, मसीनोसे बनी और चतुर कारीगरो ने बनाई, परन्तु ऐसा जानना वस्तुतः सम्बन्धी सम्यग्ज्ञान नही, किन्तु अपने परमाणुओके स्कधोमे बनी पुद्गलसे चतुष्टयसे बनी निजी परिणमनकी योग्यताने बनाई ऐसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। इस रहस्यको दुनियाके लोग नही समझते। इस दृष्टिमे बडे २ आविष्कारिक भी मिथ्याज्ञानी प्रमाणित हो जाते है। भौतिक पदार्थ असमान जातीय है, अनेक परमाणुओसे बना है, हर एक अश अपने आपमे सत् है। ये समूह एकरूप दिखने पर भी कोई भी परमाणु अन्य परमाणुमें नही मिल सकता।

जो घडी आदि दिखते हैं वे पुद्गलकी पर्याये हैं। इन दृश्य पर्यायोमें परमाणुओका सम्बन्ध नही, परमाणु स्वके चतुष्टयसे ही अपनी हालत रखते हैं। परमाणुका स्वभाव ध्रुव है। जो दीखता है वह क्षणिक अवस्था है, वह वस्तुका लक्षण नही कहा जा सकता।

## मर्मका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है

वस्तुके बारे मे उसका रहस्य या आन्तरिक बोधन होनेसे सबको जो उनके ऊपरी २ ज्ञान हुआ करते हैं वे सम्यग्ज्ञान नही। सम्यग्ज्ञान रहते क्षोभ नही आ सकता। हे सम्यग्ज्ञान तेरे सहारे बिना सारा जगत् मुझे दोषरूप दिखता रहा, तू ही आदिसे अन्त तक मोक्ष मार्ग है।"

"पुण्य पाप फलमाहि, हरष विलखो मत भाई" पुण्यके फलमें हर्ष मत करो और पापके फलमें रज मत करो। अपने आपके बल सहारे या पैर पर खडा होना ही सुखका मूल है। वास्तविक पैर सम्यग्ज्ञान दर्शन है, इसे सम्हाले

रहना चाहिये, याने ज्ञान-दर्शन बना रहना चाहिये, तब कोई विपत्ति नही आती।

सम्यग्ज्ञानसे चिगने पर प्राणी पुत्र, स्त्री, घर आदिको अपना मानता है और इसीमे अपना जीवन बर्बाद कर देता है। समय आये निकलते देर नही लगती। जब आत्मा भी निकल जाता है तब ये स्त्री पुत्रादि सहायक कैसे हो सकते हैं? ये तो पुण्यके उदयके ठाठ हैं। इनके प्रिय अप्रिय हितु अहितु करनेमे तुम्हारा कर्तव्य नही चलता। और की तो बात क्या तुम्हारा शरीर तुम्हारे साथ नही जायेगा।

सम्यग्ज्ञानी दुनियांका उपकार नही करना चाहता, पर उससे दुनियाका उपकार स्वयमेव होता है। वह तो केवल अपने आपकी शातिमे झुका रहता है। ऐसा रहते यदि उसका मन वचन काय दुनियाके काममे लगता है तो लगता रहे, उसे किसीकी शल्य नही होती।

### देहदेवालयमे विराजमान सुदृष्टिके सदा निर्जरा होती है

शाश्वतिक निज स्वरूपके मानका मूल आधार सम्यग्दर्शन है। जिसके रहनेपर शयन करते समय भी ४१ प्रकृतियो का बध नही होता। इंद्रिय-विषयो के सेवनकालमें भी ४१ प्रकृतियो का बध नही होता। दर्शको की दृष्टिमे वह भले ही मूढसा जचे, परन्तु उसके अन्तरगमे ज्ञानदीप प्रकाशित रहता है।

सम्यग्ज्ञानी, सारा परिवार भी जुदा हो जाय, सारा धन भी नष्ट हो जाय उनकी परवाह नही करता। वह इन्हे इस भवमे भी अपने सुखके साधन नही समझता। इनके सम्पर्कसे परभवमे मेरा क्या हिसाब बनेगा? यह विचार वह इनकी अपेक्षा नही करता। वह खुदका ज्ञान खुद के पास रहनेमे ही भारी वैभव समझता है। यदि यह नही रहे तो लौकिक विशाल वैभवको भी धूल समझता है।

राजा बन जाने, महाराजा हो जाने, लखपति होजाने और नेता बन जानेमे कौन सुखी होने का दावा कर सकता है? इनके होनेमे जो जितनी घुडदौड लगाता है वह उतनी ही बचैनी पाता है। बडोमे बेचैनी भी बडी होतीहै, एक क्षणको भी साता नहीं मिलती। ऐसे लोग प्रायः हार्ट फेलसे मरते है। चिन्ता-

के मारे खाया नही जाता और खाते तो हजम नहीं होता, एक भी सुखी नहीं। सच्चा सुखी वह है जो अपने ज्ञानस्वरूपको जानता रहता है।

### विकल्पसे किया हुआ काम शल्य है

निरन्तर दूसरोंका काम करना लोगोकी धुन बन गई है। सदा यह भाव रहता कि मुझे औरोका नेतृत्व प्राप्त हो। विवेकी पहिले खुदका काम करे, उससे दूसरे का कार्य स्वय होता जाय तो कुछ नहीं बिगडा, परन्तु अपने मन वचन कायसे, खुदका काम तो कुछ नही करे केवल दूसरोंके कार्योंमे लगा रहे तो वह शातिपथका गामी नही होता।

'चत्तारि सरण पव्वज्जामि' इत्यादि मूलमंत्रमें अरिहृत आदि ४ को शरण बताया है, परन्तु वास्तवमें शरण तो अन्तिम एक ही है, प्रारंभिक ३ तो व्यवहारसे शरण बताये हैं। जब तक खुदका खुदको शरण नही मिला, तब तक उसे पानेकी उत्सुकतामे इसी मार्गपर चलकर अन्तिम मजिल पर पहुँचे एतदर्थ अरिहृतादिकी खबर लेने लगता है। जैसे जो जापान जाना चाहता है वह जापान गये व्यक्तियोकी खबर लेता है कि उनसे कुछ मार्गादि व्यवस्था जाने, परन्तु उसे जापान जाना स्वय पडता है, बिना गये जापान नही मिलता। उसी प्रकार वास्तविक शरण, 'धम्म शरण पव्वज्जामि' में बताया है। वह धर्म सम्यग्ज्ञान या स्व स्वरूपकी प्रतीति ही है।

भेदाभेद विपर्यय, कारणविपर्यय, स्वरूप विपर्यय जहां नही वही सम्यग्ज्ञान है या जहां सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय नही वही सम्यग्ज्ञान है।

### प्रत्येक पदार्थका ऐश्वर्य उस ही मे है

वस्तु कहा बनी, किसने बनाई, किससे बनी, कैसे बिगडती और कैसे मिटती है ? ऐसा प्रश्न हुये लौकिक जन चट कह देवेंगे कि जापानमें बनी, मशीनोसे बनी, टूटे फूटे जगादि लगे बिगडती है, परन्तु ऐसा जानना सम्यग्ज्ञान नही। वास्तवमें यह परमाणुओके स्कधोसे बनी। यह बिखर जायगी, इसके प्रत्येक परमाणु भिन्न हैं, वर्तमानमे अभिन्न हैं, इसके गुण वस्तुत अभिन्न हैं इत्यादि निर्णय होते होते घडीके पर्यायसे लक्ष्य छूटकर एक सत् पर दृष्टि पहुच जाय यही यथार्थ सम्यग्ज्ञान है। इस मार्गमे जो जो जाना गया वह भी सम्यग्ज्ञान है।

किसीको एक कारोबारकी ही धुन है, किसीकी अपनी एक स्त्रीपर ही दृष्टि है, किसी स्त्रीकी अपने एक पतिपर दृष्टि है। इस प्रकार बाह्य पदार्थोंमे एककी दृष्टि सम्यग्ज्ञान नही, परन्तु जब वास्तविक एक (आत्मा) परदृष्टि जाती है तब ये परवस्तुवोंके लौकिक एकत्व दृष्टिगोचर ही नही होते। द्रव्य एकको देखे परमे चित्त रह नही सकता, सामान्य परिज्ञान होनेपर व्यक्ति विशेषमे चित्त रह ही नही सकता। सामान्य "व्यक्तिसे" अछूता है, सामान्य कहे और व्यक्ति कहे विरोध है। इस लिये समस्त गुणोके एकत्वरूप, द्रव्यक्षेत्र कालके खण्डरहित, अखण्ड निज स्वरूप की प्रतीति होना ही श्रेय है। सामान्य, विशेषके भिन्न प्रदेश नही, किन्तु स्वलक्षणभिन्न हैं।

### ज्ञानोपार्जनके लिये तो सब कुछ करना चाहिये था

सम्यग्ज्ञान सबसे बडा वैभव है। इसके लिये कितना यत्न होना चाहिये, परन्तु अविवेकी मानव, धनसग्रह और कुटुम्बपोषण आदिमे २४ घटा लगाता है फिर भी ऊब नही आती। ज्ञानके कार्योंमे १५, २० मिनिटमे ही ऊब आजाती है, नीदके झकोरे चलने लगते हैं और इच्छा होने लगती है कि कब यह यत्न बन्द हो जाय। प्रयत्न करनेपर भी ज्ञानके प्रोग्राममे चित्त नही जमता, फिर भी बार बार उसमे लगे रहो तो एक न एक दिन प्राप्त होगा।

जिसे अखण्ड निजस्वरूपका भान हुआ उसे घर, कुटुम्ब, षटखण्डका वैभव त्यागनेमे भी देर न लगी। सारा धन छोडने पर जो महतीय कार्य बनता है, वह धनादिकके रहते होने वाले कार्यसे बनता ही नही है। धनका सम्पर्क रहते जो काम किये जाते हैं, उनमे लोसकी सभावना रहती है और फिर व्यवहारमे गिरने की सभावना रहती है।

आत्माके सम्बन्धमे मोहीने ऐसी धारणायें या कल्पनाये बना रखी है कि मैं शरीर बराबर ही हू, देहका जितना आकार है, मैं उतने ही सस्थान या मापमे हैं, परन्तु जब शरीरका भी ध्यान नही रहे ऐसी आत्मदृष्टि हो तो सच्चा पता पडे। जैसे आकाश अखण्ड है, उसके बीचमे भीत (दीवाल) खडी कर देनेसे आकाश का भेद मान लिया जाता है, पर आकाशमे भेद नही होता। उसी प्रकार आत्मा अखण्ड स्वतः सिद्ध अनादि अनंत है। वर्तमान जो हालत

है वह क्षणिक परिणमन है। वचन बोलनेमे तो कुछ देर लगे, परन्तु इस परिणमनके मिटनेमे देर नही लगती। वे सन्तान दरसन्तान होते जाते हैं, परन्तु उन परिणमनो रूप मैं नही, मैं तो अखण्ड एक हूँ, ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञानका कुछ भान करके अब सम्यक्चारित्रके पास आता हूँ:—

**विकृतिपरिहरणस्वभावेन ज्ञप्तिस्थितिः सम्यक्चारित्रम् ॥५॥**

विकारके परिहार (दूर) करनेके स्वभावसे ज्ञानका स्थिर बना रहना सम्यक्चारित्र है।

सम्यग्ज्ञानके होते ही सम्यक्चारित्रका आविर्भाव होता है। वास्तवमे ये तीनो एक साथ होते, इनकी उत्पत्तिमे समय भेद नही, पूर्णतामे अवश्य समय भेद होता है। सम्यग्ज्ञान होते ही आत्मा स्वरूपकी ओर उन्मुख हो जाता है। इसीका नाम स्वरूपाचरण है। सम्यग्दर्शन होने पर रास्ता न भी चल सके तो भी इस ज्ञानीको आकुलता रहती तो नही। कोई पथिक मार्गमे जाता था। रात हो गई भूल गया तोब ही ठहर गया, बडी गडबडी मे पड गया। वह विचारे कि 'हे भगवन् कहा आ गये राह मिलेगा या नही ? कैसे अपने स्थान मे पहुचू ' ऐसी उलझन मे पडा दुखी हो रहा है। इतनेमे ही कदाचित् अकस्मात् बिजली चमक जाय और मार्ग दिख जाय तो सडकका दिखना, भीतिका मिटना और ध्येयका बनना तीनो एक साथ होते है। उसी प्रकार श्रद्धान ज्ञान और स्वरूपकी ओर झुकाव एक ही समयमे होते हैं।

### परमात्मत्व स्वयमे देखो

किसी व्यक्तिने किसी कारीगरसे मूर्ति बनवानेको कहा तथा मूर्तिका चित्र भी दिखाया। उसे देखते ही कारीगरके चित्तमे पाषाणकी शिलामे मूर्ति दिख गई। जिस पत्थरमे छैनी भी नही घुस सकती उस पत्थरमे उसे मूर्तिका प्रतिबिम्ब दिखाने लगा। उसे उस पाषणमे जो जो करना है, वह कारीगर की साधनामे अभीसे मौजूद हो गया। उसी प्रकार जो स्वानुभवकी दृष्टि बना लेता है, उसे तत्काल स्वका साक्षात्कार यद्यपि नहो तो भी, वह स्वके लक्ष्यसे च्युत नही होता, उसकी दृष्टि बारबार स्वकी ओर ही दौडती है।

मुझे दुनियामे जीकर क्या करना है ? यह बात जिसके चित्तमे नही जम

सकी उसकी विपदाका कहना ही क्या है ? क्षणिक २ प्रोग्रामोमे उलझ जाता है, एक निजका प्रोग्राम नही बना पाता। यदि एक प्रोग्राम बन पाया होता तो जगत्की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिया घर न कर पाती।

एक घसियारा घास बेचता था, परम सुखी था। यदि कोई दो चाटे भी लगादे सह लेता था। यदि वही राजा बन जाय तब यदि कोई जरा सिर भी न झुकाये तो सोचता है कि ओह इसने मेरा विनय नही किया। अब और तब मे कितना अन्तर पड गया ? एक समय वह था जब पेट भरनेके लाले पडे थे, पेट भरनेमे ही सन्तोष था। आज सारे सुख मिले है, फिर भी सन्तोष नही भरा जाता है, सोचता है कि अ मुक राजा वश नही, अमुक सेठ वश नही।

भैया ! एक घसियारा राजा बना दिया गया। दो चार दिनमे उससे उठते ही न बने, कहे मन्त्रियो आओ सहारा दो। मन्त्रियो ने कहा—ओह ! आज क्या हो गया, आज उठते नही बनता। उसने कहा कि तुम नही जानते, उस समय तो एक गट्ठेका बोझ रहता था, अब तो अनेको ग्रामोका बोझ मुझ पर लदा है। ऐसी हालतमे मैं कैसे उठ सकू ? आज मनुष्यभवमे दस आराम की बातें सूझती हैं, परन्तु यही आत्मा जब नरकोमे था, तिर्यचोमे था तब कितने दु.ख सहे, उतने दु खोका आरामकी दशामें आज स्वागत कर लिया जाय तो ये सब दुःख मिट जाये।

## सम्यक्चारित्रका स्वरूप

विकारके त्यागपूर्वक ज्ञानका ज्ञानमे ठहर जाना सम्यक्चारित्र है। जिसमे अखण्ड निजस्वरूपकी प्रतीति है, वह सम्यग्ज्ञान सर्वशान्तिका मूल आधार है और उसीके कोल मे सम्यक्चारित्र होता है।

एक सीप पडी थी, उसे चादी जान लिया। ज्ञानने "है" इतना मात्र जाना, अस्तित्वमात्रका जानना ज्ञानका काम है। सीपकी कल्पना मात्र ज्ञान नही कहता। सीप जानना ज्ञानमे फर्क आना है। ये कल्पनायें वे चीजें हैं जो ज्ञानकी मिट्टी पलीत करती हैं। ज्ञानका काम जानना मात्र, उसके बाद विविध कल्पना राग कपनीका काम है। ज्ञान गडबडियोको स्वीकार नही करता।

विकारके परिहारके साथ ज्ञानका बना रहना ही सम्यक्चारित्र है।

दृष्टिको निर्मल बनाना सावधानीसे रहना, पापोंसे बचना, तपश्चरण व ध्यानमे लगना आदि सम्यक्चारित्र नही, सम्यग्चारित्र तो आत्माकी वह परिणति है जहा केवल ज्ञाता दृष्टापना मात्र रह जाता है, किन्तु गार्हिक खोटे बधनमे पडे जीव इस सम्यक्चारित्रको पालनामे सुगमतया नही आ पा रहे, परन्तु उसकी ओर उसकी उत्सुकता है कि मुझे तो ज्ञाता दृष्टा ही रहना है, ऐसा भाव आते ही वह सोचता है कि हे लडके लडकियो मुझे तुमसे प्रयोजन नही, हे घर गृहस्थी मुझे तुमसे प्रयोजन नही, तुम मुझसे दूर हटो। तुम्हारे यहा रहे मेरे उस ध्येयमे बार २ बाधा आती है। तुम पर दृष्टि जाती है तो मैं स्वदृष्टिसे च्युत होता हू।

मात्र बाह्य चारित्रके आधार पर तो अपने मिथ्यात्वका पोषण ही होता है, क्योंकि चारित्र वास्तवमे प्रवृत्ति रूप नही, निवृत्तिरूप है। प्रवृत्तिका लक्ष्य रखे जो चारित्र किया जाता है, वह मिथ्यात्व रूप है।

### ज्ञान तो सदा विकारसे परे है

ज्ञान स्वभावसे व लक्षणसे दोनो ही बातोंमे विकारसे रहित है। ज्ञान स्वच्छतामात्र है और स्वच्छता विकारसे रहित होती है। विकार चारित्र व श्रद्धाकी पर्याय है। खोट या अच्छाई श्रद्धा व चारित्रकी पर्याय है, ज्ञानकी नही। ज्ञान तो ऐसा स्वच्छ है कि इसका सहारा श्रद्धा व चारित्रकी पर्याये ले रही हैं। इसके ऊपर श्रद्धा व चारित्रका भी रग आ जाता है, जैसे तिरगे झण्डेके बीचमे सफेदी रहती है। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान स्वच्छ है, इस पर सभी रग चढ जाते है। झण्डेके अन्दर पीला रंग श्रद्धाका, हरा रग चारित्रका और सफेद रग सम्यग्ज्ञानका द्योतक है।

समस्त विकारोके हटे जब ज्ञानकी ज्ञानमे स्थिति रह जाती है, तब सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है या उस स्थितिका नाम ही सम्यग्ज्ञान है। ऐसी स्थिति होने पर ही ससारका भ्रमण छूटता है।

### जीवका शत्रु विकार है

अपने आपके ज्ञाता दृष्टापनसे च्युत होकर कुछ भी कल्पना होना विकार है।

वह विकार बडी ही आपत्ति है। मोही मानव विषय सामग्री पाकर अपने को धन्य मानता है। विषयोके भोगनेसे हानि नही, परन्तु उनसे अपनेको धन्य मानना ही बुरा है और वही आपदा का कारण है।

ज्ञानका स्वभाव विकारके परिहारका है। जैसे जल स्वभावसे ही निर्मल होता है। यदि जलमे कीचड आ जाय तो वह जलकी नही और न उसमे जल गदा भी कहा जा सकता है। नालियोमे बहने वाला मटमैला पानी भी वास्तवमे गन्दा नही। उसी प्रकार प्राणी चाहे निगोद नरकमे रहे, किसी भी दशामे ज्ञान गन्दा नही होता। इसलिये जो श्रद्धा ज्ञानकी गन्दगीको अपनाता है, वह अज्ञानी है।

भूल सबसे होती है, परन्तु जो भूलको भूल मान लेता है वह भूला नही कहा जा सकता। उसी प्रकारसे भले ही राग होता रहे, किन्तु ज्ञानी उसे अपनावे नही, यदि अपनाता है तो गदगी ही बढती है। हमे आपको समय समयपर कषायें आती हैं, उन्हे जो पकड कर रखता है वह गन्दा है, किन्तु जो गाठ नही बाधता वह विवेकी कहा जाता है।

## ज्ञानमे विकार औपचारिक ही है

जलका स्वभाव गदगीसे परे रहनेका है। ज्ञानकी सबसे बडी विजय इसी मे है कि वह कभी गदा नही होता। गदगीसे हटाते ही ज्ञानमे निर्मलता आ जाती है। जैसे पानी समस्त वस्तुओकी गदगीको हटा देता है, उसी प्रकार ज्ञानका स्वभाव भी गदगीको हटानेका है। यदि पानीमे स्वय निर्मलता न हो, पानी स्वय गदा हो तो वह परकी गदगीको कैसे हटा सकता है? इसी तरह यदि ज्ञानमे गदगी हो तो वह भी गदगीको हटानेमे समर्थ नही हो सकता। ज्ञानमे जब गदगी की झलक आरही हो तब प्राणी यदि उससे उपयोग हटा सके तो समझो वह मोक्षमार्गी हो जाता है।

ज्ञानका स्वभाव या काम जानना मात्र है, सकल्प विकल्प या वढा चढी ज्ञानका काम नही। जैसे बहुत छोटा शिशु सब कुछ देखता है, परन्तु उस दर्शन के कारण वह इष्ट वस्तुओमे यह छोटी है, यह बडा है, यह आगेकी है, यह पीछे की है, इसको यह कहते हैं, इसको यह कहते है—ऐसी तर्कणायें या विकल्प

उसके नही चलते । ऐसे ही ज्ञानका काम प्रतिभासमात्र है, उसमें भी विकल्प नहीं चलते ।

*अपनेमे यदि ज्ञानको समझना है तो केवलीके ज्ञानमे समझो कि जैसे* केवलीके ज्ञानमे तीन लोकके पदार्थ झलकते फिर भी यह विकल्प नहीं होता कि अमुक छोटा है, अमुक बडा है, अमुक आगेका है, अमुक पीछे का है, इसके बावजूद भी कि उनके ज्ञानमे सारी बातें एक साथ झलकती है। वैसे ज्ञानके काममें विकल्प नही, विकल्प तो राग कराता है ।

पर्याय पर दृष्टि जाना सबसे बडा ऐब है। मैं मनुष्य हूँ, पंडित हूँ त्यागी हूँ इत्यादि पर्यायबुद्धिके ऐब लग जानसे यह जीव ज्ञानके स्वच्छ कामोके योग्य नही रहता । वह बडप्पन भी पापके निमित्तमे मिला समझना चाहिये, जिसके होने पर पर्यायबुद्धि हो जाय । जब पर्यायबुद्धि रहती, तभी यह जीव विकल्प के योग्य बनता है ।

### ज्ञानकी सलाहमे चलो

अन्तर्दृष्टि किये अपने शुद्ध अस्तिकायमे अपने आपका अनुभवन मात्र रह जाय, उस उपयोगमे शरीर बन्धु आदि कुछ नही रहे, प्रतिभास मात्रकी दशा रहे, इतना ही ज्ञानका काम है। परन्तु मोही ज्ञानके उस स्वभावसे च्युत होकर जड पदार्थोंमे भटक जाता है, फिर उसके सम्यक् चारित्र कैसे हो सकता है ? एक चाण्डाल भी यदि सम्यग्दृष्टि है तो देवके समान है और सप्तमनरक का नारकी भी यदि अपनेमें सम्यक्त्वका अनुभव करता है तो वह भी देवके समान है, किन्तु यदि कोई चक्रवर्ती भी हो और स्व स्वरूपके भानसे रहित हो तो वह अतिदीन माना गया है ।

दीन वह होता है जो अपने आपमे सन्तुष्ट नही होता और वैभवशाली वह है, जिसे अपने आपमे सन्तोष होता है, जिनका सम्बन्ध तृष्णा पैदा कर देने व दुखी कर देनेके कारण है तथा जो चित्तमे सदा बना रहे, वह सहायक कैसे हो सकता है ? परन्तु केवल कहने सुनने से लाभ ही क्या ? श्रद्धामे बात बैठ जाय तो सब कुछ है। श्रद्धामे बैठने की पहिचान यह है कि कषायोमें मूलसे शिथिलता आने लगे ।

### जिससे कोई सम्बन्ध नहीं उसकी आशा न करो

मेरेसे अत्यन्ताभाववान् परपदार्थ मेरे सहायक नही हो सकते। अपने आप अपनी आख खोलो और विचारा कि यदि दुनियांमे बडा न कहलाया तो मेरी दुनियामे कोई पूछ नही रहेगी और न मेरी स्थिति भी रहेगी तथा इस विचारके बाद उसके अनुकूल साधनो के जुटानेमे उलझ गया तो रहा विपदा ही, तो होगी किन्तु कडा दिल करके दुनियांमे कोई भी अपने विषयमे सुन्दर और असुन्दर कल्पना न करे, सब भूल जाय अपनेमे लीन रहे और यह विचारे कि मुझे शान्त रखनेमे परपदार्थ एक भी कारण नही बन सकता, मेरी शान्ति ही मुझे शान्त रख सकेगी। इस विचारके पश्चात् निजमें शान्तिका उदय होगा।

यह सम्यग्ज्ञान विकारके परिहारपूर्वक रहता है। ऐसे ज्ञानकी परिस्थिति मे बने रहना उसे सम्यक्चारित्र कहते है। बाह्य सम्यक्चारित्र व क्रियायें किसकी परिणतिया है ? किसी जीवको हिंसा से बचा लिया, उस समय हुई प्रवृत्तिया चलना वह जड शरीरकी क्रिया है, वह वस्तुत. चारित्र नही। चारित्र तो आत्माकी ऐसी स्थितिका नाम है जहा केवल ज्ञाता दृष्टापन ही रह जाता है।

सच समझनेका डर नही, गुजरना पडेगा उसी राहसे, जिससे अनन्त सिद्ध गुजरे थे। जैसे कोई पथिक बम्बईसे कलकत्ते जा रहा है, बीचकी स्टेशनमें मुहब्बत करने लगे तो इष्ट स्थान पर नही पहुच सकेगा। वह कही भी अटक जाय तो भी इष्ट स्थान पर नही पहुच सकता। ज्ञानी जानता है कि चारित्र आत्माकी ज्ञानदर्शन परिणतिका तद्रूप बना रहना ही है। इसके सिवाय अन्यत्र वह सम्यक्चारित्रके हेतु नही अटकता।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रका सक्षिप्त निर्देशन करके अब यह समझनेके लिये आता हू कि इन तीनोकी एकतामे क्या स्वरूप बनता है—

**त्रयाणामेकत्वं ज्ञातृत्वमात्रम् ॥६॥**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता ज्ञातापनेसे रहनेरूप ही है। श्रद्धा ज्ञान और चारित्र तीनो एक ही चेतन की शक्तिया है, तीनो एक ही

साथ रहते है, पृथक् पृथक् नही रह सकते। आत्मामे इन तीनो शक्तियोका एकत्व कैसे होता है ? इसका वर्णन आचार्योने अनेक ग्रन्थोंमे विविध प्रकारसे बताया है जो कि "मैं एक अद्वैत चैतन्य हूँ" इसका बोध करानेमे अनन्य कारण होता है।

इस चैतन्यके अद्वैततत्वके जाने बिना बडे बडे महर्षियोके चित्त कहा कहा जाकर गिर गये। उन्होने विभिन्न सिद्धान्तोका निर्माण तो किया, किन्तु उन कपिल, कुमारिल आदि सतोके बेईमानी मिथ्या प्रचार या दुनियाको ठगनेका भावनही था। वे वस्तुस्वरूपके बताने मे अपनी बुद्धिमे ईमानदार थे। वे सभी तत्वके निकट पहुँचना चाहते थे, और समझते थे कि इनका सहारा हमे दुःखसे बचायेगा, परन्तु वह तत्त्व अनिर्वचनीय है। वह (हरवस्तुओको) नाना दृष्टियोसे देखे ही जाना जा सकता है, परन्तु उन लोगोने अनेक दृष्टियो मे से एकको प्रधान बनाया और उसीका लक्ष्य कर सिद्धान्तोकी रचनाकी। इसीसे अनेक मतमतान्तर बन गये। यहा आचारोकी बात जोडकर न देखना, क्योकि बलि जैसी क्रिया तो खोटे भावसे ही कही जावेगी।

जैनधर्म अभी इतर किन्ही विद्वानो की दृष्टिसे नही गुजरा। रूढियोसे अलग रहनेके कारण आज भी देश और विदेशमे अभी निष्पक्ष विद्वान् विद्यमान हैं। उनकी दृष्टिमे अभी तक जैन सिद्धान्त नही आया अन्यथा दुनियाके कोने २ मे आज वस्तुसिद्धान्तका प्रचार होता।

### वस्तुका मर्म जानो व प्रगट करो

जिन्हे तृष्णासे अलग होनेको फुरसत नही व्यवहारमे अधिकसे अधिक उलझे हैं, वे अपने घरमे ही कभी २ जैन–सिद्धान्तकी चर्चा कर लिया करते हैं और इसमें ही भारी सन्तोषका अनुभव करते हैं।

जैनियोकी सख्या मात्र बढनेसे क्या लाभ है ? वस्तुका स्वरूप दृष्टिमे आ जाय यही हित है। जैसा उनका स्वरूप है वैसा पहिचानमे आ जाय इसीमे कल्याण है। बडे २ नाम या उपाधियोके रखानेमें हित नही। जिन्होने पुण्यसे ऐसी प्रतिभा पाई है उनके उसका सदुपयोग तब आका जा सकता है जबकि उन्हे वस्तुका स्वरूप जैसा हो तैसा विदित हो जाय।

समयसारकी तीसरी गाथाका अनुवाद एक अग्रेजीवेत्ता द्वारा अग्रेजी मे लिखित देखा तो विदित हुआ कि इतने पढे लिखे व्यक्ति भी उसके मर्मको नही पकड सके, परन्तु जब उस अर्थकी ओर हमारा लक्ष्य गया तो वह ३-४ लाइनमे ही परिपूर्ण आ गया।

जैनाचार्योंके सस्कृत ग्रन्थोके जो जो अनुवाद हुये हैं, उनके अनुवादको मे से कोई कोई अनेक जगह रहस्य समझनेमे पथभ्रष्ट हुये है, ऐसे ग्रन्थोंके वन जाने व पुस्तकालयोमे पहूँच जाने पर भी पाठकाका उनपर आकर्षण नही हुआ। इसका कारण यही है कि उनमे पूर्ण मर्म खोले जानेकी यथार्थता नही आपाई और वे अनुवादक आचार्योंके यथार्थ अभिप्राय तक नही पहुच सके।

## तत्त्व व्यक्तियोमे होकर भी उनसे परे है

समयसारमे भी यदि आत्माका वर्णन पाते हैं तो अरिहत सिद्ध पर दृष्टि पहुच जाती है। पर समयसारमे आदिसे अन्त तक एक भी गाथामे अरिहतक सिद्धका उल्लेख नही आया। मगलाचरणमें सिद्ध लिखा वह भी कर्मक्षयसिद्ध व सहजसिद्ध है। जिन गाथाओ मे सामान्य आत्माका वर्णन है वहा भी झट अरहत सिद्धपर दृष्टि दौड जाती है, यह ठीक नही। उन ग्रन्थोमे जो तत्त्व भरा है उसे हम तो समझ जाये। उस सहज सिद्धको हम अपना प्रभु जान जायें और उसीको पानेके लिये हम रिसा जायें इतनी दृढता हम मे आ जाय तो अपनी कुछ भलाई कर सकेंगे।

जगतमे ज्ञानकी वडी महिमा है। इस जीवका ज्ञान ही सर्वस्व है। उसमे ऐसा आदर व लगन होना चाहिये कि किसी पर परदृष्टि ही न जावे, परन्तु प्रथम हो जिसकी दृष्टि हो तो पागलोके समान जगह-२ पूछने या उसके भाव समझनेके लिये अपनी ज्ञानका विकल्प न रख, जिज्ञासाका व्यवहार बन जाना, वास्तविक महाय ज्ञान स्वभाव ही है, विकारके परिहारपूर्वक ज्ञान स्वभावका बना रहना ही सम्यक्चारित्र है।

## मोक्ष तत्त्वका स्वरूप

स्वरूपमे समवस्थान या श्रद्धा ज्ञान चारित्र की एकता हो मोक्ष है। निरन्तर भेदरहित तीनोंकी एकता या जो चमक है, वही सम्यग्दर्शन, ज्ञान-

चारित्र है और इन तीनोकी एकता ही का नाम ज्ञान–मात्र, चित् चमत्कार व चैतन्य है।

आत्मा भावस्वरूप या जाननस्वरूप है, वह जानना ही जाननमे आ जाय, हर तत्त्व चाहे मूर्तिक हो या अमूर्तिक जाना जा सकता है। जब जानन अमुक २ पदार्थोंका कर्ता है, ऐसा विकल्प होता है तब वह एकतामे नही रहता, परन्तु जब यह जानन, जाननमे ही रहता है तभी उसमे एकता कहलाती है और वह ज्ञातृत्व मात्र है।

लोग बनसे फिरते है कि मैं था, हूँ और होऊगा। पर जब बनते हैं तब दुखी होते हैं। जो बनता है वह पिटता है, जो नही बनता वह सुखी रहता है। उपयोग लगाकर बनता बुरी चीज है। हे भगवन्! कुछ भी हो जाय पर मुझे अपनेको बनाना न पडे। बनावट करना मायाचार है, वह स्त्री वेदका रूप है। जिसमे बनावटका भाव है वह स्त्री वेदी है। शरीर चाहे मूछ डाढीका हो या बिना मूछ डाढीका, शरीरकी अपेक्षासे आत्मा स्त्री, पुरुष नपुसक नही है। जिस आत्मामे पुरुषके योग्य पुरुषार्थ होता, वह आत्मा पुरुष वेदी है। जिसमे मायाचार या चुगली करनेकी बात है वह आत्मा स्त्री वेदी है और जो आत्मा कायर बननेके योग्य होता है वह नपुसक वेदी है। केवल शरीरके चिन्हो से वेदकी कल्पना वृथा है।

### अपनेमे बनावट मत लावो

एक गुरु और चेले भ्रमणको निकले। राजबागमे पहुचे। दो कमरे-बढिया सजे थे। राजा उनमें ठहरा करता था। एकमे गुरु दूसरेमे चेला ठहर गये। गुरुने शिष्यसे कहा कि जब तक यहा रहो तब तक बनना नही। शिष्यने स्वीकार किया। राजा सिपाहियो सहित आया। सिपाहियो ने शिष्यसे पूछा, कौन हो ? शिष्य– साधु हूँ। सिपाहियोने राजा से कहा। राजा ने कहा–मारो कान पकड कर निकालो। साधु अपनेको अपने मुहसे साधु नही कह सकता। सिपाही गये और दो चाटे मार के बाहर निकाल दिया। फिर सिपाही गुरुके कमरेमे गये, पूछा कौन हो ? वह ध्यानमे मस्त रहा। सिपाहियोने आकर राजाको हाल सुनाया। राजा कमरेमे गया, देख कर बोला दूर–रहो महात्मासे

मत बोलो, ये ध्यानारूढ हैं। राजा थोडे समय रहकर चला आया। तब साधु ध्यान से उठे शिष्य पहुचा और पिटनेका हाल कहा तो गुरुने पूछा, तुमने क्या कहा था तो शिष्यने कहा—अपनेको साधु बताया था। गुरुने कहा कि मैंने पहिले कहा था कि बनना नहीं, बने सो पिटे।

## बनावटमे सर्वदा क्लेश है

मोही जन मुन्नीके दादा चुन्नोके मामा बन गये तो पिटे, उनकी सेवा खुशामदमे जीवन बरबाद किया। अपनेको मनुष्य मान लिया तो मनुष्य जैसा कार्य करना पडा। जैसा मान लिया तैसा लौकिक कार्य करना पडा। यह मोही आपकी अलौकिक शक्ति को भूल गया।

जैसे अबोध बालक अपनेको छोटा या बढा महसूस नहीं करता, उसी प्रकार महात्मा भी अपनेको महात्मा नही मानता। जैन त्यागी अपनेको कुछ अनुभव नही करते तो मैं भी अपने को कुछ अन्य अनुभव न करूं तो ऐसा पढनेपर समझलो कि ससाररूपी रस्सी टूट गई।

अपमानका अनुभव भी बननेके कारण ही होता है। बननेसे दुखी होना पडता है, तो कुछ मत बनो अर्थात् अपने को साधु बनो लीडर इत्यादि मत मानो। अपने आपको बडा माननेसे कोई महान् नही बनता, परन्तु महान् बनने की आकाक्षा छोड देनेसे और स्वोचित कार्यसे मानव स्वमेव महान् बन जाता है।

आत्माके स्वभावको देखे ये सब समस्यायें सहज हल हो जाती हैं। साधारण जन हर प्राणीमें रामको देखते हैं। क्या ? हम इन जीवोमे उस चैतन्य प्रभुको नही निरख सके, यह कितनी गलती है ? प्राणियोमे प्रभुता का निरखना तो दूर रहा पर उनको शत्रु व मित्रकी दृष्टिसे देखने लगे। असली दृष्टि गये, मित्र शत्रु आदिकी कल्पना आये अपनी उन्नति समझना भूल है।

मोक्षमार्ग रत्नत्रय स्वरूप है, वह शरीर विकल्पो या बातोमे नही, वह तो आत्मस्वभावके मानसे ही प्रगट होता है, जो कि अन्तर (भेद) रहित केवल स्वानुभूतिगम्य है वही मोक्षमार्ग या मोक्षतत्त्व है।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि जब एकसे ही हित हैं तो दो या अनेकको

जाननेकी जरूरत क्यो हुई ? एकसे हटकर दोपर जानेकी जरूरत क्यो पडी ? दो की दृष्टिमें प्राणी दु.खी हो रहा सो जिसमे दु ख हुआ उसे जीव बिना छोडे कैसे जाय ? इससे दो के जानने पर उतरना पडा । इस प्रकार निश्चयनयकी मुख्यतासे मोक्ष व मोक्षमार्गका सकेत करके अब व्यवहारनयकी दृष्टिसे मोक्षका स्वरूप कहते हैं.—

## उपधिमोचनं वा मोक्षः ॥७॥

अथवा याने व्यवहारनयसे बाह्य उपाधियोका आत्मासे छूट जाना या बाह्य उपाधियोसे आत्माका छूट जाना मोक्ष है । जिन बाह्य उपाधियोसे छूट जाना मोक्ष है वे उपाधिया कौन कौन है ? शरीर व कर्म बाह्य उपाधि है । कर्म मेरा है, यह उपचारनय है । शरीर मेरा है, ऐसा कहना भी उपचारनय है । उपचारका अर्थ कडम होता है अर्थात् ऐसा कहना कडमनय है, परन्तु घर मेरा है, ऐसा कहना पागलपन है । यह किसी नय का विषय नही, परन्तु का इतना भ्रम है कि उन्होने घरको नयमे गर्भित करना तो दूर रहा, परन्तु वे उसे प्रमाणमे गर्भित कर बैठे है ।

उपधि दो प्रकारकी है—१ शरीर, २ कर्म, परतु ये बहिरग उपधिके ही भेद हैं । अतरग उपधिके राग मोह भेद हैं । तात्पर्य यह है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे राहित्य या पार्थक्यका नाम ही मोक्ष है ।

उपाधिका छूट जाना ही मोक्ष है । उपाधि पदवीको कहते हैं । उप=समीपे आधि:=मानसिक पीडा, जो मानसिक पीडाके पास ले जाय उसे उपाधि कहते हैं । ये लौकिक उपाधिया जिनसे कि मानव अपनेको अहोभाग्य समझता है, वे वास्तवमे त्रिविध चिन्ताओ व आकुलताओ को उत्पन्न करनके कारण मानसिक वेदना का ही कारण बनती हैं । जो अपने को जितना बडा मानता है, वह उतने ही मानसिक दु.खके निकट पहुचता है । दु ख मिटाना किसीके हाथकी बात नही । मोहमे दु खी मानव यह चाहता है कि किसीपर-अधिकार रखकर अपना दुःख मिटालू । मोहम दु खी प्राणी यह चाहता है, लोग मेरी इच्छाके अनुकूल प्रवृत्ति करें ।

### मोह व कषायमें काम उल्ट ही होते

मानव मोहमे जो जो कल्पनाये करता है, वे उमके स्वरूपके विरुद्ध होती हैं। अज्ञान भला है पर मोह भला नही, ज्ञानकी कमी वाला मोहसे अछूता है। वह ज्ञानके बलमे शाति पा लेगा, परन्तु मोही ज्ञानके बलसे भी शाति नही पा सकता। मोहीका ज्ञान सिंहके उपवास की पारणाके समान होता है और वह शान्तिमे बाधक है।

कही किसीको कोई उपाधि मिलना हो तो मोही जन फूले नही समाते कि आज उपाधि वितरण होगी और हमे उपाधि मिलेगी। उपाधि वितरणकर्ता उपाधि (दु ख) का वितरण करता है, मोही उसका चाहे जो अर्थ लगावे, परन्तु उपाधि देनेका वास्तविक अर्थ तो यही है कि यह उपाधि लो और आधि (मानसिक व्यथा) के उप (समीप) बने रहो अर्थात् तुम जीवन भर दु खी रहो। उपाधिदाता का यह कार्य हुआ कि आज हम तुम्हे ऐसी चीज देंगे, जिससे तुम जीवन भर दु.खी बने रहोगे।

अन्तरमे देखो तो प्राणीको वैभाविक भावोकी उपाधि लगी है। आत्मा स्वभावसे सच्चिदानन्द है, परतु इसमे जो रागादिक भावोकी उपाधि लगी है उससे आत्माको सक्लिष्ट होना पडता है। इस उपाधिसे छूटना किस कारण होगा सो इस विषयमे कहते हैं—

## स बन्धच्छेदात् ॥८॥

उपाधियोसे बिल्कुल छुटकारा पाना कर्मबन्धके क्षयसे होता है याने बद्धकर्मक्षयके व नवीन कर्मोके बन्धके विनाशके निमित्तसे मोक्ष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह उपाधि बधके छेदसे ही मिट सकती और बधका छेद रागादिक कर्मोके निर्जरा, उदय व उदीरणा के बिना नही होता। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। मानसिक विकार भी बधच्छेद से दूर होता है। वस्तुतः अपने ही उपादानसे अपना निर्मल भाव होता है। इस बन्धच्छेदका भी उपाय क्या है ?

## स बन्धभावारागात् ॥९॥

वधका छेद बधके भावोमे रागके अभावसे होता है। मोही मानव रागकर पहिले तो स्त्री पुत्र धन इत्यादिकको अच्छा मानता है, पीछे उनसे सक्लेश या दु खी होता है कि मेरी स्त्री पुत्र अच्छा नही, वह मेरी इच्छाके अनुकूल नही चलते इत्यादि।

सामाजिक कार्योंमे भी देखो, पहिले अनुरागवश लीडर बन जाता है। अन्त मे जब यूथ (समुदाय) के लोग उसके अनुकूल प्रवृत्ति नही करते तब बडा दु खी होता है कि मैं व्यर्थ रागमे डूब गया, मुझे लोग गाली देते हैं। यदि विरक्ति हुई तो सोचो वे मेरा भला करते हैं कि मुझे इस लीडरीसे अलग होने को प्रोत्साहित करते हैं।

यदि राग भी हो रहा हो, परन्तु उससे अपनेको पृथक् रखो तो वह राग कर्मबन्धका कारण नही होता, सम्यग्दृष्टि बन्धके भावसे राग नही करता। इसी लिये वह शाति पाता है। जैसे दूसरेके राग या मोहकी चेष्टा देख हम मोही व रागी न होकर ज्ञाता दृष्टा रहते हैं। उसी प्रकार यदि हम अपने ही राग व मोहकी चेष्टामे मोही व रागी न होवें और केवल ज्ञाता दृष्टा बने रहे तो हमारा भी दु ख मिट जाय, जिन्होने रागमे दु ख किया, वे दु खी हुये व होगे।

## दु ख कल्पनाओसे तैयार होते हैं

कोई दो ही प्राणी थे। बडे आनदसे रहे, किसीकी चिन्ता न थी। यदि उनको गोद लेनेकी इच्छा हो जाय तो महान् दु खी हो जाय, यदि कहो कि सन्तान न होनेसे दु.ख है सो भी ठीक नहीं। देवोके तो आजीवन सतान नहीं होती, फिर वे क्यों दु खी नही होते ? वे एक मिनिट भी अपने को दु.खी अनुभव नहीं करते। भोगभूमियोका तो विचित्र ही किस्सा है कि सन्तान होनेसे सुख मानना तो दूर रहा, परन्तु वे उनका मुह भी नही देखते और मर जाते हैं। जिस सन्तानके होनेसे स्वय मरना पडे, वह सन्तान किस कामकी ? सच मानो तो बडा सुखी है जो मनसा वाचा कर्मणा अकेला रह जाय। यदि ऐसा न हो तो दिगम्बर जैन महामुनि सबसे अधिक दु खी माने जाना चाहिये। सन्तान या वैभव के न होनेसे खिन्न होना वृथा है। प्राणीने वैभव तो भव भवमें बडे बडे पाये, परन्तु वे रहे नही और जितने काल रहे भी उनसे लाभ क्या हुआ ? वे

ससार परिभ्रमणके ही कारण बने, ससारसे छुटा तो नही सके, इसके सन्तान व वैभव की कमी या अभावसे खिन्न होना व्यथा है।

**इष्टता भी कल्पनाओंसे तैयार होती**

प्राणीका सबसे ज्यादा राग, धनमे, शरीरमे व इज्जतमे होता है। शरीर राग—यह खुदके शरीर मे या दूसरेके शरीरमे होता है। चेहरे मे कुछ रोनक हुई, कुछ अकृत्रिम और कुछ बनावटी चमक या सफेदी आई या दिखी तो अपनेको सुन्दर मानने लगे या पर पर अनुरागी या मोहित होने लगे परन्तु इस चमक या सफेदीमें तत्त्व क्या है ? यदि चाम चादर न मढी हो तो फिर नाटक देख लो। मुख पर सबका अनुराग होता है, परन्तु सारी गदगी या उपद्रव मुखमे ही भरे हैं। इसमे कनेऊ कीचर, नाक और थूकके सिवाय है क्या ? सारे दुर्गुण मुखमें ही भरे हैं। इसमे लोभ व राग करना मूढना है। शरीरके अन्य अवयव भी इसी प्रकार खून और मूत्र इत्यादिकी गदगीसे युक्त है। फिर भी मोही उनमें अनुराग करता है, यह उसकाव डा अविवेक है।

धनकाराग—लाखो भव हो चुके, उनमे कितना २ औरव या २ न पाया होगा, उनसे वर्तमान पर्यायमे क्या लाभ है; और जब मिले थे तब भी क्या लाभ हुआ था। उन्होने केवल तृष्णा या आकुलता ही बढाई थी। धनी आरामसे खा भी नही सकता, कोई धर्म कार्य भी नही कर सकता, उलझनो के मारे उसे धर्मको फुरसत कहा ? गरीब आरामसे घर बैठता है, उसे किसी राज्यकर्मचारी वगैरहको हाथ नही जोडने पडते, परन्तु धनी बार-बार, अनेक अनेक आफीसरोके घर जाकर हाथ जोडता फिरता है। कभी सेलटैक्स कभी इन्कमटैक्स आफीसरको, कभी किसीको तो कभी किसीको मनाता फिरता है। तृष्णाके कारण धनके सग्रह सरक्षण और सवर्द्धनमे ही जुटा रहता है, उसे न आत्मा सुहाता है न धर्म। धन का लाभ तो पुण्यका काम है। पुण्यके उदयसे वह आवे तो आवे और जावे, तो जावे उसमे राग करना वृथा है।

इज्जत—इज्जत किसकी है ? यहा शान बनाकर किसी पर कुछ भी करलो, परन्तु मरने पर निगोद नारकी या पशु बन सकते या नही सो सोच

लो। वहा पहुचे फिर इज्जत कहा रहेगी ? इज्जत तो वह ठीक है जो सदा शान्तिका मार्ग दिखाती रहे, फिर झूठी शानमे मानव भवको क्यो गमाना ? शरीरका राग, धनका राग और इज्जतका राग—ये तीनो ही हितकी बातें नहीं, इससे इनमे राग मत करो।

रागका कारण परिचय बन जाता

जिसका किसी एक मे परिचय होता है, उसे दुनियामें औरोंमे उपेक्षा हो जाती है और एक से अधिक परिचय हो जाता है, किसीके यहा यदि दो मेहमान आवें तो उनका दोनोंसे समान अनुराग नही होना, जिससे अधिक परिचय होता, उसमे अनुराग अधिक होता है और इतर मे कम विवाह होने के बाद लडकेकी माताकी पितासे उपेक्षा हो जाती है और शाहजू, साहुनजू उसे देवता सरीखे मालूम होते हैं। ये सोचने लगते है कि माता पिताने खोटा कार्य किया जिससे हम पैदा हो गये, उन्होने हमारा क्या उपकार किया ?

जगतकी सब चीजोसे हमारी उपेक्षा तभी हो सकती है, जब हमे स्वात्मा एकसे परिचय हो। उसके होने पर इन सबके भावोमे हमारा राग भी नहीं रहेगा। आगमोमे इसके बडे २ उदाहरण हैं कि जिस २ ने अनुराग किया, वह उन्हे सतानेका ही कारण बना।

सन्तानादिकपर अनुराग कर खूब धन कमाया। मरणका समय आया तो बडा कष्ट होता है। निरन्तर उसीकी चिन्ता रहती है कि 'मैंने घोर परिश्रम से यह धन कमाया है, न जाने सन्तान इसकी रक्षा करेगी या बरबाद कर देगी। ऐसे आर्त और रौद्रमे पडकर अपने अग्रिम भवको बिगाडता है, इससे तो यही अच्छा था कि धनको कमाया भी न होता, तब अगलेका भव तो न बिगडता।

कुछ युक्तियोकी अपेक्षासे देखो तो सबसे बडे अनर्थकी जड पुण्य है। वह ही प्राणीको धन प्राप्त कराता है, वही सब झगडाकी जड है। दुनियामे जितने पुण्य धर्म किये जाते हैं उन सबमे अनन्य दृष्टि सुख सामग्री पानेके लिये होती है कि आज भी हमारे पुण्य का ठाट है और आगे भी पुण्य मिल

जाय। वह आगे भी नाना वैभव प्राप्त करायेगा तब तृष्णायें बढेंगी और नाना दुःख मिलायगा, पुण्य के ये सत्फल हैं।

तीर्थंकर प्रकृति पुण्यका काम हैं, पर जिसके उस समय जिसके अधिक सक्लेश होता है, उसके ही तीर्थंकर प्रकृतिक अधिक स्थितिका बध होता है।

## धर्म आत्मदृष्टिसे प्रकट होता हैं

धर्म आत्मस्वरूपकी दृष्टि व उसके अवलम्बनसे होता है तथा पुण्य किन्ही पविात्माओमे राग व भक्ति से होता है, धर्म खुदके दर्शन ज्ञानचारित्रसे होता है।

पुण्य विकार है और धर्म अविकार है। जिन आचार्यों ने बडे २ अनेक ग्रन्थ बनाये, वे पुण्यसे हित नही मानते थे, न पुण्यमे उनका आदर था। फिर भी उनकी कृतियोसे उनके पुण्य बधे होगें जिनके सत्फलसे वे आज स्वर्गोमे हजारों देवागनाओके बीच आनन्द मनाते होगे, शिर हिला २ कर मौज मनाते होगे।

सम्यग्दृष्टि पुण्य नही चाहता, फिर भी उसे पुण्यमे बंधना पडता है। उन आचार्योंने पुण्यमे न तो यहा आदर किया और न वहा आदर करते होगे। देव, देवियोके बीच रहते भी उनके स्वानुभवमें कुछ भी कमी न होती होगी और यथायोग्य अनाकुलता रहती होगी। यदि मूल ही कमजोर है तो मदिर कैसे टिक सकता है? उसी प्रकार यदि पुण्यमें आदर किया तो आत्मबल समाप्त हुआ, इससे यदि पुण्य बधता है तो बधने दो, उसमे आदर न करो। यदि आदर किया तो गिरे।

जीवनवारमें स्वयं मागने वालोको कोई नहीं पूछता। परसा (परोसनेवाले) लापरवाह हो जाते हैं कि यह समाप्त हुई चीज को स्वय माग लेगा, किन्तु जो नहीं मांगता, मौनसे खाता है, परसा उससे सजग रहता है। उसी प्रकार पुण्यमें जो आदर करता है वह बुरी तरह विपदामें गिरता है और जो राग को ठुकराता है वह सदा सुखी रहता है।

आत्माके स्वभावका अवलम्बन धर्म है, धर्मके आश्रयसे क्रोधादिकमें राग नही होता। यदि कोई इष्टजन मरणासन्न हो तो जब तक जिन्दाकी आशा

रहती है तव तक आकुलतायें होती हैं, परन्तु जब निश्चय हो गया कि अब इस का जीना असभव है तब निश्चिन्त होगया और जब वियोग ही हो गया तो उससे राग ही मिट गया। उसके बीमार होनेपर इसके विना घरका क्या हाल होगा इत्यादि कल्पनायें होगी, परन्तु जब उसके मरने का निश्चय हुआ तब व्याकुलता कुछ घटी और वियोग हुआ तो राग बिल्कुल मिट गया। अब प्रकारान्तरका ही राग होगा कि अब क्या करना चाहिये इत्यादि।

### रागमे सुखी कब थे

सभीके सामने उनके कई इष्टोका वियोग हो जाता है, परन्तु जब उनका वियोग नही हुआ था, तब उनकी सुव्यवस्था विपदा बीमारी आदिकी चितासे दु खी थे। वे जब जन्मे तब दुःख हुआ, सम्हालमे दु ख हुआ, विवाहमे दु.ख, मरे तब दु ख। बाप बैठा रहता बेटा मर जाता, कही लिखा थोडा ही है कि ससुर पहिले मरे बेटा पीछे। रिस्तोके निमित्तसे जीवन भर दु.ख ही दु ख आया। वे जीते भी रहे तो क्या कर गये ? दु खसे मुक्ति तो बधके भावोमे राग छूटे ही हो सकती है।

माता पिता बच्चोमे चीज बाटते हैं तो वे रिसा जाते हैं कि हमे छोटी या कम क्यो दी ? दूसरोसे छुडाने लगते हैं तो पहिला कुचल डालता है, बिगाड देता है और फेंक देता है। यद्यपि उसने उपाय तो अच्छा नही किया, पर राग तो छोड दिया तब वह सुखी होगया कि राग तो नही रहा (यद्यपि वह वस्तु विपक्षीके काम तो नही आई) परन्तु यह भाव आजाय कि वस्तु हमारे काम नहीं आई तो नही आई, परन्तु परके काम तो आजाय तो कहना ही क्या है।

किसी भी आत्माके अन्दर राग मत रखो। राग रखोगे तो दु खी होओगे। रागके त्यागसे बधसे विमुक्ति होगी और बधकी विमुक्तिसे मुक्तिका लाभ होगा। कैकेयीने सोचा कि पतिदेव दीक्षित हो रहे हैं, रामको राज्य मिलेगा तो हम किसी दीन के न रहेगे। उसके राग होगया। अपने पुत्र भरतके हेतु राज्य मांगा। मेरे रहते भरतकी प्रतिष्ठा न बढेगी, यह विचार राम बन चले गये। कैकयी बहुत पछताई, मनाया श्रीरामको, न माने, बहुत दु.खी हुई। देखो हर प्रकारोंसे उसे रागसे दुखित होना पडा।

सब झगड़ोंकी जड़ विवाह है। इसीसे स्त्री, सन्तान, धनमे रागकी वृद्धि होती है। यदि कोई कहे कि विवाह न होता तो तुम कहासे आते ग्रन्थोके लेखक साधुसन्त और तीर्थंकर भी कहा से आते, ससार कैसे चलता, धर्मपरपरा कैसे चलती ? भैया ! अपनी एक चिन्ता करो—जगत्के ठेकेमे आप चले गये। जो मुक्त हुए वे अपनी ही निर्मलतासे। विवाह मात्र दुःखका कारण नहीं उसके बाद जो कामवासना होती है वह वास्तविक दुःख है। यदि विवाहित लडके और लडकिया अपनेको पवित्र ब्रह्मचर्यमे ढाल अपने आपको विशुद्ध बनानेके कार्योमे लग जायें, कामवासना से दूर रहे तो विवाहसे कोई हानि नही, पर थोडेसे समयकी कषायोको नही जीत सकते और जीवनभर की उलझनोमे आ जाते हैं। फिर आप कहोगे कि विवाहका उद्देश्य ही क्या रहा ? सो भैया ! जो जिसे करना हो करे, हम तो ससार दुःखसे सुलझनेकी बात कह रहे हैं।

एक दम्पति पलंगपर लेटे सोच रहे थे कि यदि १ सतान होजाय तो वह कहा लेटेगी ? पति कुछ खिसका और बोला यहा। स्त्रीने फिर प्रश्न किया कि दूसरी सतान हो जाय तो, वे कुछ और खिसके। फिर प्रश्न किया तो फिर खिसके और नीचे गिर पडे, टाग टूट गई, पडौसी जुडे, उन्होंने हाल पूछा, इन ने बताया और बोला कि जिस सतानके नाममात्रसे एक टांग टूटी, वह साक्षात् प्राप्त होकर न जाने क्या अनर्थ करेगी ? बाह्य पदार्थोके ख्यालसे ही जब विपत्ति होती है तब उनका साक्षात् सम्बन्ध बने यदि मानव जीता है तो बडा आश्चर्य है।

ये सुन्दर सुन्दर रेडियोके गाने, थेटरोंके विविध नाच, मुन्ना मुन्नीकी तोतली बातें, नवाङ्गनाओं की रागभरी बातें, सुन्दर सुन्दर चालें ढालें बड़ी ही विपदाके धाम धाम हैं। ये कुमति वेश्याके बाजार हैं। वर्तमान वातावरण और नाटक नटक आदि धर्मसे च्युत होनेके साधन नही बढाओ और इन्हे पास मत रखो।

धर्म पर्वोकी येहज्जती

पर्वके दिन निकट हैं। लोग तो इन्हे धर्मके दिन कहते हैं, परन्तु ये शरीर का कर्म करने आयेगें। इन दिनोंमे तरह तरहके पकवान, मटरोंके पोले सफेद

ततैयो मेढको और मछलियो के आकार जैसे सोनें चांदीके गहनोसे शरीरकी सजावट होगी। सुन्दरसे सुन्दर चटकीली और कीमती साडिया पहिन पहिन कर सडी और खती भी परमेश्वर बनने का प्रयास करेंगी, अच्छी अच्छी चीज पहिनकर औरोंको अपने प्रति रिझाने और अपने धनित्वका विविध प्रकाशन करनेका प्रयास करेंगे। पुरुष भी भले ही साल भर भगवान्को मुंह दिखाने न आये हो, पर इन दिनो हसकी भांति सफेद धुले हुये मलमलके भडकीले वस्त्र पहिनकर आवेंगे, मानो उन्होंने इसे ही धर्म समझा है। ठीक ही है कि रागियो का धर्म राग, त्यागियो का धर्म त्याग, भलोका भला और बुरोका बुरा ही धर्म होता है। सालमे १० दिनका समय मिला है तो उसे सादे भेषमे, कलहसे दूर रहनेमे और आत्मसाधनमे लगावें तब तो पर्वकी सफलता है। यदि केवल उक्त प्रकार शरीरके धर्म साधनमे लगाया तो वृथा ही है।

बडे बडे साधु हो गये, घोर तपश्चरण करते थे तो भी अपनेको पापी और बुरा मानते थे। रोज पढते थे—'पापिष्ठेन, दुरात्मना" मोही केवल पर्व राजमे १० दिनको मदिरमे आया तो प्रायश्चित्त होना या पापकी आलोचना तो दूर रही दिखावेमे पड जाता है। ज्ञानकी ओर उसका तन, मन, धन नही लगता। लगे कैसे ? जहा ध्यान है उस जड (धनादि) मे ही ना लगेगा।

### छूटना सब है किसी तरह छोडो

बादशाहने बीरबलसे पूछा कि मेरी हथेलीमे बाल क्यो नही ? उसने झट उत्तर दिया कि दान देते देते झड गये तो बादशाहने फिर पूछा कि तेरी हथेली मे बाल क्यो नही, तो उसने उत्तर दिया कि स्वामिन् इनाम लेते लेते झड गये। बादशाहने फिर पूछा कि दुनियांकी हथेलीमें बाल क्यो नही ? बीरबलने झट उत्तर दिया कि आपने दिया हमने लिया ये हाथ मलते रहे, इससे इनके रोम झड गये तो देने लेनेमें रोम झडे तो भला है। दो या लो। उत्तम दो और उत्तम लो, हाथ मलने वाले मत बनो। अकार्य कर धन कमाया तो हाथ मलते चले गये।

परन्तु ऐसे कार्य तब सूझते हैं, जब बध या पुण्य या वैभवमे आदर न

चाह नही रहती। स्वात्माश्रय की दुनियाँ अलौकिक है, इस प्रकार बंधभावमे राग न होनेसे बंधका विनाश होता है।

रागमे राग न करो पुण्यमे राग करो, धनमे राग करो, परंतु धनके राग का और पुण्यके रागका राग मत करो तो एक समय आयेगा कि पुत्र और धनके रागका भी राग दूर हो जायगा।

यदि स्वहितकी चाह है तो अपनी एकता या स्वभावको सम्हालो। भीतर के राग व मोह को छोडो, करना कुछ पडे, पर श्रद्धामे अपने एकत्वस्वरूपके पास रहो।

### अपने विकारका राग ही दु.खका कारण है

जीवको अपने विभावका राग दुखी करता है, दुःख आत्माके आनन्द गुण का पर्याय है, वह आत्मासे उत्पन्न होता है, बाह्यसे नही। विभावके कारण गलतीको सही मानना बडी विपत्ति है। इसीका नाम मिथ्यात्व है। अनेको उपदेशोके मिलनेपर भी प्राणोकी मोहकी ओरसे मोड नही होती, साथ ही गलत रास्तेको सही रास्ता मानते है, इसीका नाम मिथ्यात्व है।

मिथ्याभिप्राय जीवका वैरी है, इससे अपनी ओर उलटा अभिप्राय हो जाता है और सम्बधसे सबन्ध माननेकी दृष्टि हो जाती है, वह फिर मिटती नही। कितने दिनका जीवन है ? जो मनमे सोचा उसीमे बहे चले जाते है। यह नही जानते कि मन ही हमे दुनियामे चक्कर लगवा रहा है। जो भाव आया उसी पर डट गये, यही मिथ्याभिप्राय है।

ससारके पदार्थोमे हठका फल अच्छा नही होता, उससे किसीको अच्छा फल मिला व मिलेगा। सत्यके आग्रहका फल अच्छा होता है और असत्यके आग्रहका फल बुरा। आत्मस्वरूपका लक्ष्य या उसकी ओर झुकाव ही सत्य आग्रह है। जो आत्मस्वरूपकी ओर झुकता है उसे उसका महान् आनन्द आता है।

प्राणी अपने स्वरूपका बोध न कर परमे लगा रहता है। मिथ्यात्व चमत्याऊ गाढ है। मोहके दुखको मिटाने के लिये मोहको करना उचित नही; उससे तो और अधिक मोहकी वृद्धि होती है। मोहको और चित्तको

जरा ढीला किया कि पतन हुआ और कडा रखा तो उत्थान होता है। अब तुम्हे उत्थान या पतन जो पसद हो सो करो।

राग मिटनेका उपाय ज्ञान है

वध और आत्माके स्वभावका भेद जाननेसे ही वधका राग मिटता है। रागकी चेष्टामे प्राणी बहुत दु खी होता है। वह सोचता है कि अमुकने मुझ से इस प्रकार क्यो कह लिया, यह चीज मुझे इष्ट है कैसे प्राप्त हो, मैं अमुक साधन बिना दु खी हू, अमुक मुझे नही चाहता, अमुक मेरी बात नही मानता इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाओ मे आत्माको कमजोर बना लिया।

यदि ससार–विषयोमें सुख हो तो तीर्थंकर क्यो त्यागें यदि ससारमें सुख होता तो तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि उसके छोडनेका प्रयास क्यो करते ? जिन्हें बचपनमे ही ससार असार मालूम हुआ, वे कार्तिकेय ६ वर्षकी आयुमे साधु हो गये। श्री कुन्द कुन्द ने १४ वर्षकी अवस्थामे दैगम्बरी दीक्षा ली। जिन्ह‍ को जब ससारसे भय हुआ तभी वे आत्म साधनमें लगे।

गृहस्थीमें यदि इतना नही चल सकता तो कमसे कम प्रतिदिन ६ घटा तो तत्त्वज्ञान, तत्त्वचर्चा और भोजनशुद्धि आदि आत्मसाधनामे दो, किन्तु इतना भी न करे तो उनका रक्षक भगवान् ही है। अजैनोमे तो यहां तक देखा गया कि भले हो उनके घरमे खानेको दाना न हो तो भी वे प्रति-दिन कई घन्टे धर्मसाधना करते हैं। जिनके आगमोंमे बडे २ विद्वानोको दुर्लभ, तत्त्वकी बात लिखी है और वे बातें उन्हें कर्तव्यकी बातें बताती है, परन्तु उनके भक्तोको उन्हे अपनानेका समय नही। किसी शुभ होनहारसे आत्मा हितके मार्गको जाननेका हमे अनायास सुअवसर प्राप्त हुआ है, तो भले ही धनको गाढ कर रखें, उसमें से एक कण खर्च न होने दें, परन्तु तन मन तो उसमे लगा देवें तथा यह भी नहीं कर सके तो वही राग, वही द्वेष, वही मोह और वही कुमग बनेगा। क्या ये विभाव जो उन्नतिके कारण बन सकेंगे क्या ?

### भेदविज्ञान प्रकाश देता है

मैं ध्रुव हू, रागादिक अध्रुव है, मैं पवित्र हू, रागादिक अपवित्र हैं इस प्रकार उन राग द्वेषपरिणामोकी बात जब तक समझमे नही आवे उनसे निवृत्ति नहीं होती। मैं हमेशासे सुलझा था, हूँ और रहूगा, परन्तु ये रागादिक मुझे उलझाये ही रहेगे, ये सुखकर कभी नही हो सकते।

विना वेदनाके कोई भी किसीसे स्नेह नही बढाता। जब स्वयं दुःखी नही तो किससे स्नेह बढाना दुःखमेटनेको ही स्नेह बढाया जाता है। जो स्नेह बढाते हैं समझलो कि वे दु ख मिटानेको ही स्नेह बढ़ा रहे हैं। स्नेहका बढाना दु ख का मूल है, ऐसा परिज्ञान होना ही विभाव या स्वभावके भेदका करना है।

स्वका परिचय परम शुद्ध निश्चयनयकी साधना विना नही हो सकता। हमे दो को या दो के सम्बन्धको नही देखना है। शरीरको देखे वेदना बढती है, स्वको देखे वेदनाका लक्ष्य ही नही होता। स्वानुभवी रोगी भी हो तो उसके जब यह भाव होता है कि अभी भी मैं ठीक हूँ तो उसका रोग स्वयमेव घटने लग जाता है।दो की दृष्टि महान् अहितकारी है।

### शुद्ध चर्या में विपत्ति नहीं है

शुद्ध अस्तिकायका ध्यान किये कोई भी विपदा नही आती। खुदकी श्रद्धा चारित्र व अभिप्राय अच्छा हो फिर कोई कैसा ही चले अहित नही होता। यदि खुदके श्रद्धा चारित्र और अभिप्राय अच्छे नही तो दुनिया भी प्रशसा करे तब भी हित नहीं। मैं स्वकी श्रद्धा व चारित्र पर कैसे व्यवस्थित बना रहूँगा, यह भाव आये और ऐसा प्रयत्न किये, इस पर्यायमे सुखका और परम्परया मोक्षका लाभ होता है। यदि स्वकी श्रद्धा वा चारित्र खो दिया तो सर्वस्व खो दिया। आत्माका आत्माही शरण, पिता, मित्र व बन्धु है, यह चर्या श्रद्धा व भेदविज्ञानसे बनती है, परन्तु कही एकान्तमे बैठकर बार-बार स्वका अनुभव करना आवश्यक हैं।

मैं अमुकका बाप हूं यह भाव आये, उसके पालन पोषण और सुधारकी भावना होगी। यदि अपनी धारणा बनाओ कि मैं बीमारसा ही रहा हूँ तो बीमार हो जायगा। यदि मैं बडा मूर्ख हू ऐसी धारणा बनाओगे तो जो था

वह और गया । अपने आपको यह अनुभव किया जाय कि मैं अमुककी स्त्री हूं, झूठी हूं तो गिर गई । कोई पुरुष अपनेमे स्त्रीकी दासताका अनुभव करे कि यही सब कुछ है तो वह अपने भीतरके स्वभावको खतम करता है और बाह्यसे भी अपनेको खतम करता है ।

जिसे निज पर राग नहीं वह अन्यपर क्या राग करेगा

जो अपने आपके रागादिक परिणमनोंको भी अपना नहीं समझता, उन मे उसको इतनी उपेक्षा होती है, किये जाते हैं चले जाते हैं, आवेंगे और चले जावेंगे ।अतएव ऐसे अध्रुवोसे अपना महत्त्व नही रखना, इस भावनाके उनसे मुहब्बत नही रखता तब वह अपने से अत्यताभाववान् परपदार्थोंमे कैसे प्रेम रखेगा ?

वह विचारता है कि मैं ध्रुव हूं, अनादि हूं, अनतकाल तक रहूंगा । हे रागादि !तुम अध्रुव हो, तुम जाते हो और जाओगे, मैं तुम्हे क्यों पकड रखूं ? ऐसा भाव बनाये और स्वके उन्मुख हुए बन्धका अभाव होता है । इसीका नाम वैराग्य है ।

किसी वस्तुके छोडने या उससे घृणा करनेका नाम वैराग्य नही । यथार्थ ज्ञानकी दृष्टिमे बने रहनेका नाम ही वैराग्य है । ज्ञानका स्वभाव है वैराग्य । राग किया जाता है, वैराग्य नहीं किया जाता । निवृत्ति नही की जाती, प्रवृत्ति की जाती है । असयम किया जाता है, सयम स्वय होता है । वैराग्य के काल मे राग स्वय मिट जाता है । बाह्य वस्तु छोडी नही जाती, वह स्वय छूट जाती है ।

ज्ञानकी साधना किये ये सारी चीजें स्वय आ जाती हैं, ज्ञानकी साधना के बिना सब वृथा है । इससे ज्ञानका अभ्यास व्यवस्थित ढगसे करना चाहिये और जब ज्ञानाभ्यास हो जाय, तब बीच २ मे स्वानुभूतिके हेतु समय देना चाहिये । यही रागके दूर करनेका उपाय है ।

छुटकारे के ढग

मोक्ष दो प्रकारका हैं । छूटना एक चीजमें नही होता । जैसे बंधना दोके सहारे होता है, उसी प्रकार छूटना दोनोमें द्विष्ठ है । जीवसे कर्मका, कर्मसे जीवका छूटना, छूटना दोनोमे हुआ । इससे मोक्षतत्त्व द्विष्ठ हुआ ।

जहाँ छूटना आया, वहा समझो कि कुछ गडबडी थी। एक तत्त्वमे छूटने का व्यवहार नही होता। यदि मोक्ष होना सर्वतः शुद्ध तत्त्व हो तो एक तरफ से पूछते जाइये कि आप के बाप कैदसे छूट आये? फिर देखो क्या उत्तर मिलता है, डडे ही मिलेंगे। मोक्ष आत्माका धर्म नही, जो गले पड गये थे, उनसे छुटकारा हुआ यही मोक्ष है।

आपको दो स्थितियां दी जायें—एकतो यह कि आप धर्मादिककी तरह स्वभावसे ही थे व रहेगे, दूसरी स्थिति यह कि आप मोह व गडबडियोमे थे, ते अब छुटकारा पाओगे, तो आपही बताओ कि दो मे से आप कौनसी स्थिति पसंद करोगे? यही उत्तर मिलेगा कि हम पहिली स्थिति पसद करते हैं। परन्तु वह स्थिति होनेकी, रहनेकी नही, आपको दृष्टि तुरन्त ही दूसरी स्थिति की ओर दौडेगी।

### सदामुक्तके ध्यानसे मुक्ति मिलती

कर्मोंसे छुटकारा जो कर्मोंसे छूट चुके हैं उनके ध्यानसे नही होता, परन्तु जो अनादि कालसे अनन्तकाल तक बिना विकल्पसे स्वय छूटा हुआ है उसके अवलबनसे ही कर्मोंका छुटकारा होगा। जो कर्मों से छूट चुके हैं उनकी भक्ति कर्मोंसे तो नही छुटाती, किन्तु कर्मोंसे छुटानेके स्वभावके पास पहूँचा देती है। अत. उनकी भक्ति परम्परया मोक्षकी कारण है। मोक्षका साक्षात् कारण तो स्वाश्रय ही हैं। भक्तिसे मुक्ति तो दूर रही श्रेणीका आरोहण भी भक्तिसे नही होता, स्वाश्रयसे ही होता है। देश व सकल चारित्र भी भक्तिके परिणामोसे नही होता, शुक्ल ध्यान भी भक्तिके परिणामोमे नही होता, किन्तु यथार्थ ज्ञाता दृष्टा रहनेसे ही होता है।

कल्याणके लिये जिसका सहारा लेना है, वह हममें ही है। भले ही उसे हम जान या देख नही पावें। कल्याणके हेतु बाह्यका अवलम्बन सहायक नही होता, वह स्वके अवलम्बनसे ही होता है।

वस्तुको बुरे रूपसे देखे दर्शक दुखी और अच्छे रूपसे देखे दर्शक सुखी होता है और उभय रूपसे ही न देखे न सुख होता, न दुःख होता है। दृष्टि की ही महत्ता और नीव्रता है, विपदा या सुख सभी दृष्टिसे ही प्राप्त होते

है। मोहकी दृष्टि रखे दुख और स्वकी दृष्टि रखे सुख होता है, परन्तु मोही मोहकी दृष्टि रख सुखकी आशा किया करता है।

**अज्ञानमे सवत्र विपदा है**

एक बेवकूफ था। उसकी स्त्रीका नाम फजीहत था। यथा नाम तथा गुण भी उसमे थे। लड़ाई हुई फजीहत भाग गई। बेवकूफ फजीहतकी तलाशको निकले। एकसे दोसे, चारसे पूछा-हमारी फजीहत दिखी, हमारी फजीहत दिखी। किसीने पता नही दिया। पाचवेंसे पूछा कि तुमने हमारी स्त्री देखी। उसने पूछा तुम्हारी स्त्रीका नाम क्या है? इन्होने कहा कि फजीहत। मुसाफिरने फिर पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है, तो बताया कि बेवकूफ। तब उसने उत्तर दिया-बेवकूफकी फजीहतका क्या पूछना, उसके तो पग २ पर फजीहत है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि जहा, मोह है वहा दु ख है। सीताके जब तक रामका मोह रहा दुखी रही। मोह छूटा सुखी हो गई। विवाह होनेपर भी किसी वरबधूसे भावोमे निर्मलता बढ जाय, यह भाव आजाय, "भोगोमे मोहित हो शरीरको क्यो बिगाडा जाय" तो उनके समान पवित्र और नही परन्तु कदाचित् वे ऐसा चाहें भी तो दुश्मन, नाते रिस्ते वाले साथ लगे जो उन्हे उस निर्मलता पर टिकने नही देते। वे बाजे ही वीर होते है, जो यह समझते है कि एक झझट व आपत्ति (सभोग) को बिसानेमे लाभ क्या? जो घर सतान व धनादिमे हमारे मोहके भाव बनाते हैं, जो कि हमारे साथ नही रहते और दु.खके कारण बनते है।

जिसके आधार पर उजेला ही उजेला होता है उस सम्यक्त्व का शरण ही हितकर है और इसकी प्राप्ति ज्ञानाभ्यास द्वारा ही होती है।

वह मोक्षतत्त्व है जो कि ज्ञानियोका ध्येय होना चाहिये और उसकी प्राप्ति के लिये तथा ससारिक दु खोसे छुटकारा पानेके लिये सभी जीवोमे स्वाभाविक उत्सुकता रहनी चाहिये। अब मोक्षके भेद व नामोसे मोक्षका विवरण करते हैं:-

**मोक्षो द्वेधा ॥११॥ द्रव्यभावाभ्याम् ॥१२॥**

वह मोक्ष दो प्रकारका है—(१)द्रव्यमोक्ष, (२)भावमोक्ष सब प्रकारके दु.खो

से हमेशाके लिये छूट जाना मोक्ष है, उसकी प्राप्तिका उपाय आत्मदर्शन है, क्योकि आत्मदर्शनकी ओर उपयोग बनाये रहनेसे झझटोसे निवृत्ति होती है और हम वाह्य पदार्थोमे ममत्त्व रखे तथा खोटे मार्गपर चलें, फिर भी सुखी होना चाहे तो कोरा भ्रम है।

मानव खोटे दु:खके मार्गपर चले, सुख मानकर सन्तोष करे और अपनी करतूतोको बुरा न समझे तो वह दु ख इतना दु खकर नही जितना कि दु:खको सुख माननेमे दु ख है। गलती करना उतनी दु:खदायी नही, जितनी गलतीको सही मानना दु खदाई है। क्यो कि मानव यदि अपनी गलतीको गलती समझ जाय तो फिर उससे घृणा भी हो जाय और गलतीको छोडकर सही मार्गपर आजाय।

रागद्वेष बुरा नही है, किन्तु उसे आत्माका स्वभाव मानना बुरा है। बडे बडे ज्ञानियोने दु:खसे छूटनेका उपाय बताया—वीतरागता। जैनऋषियोने जो उपाय बताये हैं वीतरागता पानेके लिये, वह जैन साहित्यको छोड कर दुनियाके साहित्यमे देखो तो कोई भी उस दृष्टिकोण तक नही पहुच सका, परन्तु जो हमेशा धन कमानेमे लगे रहते हैं और तृष्णाकी चाह ही जिनकी आदत बन गई, ऐसे लोगोके पल्ले जैनधर्म पड गया है। इसीसे जैनधर्मकी महत्ता नही फैल सकी है। जैनधर्म आत्मधर्म है, उसकी ओर लक्ष्य देकर अपना कल्याणकारी मार्ग अपनाओ।

## सम्यक्त्व बिना सब विडम्बना है

सम्यक्त्व रहित स्वर्ग भी मिल जाय तो वह ठीक नही, सम्यक्त्व रहित वैभवशाली भी बन जाय तो भी अच्छा नही और सम्यक्त्व सहित नरक भी मिले तो अच्छा है, सम्यक्त्व सहित दीन, गरीब होना अच्छा है, क्योकि सम्यक्त्वके समान तीन लोक और तीन कालमे कोई भी सुखकर नही है। प्राणी ज्ञान रत होनेका प्रयत्न करे तो दीनता और गरीबी भी खतम हो सकती है। गरीब वे हैं, जिन्हें सतोष नही है, धर्मपर विश्वास नही, हमेशा जड़ (धनादि) को

ओर झुकते हैं, जिन्हे गरीबी मिटाना हो वे अपने स्वभावके मननकी ओर प्रवृत्ति करें, आत्मस्वरूप पर दृष्टि दें, यही गरीबी मिटानेका उपाय है।

गरीब मिथ्यादृष्टिका नाम है। अमीर सम्यग्दृष्टिका नाम है। जिसे शान्ति हो, वैभवमे ममत्व न हो, जिसके परिणाम सरल हो, जो धर्मात्माओपर प्रेम करता हो और ज्ञानको प्राप्त करनेमे तत्पर हो, जिसकी दृष्टि हमेशा आत्माकी ओर हो वह सम्यग्दृष्टि है।

जो परकी ओर दृष्टि रखता है, अमुक ऐसा है, मुझको ऐसा करना चाहिये, मेरे लडका नही है, होगया तो इसको अच्छा बनाना चाहिये, अनेक सामग्रिया सचित करना चाहिये इत्यादि विकल्प ही बनाते है वे मिथ्यादृष्टि हैं।

मोही सोचता है कि जो ६ वर्षकी अवस्थामे ब्रह्मचारी बन गये, वे मूर्ख थे। बहकायेमे आगये होगे इत्यादि कुटुम्बमे मिले कितनी शाति मिल सकती है ? परिवारमे घुले मिले रहनेसे, कुटुम्ब मित्र बन्धुओकी ओरसे मिला क्या ? दिन रात उनकी चिन्तामे लगे रहना और तरह तरहके सकल्प विकल्प करना उसमे कोई सुख नही। इसका निर्णय स्वय कर लो। ऐसा कोई शूरवीर नही जो मोहसे शांति का मार्ग खोज सके।

## शान्ति स्वयंमे ही तैयार बैठी है

शान्ति अपने आपमे विद्यमान है, उसको कही बाहर खोजनेकी जरूरत नही है। शान्तिका मार्ग निर्विकल्प समाधि है। अपने लक्ष्यके ख्यालसे ही सुख मिलेगा। दुनियामें दो का ही झगडा है और एक चीजके ख्यालसे ही शाति मिलती है। जिस मार्गको ऋषियो ने अपनाया, अपनेमे उतारा, ऐसी अवस्था एकमात्र निर्विकल्प समाधि है, जिसके द्वारा प्रत्येक प्राणी शान्तिका पात्र हो सकता है। यदि अपने आपका वह आधार न मिला तो अधकार ही अधकार रहेगा।

प्रत्येक जगह सम्बन्धके लगावमे रहनेसे आत्माको विविध दुःखोका पात्र बनना पडता है। भैया, चैतन्यज्ञानघन आनन्दमयी आत्माके सुखके लिये बाह्य पदार्थ काम नही दे सकते। बाह्य पदार्थो से तो आकुलता ही बढती है, यदि आपका लक्ष्य आत्मज्ञान भण्डारकी ओर है तो धन न रहे, इष्ट का वियोग क्या नाना

प्रकारकी पीडा देने वाले अपमान करने वाले पासमे रहे तो भी वे कुछ नही बिगाड सकते । "नाच न आवे आगन टेढा" खुदकी कलाका भान नही तो अमुकने ऐसा किया, अमुकने मेरा ये लेलिया इत्यादि कारणोको दुख मानता है, परन्तु वास्तवमे प्रत्येक प्राणी अपने ऐबके कारण दुखी है। जो भी दुखी है, वे सब अपने अपने ऐबसे दुखी हैं। उससे छूटना सब चाहते है, परन्तु छूटनेका उपाय नही समझते। उपाय स्वका अनुभव या स्वानुभूति है, स्वावलम्बन है। जैसे कही मच्छरोका समुदाय (छाता) लगा हो, वह परेशान करने लगे तो मनुष्य उस परेशानीसे बचनेके लिये पासके तालावमे डूब जाय, पर कब तक डूबा रहेगा, सास खिचने लगेगी तो झट बाहर निकल कर स्वास लेगा, फिर डूब जायगा। इसी प्रकार स्वानुभवसे हट कर विकल्प सताने लगे तो फिर दुखी हो गये, फिर डूब गये, किन्तु जब तक राग है कब तक डूबा रहेगा ? अस्तु। कुछ काल बाद सदाको मग्न रह लेगा, अपने आपकी ओर झुकाव हो तब तो कोई दुःख नही।

ससारके सभी जीव जुआ खेल रहे हैं। एक बार मैं बाजारमे बाल्टी खरीदने गया। ५) ७) रुपये के चिल्लर लिये था। सडकके पास एक लाटरीवाला बैठा था। वहा गया तो एक बोला नम्बर उठालो, एक आना डालो। मैंने ऐसा ही किया तो मामूली चीज आई। ऐसा करता गया। कुछ देर बाद जब मैं जाने लगा, तब पासमे बैठने वाले कहने लगे—इतना ही दम था। उनके कहनेपर मैंने सब चिल्लर लगा दिये और हारकर धर्मशाला आगया। उस समय एक लेख लिखा था जो गुम गया है।

ये ही हालत इस ससारमे है। कोई निवृत्त होना चाहता है तो पडौसी समझाते है तथा आडम्बरोमे रुक जाता है। बडे बडे नेता ऐसे भी मिलेगे जो पहिले धार्मिक थे। वे यश की चाहसे राजनीतिमे उतर गये। फिर मन चला तो विभूतिको एकत्रित करने मे ईमानदारीको तिलाञ्जलि दे दी।

### पुण्यफलमें हर्ष व पाप फलमे विषाद मानना जुवा है

ससार जुआ है, पुण्य पाप उसका फल है। पापमे दुःखी पुण्यमे सुखी, इस प्रकार जुआमें लगे हुये लोग इससे हटना चाहते है तो पुरान जुआडी रिझा लेते

हैं, मीठी वोली बोलकर रागयुक्त व्यवहार कर। इस प्रकार यहा का निवास एक समस्या है। अगर चित्त चिग गया तो नरक और सम्हल गया तो स्वर्ग मोक्ष मिल सकता है। प्रारभमे इसके लिये बडोके सहारेकी जरूरत है, जिनको स्नेह न वर्तता हो। ससारके दुखोसे बचनेकी जो पद्धति तरीका क्रम वगैरह हमारे पूर्वाचार्य बतला गये हैं उसको मनन करना ही शान्तिका उपाय है, दूसरा कोई भी उपाय नही है।

मन्दिरोमे विराजमान किये गये तीर्थंकरोंके प्रतिबिम्ब यद्यपि साक्षात् भगवान् नही स्थापित प्रभु है, फिर भी उनके सामने सिर रगडने आते हैं और कुछ शांतिका अनुभव करते हैं। साक्षात् भी हो तो भी वे क्या दे सकते ? भक्त अपने परिणामोसे कुछ पाता है। ऐसा माथा रगडना क्यो ? या कि २३ घटों के ऐसे प्रसग है, जिनमे रागद्वेषकी अग्नि धधकती रहती है। इन प्रसगोमे जितना ख्याल बना, धर्मकी ओर या शुभोपयोगमे चित्त गया उतना ही सही। मूर्तिया वस्तुत जड है, फिर भी हमारे आत्मदर्शन करानेमे निमित्त हैं, उनके दर्शनसे हमे सतोष करना पडता है। यह सब अपनी कमजोरीके कारण करना पडता है अन्यथा २४ घटे वेदना न हो, स्वात्मानुभवकी ओर झुकाव हो तो जरूरत ही क्या ? परन्तु गृहस्थ अवस्थामे ये बात हो नहीं सकती, इससे गृहस्थी सम्बन्धी पापोकी निवृत्तिके लिये ठीक है—

देवपूजा गुरोपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप।
त्यागश्चेति गृहस्थाणा षट् कर्माणि दिने दिने ॥

देवपूजा, गुरुओकी उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप, त्याग—ये ६ कर्म प्रतिदिन गृहस्थको करना चाहिये।

२४ घटोकी वेदनाको दूर करनेके लिये ये ६ कर्म बताये हैं। ऐसी कौनसी बात आ रही जो त्यागी आवे तो सवेरेसे ही चूल्हा जलाकर आसू बहावे, फिर भी न बनाकर बाहर खडे होकर देखे कि कोई साधु तो नहीं आ रहे है इत्यादि। अन्य कोई यह सब देखे तो कहे कि ये कितने मूर्ख हैं ? क्या जरूरत है इसकी ? इसका कारण यह है कि २२ घटे अनेक सगसे व्यथित हो चित्त शान्त करने का उद्यम करते, अर्थात् धर्मकी ओर झुकावमें व्यवहार करते हैं।

अन्यलोग इसमें संतोष मानो; जो इन बातसे याने भक्तिदानसे विरक्त हैं वे बड़े सुखी होंगे कि महाराजने मनकी बात कही। सो भैया, उनका १०४ डिग्री बुखार है— उन्हें १०० डिग्रीका बुखार भाग्यमें न बदा, याने वे अभी व्यवहारधर्मसे भी दूर हैं। हम तो व्यवहार वालोकी प्रगतिकी बात कह रहे हैं।

इस अनादि अनंत ध्रुव एक रूपसे स्थित चैतन्य आत्मस्वभावके भान बिना अन्य कोई शान्तिका उपाय नहीं है। देवपूजादि वस्तुतः आनन्दके कारण और शुभोपयोगके कार्य हैं। इन्हीके द्वारा आत्मसमाधिकी प्राप्ति होती है जो संसारके दुःखोंसे निकलने या छूटनेका उपाय है।

मोक्ष वह है जिसमें जीवको शांति मिले। वह द्रव्य और भाव कर्मोंके छूट जाने पर प्राप्त होता है। रागद्वेषादिसे रहित स्वतन्त्र करना और बाह्य ज्ञानावरणादि भावावरणका अभाव करना इसका कार्य है। जब दुःख आते हैं, बेचैनी होती है तो अपने दिमागमें ऐसी इच्छा होती है कि एक बारमें इन आपत्तियोंका मामला खतम हो जाय।

ठडमें समयपर नहाना है

तब अनेक प्रकारकी उडानें मारी, तरह २ की योजनाएँ बनाईं, जिससे अच्छा कहलाऊ, नाम रहे, लोग मुझे याद करें इत्यादि। जब २ मन पाया तब २ ये उडान पाईं, क्योंकि मनका ये ऐब है। इस प्रकार सैनी हुआ तो विविध कल्पनाओंमे लगा रहा, मगर उनभवोंकी चेष्टायें सामने नही, तो आजके प्रयत्न कुछ क्षणों बाद मेरे लिये रहेंगे क्या ? नही। मेरा और आपका एक भव ऐसा होता कि लाभकी चीजें अर्थात् आत्मकल्याणके उपाय छुपा छुपा करता जाता, ऊपरी गोरखधधोंमें नहीं फसता।

इसी भवमे कई बार गर्भमे उत्पन्न होनेपर, २, ४, १०, २० आदि वर्षकी उम्रमें मरनेकी नौबत आई। अगर उसी समय इस भवमें भी मर गया होता तो यह जन्म भी बेकार जाता। इससे इन्द्रियोंके विषयों और कषायोंसे बचकर धर्मसे लिये मनको बाह्य उडानोंसे बचाकर ज्ञानमे लगाओ, जिससे पुनर्जन्मका दुःख मिट जाय।

मानव स्वके अवलम्बनको सुनना जानना नही चाहते क्योंकि उनके मन मे ये बात बैठी है कि भगवान्से प्यारे लडके हैं। पर जब तक मनमे ये बात न आ जाय कि मेरे प्रियतम भगवान्, प्रियतर धर्मात्मा और सहधर्मी प्रिय हैं, तब तक आरभमें छूटा किस तरह जायगा ?

स्वकी ओर ढलें, द्रव्य क्षेत्रकालका भेद नही भावात्मक उपयोगसे ही आत्मायें शांति आती है। जितना भी दूसरेका ख्याल किया जाय वह सब अहित है ऐसी श्रद्धा जब तक नही बनती तब तक मोक्षमार्ग नही।

घरमे क्या विचार करते कि अब विवाह करना है, मकान बनाना, दुकान खोलना है। दिन रात फैमली (कुटुम्बीजन) की ही चिन्तामे लगे रहते और आनद मानते। उन विचारोंको छोड अब ऐसा विचार करो कि ये मनुष्य भव बडी कठिनाईसे प्राप्त किया है, अनेक भव यो ही विषय कषायोमे गवा दिये, इसभवको सुधार कर मैं अपनेको ज्ञानकी साधनामे लगाऊ, धार्मिक विचार एव आचारणको ठीक बनानेके लिये ही फैमलीके साथ विचार विमर्श करे तो कितना ही लाभ होगा, जिससे कल्याणमार्गमे प्रवृत्ति होगी।

द्रव्यभावसे ऐसी ही वार्तालाप करो जिससे जीवनमे जल्दी ही आत्म-

शांति मिलेगी। यहां पर कुछ भी मकान महल दुकान या अन्य कुछ बना जाओ वे सब हितकर नही हो सकते।

जितनी उपासना और साधना अपने एकत्वरूप चैतन्यस्वभावकी की जावे वही लाभप्रद है, हितकर है और दुनियादारीके कार्य सट्टे के रोजगार है, उनसे कोई लाभ नही। इसलिये आत्मस्वरूपको समझने, जानने और मननके लिये तन मन धनसे जीवनका सदुपयोग करना आवश्यक है।

अब दोनो प्रकारके मोक्षोके और प्रभेद बतलाते हैं —

## तावपि द्वेधा मोच्यमोचकभेदात् ॥१३॥

मोक्षके प्रकरणमे द्रव्य और भाव दोनो ही मोच्य–मोचकके भेदसे दो प्रकारके हैं अर्थात् मोच्य द्रव्य और मोचक द्रव्य, मोच्य भाव और मोचक भाव। कर्मोंका छूटना मोक्ष है। जीव छूट रहा और जीव छोड रहा, कर्म छूट रहा और कर्म छोड रहा, इस प्रकार जीव और कर्ममे मोच्यमोचकपन है। वस्तुतत्त्व समझनेकी रीति यह है कि जीव अनादि कालसे रागद्वेषादि विभाव परिणामो लग रहा था, किन्तु जब विवेक जाग्रत होता है, वह जीव सावधानी करता है, अपने स्वरूपकी ओर झुकता है, बाह्य पदार्थोंसे हटता है, तभीसे यह जीव मुक्त कहलाने लगता है। आंशिक मुक्त और पूर्ण मुक्त ऐसे दो प्रकारोमे रहस्य समझो।

संसारमे सबसे बडी मोहकी विपत्ति है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, फिर भी मोहीको सम्बधित ही दिखते है, पर यथार्थमें सभी पदार्थस्वतन्त्र हैं, कोई किसीका भला बुरा कुछ भी नही कर सकते। सब अपने अपने चतुष्टयमे रहते हैं, सब स्वयं सत् स्वरूप हैं, स्वय ही शुद्ध या मलिन जो सभव तो अपनी परिणति करते रहते हैं।

रागद्वेष आदिक विभाव परिणतिमे जिस समय जीव अपने स्वरूपको सम्भालता है उस समय चौथे गुणस्थानसे ही मुक्त या जिन होने लगता है। यह जीव जब सब प्रकारोके लगावोसे हट जाता है, तब मोक्ष होना कहते है।

## मोहका आधार है यथार्थज्ञानका अभाव

मोहका आधार है अज्ञान और वह इस रूपका है कि जो पदार्थ जिस रूप हैं, वैसे न देखकर संयुक्तरूप व एक दूसरेसे मिले हुये देखना। इस रूपसे या इस ढगसे जब तक पदार्थोंका देखता रहता है, तब तक अनेक प्रकार के झगडे होते रहते हैं और कर्मके निमित्तसे ऐसा होता रहता है, किन्तु जो स्वतन्त्र सत्स्वरूप है, उसका असर अन्यपर नही होता।

अगर किसी रईससे किसी प्रश्नका उत्तर देते ठीक नही बनता तो नाराज होकर कह देता है कि तुमने दिमाग खराब कर दिया। दुकानसे मुनीम निकला और दवातमें लात लग गई तो मालिक झट कह बैठता है कि क्यो बे अधा है, दिखता नही और स्वयके निकलनेमें लात लग गई, स्याही गिर गई तो मालिक मुनीमसे कहता—क्यों रे ठीक स्थानपर नही रखी इत्यादि। स्वय अपनी गलती न देखकर दूसरोपर दोषारोपण करनेकी आदत मोहमें हो गई।

लोग कहते हैं, कर्मोंने हमको बधनमें डाल दिया है, अनेक प्रकारसे कष्ट दे रहे है; पर सच पूछो तो कर्म तो बेचारे, बेजान है, लोगोने ही कर्मोको चक्करमें डाल दिया है। कर्मोंको निमित्त पाकर जीव स्वय गडबडीमें पड जाता है और कर्मोपर दोषारोपण करता है।

कर्मका असर जीवमें नही और जीवका असर कर्ममें नही होता। जैसे हम चौकी पर बैठे हैं तो हमारेमे चौकीकी कोई कला नही और न हमारी कला चौकीमें है। दोनो स्वतत्र हैं, सिर्फ चौकी को निमित्त कर हम अपनी कलासे बैठे ये कहना हमारा ठीक है। इसी प्रकार जीव अपनी कलासे कर्मोको निमित्त बनाकर अपनी ही भूलसे अपने आप बध जाता है।

किन्तु जिसका समय नजदीक आगया है, जिनका कल्याण होना है, जो अपनी भलाई चाहते हैं, ऐसे भव्यात्मा ज्ञानीजन सोचते है कि हे चेतन ! हे अचेतन ! माफी दो, हम किसीके आश्रयमें नही रहना चाहते हैं। मैं स्वय ही आनन्दपूर्ण हू, चैतन्य ज्ञायकस्वरूप हू, मैं दूसरेका कुछ भी हित अहित नही कर सकता हूँ, न मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध है, इस प्रकार कोशिश करनेपर

आत्मकल्याणकी बात समझमे आगई तो मानवजीवन सफल होगया।

अमुक ऐसा करता है, तो उसे देखकर शाति न खोओ। जो जैसी चेष्टा करता है, वह स्वयके लिये ही कर सकता है, दूसरेके लिये नही। मकान दुकान मे इसकी खराबी हो इत्यादि सोचना बेकार है, कोई किसीका अधिकारी नही बन सकता। हा, किसीको जरूरत हो तो वह अधिकारमे रह सकता है या अधिकारमे रहने योग्य बन सकता है।

### ससारके सभी प्राणी और समस्त द्रव्य स्वतत्र है

मैं चाहूँ, समाजके लोग मुझमे बडी भक्ति रखते हैं इससे मैं उनका अधिकारी बन जाऊ और अधिकारी बनकर जैसा कहूँ वैसा करें तो इसमे स्वतत्रता नही है। या आप चाहे कि बाबाजी हमारे अडरमे रहे तो उसमे भी आपकी स्वतत्रता नही, क्योकि जो आप चाहते हैं, वह अपने ही सम्बन्ध मे कर सकते है, परके सम्बन्धमे नही और आप चाहे कि मैं अमुकके शासनमे रहूँ तो रह सकते हो, क्योकि वह आपकी स्वतत्रता है। मैं दूसरोपर शासन रखू तो फैल हो जाऊगा। अपने आपके बारेमे जो चाहे सो कर सकते हैं।

परन्तु जिसका सम्बन्ध दूसरेसे है, ऐसा कोई भी विषय लेले। जैसे कहे कि मैं कर्मोंको न आने दू गा, मैं कर्मोंको भगा दू गा इत्यादि निष्फल उडाने हैं। आप भीतरसे चाहे तो अपने ही सम्बन्धमे सोच सकते, दूसरेके सम्बन्ध मे नही। परको निमित्त मानकर हम स्वय दुःखी हो रहे, परपदार्थ हमे दु.खी नही करते। जैसे घरमे किसीसे कुछ कहा और उसने नही माना तो कहता है कि ऐसा क्यो नही किया, हम दड देगे। बस! इस निमित्तसे यह प्राणी दु.खी हो गया।

घरमे सास बहुका झगडा होता है तो एकको अपनेमे विचारना चाहिये कि हममे ही कुछ कमी है। किसीसे हितकर बात कही जाय और वह उल्टा हो चले तो अपनेमे शाति रखना चाहिये। परकी दृष्टि रख विकल्पोसे छूटा नहीं जा सकता, स्वाश्रयतासे ही छुटकारा मिल सकता है, विकल्पोसे या अन्यकी सहायतासे नही।

कोई किसी मामलेमे पडता है तो वह उसमे फसता ही चला जाता है।

और ऐसे निमित्त मिल जाते हैं, जिससे उसे फसना पडता है। उस समय यदि ज्ञानका आधार या सहारा लेवे तो फंसनेसे बच जाय। समस्त प्राणियोंको सुख दुःख अपनी करतूतोसे मिलता है। शान्ति, अशान्ति अपनी ही करतूतोसे मिलती है। इसलिये दुःखोकी निवृत्ति और शान्तिकी प्राप्तिके लिये विकल्पो से छूटना चाहिये।

आपकी शक्ति आपमे है, परके बारेमे नाना विकल्पो और विचारोको बनाकर दुःखी मत बनो, अपने आपका मार्ग साफ करो। दुनियाकी झंझटोंको छोडो। भगवान् महावीर भी दुनियाके मालिक नही बन सके, तब क्या तुम मालिक बन जाओगे ? नही। स्वयकी चाहसे अधिकारी बनकर तुम्हें दुःख हुआ तो उसका विकल्प छोडो। परपदार्थोंके सम्बन्धमे दुःखी होनेसे सिवाय मलिनताके कुछ नही मिलेगा।

### खुद खुदकी ओर मुड लो

परकी ओरसे अपनेको छुडालो, हटालो। अपने आपकी ओर अपनेको ले जाओ, इसीमे आपकी सफलता है, पर में नही। जैसे सारे पहाडपर पहिले चमडा बिछालो, फिर जाना, जिससे ककड पत्थर या काटे न लगे, यह कार्य करना कठिन है। बुद्धिमान् पुरुष जूते पहनकर चलते हैं, इससे कष्ट नही उठाना पडता।

जो परका विचार कर बडा बनना चाहते हैं, वह उनका अज्ञान है। पापके उदयसे स्वमान्यतामें जीव बडा बनता है, अपनेको बडा मानना पाप है। जिसके पापका उदय आता है वह स्वाश्रयको छोड परमे झुकता है। अपने आत्मस्वरूपका मर्म न होनेसे ही परमे झुकाव होता है। उससे छूटने का उपाय यह है कि व्यवहारिक दृष्टिसे अपनेको हटाकर एक चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका ध्यान करें।

जीव अमूर्तिक है और कर्म वर्गणायें मूर्तिक है। वास्तविक रूपसे दोनो का सम्बन्ध नही हो सकता। फिर भी उनमे निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध है। कई पदार्थ ऐसे हैं कि सम्बन्ध होनेपर भी निमित्तनैमित्तिक भाव नही होता। जैसे कई पदार्थ ऐसे हैं कि जिनका कोई सम्बन्ध न हो तब भी निमित्तनैमित्तिक

सम्बन्ध है। जैसे लडका मकान दुकान वगैरह हमसे चिपके नही तो भी उनका आश्रय मोही वना रहा है। जीवकी अटकी, राग वना रहा है, रागी वन रहा है। कर्म परमाणु और जीवात्मा एक दूसरेको निमित्त पाकर लुडक रहे हैं।

जिन्होने भेदज्ञान करके अपने आपमे आपका अभेद किया। इसके परिणामस्वरूप सर्व परपदार्थ व परभवोसे मुक्ति पाई, ऐसी मुक्ति क्या वस्तुतः नाना भेदरूप है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं:—

## भूतार्थेन स्वैकत्वमेव ॥१४॥

भूतार्थदृष्टिसे निज आत्माका एकत्व ही वह मोक्ष है। मोक्ष तो ऐसी अवस्थाका नाम है जहा स्वभावके साथ पर्यायका एकत्व हो गया है अर्थात् जैसा स्वभाव है ठीक वैसा परिणमन हो गया है। यह परिणमन अब अहेतुक है अतएव अहेतुक स्वभावके साथ इसकी एकता हो गई है। यह तो मोक्षकी अवस्था जो कि निर्विकल्प है उसकी बात हुई। अब मुक्तिमार्गको भी निरखे तो वह भी अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुवस्वभावका अवलम्बनरूप मिलेगा।

छूटनेका उपाय एकत्व एक ध्रुव रूप आत्मस्वभावको समझकर उनकी दशाओंमे न अटककर आगे बढे और ऐसा विचार करे कि मैं सबसे न्यारा हूं, चैतन्यमात्र हूं, अनादि अनत हू, अविनाशी हूं, इस प्रकार की दृष्टि रहनेसे छूटनेका मार्ग मिलता है।

प्रशसा, आदर, सत्कार, वडप्पन जो जीवको सुहाते हैं, रुचिकर लगते है, इनसे बढकर उपद्रव और अहित करनेवाला कोई नही है। अगर आत्माकी ओर दृष्टि गई तो दुनियासे सत्कार किसका ? मेरा मेरे लिये, आपका आपेके लिये। यदि आप मेरा सत्कार करते है तो मेरा व्यक्तिगत कुछ नही करते, किन्तु धमव्यवहारका आदर करते हैं। यदि आप कहें कि मैं त्यागीका आदर करता हूं तो मैं त्यागी नही हूं या किसी सेठका आदर करते तो वह सेठ नही। यदि मैं कहूं कि मद्गृहस्थका आदर करता हू तो आप सद्गृहस्थ है नही। आप हैं कुछ और मान रखा है कुछ। अपनी सब मान्यताओका निर्णय

मरनेके बाद हो जायगा। १ समयमात्रमे इस शरीरका ढाचा बदल जा गा और नरक, तिर्यंच, पशु, देव गतिमे से किसी न किसी गतिमे जाना होगा वहा अपने किये गये शुभ अशुभ कर्मोंका फल भोगना पडेगा। मायाचार बराबर पाप नही, उसके प्रभावमे आत्मदर्शन नही हो सकता। भगवान् आत्मा, रागद्वेषके अभाव होनेपर दीखता है पर इन्द्रियोंसे नही दीखता। आत्मानुभव होनेपर परमात्माका अनुभव हो जाता है। जिसने शुद्धनयका अवलम्बन किया, वही व्यक्ति आत्मदर्शन कर सकता है।

## मेरा सतानेवाला मेरा रागादिपरिणाम है

दिखनेवाले शरीर आदिक पदार्थोंसे एव कुटुम्बी जनोसे मेरी आत्माका कोई सम्बन्ध नही है। जो होना है वही होता है, फिर दुनिया भरके प्रपच क्यो करू, किसका मान करू ? कहा भी है—मनकरको कौन ठिकाना, बसी अनादि निगोद मझारा, भूविकालत्रय पशुतन धारा, इत्यादि।

ससारमे मुझे कोई भी नही दीख सकता है। अपने दीखनेका आधार मैं ही बनू गा, किन्तु अपने स्वभावसे चिगकर पढाई हो, शास्त्र हो, अमुक कार्य ऐसा हो इत्यादि परमे बह जाता हूँ।

मुझे रहना चाहिये वहा, जहाँ कोई भी विकल्प न हो, पढना लिखना आदि सब कष्ट है, अस्तु वस्तुस्वरूपका निर्णय करके अपने भीतर ही रमना चाहिये। मैं जगतके समस्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे भिन्न हू, परिवारसे भिन्न हू, शरीरसे भिन्न हूँ, कर्मके विपाक रूप रागादिसे भिन्न हूँ, मैं अनाद्यनत चैतन्यतत्त्वरूप हूँ, किन्तु इससे च्युत होकर बाह्यमे आकर अनेक इच्छायें होती हैं, जो दु:खकी कारण हैं। ये सब बातें जानी जाती है पढने से।

मुझे इच्छाओ ने सताया, दु:ख हुआ तो हनुमानलालकी धर्मशालासे आकर मन्दिरमें गया, भगवान्के दर्शन किये, यहा आकर कुछ ऐसा कहने लगा कि देव पूजा, जप, तप, सयम, त्याग, आदिक कार्य करना चाहिये। आदि आदि यदि इच्छायें न हो तो अपने ही आधारपे जीवमे छूटनेकी शक्ति विद्यमान है, जब चाहे सुखी रहे, दूसरे पर दृष्टि रखनेसे कभी भी छुटकारा नही हो सकता।

किसीके दिल दुःखाने लायक मेरे भाव न हो और सदा वह आदर्श रहे कि मुझे उस मार्गसे जाना है, जहा कि किसीकी ओर मेरा मन जाय, परपदार्थोसे ससर्ग कर उनमे मोहित होकर किसीको चीज उठाकर अपने और दूसरेको मलिन मत करो।

शीलको धारण कर अपने मानव-जन्मको सफल बनाओ। यदि शीलको भग करनेके लिये सुन्दर से सुन्दर देवाङ्गनायें भी आयें तो अपने चित्तको विचलित मत करो; क्योंकि आनन्द अनन्तगुणोके भण्डार अपने आत्मस्वरूमे रमण करनेपर ही प्राप्त हो सकता हैं, अन्यत्र नही !

### आत्मा स्वय कल्याणमदिर है, उसमे प्रवेश करो

जो कल्याणके लिये इधर उधर भागे भागे फिरते हैं, वह उनकी कल्पना मात्र है। कोई साधु हो गया और उसकी स्त्री पडगाहे तो साधु कहे कि मैं अपने घर नही जाता हूं, ऐसा विचार करने से ही उसका घर होगया। १२ वर्ष कि बात है, हम लोग बरुआ सागरमें थे। पूज्य गुरुजी (बडे वर्णी जी) ने मेरे (उपचारसे) ग्राम जानेका प्रोग्राम बनाया। तब मैंने कहा वहा मैं नहीं जाऊगा। तब गुरुजी ने कहा कि अभी तेरे मनसे घरकी कल्पना नही निकली, जो वहा जानेसे इकार करते हो। फिर हम लोग वहा पहुचे तो मेरी छोटी बहिन थी जो मुझसे अधिक मोह करती थी, क्योंकि मैंने छोटी अवस्थामे उसे पढाया लिखाया था। वह मुझे देखते ही मेरे सामने गिर पडी और बेहोश हो गई। होश आनेपर उसे समझाया कि तुमको मोह नही करना चाहिये इत्यादि। १२ वर्षसे उस देश भी नहीं गया।

साधुके मनमे ये कल्पना रहे कि ये हमारी स्त्री है, इसके हाथसे आहार न लेगें, ये विचार हैं तो उसके मनमें स्त्री बस गई। बाह्य से हटकर मनको मजबूत करना होगा। बाह्यसे दृष्टि हटाकर सोचो तो सिर्फ आत्मस्वरूपसे अपने को देखो शरीरके प्रेमसे कुछ भी तथ्य नहीं निकलता। हमारी दृष्टि ये न रहे कि ये स्त्री है, ये पुरुष है सिर्फ चैतन्यमात्र पर दृष्टि जाय, जिसमे न कोई लिंग है न कोई जाति है। आत्मा न स्त्री है न पुरुष है और न नपुसक है। इससे खुद अपनी आत्माकी सम्हालमे लगे रहो तो ससारके दुःखोसे छूट जाओगे।

छूटनेका उपाय अपने आपमे है। हमे तो सदा ऐसी भावना करना चाहिये। मेरे अन्दर ऐसी पवित्रता आवे, मनवचन कायकी प्रवृत्ति इतनी पवित्र हो। कैसा ही उपद्रव क्यो न आवे किन्तु अपनी निर्मलता परिणामोकी पवित्रता छोडे।

प्रश्न—निज आत्मतत्त्वका एकत्व ध्येयरूप है या फलरूप ही है ?

उत्तर—

## तद्धयेयं फलञ्च ॥१५॥

निज आत्मतत्त्वका एकत्व ध्येयरूप भी है और फलरूप भी है। जिन आत्माओके स्वभावके साथ पर्यायकी एकता हो गई है ऐसा एकत्व फलरूप तो है ही, क्योकि आत्मसाधनाका सर्वोत्कृष्ट फल यह ही है, किन्तु कदाचित् यह सिद्धावस्था भी आत्मसाधनाके विघ्नभूत विषयकषायरूप अशुभोपयोगके आक्रमणके विनाशके ध्येय है और सहजस्वभावरूप आत्मतत्त्व निर्विकल्प एकत्व तो ध्येय है ही।

जिन जिन महात्माओने स्वभावके साथ परिणमन का एकत्व पाया है, उन्होने अनादि अनन्त अहेतुक एकत्वरूप चैतन्यमात्र तत्त्वके अवलम्बनसे ही पाया है।

जो स्वैकत्व फलरूप है और कदाचित् ध्येयरूप भी है वह तो उत्पत्तिकी अपेक्षा क्षायिकभाव रूप है और जो निज एकत्व उत्सर्गरूपसे ध्येयरूप है वह पारिणामिकभावरूप है और इस एकत्वके अवलम्बनरूप मोक्षमार्गका विकास यथायोग्य औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक भावरूप है।

हमे संसारके दु खोसे मुक्ति पानी है तो हमारा कर्तव्य है कि निज आत्मतत्त्वको जाने और उस ही मे उपयोगको लीन करें ताकि व्यक्त सहज आनन्दस्वरूप उस एकत्वका शाश्वत उपभोग हो, जिस परिणमनकी स्वभावसे एकता हो गई है।

अब उपर्युक्त एकत्वकी वाञ्छनीय विशेषता कहते है:—

## शान्तस्वरूपम् ॥१६॥

वह आत्माका एकत्व अथवा रत्नत्रयका एकत्व याने मोक्षतत्त्व शान्तस्वरूप

है। भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्मसे मुक्ति होनेपर अशान्तिका कोई हेतु नही रह जाता है। भगवान् आत्मा स्वय शान्त स्वभाव हैं, किन्तु सस्कार वासनावश परद्रव्यको निमित्तमात्र पाकर विभावपरिणामयुक्त हो जाता है। इस शान्त स्वरूप अवस्थाका निश्चयकारण वही आत्मा है। एक अखण्ड चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके आश्रयके परिणामस्वरूप यह शान्तस्वरूप दशा प्राप्त होती है। इस शान्तस्वरूप दशाके उपयोगसे भी वह निर्मलता नही आती जो शान्तस्वरूप अवस्थाका उत्पाद कर सके। यह पर्याय अखण्ड है अर्थात् इसमे विकल्प नही है जिससे कि यह आत्मा अपनेको खण्डरूप अनुभव कर सके। आत्मद्रव्य भी अखण्ड है। स्वभावके अनुरूप अवस्था होनेका नाम मोक्ष है अथवा पूर्ण विकास है। मुक्त आत्माके देह नही है, कर्म भी नही है और इसी हेतु भावकर्म भी नही है। मुक्त आत्माके भावकर्म नही है, अतएव द्रव्य कर्म भी नहीं है और देह भी नही है। शरीर रहितता व द्रव्यकर्म रहितता तो अब भी मेरे सत्त्वमे है। यह ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। भावकर्म भी यद्यपि एक समयको होते है, किन्तु द्वितीय समय न रहनेसे वह सहजस्वरूप नही है। इस तरह भावकर्म भी आत्मद्रव्यमे नही है।

वर्तमानमे जो अन्तरात्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म—इन तीनो मलोंसे रहित सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अपने आपका अनुभव करते है, वे अन्तमें यथाशीघ्र द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्मसे रहित शान्तस्वरूप इस अवस्थाको प्राप्तकर लेते हैं। सर्व क्लेशोका व क्लेशोके कारणोका अत्यन्त अभाव इस अवस्थामे है। यह परिणमन राग द्वेष रहित एव अनन्तज्ञान व अनन्त आनन्द सम्पन्न है। इसका ध्यान भी अन्य विकल्पोके आश्रयसे रहित है, अतः यह उपासना स्वभावोन्मुख होनेके लिये एक साधनभूत है। इस अवस्थामे परिणत आत्मद्रव्यको सिद्धप्रभु कहते हैं। सिद्धप्रभुका स्वरूप भावना सहित ध्यान हो जाय तो अनेक जन्म जन्मके कर्मबन्ध नष्ट हो सकते हैं। ससारी जीवने अनेक वस्तुवोंका ध्यान किया, किन्तु निजस्वरूपका व निजस्वरूपके प्रतिमूर्ति स्वरूप श्री सिद्धप्रभुका प्राय. कभी ध्यान नही किया और किया तो अन्तरस्वादरूप परिणतिसे नही कया। इस मनुष्य जन्मकी सफलता आत्मानुभवसे है। आत्मानुभव ही मोक्षका

बीज है। अन्य विकल्पादि तो आपत्तियां हैं। अतः हम सबको आपत्तिसे दूर होनेके लिये मोक्षके बीजभूत आत्मानुभवका सहज यत्न करना चाहिये। इस प्रकार मोक्षके स्वरूपका वर्णन करके अब यह कहते हैं कि यह मोक्षतत्त्व साक्षात् धर्मरूप है—

## शुद्धपरिणतिगतो धर्मो वा ॥१७॥

यह मोक्षस्वरूप क्या है ? शुद्ध परिणतिमे प्राप्त धर्मही है। धर्म वस्तु-स्वभाव है यह निश्चय धर्म है। धर्म अर्थात् वस्तुस्वभावके अनुरूप विकासका हो जाना यह अनुपचरित व्यवहारधर्म है और स्वभावानुरूप विकासके योग्य विकल्प, विचार बनाना उपचरित व्यवहारधर्म है। उपचरित व्यवहार धर्मके अर्थ अथवा उपचरित व्यवहारधर्मके होते हुए जो देहादि क्रियायें होती हैं, वे सब उपचरितोपचरित धर्म हैं।

यहा यह मोक्षस्वरूप अवस्था अनुपचरित व्यवहार धर्म है जो कि धर्मकी साक्षात् मूर्ति है। जहा अधर्म नहीं वही धर्म है। अधर्म तो काम, क्रोध, मान, माया व लोभ आदि विभावोको कहते हैं। इनका व्यय होनेको धर्मरूप अवस्था कहते है।

धर्म अवस्था जिनके पूर्ण प्रकट हुई है उन सिद्ध प्रभुको हम धर्ममूर्तिके रूपमे निहारकर धर्मकी उपासना करते हैं।

### मुक्त भगवान् साक्षात् धर्म हैं

भगवान् धर्मी हैं और धर्म उनका गुण है; गुण और गुणी अभिन्न होते हैं। वस्तुका स्वभाव धर्म है। इस दृष्टिसे प्रत्येक जीवमे धर्म है। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदिमें यह निश्चय धर्म निरंतर रहता है, किन्तु ये सब जीव इस धर्मकी दृष्टिको, उस अपने स्वभावको नही पहिचानते, इसी लिये वह धर्म विकारी बन रहा है। जो जीवमे त्रिकाल रहे वह निश्चय धर्म है। जहा निश्चय धर्मकी दृष्टि आजाय वह है व्यवहारधर्म या पर्यायधर्म। कहा जाता है कि रत्नत्रय निश्चय धर्म है, किन्तु वास्तवमे निश्चय धर्म चैतन्य स्वभाव है और उस चैतन्य स्वभावकी दृष्टि व स्वच्छ परिणति व्यवहार धर्म है। क्यो

कि वह दृष्टि स्थायी और त्रिकालवर्ती नही है तथा स्वच्छ परिणति भी प्रति समय नवीन नवीन किन्तु एक सदृश होती रहती है। चूंकि परम पारणामिक भाव या चैतन्य स्वभाव त्रिकालवर्ती है, इससे वह निश्चय धर्म है।

निश्चय सम्यक्त्व और चारित्रसे पहिले जो विकल्प होते हैं वह उपचारधर्म है और शरीरकी जो चेष्टा है वह उपचरितोचरित व्यवहारधर्म है। सर्वप्रथम निश्चयधर्मकी दृष्टि होना चाहिये। इसके बिना मोक्षमार्ग नही चल सकता। मोक्षमार्गकी परिणति हुए बिना शाश्वत शान्तिका पात्र नही हो सकता।

प्रभुने कौनसा अवलम्बन लिया जिससे उन्हें मुक्ति मिली? निश्चयधर्मके अवलम्बनमे रहे तभी वे मुक्त बने। निश्चयधर्मके अवलम्बनके साथ व्यवहार धर्म हुआ। ज्ञान स्वभावको कारण रूपसे उपादान करके स्वयके उपयोगसे ज्ञानकी परम सीमा प्राप्त की। अपना किसी तरफ लक्ष्य न जावे, वस्तुभेद न करे, सामान्य अभेद रूप भाव करे, शुद्ध चैतन्यरूप पारिणामिक भाव हो तो सच्चा सुख अवश्य मिलेगा। सब परपदार्थोंसे उपयोग हटाकर शरीरसे भी सबंध तोडकर असाधारण ज्ञान स्वभावकी दृष्टि रहे तो सुख अवश्य मिलेगा। आकुलताके अभावमे सुख होता है और वह परदृष्टि आकुलताका उपाय है, जबकि स्वदृष्टि अनाकुलताकी जननी है। स्वदृष्टि हुई कि शांतिको आना पडेगा।

द्रव्य, गुण, पर्याय और स्वभाव और सत्ता को पहिचानो। सत्-द्रव्यकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सीमा कितनी है? इसे जानो, यदि वह सत् ज्ञानमें आ गया तो सुख ही सुख है। परिणमन क्षणिक है, स्थिर नही। बुद्धि जिसमें लगी वह तो मिट जायगा और हम बरबाद हो जायेंगे।

जैसे किसी सोते हुए मनुष्य को स्वप्न का दृश्य सब सच लगता है, उसी प्रकार मोही जीवको यह दिखनेवाला सब ससार सच लगता है, किन्तु जैसे ही नीद खुली मनुष्य जागा कि उसे वह स्वप्न क्षणिक और असत्य प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार मोह नीदसे जागनेपर जब सत्य ज्ञान होता है तो 'यह सारा ससार, परिवार, स्वप्न जैसा दीखने लगता है। यदि स्वप्न बुरा आये तो उस समय दुखी होता है और अच्छा आ जाये तो सुखी होता है, इसी प्रकार

मोही जीव मोहमे परपदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करके सुखी दुखी होता रहता है और जब यह मोह नष्ट हो जाता है तो ये क्षणिक सुख दुख भी विला जाते हैं।

पदार्थ चूकि है इसलिये यह अपने मे ही रहता है

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्वचतुष्टयमे है परचतुष्टय से नही है। मैं अपने परिणमनमे रहता हू, परके परिणमनमे नही। मेरा निवास अपने आत्मप्रदेशोमे है, मेरी पर्याय मुझमे है, मेराभाव मुझमे है परमे नहीं। यह ज्ञान हो जानेपर ये सारा ससार स्वप्नकी तरह दिखने लगता है। जो मोह के स्वप्नमे दुखी हो रहा था, वही ज्ञान होनेपर सुखी हो जाता है और वे सब स्वप्न समाप्त हो जाते हैं।

कहते है ज्ञानीको बध नहीं होता, उसके चारित्र मोहनीयकर्मका उदय रहता है, घर गृहस्थीमे रहता है, फिर बध क्यो नही होता ? किन्तु यह यही तो कह रहा है कि ज्ञानीको बध नही होता। अरे भाई जहा सम्यग्ज्ञान है वहा बध कहा होता है ? इसने ये तो नही कहा कि गृहस्थको कर्मबंध नहीं होता, अरे ज्ञानीका जो अर्थ है उससे कर्मबध नहीं होता। जैसे एक आदमी मुनीम भी है और पुजारी भी, किन्तु उसे दुकानपर मुनीम ही कहा जाता है और मदिरमें पुजारी। उसे दुकान पर पुजारी मत कहो। इसी प्रकार ज्ञान और चारित्रका परिणमन चल रहा है। जहा सिर्फ ज्ञानका परिणमन है वहाँ बन्ध नही होता, क्योकि ज्ञानी सिर्फ ज्ञानको देखता है। ज्ञानमे भेद नही, जहा ज्ञानमें भेद है वहा निर्जरा नही होती है। जितना स्वके अवलम्बनसे ज्ञान होता है, उतना ही धर्म है और जितना परके अवलम्बनसे होता है वह धर्म नहीं। भगवान् ने भी यही साधनाकी थी तभी मुक्ति मिली थी।

धर्म समझने के लिये एक यही सच्चा मापदण्ड है कि जितनी स्वकी ओर उन्मुखता है उतना तो वह धर्म है। बाकी सब धर्म नही। प्रभु अनतकालको अपने मे स्थिर हो गये, इसीसे वह निरतर सुखी है। हम और आप भी जितने समयको स्वमे स्थिर हो सकेंगे उतने समयको सच्चे सुखका अनुभव कर सकते हैं। जितना कर्म निरपेक्ष पारिणामिक स्वभाव है वही अनुभवमे आ जाये बन

समझो स्वानुभूति हो गई। मोही अज्ञानी रहता है, इसलिये उसे स्वपर विवेक बिना परवस्तुके मोहमे दुखी रहता है। यह धर्म निगोद, नारकी, पशु आदिमे मौजूद है। आत्माका स्वभाव धर्म है और वह स्वभाव सभी जीवोमे निरन्तर मौजूद है। सिर्फ उस ओर लक्ष्य देनेकी आवश्यकता है।

प्रभुका ज्ञान तीनो लोकोके तीनकालके पदार्थोको स्पष्ट जानता है। जैसा हम जान रहे वैसा नही जानता, किन्तु जैसे सब पदार्थ हैं वैसे ही जानता है। उनको जो अनन्त सुख होता है उसकी उपमा संसारके किसी पदार्थसे नही दी जा सकती है। बस इतना ही कहा जा सकता है कि वह आकुलतारहित सुख है। भगवान्की शक्ति देखो अनन्त शक्तिमान् है, उनकी शक्तिका प्रयोग अपने स्वभावको अनन्तकाल तक स्थिर रखनेमे किया जाता है। वे अपने स्वभाव निरंतर एकसा टिकाये रहते हैं। क्या यह कम शक्तिका प्रयोग है? यहा पर किसी पहलवान ने २ मनका बोरा फेंक दिया तो कह दिया जाता है, बड़ा शक्तिशाली है, किन्तु वे शक्तिशाली अपने स्वभावको समयमात्र भी स्थिर नही कर पाते। ये शरीरकी शक्ति तो पराश्रित शक्ति है उसमे अपनी शक्तिका प्रयोग नही, क्योंकि आत्मा अपनेमे ही कुछ कर सकता है, परवस्तुमे कुछ नही कर सकता। उस स्वभावको टिकानेका प्रयत्न हमको करना है तभी धर्म होगा, शुभोपयोगसे धर्म नही होता। जो धर्म निश्चयकी ओर ले जावे वही व्यवहारधर्म है। इस व्यवहार धर्मके बीचमे जितने भी विकल्प हैं वे विकार है, इसलिये उन्हे उपचारधर्म कहा है। जहा तक शुभोपयोग होगा तहा तक धर्म नही। निश्चयधर्म तो अनादिसे अनन्तकाल तक रहता है, किन्तु जिनके निश्चयकी ही परिचय है उनके यह धर्म कैसे उपयोगमे आवे? अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—"अतः एवात्र न मुक्तत्व" आश्चर्य तो यह है कि जिस दृष्टिसे मुक्ति होती उसकी तो खबर नही। यह अपना अनन्तशक्तिशाली प्रभु जिसकी दृष्टिसे कल्याण हो सकता था वह भी मिली है, किन्तु "कषायचक्रेण सह [illegible]-माणत्वात्। घातकषायसे अपने स्वभावको एकमेक कर दिया था, अतएव तिरोभूत हो गया था।

द्रव्यमें जब जो पर्याय होती है तब वह द्रव्य उस पर्यायमय है

स्वभावकी पर्यायें चाहे विकारी हों, किन्तु स्वभाव उस समय उसी रूप हो जाता है। जब कषाय आती है तब वही कषायरूप हो जाता है। उसका परिणमन दोरूप नही। यह तो ज्ञानकी शक्ति है कि यह विभाव पर्याय है और यह स्वभाव है, ऐसा विवेक कर लेना है, मोही उस विभाव पर्यायमें भी एकमेक हो जाता है। तब उसे वह अनादि अनंत स्वभाव कैसे दीखे ?

आज तक परकी उपासना वंदना भक्ति सब कुछकी किन्तु अपने भगवान् की स्तुति वंदना कभी नहीकी, इसलिये अपनी पर्याय हमेशा अशुद्ध बनी रही।

आपके घरमें इस समय जो लडका है वह न होता अथवा उसकी जगह दूसरा होता तो फिर क्या इसमे राग होता। जो मिला, जो समागम पाया उसी में लीन हो गये कि आगे पीछे का कुछ पता नहीं।

जीवन गृह गो धन नारी हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई सुरधनु चपला चपलाई ॥

बादल बिखर जाते हैं तो अपना घर भी बिखर जायगा। कौरव पाण्डवने कैसे कैसे उपायसे राज्य बढाया पर वे दोनों सफा। उनमें जो विवेकी थे वे मोक्ष गये, कोई स्वर्ग गया कोई कहीं गया। हमें यदि अपना भविष्य सुधारना है तो हमे पहिले वस्तुस्वरूपपर श्रद्धा करना चाहिये।

मुमुक्षुका पहिला कदम कहांसे शुरु होता है ? इस विषयमें तत्वार्थसूत्रमें कहा है:—

"तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" प्रयोजनभूत सात तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसा है वैसा वैसा ही श्रद्धान करना अथवा जैसी सचाई है वैसा ही मान लेना, विश्वास करना सो सम्यग्दर्शन है, इस मूलपर हम पहिले जमे। लोकमें भी कहने लगते हैं भाई ! बात तो ऐसी है मानना हो मान लो, नही तो भाडमे जाओ। इसी प्रकार आचार्य भी कहते हैं भाई वस्तुस्वरूप तो ऐसा है, मानना हो मानो न मानना हो तो नरक निगोद रूपी भाडमे चले जाओ। एक बार ठीक मान लेने के बाद फिर भी क्वचित् गिर जाय तो परवाह नहीं, वहांसे भी निकल कर वह प्राणी भला कर लेगा।

## आत्मज्ञान सर्वोत्कृष्ट समृद्धि है

इस जीवने सब कुछ पाया, किन्तु एक ज्ञान यथार्थ नही पाया। जैसे पदार्थ है और वैसा ज्ञान हो जावे तो फिर सुख ही सुख है। पदार्थ कैसा है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे मिलता नही अर्थात् जीव अजीव रूप नही होता, और अजीव जीवरूप नही होता। सभी द्रव्य स्वतन्त्र, परसे अत्यत भिन्न हैं। हां, निमित्तनैमित्तिक कारण अवश्य है। इसीके ज्ञानके बिना व्यर्थ दुख सहन करता है। नाना कल्पनाएं दौडाता है, मुझे इससे ये दुख हुआ, इमसे ये सुख हुआ। इन झूठी कल्पनाओमे निरन्तर दुखी रहता है। जीव अजीवके बारेमे इतनी मोटी श्रद्धा तो होना ही चाहिये।

यही बात आस्रवके बारेमे है। जीवका आस्रव कर्म नही करता और कर्मका आस्रव जीव नही करता है। जिस प्रकार दो महिलाएं लडती हैं तो वह दूसरे मुंहसे नही बोलती। वह अपने मुंहसे गाली बकती, दूसरी अपने मुंहसे गाली बकती है। वह अपने मुखसे कहती तेरा नाश मिट जाय, याने तेरा कभी नाश नही हो (हसी) दूसरे कहती कि तेरा खोज मिट जाय याने तुझे कही खोजना न पडे, सदा सामने रह (हसी)। कितनी सुन्दर गाली हैं।

इसी तरह बधजीवके बधको कर्म नहीं करता और कर्मके बन्धको जीव नही करता। और दोनोका कारखाना चल रहा है। एक दूसरेमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है।

लोग कहते हैं कि क्या करें? घर कुटुम्बके लोग और मुन्ना मुन्नी तो घर नही छोडने देते, नही तो हम तो अवश्य छोड देते। कहा तो कर्म और जीवका सम्बन्ध, फिर भी वे एक दूसरेके कर्ता नही और कहा कुटुम्ब परिवार अत्यन्त दूरकी चीज। एक पदार्थ दूसरेको कुछ भी कर ही नही सकता, तब यह बात तो अटपटी सी लगती है।

सवरमे भी यही बात है, जीवका सवर कर्म नही करता और कर्मका सवर जीव नही करता। याने कर्मोको जीव नही रोक सकता और जीवको कर्म नही रोक सकते, दोनों अपना २ काम करते है। लोग कहते हैं कि शरीरने बरबाद कर दिया, पर शरीर हमारा क्या कर सकता है? हम अपने

विकारसे बरबाद होते है। लोग बाहरी बात मानते हैं, मैंने ऐसा किया, मैंने उसकी रक्षा की, उसका पालन किया, उसका अच्छा किया, उसका बुरा किया। यह एक कोरा भ्रम है। उसका स्वयं वैसा होनेवाला होता है तो दूसरा व्यक्ति निमित्त हो जाता है।

जीव कर्मकी निर्जरा भी नही करता, वह स्वय निर्जीर्ण होते हैं। जब तक वस्तुके स्वतन्त्र परिणमनका ज्ञान नही तब तक जीवके साथ अनेक झगडे टटे लगे रहते हैं। इसी तरह मोक्षजीवका जीव ही करता है, कर्मोंका मोक्ष जीव नही करता है। एकका दूसरेके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है, किन्तु कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं। इस प्रतीति सहित प्रयोजनभूत सात तत्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग् याने सच्चा दर्शन याने विश्वास (श्रद्धान) करना। आत्माके विषयमे जितना ध्यान लगायेंगे, उतना ही उसे पा सकेंगे। पाना और खोना बाहिरसे कुछ भी नही होता वह तो अपने भीतर ही हो सकता है। जिसकी विपरीत बुद्धि है उसे सम्यक् श्रद्धान कभी नही हो सकता।

**जो अब तक न मिला न किया वह तो नई बात है**

लोग कहते हैं– ये तो कुछ पिटी पिटाई पुरानी धर्मकी बातें हैं, किन्तु ये पुरानी बातें तो आज नई हैं। यदि एक बार भी ये बातें जम गई होती तब तो पुरानी कहलाती, पर ये पुरानी कैसे ? कभी इनका स्पर्श नही किया, श्रद्धान नही किया, फिर पुरानी कैसी ? किन्तु विषय तो देखो अनन्तकालसे भोग रहा है उन्हे पुरानी नही बताते और जिसका कभी अनुभव नही किया उसे पुराना कहा जाता है, कितना आश्चर्यकी बात है ? विपरीत दृष्टि वाला भले मुनि, आचार्य, गृहस्थ या पडित कोई भी हो उसका कल्याण असभव है।

लोग कहते है मैंने उसे ठग लिया, किन्तु दूसरा तुम्हारे द्वारा कभी नहीं ठगा जा सकता है, उसमे तो तुम खुद ठगे गये हो ? अपनी आत्माको तुमने पहिले ठगा, दूसरा ठगा जाय या नही। अज्ञानीको केवल उल्टी बातें सूझती हैं। अरे हमने दूसरोको ठगा तो बुरा किया और यदि खुद ठगे गये तो बुरा किया।

अज्ञानी ही दूसरोके दोष देखता है। जो स्वय दोषी होगा वही दूसरोके दोष देखेगा और जो गुणी होगा वह दूसरोके गुण देखेगा। यह गुण जब तक नही आता तब तक सम्यग्दर्शन नही।

आत्मद्रव्य किसी न किसी पर्यायमे तो रहता ही है। जिसकी केवल पर्यायोपर दृष्टि रहती है वह ध्रुव सत्यकी कैसे पहिचान कर सकता है ?

जीवके ५ भाव होते हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक; औदयिक और पारिणामिक।

इन भावोंके विषयमे प्रत्येक दार्शनिकने कुछ न कुछ अवश्य सोचा। उनमे से किसीने भौतिक खोजकी। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पचतत्त्वोसे आत्मा बनी है। किसीने सोचा ईश्वर इस आत्माको बनाता है और विगाडता है, पर इसमे जीवका क्या तत्त्व रहा ? जिसने समझा ईश्वर आत्माको बनाता है। इसमे कुछ भी तत्त्व ही नही रहा। 'आत्मा बिल्कुल पराधीन हो गया इसमे स्वतंत्रता कहा ? आत्मा मानकर भी इसने स्वतन्त्र सतको पराधीन बना दिया। ये मानते हैं भक्तिसे मुक्ति होती है। भगवान्‌के पास पहुच गये, वहा पर भी उनसे पटी तो ठीक नही तो फिर भगवान्‌ने संसारमे धकेल दिया। जीव कोई चीज है ? कैसी शक्ति है ? क्या २ उसकी हालत इसकी होती है इत्यादि जिज्ञासाका समाधान जैनाचार्योंने बडा सुन्दर किया है। जीवके भाव ५३ होते हैं और वैसे तो अनन्त भाव होते है, उन ५३ भावोमे १ जीवत्व भाव ही निरपेक्ष है, उसमे भी शुद्ध जीवत्व है बाकी ५२ भाव व अशुद्ध जीवत्व सब सापेक्ष होते है। उस जीवत्व भावमे भी शुद्ध जीवत्व भाव वास्तविक हैं। १ इन्द्रिय जीव, २ इन्द्रिय जीव आदि नही। ५२ भाव पर्यायसे सम्बन्ध रखते हैं और जीवत्वभाव द्रव्य और गुणसे सम्बन्ध रखता है, किन्तु अशुद्ध जीवत्व पर्यायरूप भाव है। ये ५३ भाव जीवके स्वतत्त्व है। ये भाव सब आत्माकी चर्चा हैं, जीवका सब विवेचन ५३ भाव मे भाव आ जाता है।

### जीवके औपशमिक भाव

औपशमिक भाव २ होते हैं। देखो जीवकी कला, कर्मोंको कुछ दिन

दबा रहना पडता है। ये कर्म महमान हैं, जैसे महमानको कुछ दिन रहकर जाना ही पडता है, वैसे ही इन कर्मोंको जाना पडता है। कहते हैं—

कर्म महारिपु जोर एक कन मान करे न।

अर्थात् इन कर्मोंको जरा भी किसीकी मान या लाज शर्म नहीं, ये बडा परेशान करते है। पर शर्म तो जीवको आना चाहिये जो विकार भाव करते हैं और कर्मोंको परेशान करते हैं। अरे जीवको शर्म आ जावे तो कर्मको शर्म आ जावे।

जीव अनन्त शक्तिका पुंज है, निश्चयसे चैतन्य स्वरूप है और व्यवहार से अनन्त गुणोका धारी है। उनमें ६ गुण मुख्य हैं—श्रद्धा, चारित्र, दर्शन, ज्ञान, शक्ति और आनन्द। इनमे ४ गुण तो सीदे रहते है और श्रद्धा और चारित्र गुण उल्टे और सुल्टे दोनो प्रकारसे होते हैं। अर्थात् विपरीत परिणमन करते है, बाकी चार गुण तो अन्य विकारोंके निमित्तसे विपरीतसे दिखते हैं। उन जैसे हो जाते है। दर्शन मोहनीयके ३ भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यग्प्रकृति। इनमे से मिथ्यात्व ही भारी गड़बडी करता है। चारित्र मोहनीयको भी यही नचाता है। मिथ्यात्वमे ही जीवकी मति भ्रष्ट हो जाती है। अनन्तानुबन्धी ४ और दर्शन मोहनीयकी ३—इन सात प्रकृतियो के उपशाममे ही उपशम सम्यक्त्व होता है, किसीके अनन्तानुबन्धी ४ व मिथ्यात्व इन पाचके उपशमसे होता है। जैसे शीशीमे कीचड हो और वह नीचे बैठे जाय, इसी तरह ये सात प्रकृतिया सत्तामे तो रहती हैं, पर उदयमे नही आती तभी उपशम सम्यक्त्व होता है। यह उपशम सम्यक्त्व ही उद्धारकी पहिली सीढी है। जो भी पार हुए है वे सब मूलमे इसीके बलपर हुए हैं। जिस समय प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके सन्मुख सातिशय मिथ्या दृष्टि होता है, उस समय वह इतना काम कर लेता है, जितना काम ६ वें गुणस्थान वाला भी करता है। प्रकृतियोका बन्धापसरण कर लेता, कुछ प्रकृतिया बधके अयोग्य कर देता। इतना महान् काम मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वके सन्मुख होते समय कर लेता है जितना काम सम्यक्त्वदृष्टि और साधु करते हैं।

जीव पर इतना भार करमोका है जिसे यह आनदसे ढोता हुआ भी अपनी खबर नही लेता। सातिशय मिथ्यादृष्टि का पुरुषार्थ तो देखो वह कितना अपने ऊपरसे भार निकाल फेंकता है? जैसे किसीके ऊपर १ लाख रुपयेके ऋणका भार हो उसमे से वह ९९९९९) व ६३ पैसे २ पाई का ऋण चुकाकर कम कर देता है, सिर्फ १ पाई ऋण रह गया हो। उसे अपूर्व शातिका अनुभव होने लगता है।

## इस जीवने सम्यक्त्वके पाये बिना कितने घोर दु ख भोगे

तत्त्वार्थसूत्रमे ४ अध्यायोमे जीव तत्वका वर्णन है। उनमे से चारगतियो के जीवोका वर्णन करते हुए सबसे पहिले उन जीवोका वर्णन है जिसको पढकर कुछ वैराग्य वढे। इसलिये सबसे पहिले नरकगतिका वर्णन है। नरक सात होते हैं। ये सातो नरक घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय के आधारसे रहते है। ये वातवलय भी १ दूसरेके आधारसे रहते हैं।

नरकोके बारेमे सभी आस्तिक सत्त्व मानते हैं, परतु ये किसीने बताया कि कहाँ है? कैसे है? कितने वडे है आदि। इनका सच्चा वर्णन जैनधर्मके साहित्य के अन्दर मिलेगा और इसी तरह स्वर्गोका वर्णन भी पूर्ण आकार प्रकारसे कही भी दूसरे साहित्यमे नही मिलता है। कर्मकी वात तो और कही विल्कुल मिलेगी ही नही। यह जमीन १ लाख ८० हजार योजन मोटी है। इसके ३ भाग हैं, उनमे से पहिला खरभाग १६ हजार योजन मोटा है। दूसरा पंक भाग ८४ हजार योजन मोटा है और तीसरा अब्बहुलभाग ८० हजार योजन मोटा है। इनका नाम यह लौकिक व्यवस्थाके अनुसार है। आज जमीन भी खोदी जाय तो इसी हिसावसे मिट्टी निकलेगी। पहिले सूखी मिट्टी फिर कुछ कीचड सी, उसके वाद पानी निकलेगा। इसी हिसाबसे इन ३ भागोका नाम रखा गया है। इस नीचेके तीसरे हिस्सेमे पहिला नरक हैं। उनमे ३० लाख बिल हैं और वे बिल १३ पाथड़ोमे बटे हुए है। वे पाथडे कैसे हैं? जैसे १ चौकोर काठमे पोल हो और उसमे सिर्फ १ तरफसे बीचो बीच छेद हो, दूसरा कोई रास्ता निकलने को नही हो इस तरह के वे पाथडे हैं। वहा बिलमे ३० लाख पोले हैं और वे बिल दिशा और विदिशामें लाइनवार चले गये हैं और बीचके खाली

स्थानोमे जहा तहां तितर वितर भी हैं। अब्बहुल भागकी ८० हजार मोटी पृथ्वीमे १ हजार योजन नीचे और १ हजार योजन ऊपर तक कोई रचना नही है।

चारो दिशाओमे ४६–४६ बिल सीधे चले गये हैं और विदिशामे ४८–४८, बाकी सब तितर बितर हैं। आजकी जानी हुई जितनी दुनिया है वह वहांके नरकोके १ पटलके १ कोनेमे बन सकती है। जैनधर्मके सब आचार्योंने एकसा वर्णन किया है और वे वर्णन करने वाले आचार्य परम वीतरागी थे। जिनके हिंसा झूठ वगैरह ५ पापोंका सर्वथा त्याग था। इसलिये ये कथन प्रामाणिक है। विज्ञानसे ये बात भी सही है कि पहिले मोटी 'गहरी' वायुके आधारसे कोई चीज रह सकती है। उसके बादमे मध्यम वायु और बाद पतली होना आवश्यक है। नीचे १ राजू करीब बहुतसा आकाश छोडकर २८ हजार योजन मोटी पृथ्वी है, यहा दूसरा नरक है। वहा ११ पटल हैं। उनमे भी इसी तरह बिल बने हुए हैं। नारकीयोके उत्पन्न होनेका स्थान भी विचित्र होते हैं। उन बिलोंमे ऊपरसे नीचेकी तरफको कोई ऊटके मुख जैसी कोई किसी आकारकी, पोल जैसी बनी है उसमे से जन्मते ही नारकी कई बार बडे जोरोंसे उछलते हैं और लडाई एव मारकाट शुरु हो जाती है। आपसमे मारकाट करनेके लिये नारकियोने हाथ बढाया कि हथियार बन जाते हैं। जब गुस्सा आता है तब अपना कैसा भी शरीर बना लेते हैं। जैसे हथियार चाहिये वैसे ही वे शरीर परिणम जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यहीं तो नरक स्वर्ग बने हैं, किन्तु यहां जैसा मनुष्य पाप करता है याने क्षणभरमे हजारो जीवोका घात कर डालता है कि देखो कसाई वगैरह दिन भरमे कितने पचेन्द्रिय जीवोका वध कर डालते है, उन्हे भी क्षण क्षणमे वैसे ही मरना चाहिये। वह सजा इस मनुष्य भवमे नही मिल सकती है। वह सजा नरकोमे ही मिल सकती है, जहां क्षण क्षण मे मरण होता रहता है। वहां १ नारकी पर्यायमे ही असख्यात बार मरण करना पडता है। यहा १ भवमे बार बार तो नही मर सकते है।

तीसरी पृथ्वी २४ हजार योजन मोटी है। इसमे ८ पटल हैं। उसके बाद बहुत आकाश छोडकर नीचे २ नरक बने हैं। अन्तिम नरककी पृथ्वी

८ हजार योजन मोटी है, उसमे ५ विल हैं। इसके नीचे भी घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनवातवलय है। इन नरकोके नीचे ये हवाए ७ योजन चौडी हो गई हैं। जो अधिक हिंसा करते है, अधिक परिग्रह जोडते है, कुशील सेवन करते हैं वही नरकोमें जाकर उत्पन्न होते है। वहाके नारकी कृष्णवर्ण, महान्काले, विकरालरूप और विड्रूप होते हैं। जैसा आजकल रावणका रूप अथवा और अन्य राक्षसोका रूप विकराल बताया है, उसी तरह वे होते हैं। यद्यपि रावण बडा प्रतापी और सुडौल सुन्दर था। एक दुर्गुणके कारण उसे ऐसा बताया गया है। क्योकि ब्रह्मचर्य और शीलसे डिगनेका ये फल है। वहाँ बाप बेटा नही, कोई रिस्तेदार नही, वहा तो मा बेटा भी जाकर उत्पन्न हो तो यही बुद्धि उपजती है, इसने मुझे मारा था इसने मेरे साथ ऐसा बुरा किया था। इसलिये जिनको नरकोमे पैदा नही होना है, उन्हे हिंसा झूठ आदि पापको छोड देना चाहिये।

### ये सभी पाप वस्तुत तभी छूट सकेगे जब पहिले मिथ्यात्वका नाश कर दिया जावे

एक ध्रुव निज चैतन्यस्वरूपका आश्रय न लेनेसे ऐसे घोर दु ख इस जीव को सहना पडते हैं। कदाचित् यह जीव मनुष्य भी हो जाय, पशु पक्षी भी हो जाय तो भी सम्यक्त्वके विना उसका सदुपयोग क्या। निगोदधाम तो अनादि कालसे रहा ही आया। संसारमे कही भी आनन्द नही है।

कदाचित् यह जीव देवगतिमे भी उत्पन्न हो गया तो वहा भी सम्यक्त्व के विना क्या शान्ति हो सकती है ? सम्यक्त्व जिनके है वे किसी गतिमे हो, मोक्षमार्गी है, किन्तु साक्षात् मोक्षमार्गी मनुष्य ही हो सकते है। देवोके ४ निकाय होते हैं। भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी और कल्पवासी। उनमे से भवनवासी, व्यतर और ज्योतिषी देवोमे पीतलेश्या तक ४ लेश्याये होती हैं।

लेश्याओका उदाहरण है—६ आदमी कही जा रहे थे। उन्हे १ आमका वृक्ष मिला। उनमे से १ कहने लगा इस पेडको ही क्यो न गिराया जाय और मजेसे आम खाये जायें। दूसरा कहने लगा—पेडको क्यो गिराते हो ? आमोकी डाली काट ली जावे। तीसरा कहने लगा—नही, जहा जितनेमे आम लगे हैं

उतनी डाली काट ली जावे। चौथा कहने लगा—सब डाली क्यो काटते हो ? जिनमे पक्के आम लगे हो वे ही डाली क्यो न काटी जावें ? तभी ५ वा आदमी बोला—डाली क्यो काटते हो ? पक्के आम गिरा लो और मजेसे खाओ। तभी ६ वा बोला—भाई ! गिराते भी क्यो हो ? जो नीचे पडे हैं, उन्हीको खाकर सतोष क्यो नही कर लेते हो ? इसी प्रकार तीव्र मनकषायोसे इन ६ लेश्याओके भाव होते हैं। भवनवासी और व्यतर देवोके आवास इस मध्य-लोकमे खर भाग और अब्बहुल भागोमे हैं। ज्योतिषी देव भी मध्य लोकके ऊर्ध्व भागमे रहते हैं। इन देवोका वैभव चक्रवर्तीके वैभवसे भी कई गुना अधिक होता है। वैदिकधर्मके प्रसिद्ध दुर्गा, काली, भैरव आदि देव और जैनो के प्रसिद्ध धरणेन्द्र, पद्मावती क्षेत्रपाल आदि सब भवनवासी देव हैं।

ये भूत प्रेत जो स्त्री पुरुषोको लग जाते है, वे या तो सास बहूकी लडाई के कारण लगते हैं या भयसे अथवा कल्पनासे लगते हैं। आज लोग महावीर जी, पद्मपुरी सिर्फ इस लिये जाते हैं कि भूत प्रेत भाग जायें, धन पुत्र मिल जावें वहा प्रायः आत्मकल्याणकी कोई भावना नही तथा ज्योतिषी देवोंकी, ग्रहोकी पूजा भूत पिशाच धरणेन्द्र आदिकी पूजा अपना मतलब सिद्ध करने को की जाती है, जो मिथ्यात्वको पुष्ट करनेवाली ही है। उस समय भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिके वशसे वे धरणेन्द्र पद्मावती वगैरह आ गये थे, किन्तु क्या तुम्हारी पूजासे वे अब तुम्हारी सहायता करने भी आ जायेंगे ? अरे, वे तुम्हारी सहायता क्या करेंगे, वे खुद दुखी रहते है। जिनका पुण्यका उदय होता है उनकी सेवामे ये स्वय आ जाते हैं। जैसे जहां २ रामचन्द्रजी वनमे गये, वही देवो ने सहायताकी, बल्कि देवोने एक जगह १ रामनगर भी बना दिया था। इसलिये यही श्रद्धा करो कि १ जिनेन्द्र भगवान्के सिवाय किसी को मस्तक नही झुकायेंगे। पूजा प्रतिष्ठाके समय लोग देवी देवताओकी पूजा करते हैं तो क्या वे अपने पडौसोसे बडे हैं। वे हमको देखकर तरसते हैं और हम उनकी पूजा करते हैं। ये जितने देवी देवता पुजने लगे हैं उन सब का सम्बन्ध पहिले किसी तरह जैनधर्मसे अवश्य रहा है। पहिले १ राजा सूर्यके विमानमे जो अकृत्रिम चैत्यालय हैं उनकी पूजा करता था तो अब

लोग सूर्यको पूजने लगे। ये खुद अनत ससारी और दुखी है। इनकी पूजा करके तुम्हारा कौनसा हित साधन हो सकता है? भवनवासियोके २–२ इन्द्र होते हैं, क्योकि ये पुण्यहीन हैं। जो पुण्यहीन होते हैं उनके ही अनेक नायक होते है। उनमे २–२ प्रतीन्द्र भी होते हैं। भवनवासी ८ तरहके होते हैं। ये सभी देव प्राय: ईर्ष्यालु, भोगी व आकुलित रहकर जीवन बिता देते है। सम्यग्दृष्टि देव तो वहा भी निराकुल व स्वानुभवी होते हैं।

द्रव्योके सत्यस्वरूपके बोध बिना यह सब विडम्बना उठानी पडती है। जाति-अपेक्षा जगत्मे सर्व द्रव्य ६ प्रकारके हैं उनमे धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीव हैं और कायवान् है अस्तिकाय ५ हैं, अजीव अस्तिकाय ४ है। निश्चयत अजीवकाय ३ है, सर्व अस्तिकाय ४ हैं। जीव द्रव्य जीव कायवान् है। काल द्रव्य अजीव है किन्तु कायवान् नही है, वह सदा एकप्रदेशी रहता है। पुद्गल भी वस्तुत. एकप्रदेशी है, क्योकि पुद्गल द्रव्य तो परमाणुको कहते हैं, तो भी स्कन्ध जो कि परमाणुवोका निविड सम्बन्धरूप है उसकी अपेक्षा कायवान् कहा है। ऐसी मूर्तिकता अन्य किसी भी द्रव्यमे नही है। ये सब द्रव्य हैं।

### द्रव्यका स्वरूप

जो अपने आपमे एकहरा सत् है वह द्रव्य कहलाता है। जिसमे गुण और पर्याय होते हैं उसे द्रव्य कहते है। यह द्रव्य अपने गुण और पर्यायमे परिणमता रहता है। बाह्य पदार्थ तो उसे निमित्तमात्र बन जाते हैं। द्रव्य स्वय सिद्ध है, अपने आपमें अपने आप परिणमता चला जा रहा है। कभी भी परमे नही परिणमता। उसका स्वभाव ही ऐसा है। अनत आत्मा १–१ द्रव्य है। १ धर्मद्रव्य, १ अधर्म द्रव्य और १ आकाश और असख्यातकाल द्रव्य हैं। वस्तुतः द्रव्य अवक्तव्य है। केवल समझानेको ही उसकी गुण पर्याय वगैरह विशेषता बनाई जाती है। जैसे मा बच्चेको १ अगुलीसे चन्द्रमाको बतलाती है, किन्तु अगुली चन्द्रमा नही हो जाती है। गुण—जिसमे अर्थ विशिष्ट किया जाय उसे गुण कहते हैं। वस्तु और उसकी अवस्था है। वस्तु किसी न किसी अवस्थामे अवश्य रहता है, किन्तु अवस्था द्रव्य नही गुण द्रव्य के समझानेका एक

तरीका है। जिसमे ज्ञान शक्ति हो उसे आत्मा कहते है। पर १ गुणके कहनेसे पूरा द्रव्य तो नही जाना जा सकता है।

जो पर्यायोंके आविर्भाव, तिरोभाव से लेकर अनादिकालसे चला आ रहा है वह द्रव्य है।

द्रव्योके सबंधमे गुण भेदकी कल्पना करना सिर्फ १ समझानेका तरीका है। जैसे आदमीको ये अमुक गांवके सेठ हैं इत्यादि विशेषताओसे समझाया जाता है।

जिसमे रूप रस गंध स्पर्श पाया जाय वह पुद्गल है अथवा जिसमे पूर्ण गलन शक्ति हो उसे भी पुद्गल कहते हैं। ये सब द्रव्य सत् हैं। रूप सत् नहीं, गध सत् नही सत् तो वह एक ही है। ये सब समझानेको ही गुणोका भेद किया जाता है। किसीने गुण, समवाय, कर्म, सामान्य, विशेद आदिको सत् बतलाया है, किन्तु ये सब तो द्रव्यकी ही विशेपताए हैं। ये द्रव्यके विशेषण है। सामान्य भी द्रव्यमे सत् नहीं, किन्तु द्रव्यकी ध्रुवता जानने को उपाय है। इसी तरह तादात्म्य सबध भी द्रव्यसे अलग कोई वस्तु नही है। इस तरह यह द्रव्य एक अखड सत् है। वस्तु जो है वह वैसी ही है। उसको जाननेमे अनुभव ही सफल हो सकता है। वचन द्रव्यको नही बता सकता है। ये सब बतानेको सकेत है।

द्रव्यकी ६ जातिया बताई गई हैं। जैसे दिशा कोई चीज है क्या ? कल्पना भर है। जिस तरफसे सूर्य निकलता है उसे पूर्व दिशा कहते हैं, पर दिशा कोई सत् पदार्थ है क्या ? तब दिशा स्वतन्त्र सत् नही। इस तरह विचार करते करते आप इस निर्णय पर आजावेंगे कि जातितः द्रव्य ६ ही हैं। द्रव्य-उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे परिणमता रहता है। यह द्रव्य का मुख्य चिन्ह है। द्रव्यका कथन गुणपर्यायसे होता है। पर एक द्रव्यके गुण पर्याय दूसरे द्रव्यकी गुण पर्याय को कुछ भी परिणमन नही करा सकते हैं।

द्रव्य क्या—जो बने बिगडे ओर बना रहे

बना रहा कौन ? जो बने बिगडे। जो बने बिगडे वही बना रहता है। येतीनो गुण वस्तुमे से निकाल दो, फिर वस्तु ही नही रहेगी। एक घडा फूटा

तो उसमे १ खपरिया पर्याय पैदा हो गई। ऐसा नही हो सकता कि घडा फूट जाय और कुछ भी न बचे। बनी रहे और बिगड जाय, किन्तु कुछ भी न रहे, ऐसा भी कभी नही हो सकता। सदा बना रहे किन्तु बने बिगडे नही, ऐसा भी नही हो सकता है। जैनधर्ममे यही द्रव्यकी विशेषता है। वैसे ५ व्रत वगैरह तो अन्य धर्मोंमें भी बताये गये हैं, किन्तु द्रव्य स्वरूपकी स्वतन्त्रता ही जैन धर्म की विशेषता है।

जब सबसे पहिले गाडी चली तो गावके आदमी कहते थे कि गाडीके इंजिन मे कालीदेवी रहती है वही गाडीको चलाती है। इसी द्रव्यस्वरूपकी स्वतन्त्रता न समझने के कारण अन्य अनेक लोकोको ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी कल्पना करना पडी और बने रहनेकी साक्षीमे रजोगुण, सत्व गुण और तमोगुणकी कल्पना करना पडी है। सबसे क्षणिक बौद्ध हैं, किन्तु उन्हे भी उत्पाद व्यय मानना पडा तथा सन्तान क्रमसे ध्रौव्य माना है। यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ही जैन धर्मकी सबसे बडी विशेषता है। इसी तत्वको अन्य लोग नही समझे, तभी उन्हे द्रव्यकी सिद्धिमे अनेक प्रकारकी कल्पना करना पडी है।

सब द्रव्योके स्वरूपकी परीक्षा करनेका प्रयोजन आत्मद्रव्यके स्वरूपकी पहिचान है। जिनके आत्मस्वरूपकी पहिचान नहीं है उनके आत्मामें कार्मण-वर्गणायें एकक्षेत्रावगाहसे रहकर कर्मरूपमे अपनी अवस्था रखते हैं, जिनका उदय या उदीरणा जीवके विकारका निमित्त है।

### आस्रव अधर्म है

सभी लोग आनेवाले का स्वागत करते हैं और जाने वालो को बधाई देते हैं। आना भला कि जाना भला, जीना भला कि मरना भला, किन्तु सिद्धान्तमे आनेको बुरा और जानेको अच्छा बतलाया है। जीनेके बाद किसीने मोक्ष नही पाया, सबने मरकर ही मोक्ष पाया है। इसीलिये आस्रव दुखदाई हैं, इन्हें त्यागना चाहिये। मन, वचन, कायकी हलन चलन जडकी क्रिया है, इनसे जो योग होता है उनसे आस्रव होता है। आस्रवका काम आने भरका है। बन्धसे कर्मकी स्थिति, उदय आदि होता है। यही दुखका कारण है। जो निमित्तसे दुख मानते हैं, वे भूल करते हैं। दुखकी जड भावास्रव और भाव बन्ध है, जो

इसी समय अपना प्रभाव दिखाता है। कर्मोंका आस्रव १ समय का होता है। आस्रव और बन्धमें भेद है। ११ वें १२ वें और १३ वें गुणस्थानमें आस्रव होता है, किन्तु बन्ध नहीं होता है। जहां परिणामोंमें मलिनता अथवा योगवृत्ति आई कि आस्रव हो गया। कर्म तो अपना फल बहुत काल बाद देंगे, किन्तु आत्मामें मलिनता आई यही उसका तत्काल नुकसान है। आस्रवमें आत्माकी हानि निश्चित नहीं, जीवास्रव जो होता है उसका तो फल भोगना पड़ता है, किन्तु अजीवास्रव का फल मिले या न मिले। जीवास्रवके फलको लंबा समय नहीं चाहिए, उसका फल तत्काल मिलता है। कर्मोंके आस्रवका फल सागरों बाद मिले या न भी मिले।

मैं अभी चला आ रहा था तो एक बूढ़ा कह रहा था—मेरे बच्चोंको क्या मिट्टीमें मिला दोगे। ये मिथ्यात्वी मे पगे हुएके वाक्य हैं, ज्ञानी तो समझता है कि कोई किसीको सुख दुःख नहीं दे सकता है।

मोही जीव अपने समागमको देखकर फूला नहीं समाता, पर यह सब फेन या पानीके बबूलेके समान क्षणभंगुर है। जो उनके बारेमें विकल्प बनाया वह भी अभी समाप्त हो जायगा। व्यर्थ संस्कार बनाकर कर्मबंध किया।

क्लेशका कारण परकी दृष्टि है। जिसने अपनेको पा लिया उसके ज्ञानमें ऐसी कला है कि उसके आस्रव होता ही नहीं है। जो होता भी है वह अनंत संसारका कारण है। सभी जीव आस्रवमें बस रहे हैं, यदि वे ही आस्रवको देखें, निरास्रवको देखें तो अपने अखंड चैतन्य स्वरूप का दर्शन होकर आनंद ही आनंद प्राप्त हो। १ कहानी है—एक बार अकबर बादशाह बोला कि बीरबल! मैंने आज १ स्वप्न देखा है कि तुम तो १ गोबर के कुयेमें पड़े हो और मैं १ शक्करके कुयेमें पड़ा हूं। बीरबल बोला—ऐसा ही स्वप्न मुझे आया है, अन्तर सिर्फ इतना है कि तुम मुझे चाट रहे हो और मैं तुम्हें चाट रहा हूं। इसी प्रकार, आस्रवमें रहते हुए भी निरास्रव को देखें तो उसे आनंद ही आनंद प्राप्त हो। इतनी दृष्टि बनाओ, आस्रवको न देखकर उस निरास्रव आत्मतत्त्वको देखो। वर्तमान भाव क्या है? इसे न देखो इसे देखो। कि त्रिकालवर्ती मेरा भाव कौनसा है?

अपना निजका भाव अज्ञानीको अव्यक्त और ज्ञानीको व्यक्त करता है

जैनधर्म के सिद्धान्त ग्रन्थोमे पाचों पापोका वर्णन है, किन्तु उसमे ये बताया गया है कि तुम पापकी ओर मत देखो, उसें बुरा समझकर अपनी ओर देखो। ऐसा कोई वर्णन नही जो द्वादशागमे वर्णन न किया गया हो, पर अप्रशस्तका वर्णन इसलिये आता है जिससें तुम अच्छे बुरेको पहिचान कर बुरेको छोड दो और अच्छेको ग्रहण करो।

हिंसाका भाव किया तो आस्रव, कोई लुट गया और तुम्हें खुशी हुई तो आस्रव, कुटुम्ब परिवारमे प्रेम तो आस्रव, पूजा भक्ति करनेका विकल्प हुआ तो आस्रव, भगवान्मे अनुराग हुआ तो आस्रव। ये अवश्य है कि इनमे से कुछ अशुभ आस्रव हैं जो ससारी दुखके कारण है और कुछ शुभ आस्रव हैं जो ससारी सुखके कारण हैं। जिस काल आस्रव है, उसी काल दु.ख है। शुभ अशुभमे इतना फसा है कि किसीको १०००) हजार रुपया कर्ज देना है और उसे यदि ९५०) माफ होकर सिर्फ ५०) देना पडे तो वह खुशी मनाता है, पर श्रद्धामे ये है कि ५०) भी न देना पडते तो अच्छा था। इसी प्रकार शुभ भावको ज्ञानी अशुभसे बचनेको करता है, किन्तु श्रद्धामे तो यही रखता है जो इतना शुभ भाव भी न करना पडता तो अच्छा था।

जिनसे आत्मामें विकार उत्पन्न होता है, भेद विज्ञानके द्वारा उन्हे श्रद्धा से तो हटाओ।

सिर्फ शरीर सुखाना, कायक्लेश करना इनसे आत्माको लाभ नही। ज्ञानी को ऐसा करना नही पडता, वह तो हो जाता है। उसका आहार भी छूट जाता है, तपके द्वारा शरीर क्षीण हो जाता है। मोहीको इसमें अचभा लगता है, इसमे उनकी तारीफ क्या है ? तारीफ तो उन मोही जीवोंकी करना चाहिए जिन्हे मोह रहते हुए भोजन छूट जाय, धर्मकी रुचि आ जाय तो उनकी बहादुरी है। जब सीताको अग्नि परीक्षाके बाद वैराग्य हो गया तो राम मूर्छित हो गये। तब सीतासे कहा—कि राम मूर्छित हो गये, उन्हें समझा तो दो, पर उस समय कौन किससे बोले ? रामको अपना मानने वाला मोह

तो चला ही गया था। इसी प्रकार निर्मोहीका ससार छूट जाता है वह छोडता नही है।

जीव स्वभावतः विकारी नहीं है अत विकार छूट जाता

एक वार दतियाके राजा जा रहे थे। रास्तेमे एक कौली मिला और वोला-ओ रजुआ! हाथी वेचेगा क्या? राजाको वडा गुस्सा आया। तब मत्रीने समझाया कि अभी उससे कुछ भी न कहिये, राजसभामे बुलाकर कहेगे। दूसरे दिन वह कौली राजसभामे बुलाया गया। राजाने कहा– क्यो रे! मेरा हाथी खरीदेगा। कौली वोला--महाराज क्या वात करर हे हैं? क्या कुछ नशा कर लिया है? मत्री ने समझाया महाराज! उस समय ये नहीं बोल रहा था, इसकी शराव बोल रही थी। जो प्राणी पुद्गल कर्मके उदयमे जुड कर अपनेको विकारी बनाते हैं उसको परसमय कहते हैं। सच्चे दरिद्र वही हैं और वे दयाके पात्र हैं।

धनको पाकर जिसकी उसमे गृद्धता रहती है वे हमेशा ही दुखी ही वने रहते हैं।

मन वचन कायके भोगोको आस्रव कहते हैं। जो १ निरास्रव भाव पर दृष्टि रखते हैं वे कारण–परमात्मा एक दिन कार्य–परमात्मा बन जाते हैं। जैसे दुष्टोके प्रेमसे दुष्टोका ससर्ग वढता है। उसी प्रकार आस्रवके प्रेमसे आस्रव बढता है। जिन्हे आस्रव चाहिए वे आस्रवसे प्रेम करें और जिन्हें निरास्रव चाहिए वे निरास्रवमे रुचि करें। निरास्रवकी दृष्टि परम अमृत है।

'सु दधातीति सुधा' जो उत्तम स्थानमें धारण करे उसे सुधा कहते है। वह सुधा ज्ञानभाव है। अमृत भी इसी पारिणामिक भावका नाम है, जिस के आधारसे अमर पद मिलता है।

निरास्रवसे गिरनेका नाम आस्रव है। पुण्यसे धर्म नहीं होता है। भगवान् से मेरा धर्म नहीं होता, धनसे तथा कायक्लेशसे भी धर्म नही होता है। धर्म अपनी आत्मासे होता है। उसमे शुभ विकल्पोकी भी आवश्यकता नही है। धर्मको परद्रव्य, किसी भी क्षेत्र, किसी पर - भाव या किसी कालकी अपेक्षा नही, वह तो अपने आपमे कभी भी हो सकता है, किन्तु चाहिये योग्यता, जिस

प्रकार गीले कपडेमे धूल चिपट जाती है उसी तरह रागीको कर्मका आस्रव होता रहता है और कषाय होने पर वह बध रूप होकर दु खका कारण बनता है।

अशुभोपयोगसे बचनेके लिये शुभोपयोगवृत्ति होना भी साधककी एक साधना है।

**अधर्मको छोड़कर धर्मप्राप्त करनेके बीचकी सघिया व्रत है**

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह--इन पाच पापोका त्याग करना व्रत है। ससारमे रुलनेका कारण मिथ्यात्वके बादमे पाच पाप ही हैं। जहा मनुष्यमे अविवेकपूर्ण अनर्गल प्रवृत्ति होती है, वहा समझो कि ये मिथ्यादृष्टि पापी है। जिसे स्वभावकी दृष्टि नही होती वही ऐसी अनर्गल प्रवृत्ति करता है। यद्यपि स्वभावकी दृष्टि इतनी सरल और स्वाश्रित है कि सहज ही प्राप्त हो सकती है। पर आज उसे बरबाद कर रहे है। झगडेकी जड भी यही मिथ्यात्व और पाप प्रवृति है। अज्ञानी जीवने मान लिया कि मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक धर्मका हू, बस दगा फिसाद होने लगा। धर्मके नामपर दगा फिसाद होना एक मिथ्यात्वका ही प्रभाव है। जिसने पर्यायमे आत्मबुद्धि करली उसे ही झगडा सूझता है। दूसरो पर अत्याचार करना, हिंसा करना, अधिक परिग्रहमे आनन्द मानना, किसीकी बुराई करना इन सबका मूल मिथ्यात्व ही है। जिसमे सम्यक्त्वकी ज्योति होती है, उसे न कलह सूझता, न किसी की बुराई, न अन्याय, अत्याचार करता है और न परवस्तुमे 'स्वत्व' की वृद्धि करता है। जितना जिसका परिग्रह उतना उसका सकट बढता जाता है। उतनी चिन्ता और आकुलता होती है। सम्यक्त्वी कभी अनीति नही करता है, किसीका बुरा नही सोचता, अत्याचार और दुराचार भी नही करता है। जब परवस्तुमे 'स्वत्व' की दृष्टि ही न रही तब किससे वैर, किससे विरोध करेगा ? उसकी अपने आप प्रवृत्ति सदाचार रूप बढती जाती है। सम्यग्दर्शनके होने पर ही उसके देश व्रतकी स्थिति हो सकती है। जितने अशमे उसके पापोका त्याग है उतने अशोमे उसके व्रत हैं और जितने अशो मेव्रत नही, उतने अशोमे उसके पाप है, इसलिये इनको देश व्रत कहते हैं।

देशव्रत और महाव्रत इन दोनो व्रतोसे आस्रव होता है। आस्रव-आस्रवमें अन्तर है। देशव्रत और महाव्रतमे प्रवृत्तिका भाव है, इनमे पालन करनेकी प्रवृत्ति है, इसलिये ये पुण्यास्रवके कारण है। ये भी सम्यग्दर्शन सहित हो तो शातिके साधन हैं। इनमे कष्ट कुछ भी नही होता। जब जगत की असारता समझमे आ जाती है तभी ज्ञानी देशव्रतकी ओर बढता है। अरे भाई! आख बन्द कर नही चले, खोलकर चले, अशुद्ध नही खाया, शुद्ध भोजन कर लिया कितने जन्मोसे शुद्धाशुद्धके भेद बिना खाते पीते चले आ रहे हैं, अब इस अमूल्य मनुष्यभवको पाकर एक बार शुद्धतापूर्वक भोजन करके भी देखो, इसमे कोई खास असुविधा नही, कठिनाई नही। हा बाहिर आने जानेमें कुछ कठिनाई पडती है, किन्तु जो नियमका पाबन्द हो जाता है, वह उसे हर स्थान पर निभा सकता है। देशव्रतमे ये प्रतिमाएं पहिलीसे लेकर सातवी तक गृहस्थोमे गृहस्थोको पालन करनेकी थी, किन्तु आजकल ये प्रतिमायें ही पाल कर घर छोडने लगे और अपना आकर्षण बनानेके लिये अधिक दिखावा पालन करने लगे, इससे लोगो को कठिन मालूम पडने लगी। लोग ये ही समझने लगे कि घर छोडने पर ही प्रतिमाएं पालनकी जा सकती हैं। थोडा शुद्ध भोजन करने लगे, प्रतिमाओ की विधि संभाल ली, प्रतिमाएं हो गई, किन्तु आजकल इस सोलामे कही १५ हो गया तो बस समझो क्रोधका पारा चढ गया। व्रतमे मन वचन कायसे चलना चाहिए था, सो कायसे तो चल दिए, पर मन वचनसें नही चल सके। इसीसे व्रत एक विडम्बनाकी वस्तु बन गई। जब तक क्रियामे विवेक और शाति प्राप्तिकी इच्छा नही, तब तक वह विडम्बना की ही चीज बन जाती है। शुद्ध भोजन करने से भावनाएं भी शुद्ध, बीमारीसे बचे, डाक्टरोकी पूजासे बचे, व्यर्थ के खर्चसे बचे। इस तरह शुद्ध भोजन करनेसे बहुत सी आपत्तियोंसे बच जाते हैं और इससे गृहस्थकी शोभा है। पात्रदान भी निर्दोष कर सकते हैं। पात्रदानको कोई नई खटपट नही करनी पडती है। साधुके धर्मका श्रावक साधक बन सकता है और श्रावकका साधु धर्मसाधनामें सहायक बन सकता है। पात्र जिस समय भी आजाय उसी समय आहार दान कर सकते हैं। इस तरह शुद्ध भोजन करनेमे सभी तरहकी सुख सुविधा

है, फिर आप लोग क्यो नही देशव्रत पालन करनेका अभ्यास डालकर उत्तम मार्ग अपनाते हैं।

**निर्विकल्प धर्मकी सिद्धिके लिये आरभका व परिग्रहका त्याग जरूरी है**

मुनिने आरभ, परिग्रह और आडम्बर इसलिये छोडा है कि विकल्प कम हो, पर बाहिरसे तो आडवर कम हो गया, किन्तु विकल्प बढ गये तो घर छोडने का क्या लाभ हुआ ? इसी विकल्प छोडने के लिये गृहस्थ हमेशा लालायित रहते हैं। तभी प्रत्येक गृहस्थका लक्ष्य साधु बनकर आत्मकल्याण करनेका रहता है। गृहस्थको हमेशा अपना दैनिक कर्तव्य यथायोग्य पालन करना चाहिए। जैसे कोई गृहस्थ देवपूजा तो बडे भक्ति भावसे करे, किन्तु न तो कभी पात्र दान देवे और न कभी स्वाध्याय करे तो उसकी भक्ति वैसी ही होगी जैसे कोई नया कुरता फटी धोती आदि पहिनकर बेढगा रूप बनावे, किन्तु ये कभी भी शोभाके पात्र नही है। देवकी पूजा करना, गुरुकी उपासना करना, स्वाध्याय करना, सयम पालन करना तथा इच्छाओका निरोध करके तप करना, दान करना ये गृहस्थके आवश्यक षट्कर्म हैं। जिस प्रकार मानवको कपडे पहिनना आवश्यक है उसी प्रकार ये षट्कर्म गृहस्थको आवश्यक हैं। आजकल मनुष्य आभूषण एव वस्त्रोमे कितना खर्च करते हैं किन्तु ज्ञानकी सेवामे कुछ भी खर्च नही करना चाहते हैं। इस ससारके दु:खोसे छूटना चाहते होतोज्ञानकी आराधना करना आवश्यक है।

ज्ञानकी आराधना आत्माकी आराधना है। ज्ञानकी आराधना परमात्मा की आराधना है। ज्ञानकी आराधना धर्मकी आराधना है। शुद्ध परिणतिको प्राप्त हुआ ज्ञान साक्षात् धर्म है, शुद्धपरिणतिको प्राप्त हुआ आत्मा साक्षात् धर्म है और यही शुद्धभाव मोक्षतत्त्व है।

इस प्रकार मोक्षतत्वके विषयमें कहकर अब अन्तमे मङ्गलभावरूप विनय करते है.—

## स्वस्ति ॥१८॥

यह शुद्ध परिणाम, यह मोक्ष तत्त्व, यह साक्षात् धर्म कल्याणकारक होओ। स्वस्तिका अर्थ कल्याण, विनय, नमस्कार, सर्वस्व अर्पण आदि हैं।

शब्दार्थ तो यह निकलता है कि "अत्युत्तम है"। स्वस्तिका सन्धिविच्छेद सु+अस्ति इस प्रकार किया जा सकता है। वैसे तो यह शब्द निपात है।

लोकमे कुछ मङ्गल है तो यही कि मोह क्षोभरहित जीवका निर्विकार परिणाम है। केवलीभगवान्ने इस लोकोत्तर विकासको धर्म कहा है। अरहत, सिद्ध व साधु परमेष्ठी तो व्यवहारमे हमारे लिये मङ्गल हैं। निश्चयसे तो स्वकीय निर्विकार परिणाम ही स्वका मङ्गल है। अतएव चत्तारि दडकमे अरहत, सिद्ध व साधुको मङ्गलरूप कहकर पश्चात् धर्मको मङ्गलरूप कहा है। पहिले साधनभूत मङ्गलका वर्णन किया है, जिससे योग्यतारूप मङ्गलकी प्राप्ति होती है।

लोकोत्तम सत्त्वको कहते हुए भी पहिले श्री अरहत, सिद्ध, साधुको लोकोत्तम कहकर स्वके लिये निश्चयस्वरूप जो लोकोत्तम है उस केवलिप्रणीत धर्मको लोकोत्तम कहा है।

शरणभूत चारमे भी निश्चयसे तो स्वधर्म ही शरण है, व्यवहारसे अरहत, सिद्ध, साधु परमेष्ठीको भी शरण कहा गया है।

निजधर्म या चैतन्यस्वभावकी उपासना ही हमे वास्तवमे शरण है। यह उपासना एक ध्रुव स्वभावके उपयोग बलसे प्राप्त होती है।

मोहवश जीवने विषय कषायमे स्वस्तिकी कामना की, किन्तु हुआ क्या सो अब भी देख रहे हैं। जैसा पदार्थ सहजस्वरूपसे अस्ति अर्थात् 'है' वैसी ही दृष्टि करना स्वस्ति, मङ्गलरूप बननेका उपाय है।

यह नरजन्म बडा दुर्लभ है। इसको पाकर यदि अमङ्गल अर्थात् विषय कषायमे ही व्यतीत कर दिया तो इस जन्मका पुन पाना बडा कठिन है। अतः आत्मस्वरूपके उपयोगसे सर्व अमङ्गलोको दूर कर निर्विकल्प समाधिरूप मङ्गल तत्त्वकी, धर्मकी उपासना करना सत्य कर्तव्य है।

यहा दृश्यमान पदार्थका हितरूप विश्वास न करो। यह सब मायारूप है। यह ससार तो बनता बिगडता रहता है। जैसे बच्चा पैरके ऊपर रेता इकट्ठी करके भटूना बनाता हो और उसमें पैर निकाला कि वह १ क्षणमे मिट गया।

इसी प्रकार यह संसार बनता बिगड़ता है। इसलिये बाह्य फसाव न रखकर अपने स्वभावमें रहे, उसीका स्वास्तिकार्य बनता है।

॥ मोक्ष नामक सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥

—: * :—

# अथ अष्टम अध्याय

## पर्यायतो नानात्मगुणस्थानानि ॥१॥ श्रद्धाचारित्रयोगैः ॥२॥

पर्याय, दशा, हालत, अवस्था—ये सब शब्द एकार्थवाची हैं। सम्पूर्ण सत् निरंतर वर्तते हैं और प्रतिसमय अपनी कुछ न कुछ हालत अवश्य रखते हैं। इसी प्रकार श्रद्धा, चारित्र आदि सभी गुण परिणमन करते रहते हैं, चाहे यह जीव कहीं भी हो नरकगतिमें या मनुष्यगतिमें। ये गुण तो सभी जीवोंमें निरन्तर परिणमन करते रहते हैं। सिद्धोंमें गुणस्थान नहीं होते हैं, क्योंकि गुणस्थान वहीं पाये जाते हैं जहां गुणोंकी अपूर्णता होती है। जीवोंकी दर्शन मोहनीय और चारित्रकी सापेक्ष अवस्थाको गुणस्थान कहते हैं। इसीलिये गुणस्थानोंको मोह और योग सापेक्ष भी कहा है। आत्माके श्रद्धा चारित्र आदि गुण अच्छे और बुरे होते हैं। साधारण अस्तित्व आदि गुण न अच्छे होते हैं न बुरे। गुणस्थानोंमें श्रद्धा और चारित्रकी विभिन्न अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। आत्माकी विभिन्न अवस्थाएं तभी होती हैं जब कुछ कारण होता है। यद्यपि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कुछ परिवर्तन नहीं करता है, किन्तु परिणमन करने वाले की ही यह विशेषता है कि वह मोह योगके निमित्तसे परिवर्तन करता रहता है। मोह याने मोहनीय कर्म और योगके माने परिस्पंदन। मोहके निमित्तसे आत्माके गुणस्थान बनते हैं। २ दर्शन मोहनीय और अनतानुबंधी कषाय चारित्रमोहनीयसे मिथ्यात्व गुणस्थान बनता है। इनके उपशम क्षय, क्षयोपशम से अविरति सम्यक्दृष्टि चौथा गुणस्थान बनता है। सम्यक् प्रकृति सर्वथा सम्यक्दर्शन का घात नहीं करती है, उसके उदयमें क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। जहां सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके मिश्रितभाव होते हैं उसे सम्यग्मिथ्यात

नामक तीसरा गुणस्थान कहते हैं। जिसको उपशम सम्यक्त्व हुआ हो, उसको अनन्तानुबंधीका उदय आजाये और दर्शन मोहनीयका उदय नहीं आवे वह सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। दर्शन मोहनीयकी दृष्टिसे सासादन गुणस्थान पारिणामिक है। वैसे उसकी दशा भी औदयिक ही है। सब गुणस्थानोंमें उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है, किन्तु सासादनमें नहीं है।

आत्मप्रदेशोंके आस पास रहनेवाले कर्मपरमाणु प्रतिसमय बंधको प्राप्त होते रहते हैं। देखो यह विचित्रता यदि ईश्वर फल देने वाला हो तो इन अनंत जीवोंका प्रतिसमयका हिसाब कैसे रख सकता था। जिनके संयम नहीं, सम्यक्त्व नहीं, चारित्र नहीं उनको तो प्रति समय बंध होता है और कहो ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक का बंध हो सकता है। क्या सोते, क्या जागते कर्मबंधमें अन्तर नहीं। एक आदमी दिखनेवाला धर्म कर रहा है, किन्तु आत्मामें क्रोध मान माया और लोभका उद्वेग आता रहा तो वहाँ भी बंध होहो रहा है। हां स्वरूपदृष्टि आनेपर संसारवर्धक बंध नहीं होता। यह प्राणी यह नहीं सोचता कि किसपर कषाय करूं ? हमारा ज्ञान केवलज्ञानकी तुलना छोड़ो मन पर्यय और अवधिज्ञानकी अपेक्षा भी कितना तुच्छ है ? शरीर भी अपना नहीं, एक दिन मिट जाना है। कुटुम्ब परिवार आदि तो हमसे अत्यंत भिन्न ही हैं और यह धन जिसपर तू फूला नहीं समाता, अपनी चीज नहीं, फिर किस पर ममत्व करता है ? जिससे ममत्व किया वही कषाय हुई और आत्मा बंधन में पड़ गया। इसलिये भाई ! अपनी करुणा करके रागद्वेष मोहसे अब तो विश्राम लो, तभी ऐसी स्थिति बन सकती है कि गुणस्थानकी ऊंची अवस्था पाकर सुखी बन जाओ। जिसका ये भाव बना मैं शरीर हूं, मैं श्रावक हूं, मैं व्रती हूं, मैं मुनि हूं, मैं धनी हूं, मैं समाजका नेता हूं वह कभी भी संसारकी इन पर्यायोंसे नहीं छूट सकता। अरे भाई ! तुम तो ध्रुव चैतन्य तत्व हो। यदि एक साधु घानीमें पिलकर भी यह सोचता है मैं साधु हूं मुझे शांतिसे ये सब उपसर्ग सहन करना चाहिये तो वह मिथ्यादृष्टि कभी संसारसागरसे पार नहीं हो सकता है क्योंकि उसने अपनेको साधुपर्यायरूप समझा। जीव जैसा अटल विश्वास बनाता है एक दिन वह पर्यायसे भी वैसा ही बन जाता है।

**दर्शन, ज्ञान, चारित्र, श्रद्धा, सुख और शक्ति ये आत्माके प्रसिद्ध छह गुण हैं**

जब तक अज्ञान दशा है तब तक उल्टी श्रद्धा है। थोडा जानना हानिकर नही, किन्तु अधिक जानकर भी उल्टा जानना बहुत ही हानिकर है। जैसे दो मनुष्योको आखोकी बीमारी थी। एक को तो कम दिखता था और दूसरेको सब कुछ पीला पीला दिखता था। कम दिखने वालेको दवा दी गई तो वह तो दवा खाकर अच्छा हो गया। दवा दोनोकी एक थी, किन्तु जिसे पीला दिखता था उसे भी चादीकी कटोरीसे मोतीभस्म गायके दूधमे बतलाई थी। जब उसके सामने दवा दी गई तो वह चादीका कटोरा मोतीकी भस्म देखकर कहने लगा कि ये तो पीतलका कटोरा है इसमे हरतालकी दवा क्यो दे रहे हो ? ये तो मोतीकी भस्म नही है। ये पीली पीली कौनसी दवा दे दी है ? मैं इसे नही खाता, आखिर दवा न खाकर वह कभी अच्छा नही हो सका।

यदि गोम्मटसारकी ऊची कथनी और राघव मत्स्यकी लम्बाई चौडाई बारीकी से जान भी ली तो आत्मज्ञान बिना ये दु.ख हैं ऐसी प्रतीति बिना इससे कुछ आत्माका भला होनेका नही है। ये सब विज्ञान है, इस विज्ञानकी अपेक्षा आत्मज्ञान थोडा सा भी कल्याणकारी है। भूतार्थसे जो अपनेको देखता है तभी सम्यग्दर्शन होता है। यदि पर्यायमे बुद्धि अटक गई कि मुझे ये सब क्या समझेंगे तो वह निरतर पर्यायमे ही अटका रहेगा। जब तक निजके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप स्वचतुष्टय और परचतुष्टयको नही समझेगा तब तक कल्याण कैसे सभव हो सकता है ? अरे ! ये ज्ञान तो वदर नेवला आदि जीवको भी हो जाता है, तब मनुष्यको क्यो नही हो सकता ? अवश्य हो सकता है। स्वानुभूति होने पर जब आगे बढता है तो 'अ' माने ईषत्, प्रत्याख्यान माने संयमका आवरण करने वाली कषाय अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाती है। जो देशसंयम चारित्रका घात करती है अथवा जिसे सयमासयम चारित्र भी कहते हैं उसका घात करती है अथवा प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमे जो चारित्र नही होता वह भी देश सयम कहलाता है और प्रत्याख्यानावरण कषायके अभावसे व सज्वलन कषायके सद्भावसे जो चारित्र होता है उसे सकलचारित्र या सकल-संयम कहते हैं।

यदि आत्मश्रद्धा है तो अच्छे गुणस्थान होते हैं और यदि परमें दृष्टि है या संयुक्त दृष्टि है तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही अनतकाल तक पड़े रहते हैं संयुक्त दृष्टि मे १ द्रव्यको अन्य द्रव्यसे उत्पन्न मानता है। जैसे ये उजेला किस का ? तो समझता है कि सूर्यका उजेला है। अरे भाई ! इस द्रव्यमें सूर्यका उजेला कहांसे आया। सूर्यका उजेला तो सूर्यमें है। अग्नमें गरमी किसकी ? अग्नि की तो ये भी सयुक्तदृष्टि है। ये एकेन्द्रिय जीव हैं, ये दो इन्द्रिय जीव हैं, ये तीन इन्द्रिय जीव हैं, ये सब सयुक्तदृष्टिके खेल हैं। अतः कौनसा काम किया जाय जिससे सब उलझनोंसे बचे ? जब तक वस्तुकी स्वतन्त्रता, असंयुक्तता समझमें नही आती तब तक भूतार्थ दृष्टिसे पदार्थोंको समझनेकी आवश्यकता है। मैं पडित हूँ, मैं त्यागी हूँ इन सब सयुक्त दृष्टियोको छोड़कर मैं एक ध्रुव चैतन्य आत्मा हू। इस दृष्टिको केन्द्रमें लाकर समझाया नही जा सकता है, जाना जा सकता है। सुखका अनुभव तभी होता है।

मैं अमुकका पिता, अमुकका पुत्र ये सबध मुझमें कुछ नहीं। कपड़े सिल-वाये, सल पड गया तो कहता है कि तूने तो मेरा नाश कर दिया, बिगड़ता है, दुःखी होता है। ये सब सयुक्तदृष्टिके फल हैं। इसलिये एक ही शुद्ध निर्विकार चैतन्य आत्मा ध्यानके लायक है, सुखका साधन है, परदृष्टि सुख का साधन नही। लाखोंका टोटा हो, प्रशसा या निन्दा हो, किन्तु अपनी स्वभाव दृष्टि हो तो ये हमे दुःखी नही कर सकते हैं। एक इस केन्द्रबिन्दुपर दृष्टि देने पर सब दु.ख दूर हो जाते है। ऊंचे गुणस्थान पहुचकर तभी हित साधन कर सकेंगे। इसके लिये व्यवहार रत्नत्रय व निश्चय रत्नत्रय द्वारा आत्मोपासना करना अपना कर्तव्य है। हमे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करनेके लिये पहिले क्या करना चाहिये सो कहते हैं:—

## जीवकी महिमा ज्ञानसे है

ज्ञानसे ही प्राणी शांति पाता है व ज्ञानसे ही आत्मा अन्य पदार्थोंसे महत्वशाली है। जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा जानना सच्चा ज्ञान है। पर्यायको भी जाने, गुणको भी जाने पर यथार्थ जाने तो वह भी जानना

सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानरूप वर्तना हितैषीका सर्व प्रथम कर्तव्य है। इस पर्यायका परिचय जीवको अनादि कालसे चला आ रहा है। पर्यायको पर्याय जानता रहे इसमे कुछ हानि नही, किन्तु पर्यायको ही आत्माका रूप समझने लगे यही मिथ्यात है और अनन्त ससारका कारण है।

यदि पर्यायसे देखा जाय तो गुणोके नाना रुप होते हैं। इस आत्मामे अनन्त गुण हैं, उनमे से दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, सुख, शक्ति और चारित्र ये छ मुख्य गुण हैं। इनमे से श्रद्धा और चारित्र गुण ही विकारी होता है, बाकी ४ गुण इन्हीके विकारी होनेके कारण विकृत परिणमन करने लगते हैं। बाकी अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्यगुण तो सभी द्रव्योमे पाये जाते हैं। अमूर्तत्व गुण कुछ द्रव्योमे, सूक्ष्मत्वगुण भी कुछ द्रव्योमे होता है। ज्ञानगुण भी कभी विकृत नही होता है, शक्ति आदि अन्य गुण भी इसी श्रद्धा और चारित्रके विकृत हो जानेसे विकृतसे लगने लगते हैं। ये गुण स्थान भी श्रद्धा और चारित्र गुणकी अपेक्षासे बन जाते हैं।

नीचेके ४ गुणस्थानोमे भी श्रद्धाकी अपेक्षा है। ऊपरके गुणस्थानोमें चारित्रकी अपेक्षा है। जैसे २ श्रद्धा और चारित्र बढते गये बढते गये वैसे ही गुणस्थान भी बढते गये। ये गुण आत्माकी शक्तिया हैं। अभेद दृष्टिसे उसे देखो तो आत्मा मात्र चिदानन्द घन है। गुणोका परिणमन भी पर्यायरूप होता है। जैसे ज्ञान गुणकी पर्याय मति ज्ञान, श्रुतज्ञान वगैरह और दर्शन गुणकी पर्याय चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन वगैरह। चारित्र गुणकी पर्याय सामयिक छेदोपस्थान आदि ५ चारित्र व असयम सयमासयम सभी गुणस्थान श्रद्धा व चारित्र गुणकी पर्यायसे सम्बन्ध रखते हैं। सभी गुणस्थान श्रद्धा और चारित्र गुणके परिणमन हैं। इसी प्रकार सभी मार्गणायें भी द्रव्यकी पर्यायसे या गुण की पर्यायमे सम्बन्ध रखती हैं।

### क्षणिक पर्यायमे आत्मबुद्धि करनेसे ही सारा क्लेश हुआ

यदि जीव पर्यायको पर्याय रूपसे जानता रहे तो हानि नही, किन्तु पर्याय मैं हूँ, ऐसा मानना आत्माको घातक है। पर्याय एक समयका परिणमन है, किन्तु तुम तो अनादि, अनन्त ध्रुव चैतन्य स्वभाव हो। जो इन द्रव्य गुण

और पर्यायरूप परिणमन करता है वह तुम हो। इनमें से पर्याय विनाशी है जबकि तुम अविनाशी हो। जो इन सब पर्याय रूप परिणमन करता है वह तुम हो। यदि ज्ञान पाया तो विवेकसे तो काम लो, अपने परायेकी पहिचान भी न कर सके तो तुम्हारा ज्ञान किस काम का ? पर्यायमेंक्या बड़प्पन मानते हो और क्या क्रोध मान माया लोभ करके आत्माको अनन्त संसारका पात्र बना देते हो ? मार्गणा, गुणस्थान जानने का मतलब है पर्यायका ज्ञान हो जाना, किन्तु ये सभी पर्याय अध्रुव हैं जबकि तुम एक ध्रुव तत्व हो।

भगवान्‌को हम जानते हैं तो पहिले उनकी पर्यायको जानते हो, फिर उनके गुणको जानते हो। जैसे किस प्रकार भगवान् गर्भमें आये और कैसे जन्म तप, ज्ञान और निर्वाण हुआ ? फिर उनके अनंतदर्शनादि गुणोंका ज्ञान करते हैं, किन्तु पर्यायको छोड जब गुण और गुणको छोड जब स्वद्रव्य पर लक्ष्य करते हैं आत्माका कल्याण तभी संभव है। सिद्धोंका ध्यान करते २ कभी भी आत्माको मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु सिद्धोंके द्रव्य गुण पर्यायको जानते जानते जब तक अपने द्रव्य गुण पर्यायको नहीं जानते हैं तब तक कल्याण नहीं।

भगवान्‌के स्वरूप तक पहुचनेमें द्रव्यका स्वरूप, पर्यायका स्वरूप जानना आवश्यक है। पर्याय २ तरहकी होती है—एक द्रव्यकी पर्याय दूसरी गुणकी पर्याय। आत्माके प्रदेशोंकी जो अवस्थायें हैं उन्हें द्रव्यकी पर्याय कहते हैं, जैसे मनुष्य, देव नारकी वगैरह। तथा आकार रूप परिणमन, प्रदेशवत्त्व गुणका विकार है वह भी द्रव्य पर्याय है। द्रव्यको गौणकर गुणस्थानमें बाधकर कथन करना गुणपर्याय कहलाती है।

गुणके स्थान नाना होते हैं। मिथ्यात्वके अन्तःस्थान भी असख्य होते हैं। सराग दशाके सभी गुणस्थानोंके स्थान असख्य हैं। जैसे १४ गोडोकी नसैनी होती है और आदमी उस पर चढ़ता जाता है, उसी प्रकार अनेक लोग समझते हैं कि गुणस्थानो पर चढा जाता होगा। साधक जैसा सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रमें बढता जाता है वही परिणाम गुणस्थान बढनेके साधन हैं।

आत्माकी कक्षायें, डिग्री या विकासको गुणस्थान कहते है। "देह जीव को एक गिने" वही मिथ्यात्त्व गुणस्थान है। इसीको मोही जीव, मूढमती अथवा मूर्ख जीव कहते हैं, किन्तु किसीसे यदि मूर्ख कह दिया जाय तो बुरा मानता है और उसीसे कह दिया जाय कि आप तो बड़े मोही मालूम पडते हैं तो वह कभी बुरा नही मानता है। यह मिथ्यादृष्टि जीव जडबुद्धि, पर्याय-बुद्धिसे अज्ञान अधकारमे सोया हुआ है, बेहोश है। उसे अपने कल्याणकी भावना भी नही उठती है, किन्तु ज्ञानज्योतिके जागृत होनेपर जीव पर्याय को पर्याय रूपसे जानने लगता है। अपनेको अपने रूपसे जानने लगता है।

**तेरा ध्रुव साथी ज्ञान गुण है**

अरे भाई! ज्ञानही भविष्यमे साथ देगा। ये सब समागम तो एक दिन छूट जाय गा। इसलिये ज्ञानी जीव ज्ञानमे जागता है और व्यवहारमे सोता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि ज्ञानमेसोता है और व्यवहारमे जागता है। दु:खोका मूल यही गुणस्थान है। इसलिये इस गुणस्थानको छोड कर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए।

अब इस ही मिथ्यात्व गुणस्थानका लक्षण कहते है.—

## विपरीताभिनिवेशो मिथ्यात्वम् ॥३॥

विपरीत अभिप्रायको मिथ्यात्व कहते है। वि माने २, परीत माने संयुक्त अर्थात् सयोगके अभिप्राय। दोके सम्बन्धकी बुद्धिसे हमेशा पर्यायबुद्धि होती है। जहा २ के सबधमे मिली बुद्धि है अथवा एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ करता है, परपदार्थहितकारी, परका परस्वामी है, सयोगी है, परका परसे तादात्म्य है, इस प्रकार तरह २ से सबंध रखनेवाले जो भाव हैं वे सव मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यात्व माने उल्टा, निश्चयर्थ तो यह है परस्पर सबन्धपना, क्योकि मिथ्या शब्द मिथ् धातुसे बना। आत्माको एक अखड सत् न मानकर परका सबध मानना विपरीत भाव है। धन कुटुम्ब शरीरको अपना मानना अथवा परभावमें स्वको एकत्व बुद्धि रखना मिथ्यात्व भाव है। ज्ञानी बात दो की करते हैं पर श्रद्धामे दो सयुक्त नही। जहा सयुक्त दृष्टि आई और जीव दुःखी हुआ। जहा भ्रम लग गया कि दु खी हुआ। भ्रमको

भ्रम जाने तो कोई हानि नही, किन्तु भ्रमको सत्यार्थ जाने तो मिथ्यात्व है।

आप बोलता नही है आप बोल भी नही सकता, हाँ सिर्फ बोलनेका परिणाम बना सकते हो, यह आत्मा न कर सकता है, करनेका परिणामभर कर सकता है। फिर बोलता कैसे है ? पहिले बोलनेके परिणाम किये, इससे इच्छा हुई, इच्छाके निमित्तसे योगोमे हलन चलन हुआ, योगके निमित्तसे शरीर मे वायुका हलन चलन हुआ। शरीरकी वायु चलनेसे जीभ दात ओठ वगैरह चलतेहैं। ऐसे निमित्तसे भाषावर्गणासे वचन निकलते हैं। जिस प्रकार हारमोनियमके जिस स्वर पर हाथ रखेंगे वैसा ही स्वर निकलेगा। इसी प्रकार यह शरीर भी एक हारमोनियम की तरह है। जो भाव किया उसका असर हम पर होता ही है। दूसरोके भावका असर हम पर कुछ भी नही होता, किन्तु हमको जो ख्याल आता है उसका असर हम पर होता है।

### अपनेमे भगवान् न दीखा तो समझ लो भगवान् नहीं दीखा

सभी भगवान्के दर्शन करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि भगवान्के शरीर या प्रतिमाको देखकर उसे ही भगवान् मानते हैं। वह भगवान् जिसको जानकर स्वयका भगवान् दिखने लगता है, जो ज्ञान दर्शन चैतन्यमात्र है उसे वह भगवान् नही दिखता है। उसे तो अतिशय सयुक्त समोशरणमे विराजमान मूर्तिरूपमे भगवान् दिखता है। यदि एक बार सच्चा तत्व जान लेवे तो फिर उसे कही भी सच्चा भगवान् दिखने लगेगा। निर्णय और विवेक के बिना जो क्रिया की जाती है वह सब मिथ्या दर्शन है। जिस प्रकार शुरुमें १ बर्तन उलटा रख दिया जाय तो ऊपर सभी बर्तन उलटे रखना पड़ेंगे, इसी प्रकार एक आत्मा के स्वरूप ज्ञान बिना सब क्रियायें मिथ्यात्व है और स्वरूप दृष्टिके बाद सभी सम्यक् हो जाती हैं।

जिसकी दृष्टि सयुक्त रहती है उसे हर जगह दो या अनेक ही दीखेंगे। दोषीको जिस प्रकार गुणीमे भी दोष ही दोष दिखते हैं अथवा किसी से झगडा हो जाय तो उसमे भी अवगुण ही अवगुण दीखेंगे। इसी प्रकार विपरीत अभिप्राय वालेको सब विपरीत ही दीखेगा।

जैसा वस्तुका स्वभाव है बस वैसा मान लो, विपरीत अभिप्राय न रखो, बस सुख ही सुख है।

देखो कहा भी है—

"चिन्मूरति दृगधारीकी मोही रीति लगत है अटा पटी।" मिथ्यादृष्टिके जो जो कार्य ससार वढानेके साधन है वे सम्यग्दृष्टिके निर्जराके कारण होते हैं। जो दिखानेके लिये धर्म करते है, उन्हें कुछ नही मिलेगा। जो गुप्त रहते हुए धर्मकार्य करते हैं वे सब कुछ करते है।

### लोकमे भी खोटे अभिप्रायसे किया उद्यम सफल नहीं होता

खोटा अभिप्राय लेकर जो कुछ भी करोगे, उसमे कभी सफलता नही मिल सकती है। जब खोटा भाव आवे, तब चाहे धर्म कार्य करनेका भी भाव उठता हो, किन्तु उस समय वह काम कभी नही करना चाहिये। खोटे भावको समाप्तिके यत्नमे लगना चाहिये। कैसा भी भाव आवे यदि परिणाम अच्छा नही तो वह दुखका ही कारण है। दिखानेको कुछ भी करना छल है। पहिले भाव शुद्ध बनावे तभी धर्मकार्य करे। यदि किसीसे झगडा हो जाय और कोई उस समय बीचमें बोल पडे तो वे झगडालू पहिले उसीसे निपटते हैं। इसी प्रकार काम करते समय यदि अशुभ भाव उठें तो पहिले उसीसे निपट लेना चाहिये। यदि भूमि स्वच्छ है तो फल मिलेगा। अन्यथा नही मिलेगा।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्मका निमित्त पाकर मिथ्यात्व आता है। जीव ही अपने परिणामसे मिथ्यात्व कर्मको बांधता है। मिथ्यात्वके छूटनेका उपाय एक सम्यग्ज्ञान है। इस लिये इस सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

देखो शुक्ल वाले महान् भद्रपरिणामी जीव भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं, किन्तु रातदिन मारा मार करने वाले कृष्णलेश्या वाले सप्तम नरकके जीव भी सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। पदार्थ जैसा स्वतन्त्र सत्तावाला है उसको वैसा मानना सम्यक्त्व की भूमिका है। देखो घानीमें पिलनेवाला कोई साधु कभी किसीसे राग द्वेष नही करता, किसीसे भी वैर विरोध नही करता, शांति पूर्वक उपसर्ग और परिषह सहन करता है और सोचता है कि मैं तो साधु हूँ, मुझे ये सब समतासे सहन करना चाहिये। इसी दृष्टिसे वह मिथ्या दृष्टि बना रहता है

और वे मारकाट करने वाले नारकीय जीव परम कृष्णलेश्यामे रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि हैं। उनके ४१ प्रकृतियोका निरतर सवर चल रहा है। अखडको खडरूपमे अथवा सयुक्त दृष्टिसे देखना मिथ्यात्व है।

जिनको अनादिकालसे कभी सम्यग्दर्शन नही हुआ उनके अनादि मिथ्यात्व हैं। अनादि मिथ्यादृष्टिके ५ प्रकृतियोकी सत्ता रहती है। सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिकी सत्ता इसके नही होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो जानेपर ७ प्रकृतियोकी सत्ता उसके हो जाती है। मिथ्यादृष्टि जीवकरण लब्धिमे आकर अनिवृतिके असख्यात भाग व्यतीत होनेपर अतरकरण करता है। ५ का अतरकरण होनेपर आगे उस काल उदयमे आसके वे कर्म नही रहते। जैसे कोई वकील चाहता है कि मेरी पेशी भादोमे न होकर सावन और कुआरमे हो तो भादोमे न होनेकी कोशिश करके उसकी सत्ता भादोमे न होने योग्य कर देता है अर्थात् कुछ सावनकी तारीखो और कुछ आश्विनकी तारीखें करा लेता है। तब भादोमे पेशी नही पडती। इसी प्रकार उस अन्तर्मुहूर्तमे ५ प्रकृतियोकी सत्ता नही रहती है। आत्मामे आगे उदयमे आनेवाले कर्मकी सत्ता रहती है। ५ की सत्तावाला अनादि मिथ्यात्वी है। यह मिथ्यात्व गुणस्थान १० प्रकार का होता है (इसका विशेष वर्णन गुणस्थान दर्पणमे देखें) अनादि मिथ्यादृष्टि आज तक भी एक समयमात्रको शातिकी सास नही ले सका।

## ससारमे जो जितना प्यारा, लगता है वह उतना ही दुर्गतिका साधन है ऐसा मानो

देखो-सुकुमाल प्यारा, सुकोशल प्यारा था। सुकोशल की मा ही दुश्मन बन गई। उसीके आर्तध्यानसे मरकर शेरनी हुई और सुकोशलका घात किया।

श्रद्धा अपनी स्वभावदृष्टिपर रखो, वर्तमानमे जो अवस्था दिख रही है वह मैं नही हू। जो हमेशा रहना नही, उसमे श्रद्धा क्या करना? जितनी अपनी स्थितियां बनती हैं उन सबमे रहने वाला एक मैं हूँ। जब तक यह श्रद्धा नही बैठती तब तक यह जीव गरीब है। निमित्तनैमित्तिक सबधमे वे परिणमन अपने आप चलते-रहते हैं।

'होता स्वय जगत् परिणाम। मैं जगका करता क्या काम॥' समागमके

सद्भाव अथवा असद्भावमे मुझे कुछ हानि लाभ नही, विभाव करेगा तो बंधेगा, यह एक वैज्ञानिक व्यवस्था है। सभी विभाव अपना परिणमन करके चले जायेंगे क्योकि ये क्षणिक हैं, किन्तु स्वभावदृष्टि आनेपर ये विभाव दूर हो जाते हैं। एक बार सम्यग्दर्शन होकर छूट जानेपर २ प्रकृतियोकी सत्ता बढ जाती है अर्थात् सादि मिथ्यादृष्टिके ७ प्रकृतियोकी सत्ता हो जाती है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अनतानत है। उनमे से जिनका पुरुषार्थ चमकनेको होता है वे मिथ्यात्व भावको छोडकर शिव बन जाते हैं। ऋषियोकी परपरासे यह ज्ञान मिला है, इसे पाकर इन समागमोके सबघसे न खोदो अन्यथा पछताना पडेगा।

अब इसी मिथ्यात्वके कालकृत भेदोको कहते हैं:—

**तदनादिबद्धस्यानादि ॥४॥ सम्यक्त्वच्युतस्य सादि ॥५॥**

अनादि परम्परासे निरन्तर जिनके मिथ्यात्वभाव अब तक चला आ रहा है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोके तो अनादि मिथ्यात्व होता है और जिन्होने कभी सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, किन्तु सम्यक्त्व छूट गया ऐसे जीवोंके जो मिथ्यात्व है उसे सादि मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थानमे विपरीत अभिप्राय होता है और यह अभिप्राय किसी का अनादिसे व किसीका कुछ ही समयमे चला आ रहा है। जो एक बार सम्यक्त्वसे च्युत हो गया ऐसा सादि मिथ्यादृष्टि मोक्ष अवश्य जायगा। वह अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र है। यद्यपि यह काल भी इतना है कि वह अवधिज्ञानका विषय नही। मिथ्यात्व परिणाम क्षणभंगुर है। प्रत्येक समय का मिथ्यात्व सादि और सान होता है। जिस मिथ्यात्व भावकी परपरा अविच्छिन्न रहे उसे अनादिमिथ्यात्व कहते हैं। अनतमिथ्यादृष्टि ऐसे भी हैं कि जिनका मिथ्यात्व कभी नही छूटेगा। सस्थान विचय धर्मध्यान बडा कठिन है, देखो तो सामान्यतया तीन लोककी रचना जिन्हें इसकी खबर नही उनका मोह छूटना बडा कठिन है। जिनको इस लोकका ज्ञान है उनका मोह अवश्य कम हो जायगा। अनादि सात मिथ्यादृष्टि जिनको अभी तक सम्यक्त्व तो नही हुआ, किन्तु आगे होगा। इनके २६ प्रकृतिकी सत्ता है। उसे अभी तक मिथ्यात्व

के टुकडे करनेका अवसर ही नही मिला है। सादि मिथ्यादृष्टिके २८ प्रकृति अथवा २७ या २६ की भी सत्ता रहती है याने २५ कपाय और मिथ्यात्वकी सत्ता रहती है। मोटे रूपसे अनतानुवन्धी ४ और ३ मिथ्यात्वकी सत्त रहती हैं। किसीके अनतानुवधी ४ और २ मिथ्यात्वकी सत्ता किसीके अनतानुवधी ४ और १ मिथ्यात्व—इस तरह ५ प्रकृतियोमे सत्ता रहती है। अनतानुवधी कषाय मिथ्यात्वकी बहिन है। ऐसी अवस्था भी होती है कि मिथ्यात्व है, किन्तु अनतानुवधी नहीं होती है। अनतानुवधीकी विसयोजना करदी और मिथ्यात्व गुणस्थानमे आ गया, ऐसा विसयोजक का मरण नही होता है और यह विसयोजना पर्याप्त अवस्थामे ही होती है। मिथ्यात्व गुणस्थान के वाद असयम सहित सम्यग्दर्शन पायेगा या सयमासयम अथवा अप्रमत्त गुणस्थानमे आयगा। पहिले गुणस्थानसे ६ वें गुणस्थानमे नही आता, सातवें गुणस्थानसे छठा गुणस्थान होगा।

## सातिशयमिथ्यादृष्टि जीवका पुरुषार्थ महान् होता है

सातिशय मिथ्यादृष्टि जीवकी शक्तिका अन्दाज तो करो कि वह कितना काम मिथ्यात्वमे रहते हुए करता है? अनन्त ससारको घटाकर नाममात्रको शेष रखता है। जैसे किसीका एक लाख रुपयेका कर्जा हो, उसे एक पाई का कर्ज बाकी रहे इतना कान हो जाता है पश्चात् सम्यग्दृष्टिको इतना काम नही करना पडता है। ७० कोडाकोडी सागरकी स्थिति वाले कर्म अत-कोडाकोडी सागर प्रमाण रह जाती हैं। यदि सम्यग्दर्शन बरावर रहे तो ६६ सागर पर्यन्त क्षयोपशम सम्यक्त्व रहेगा। जिस प्रकार गृहस्थसे त्यागीमे बननेमे या गृह छोडनेमें वडा काम करना पडता है। एक वार त्यागी बननेके वाद फिर आगे वढनेको उतना काम वाकी नही रहता है। यदि एक वार प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो गया, वह छूटकर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

ऐसा भी होता है कि तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ता है और मिथ्यात्व भी है। ये कब होता है? जिसने मिथ्यात्व अवस्थामे नरकायुका वन्धकर लिया तो वह नरकमे अवश्य उत्पन्न होगा, किन्तु मरणकालमे उसका सम्यक्त्व छूट जावेगा और नारक अपर्याप्त हो जायगा, इस समय यह जीव तीर्थंकर

प्रकृतिकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि है। पर्याप्तक होते ही अन्तर्मुहूर्त बाद वह वेदक सम्यग्दृष्टि हो जायगा। जिस प्रकार एरण्डके पोल वाली दो डडियोको बाधको और उसे पानीमे डालकर एक बार जोरसे खीच दो तो सब पानी बाहिर आ जायगा। इसी प्रकार एक बार तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लेनेके बाद वह निरतर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता रहता है। जिसके तीर्थंकर प्रकृति और आहारक शरीर व आहारक आगोपाग—इन तीनकी सत्ता हो वह मिथ्यात्व गुणस्थानमे नही आ सकता है।

जिसके आहारक शरीर और आहारक आंगोपागकी सत्ता है, पश्चात् वह सम्यक्त्वसे च्युत हो गया और मिथ्यादृष्टि हो गया, वह जब तक आहारिक द्विककी उद्वेलना नही हो जाती है, वह आहारक द्विककी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि जीव है। इसके क्षायिक सम्यक्त्व नही होता है। इस मिथ्यात्व अग्रहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व ऐसे दो भेद हैं और आगे अनन्त भेद है।

## सासादन सम्यक्त्व—सम्क्त्वासादने सासादनसम्यक्त्वम् ॥६॥

सम्यक्त्वकी विराधना होनेपर सासादन सम्यक्त्व होता है। जिस उपशम सम्यक्त्वदृष्टिके अनन्तानुबन्धीके उदय होने पर मिथ्यात्वके उदयसे होनेवाला मिथ्यात्व तो नही आ पाया, किन्तु सम्यक्त्व छूट गया उसके इस बीचके परिणामोको सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।

आय आसदयाति इति आसादन=अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्वकी आय को नष्ट करदे। इस आसादनके साथ जो हो उसे सासादन सम्यक्त्व कहते है। जैसे किसीसे कहा जाय कि तेरा सुख मिट जाय तो उसे खुशी होती है कि सुखका नाम तो लिया पर यह वाक्य खुशीका द्योतक नहीं है। इसी तरह यह सासादन सम्यक्त्वसे छुडाकर मिथ्यात्वमे ला पटकतने वाला है, इसलिये हर्षका घोतक नही है।

इसका दूसरा नाम सासन भी है। असनसे सहित अर्थात् सम्यक्त्वकी विराधना जिसके साथ रहे उसे सासन कहते हैं। इसका एक नाम सास्वादन भी हो सकता है। सम्यक्त्वके कुछ बिगडे स्वाद सहित हो उसे सास्वादन कहते हैं। इसमे पुरुषके वमनमें आये स्वादकी तरह अन्तिम बिगडा सम्यक्त्व का स्वाद रहता है। जैसे कोई पर्वतके शिखर पर से गिर पडे और जब तक

भूमिमे न आ पडे, ऐसी बीचकी स्थितिकी तरह जो सम्यक्त्वसे गिर जाय और मिथ्यात्वमें न आ पाय ऐसे बीचके परिणाम इस गुणस्थानमे हैं।। इस गुणस्थानमें चारो गतिके जीव होते हैं, परन्तु इस गुणस्थानसे मरण करके नरकगतिमे उत्पन्न नही होता है। हा नरकगतिमे जीव दूसरे गुणस्थानको प्राप्त अवश्य कर लेते हैं। इस गुणस्थानमे प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे छूटकर आता है।

द्वितीयोपशमसे छूटा हुआ जीव सासादन गुणस्थानवर्ती देवगतिमे जाता है और प्रथमोपशममे मरण ही नही होता। सासादनसम्यक्त्वीके मरणके समय १–२ समय बाकी इस गुणस्थानके रहे तो उसका वह गुणस्थान जन्म होने तक पूर्ण हो जाता है। वे विग्रहगति प्राप्त सासादन कहलाते हैं।

जो जीव जन्मस्थान तक पहुँचने पर भी सासादन गुणस्थानमें रहे आते और शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पहिले तक वे अपना गुणस्थान पूर्ण कर लेते है याने पश्चात् मिथ्यात्व गुणस्थानमे आ जाते हैं, उन्हे अपर्याप्त सासादन कहते हैं।

इस गुणस्थानका काल अधिक से ६ आवली होता है। सम्यक्त्वसे छूट कर इस गुणस्थानमे किसीके अनतानुबन्धी क्रोधका उदय आता है। किसीके मानका उदय आता है और किसीके मायाका, किसीके लोभका आता है। इस गुणस्थानको मिथ्यात्व बिना मात्र अनतानुबन्धी ही कारण होता है। इस गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति और आहारक शरीर और आहारक आगोणागकी सत्ता नही होती है अर्थात् इनमे से किसी भी एक की सत्ता हो तो इस गुणस्थानमे जीव नही जाता है।

**मोहकर्मकी अपेक्षासे सासादन सम्यक्त्व पारिणामिक भाव है**

इस गुणस्थानमे मोहकी ओर से पारिणामिकता होनेसे पारिणामिक भाव होते हैं, अर्थात् न दर्शनमोहका उदय है, न क्षय और न क्षयोपशम है और न उपशम है। अत दर्शन मोहकी अपेक्षा पारिणामिक भाव माना गया है। प्रत्येक बात रहस्यमय होती है। इस पारिणामिकताका मर्म पहिचाने बिना कुछ भी गलत मार्ग जाना जा सकता है। अध्यात्मतत्त्व भी गहन पदार्थ है

जैसे एक सेठ मर गया और यह कह गया कि इस शिखरमे रुपया गडे है तो माघ सुदी १५ को निकाल लेना। वह लडका धन शिखर खोदकर निकालने लगा, किन्तु एक वयोवृद्ध ने कहा कि तुम मन्दिर शिखर क्यो बरबाद करते हो ? तब उसने बताया कि मेरे पिताने बताया है कि इस शिखरमे रुपया गडा है सो निकाल लेना। तब उस वयोवृद्ध ने बताया कि माघ सुदी १५ को जहा इस शिखरकी छाया पडे, वहासे खोदो तो तुम्हे धन मिल सकता है। इस विधिसे उस लडके ने रुपये निकाल लिये। इसी प्रकार जो रहस्यको समझ जाता है वह आत्माका धन पा लेता है, बाकी सब उसकी खोज नही कर पाते हैं। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे गिरकर जो सासादन गुणस्थानमे आगया और यदि वह मरण करे तो देवगतिमे ही जायगा। ११ वें गुणस्थानमे भी मरण लिखा है पर होना नही है। उपशात कषाय गुणस्थानके कालके अन्तमें या बीचमे यदि आयुका क्षय हो जावे तो उसे तुरन्त चौथे गुणस्थानमे गिरना पडता है। इस अनन्तरताके कारण मरण माना गया है। सासादन गुणस्थानमे मरण करके जीव बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, असैनी पचेन्द्रिय और सैनीपचेन्द्रिय मे उत्पन्न हो सकते हैं।

नवीन आयुके उदयका नाम मरण है, इस दृष्टिसे जन्म मरण एक ही है। जिस प्रकार आखिरी सयोग और वियोग एक ही है। यद्यपि सासादनमे मिथ्यात्वकी तरह भाव होते हैं, किन्तु इन दोनो गुणस्थानोमे अन्तर जरूर है।

यहां जो पारिणामिक भाव कहे गये है, वे दर्शन मोहनीयकी अपेक्षा से कहे गये हैं।

सासादनका काल कमसे कम एक जीवकी अपेक्षा एक समय और अधिक से अधिक छ आवली है। सासादनसे मिथ्यात्व गुणस्थानमे ही जाता है। इस दूसरे गुणस्थानमें चौथे, पाचवे और छटवेंसे पहुच सकता है। उपशम सम्यक्त्वकी विराधनासे चौथेसे पहुच सकता है। उपशम सम्यक्त्व और सयमासयमकी विराधनासे पाचवेंसे दूसरेमें पहुच जाता है। उपशम सम्यक्त्व और महाव्रतकी विराधना एक साथ होने पर छटवें गुस्थानसे दूसरेमे पहुच सकता है।

इस गुणस्थानका सक्षिप्त नाम सान भी बताया है। अन याने अनन्तानुबन्धी और स माने सहित अर्थात् अनन्तानुबन्धी उदयसे जो गुणस्थान हो उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं।

अब सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका लक्षण कहते हैं.—

## मिश्राभिनिवेशो मिश्रसम्यक्त्वम् ॥७॥

इस गुणस्थानका मतलब है कि सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके मिले हुए परिणाम। अर्थात् समीचीन और असमीचीनभावका मिश्रण। जैसे कोई व्यक्ति सच्चे देवकी श्रद्धा भी करे और अन्य देवोकी भी श्रद्धा नही छोड सके, इसमे जैस मिश्रित भाव हैं अथवा दही और गुडमे जैसा मिला हुआ स्वाद आता है उसी तरहका सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका सम्मिलित भाव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहलाता है। उसमे न दहीका असली स्वाद आता है और न गुडका सच्चा स्वाद आता है, किन्तु उन दोनोका मिश्रित स्वाद ही आता है। इसी प्रकार इस गुणस्थानमे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका मिश्रित स्वाद आता है।

सम्यग्मिथ्यात गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात प्रकृतिके उदयसे होता है, परन्तु यह उदय शिथिल रूप है, क्षयोपशमकी तरह है, अत क्षायोपशमिकभाव है। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का भी दूसरा नाम मिश्र सम्यक्त्व है। इस गुणस्थानमे यद्यपि यह भी स्थिति रहती है कि मिथ्यात्व प्रकृति के सर्वघाती स्पर्द्धकका उदयाभावी क्षय तथा आगामी उदययोग्य इन्ही स्पर्द्धकोका उदयाभावरूप उपशम होता है।

सम्यग्मिथ्यात्व का उदय है, किन्तु इस कारणसे क्षायोपशमिक भाव नहीं है, क्योकि उपशम सम्यक्त्वसे तीसरे गुणस्थानमे आये हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वका उदयाभावीक्षय नही पाया जाता है, किन्तु उदयाभाव पाया जाता है। इस तरह क्षायोपशमिक माननेपर सादि मिथ्यादृष्टि जीवके भी मिश्र सम्यक्त्व वा सम्यक् प्रकृतिका उदयाभावीक्षय और उदयाभावरूप उपशम मिथ्यात्वका उदय होनेसे मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षायोपशमिक मानना पडेगा।

इस गुणस्थानमे यद्यपि अनन्तानुबधीके क्षयोपशमकी स्थिति रहती है, किन्तु इस कारणसे भी क्षायोपशमिकता नही है, क्योकि आदिके ४ गुणस्थान दर्शन

मोहके निमित्तसे माने गये है । तभी तो दूसरे गुणस्थानको भी औदयिक नही कहा गया है । दूसरी बात यह है कि उपशम सम्यक्त्वसे मिश्रमे आये हुए जीव के अनतानुबधीका उदयाभावी क्षय नही पाया जाता है, मात्र उदयाभाव पाया जाता है ।

इस गुणस्थानमे सम्यक्प्रकृतिका उदयक्षय या उसीका उदयाभावरूप उपशम और सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे भी क्षायोपशमिकपना नही मानना, क्यों कि उपशम सम्यक्त्वसे मिश्रमे आये हुए जीवके सम्यक् प्रकृतिका उदयाभावीक्षय नही पाया जाता मात्र उदयाभावरूप उपशम रहता है ।

ऊपर कहे हुए तीनो प्रकारसे क्षायोपशमिकपना का ज्ञान तो अवश्य कर लेना चाहिए, किन्तु इस गुणस्थानमे इस हेतुसे क्षायोपशमिकपना नही मानना चाहिए, क्योकि उन लक्षणोमे दोष आते है । इनका समझ लेना आवश्यक है ।

## जिस ओर रुचि हो वह बात सुगम हो जाती है

आप कहते होगे ये विषय तो कठिन प्रतीत हो रहा है । आपको जो द्रव्य इतनी कठिनाईसे कमाई जाती है वह तो कठिन प्रतीत नही होती और अपनी बात जो सरलतासे समझी जा सकती है, वह कठिन प्रतीत होती है । वीरसेनाचार्य ने बताया है कि जिसकी दृष्टि हो वह सभी चीज सरलतासे समझने आ सकती है, जिसकी रुचि नही वही कठिनता प्रतीत होती है । शास्त्र बांचते समय अपने यहां ये पद्धति नही कि पूछे कि कल क्या सुना था ? यदि ऐसी पद्धति हो तो सभी लोग सरलतासे समझने लग जायें । कठिन इसलिये है कि आपने सुना और चल दिये । आम्नाय स्वाध्याय का अभ्यास नही करते हैं । जो सुना हो उसका मनन करना आवश्यक हैं, यह भी एक स्वाध्यायका भेद है । जिस प्रकार जब मनुष्यमे धन कमानेकी धुन सवार होती है, तब वह न तो दिन गिनता है और न रात गिनता है, निरन्तर उसीका चिन्तन चलता है । इसी प्रकार यदि आत्मकल्याण की धुन सवार हो जाये तो फिर असंभव नही कि ये समझमे नही आवे । जिस वस्तुकी धुन सवार होती है वह सहज ही प्राप्त हो ही जाती है । हर वस्तुकी सीमा बनालो तो कभी दुखी नही हो सकते । धन कमानेकी भी इसी प्रकार सीमा बना लेना चाहिए तो अपने असली लक्ष्य

की ओर भी ध्यान जा सकता है। कुछ समय निकालकर अपनी ओर देखनेमे भी लगाओ। सोचे कि हम दुनियाको समझाते है, किन्तु अपने आपको न समझा सके तो सब व्यर्थ ही है। बात तो इतनी सी है कि परकी आसक्ति छोडनी और श्रद्धामे यह दृढ निश्चय करना कि दूसरे पदार्थोंसे मेरा कुछ भी हित अहित नही होता है और न बाह्य सयोगसे मेरा कुछ हानि लाभ होनेका नही है। आचार्य वीरसेनको देखो बाल्यावस्थामे ही श्रद्धा जम गई और आत्मकल्याण करनेको चल दिये। सयोग दृष्टिसे कभी भी हित नही हो सकता है। उस एक चैतन्य ध्रुव स्वभाव पर दृष्टि दो तभी आत्माका कल्याण सभव है।

इस गुणस्थानमे जो जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके उसके पश्चात् मिथ्यादृष्टि होता है, उसमे सम्यक्त्वकी विरोधी सातो प्रकृतियोकी सत्ता है। उसके वेदकयोग्य कालके भीतर यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आ जाय तो वह वेदकयोग्य मिथ्यात्वगत सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। इसके मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति और अनतानुबधीका उदयाभावी क्षय तथा उदयाभाव रूप उपशम तथा सम्यग्मिथ्यात्व और अन्य कषायोका उदय है।

दूसरे द्वितीयोपशम सम्यग्मिथ्यादृष्टि द्वितीयोपशम का काल समाप्त करके यदि सम्यग्मिथ्यात्वका उदय आजाय तो वह द्वितीयोपशमगत सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। इसके मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिका उदयाभावरूप उपशम रहता है। द्वितीयोपशम सम्यक्दृष्टि श्रेणिमे तो क्रमश उतर कर छटवें तक आता है, इसके पश्चात् एकदमसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाता है। प्रथमोपशम सम्यग्मिथ्यादृष्टि—जो प्रथमोपशम सम्यक्त्वसे छूटकर तीसरे गुणस्थानमे आते है, वे प्रथमोपशमच्युत सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं। इसने यदि अनंतानुबधीका प्रशस्तोपशम किया था तो वहां मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिका उदयाभाव तथा अनतानुबध के अतिरिक्त अन्यकषाय और सम्यग्मिथ्यात् का उदय रहता है।

वेदक सम्यग्मिथ्यादृष्टि—जो वेदक सम्यक्त्वसे च्युत होकर सम्यग्मिथ्यात्व में आया वह वेदक सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। इसके ऊपरकी तरह अनतानुबधीका उदयाभावीक्षय तथा उदयाभाव रूप उपशम और सम्यग्मिथ्यात् और अन्य कषायोका उदय रहता है।

२८ प्र० की सत्तावाला सम्यग्मिथ्यादृष्टि—मिथ्यात्वसे तीसरे गुणस्थानमे आये हुए जीव अथवा जो वेदक सम्यक्त्वसे छूटे हुए मिश्र गुणस्थानमे आते है, वे २८ प्रकृतिकी सत्तावाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। अनतानुवधीकी विसयोजना करने वाले द्वितीयोपशम स० से छूटकर सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुए वे २४ की सत्ता वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि है।

( इस प्रकरणको भी गुणस्थानदर्पणमे विशेषरूपमे देखें ) इस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्वका सक्षिप्त वर्णन करके अब अविरत सम्यक्दृष्टि का ल ण कहते हैः—

## अविरत सम्यक्त्वम् ॥८॥

जो जैसा पदार्थ है उसका वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सुख शाति इसी श्रद्धाके वलपर मिलती है। बाह्यज्ञान कितना भी हो, किन्तु जब तक सम्यग्ज्ञान नही होगा तब तक दुखसे पीछा नही छूट सकता है। जहाँ जहा पदार्थोंके मेलको एक माना वही दुखी, क्योकि उसकी दृष्टि असली वस्तुपर नही होती है। द्रव्य ही त्रैकालिक वस्तु है, पर्याय तो प्रति समय परिवर्तनशील है वह सत् वस्तु कहा है ? किन्तु सबका ध्यान उस पर्यायपर ही रहता है और जब वह वदलती जाती है तो सुखी दुखी होता रहता है। जैसी यह पर्याय परिवर्तनशील है उसी प्रकार उनसे होनेवाला सुख दुखभी क्षणिक एव परिवर्तन-शील है। इसलिये निश्चयकी दृष्टिके विना ये बात कभी नही आ सकती है। यदि व्यवहारका आश्रय लिये रहे तो कभी मोह नही छूट सकता है। अविरत सम्यग्दृष्टिको जो भ्रम लगा हुआ था वह छूट गया, बस समझो सुखी हो गया। जिस प्रकार एक रस्सीको देखकर सर्पका भ्रम हो गया था, यदि वह भ्रम निकल जाय तो ये तो रस्सी ही है, तो वन फिर वह सुखी ही सुखी है। जहाँ स्वपर विवेकसे भ्रम निकला और विज्ञान जागा वहाँ उसके हर कार्यमे कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है। उसके यह दृढ श्रद्धा हो जाती है कि सब पदार्थ अपनेमे स्वतन्त्र हैं, एक पदार्थका दूसरेसे कुछ परिवर्तन नही हो सकता है। मैं चैतन्य स्वरूप हू, समस्त द्रव्य और परभावोसे अलग हू। ऐसी श्रद्धा होने पर तो फिर

दुखका कोई कारण ही शेप नहीं रह जाता है। जहा जड पदार्थोंपर, पर्यायपर अथवा विकारी भावोपर दृष्टि गई और यह जीव दुखी हुआ।

मंदिरमे भी दर्शन क्यो करते हैं, क्योकि उस वीतराग मुद्राका दर्शन करके अपनी वीतरागताकी ओर देखें। अभी तक जहा हम हैं वहां ठीक नहीं हैं, यह क्षेत्र है, जिसे हम देख रहे हैं वह परद्रव्य है, इनसे मेरा कुछ भी हितसाधन नही हो सकता है। मदिरमे आये तो इस भावनासे आये कि यह हमारा कुछ परपराका धर्म है इसलिये आये अथवा इसलिये आये कि मेरा परिवार बढे, मेरा धन बढे आदि भौतिक स्वार्थके लिये आये। विपय और कपायको पुष्ट करनेको आये, इससे आत्मिक शाति कैसे प्राप्त हो सकती है ?

इस गुणस्थानमे किसी भी प्रकारका सयम तो नहीं होता, पर सम्यग्दर्शन होता है। उनमें से सम्यग्दर्शनके प्रकार बतलाते हैं।

**स्वामी व भावभेदसे सम्यग्दृष्टिके प्रकार**

(१) प्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि—अनादि मिथ्यादृष्टि अनंतानुबधी चार और एक मिथ्यात्व, इन ५ प्रकृतियोके उपशमसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

(२) मिथ्यात्वागत वेदक सम्यग्दृष्टि—२८ प्र० की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व छूट कर सम्यक् प्रकृतिका उदय और शेपका उदयाभावीक्षय तथा उपशम रहे उसको कहते हैं।

(३) सम्यग्मिथ्यात्वागत वेदक सम्यग्दृष्टि—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानके पश्चात् उत्पन्न हुए वेदक सम्यक्त्वको कहते हैं।

(४) द्वितीयोपशमगत वेदक सम्यग्दृष्टि— उपशम श्रेणिसे उतरते हुए जीवके चौथेसे सातवें गुणस्थानमे यदि सम्यक्प्रकृतिका उदय आजाय तो उसे द्वितीयोपशमगत वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

(५) कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सात प्र० का क्षय प्रारभ करता है तो अनतानुबधीकी विसयोजनाक्षय करके मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके सम्यक् प्रकृतिका बहुभाग घातकर चुकता है तब से उसे क्षायिक सम्यक्त्व होनेके पहिले तक कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

(६) २८ प्रकृतिकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि जब सम्यक्की उछेलना कर चुके तब उसके २७ प्र० की सत्ता रहती है, उस समय जिसके प्रथमोशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो उसे उछेलित सम्यक्मिथ्यात्वागत प्रथमोपशम सम्यक्दृष्टि कहते हैं।

७—जो सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वेलना कर चुका है, उसके २६ की सत्ता हो गई। उसके पाच प्रकृतिके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो उसे उद्वेलित मिथ्यात्वागत प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

८—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानसे आये हुए वेदक सम्यग्दृष्टिको सम्यग्मिथ्यात्वागत वेदक सम्यग्दृष्टि कहते है।

९—२३ वीं सत्तावाला वेदक सम्यग्दृष्टि अनंतानुबन्धीके क्षयके बाद जब मिथ्यात्व प्रकृतिका क्षय कर देता है तब वह २३ वी सत्तावाला वेदक सम्यग्दृष्टि है।

१०—यही जीव जब सम्यग्मिथ्यात्वका भी क्षय कर देता है तब वह २२ की सत्तावाला वेदक सम्यग्दृष्टि है।

११—क्षायिक सम्यग्दृष्टि—जब यही जीव सम्यक् प्रकृतिका भी पूर्णक्षय कर देता है तब वह २१ प्रकृतियोकी सत्तावाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि है।

१२—द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि—वेदक सम्यग्दृष्टि जब सातो प्रकृतियोका उपशम कर देता है तब उसे द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसके अनतानुबन्धीकी विसंयोजना ही होती है। अतः यह २४ प्रकृतिकी सत्तावाला है।

१३—अपर्याप्त द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव—द्वितीयोपशम स० काल मे ही मरण हो जावे तो वह केवल देवगतिमे ही उत्पन्न होता है, वह द्वितीयोपशम शरीर पर्याप्ति होनेसे पूर्व नष्ट हो जाता है, उसे अपर्याप्त द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

१४—अपर्याप्त वेदक सम्यग्दृष्टि—वेदक अवस्थामे मरण हो जावे तो उस अपर्याप्त अवस्थामें भी वेदक सम्यक्त्व रहता है।

यह कर्म भूमिक भोग भूमिका मनुष्य, भोग भूमिका तिर्यञ्च और वैमा-

निक देवोमे ही मिलेगा। प्रथम नरकके नारकी भी अपर्याप्त अवस्थामे वेदक सम्यग्दृष्टि रह सकता है।

१५—अपर्याप्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि—क्षायिक सम्यग्दृष्टिका मरण हो तो वह वैमानिक देवोमे ही जन्म लेता है। यदि सम्यक्त्वसे पहिले नरकायु तिर्यंच आयु मनुष्यायु बाध ली हो तो क्रमश पहिले नरक, भोगभूमिया तिर्यंच और भोगभूमिया मनुष्यमे पैदा होगा। यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि नारकी व देव है तो वह मनुष्यगतिमे ही पैदा होगा। ये जीव अपर्याप्त अवस्थाके बाद भी होते है क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही।

## आत्माकी भलाई आमाके अवलोकनमे ही है

जिसने एक बार स्वभावका अनुभव कर लिया, उस भव्यजीवको उसी समय शाति और सुखका अनुभव होने लगता है। उसकी शातिमें कोई बाधा नही डाल सकता है। उसे ये अखड विश्वास हो जाता है कि मै एक चैतन्यस्वरूप, एकाकी, अखड आत्मा हू। मेरा परिणमन मेरे ही द्वारा होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी परिणमन नही करा सकता है। मेरा स्वभाव अन्य सभी द्रव्योसे अलग है। बोलनेका भी विकल्प मेरा नही, तब किससे बोलू ? जब आत्मश्रद्धा हो जाती है तब उसे अपमान सन्मान, सुख दुखमे भी हर्ष विषाद नही होता। कैसी भी विपत्ति आन पडे तो वह सम्यग्दृष्टि कभी अपनी श्रद्धासे नही डिग सकता है। अरे भाई ! यह मनुष्यगति ही ऐसी विशेष महत्त्वपूर्ण गति है कि यहाँ ही मनुष्य हर प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर अपना अच्छा और बुरा कर सकता है। अन्य गतियोमे इस प्रकारका ज्ञान दुर्लभ है और सम्यक् चारित्र तो और भी सबसे अधिक दुर्लभ है। यदि यह मनुष्यभव पाया है तो इसका सदुपभोग करो। अभी तक यह भी ज्ञान नही हुआ कि हमें क्या करना चाहिए, मैं कौन हूँ, कहासे आया हूँ, कहा जाऊगा ? इसमें क्या सारभूत है ? और क्या असारभूत है ? जैसा मनमे आया पाचो इन्द्रियोके विषयोमे और कषायमे प्रवृति करना, तो क्या यही मानव जीवनकी सार्थकता है ? कहते होगें गहरी चर्चा समझमे नहीं आती है और यहा सारी बुद्धिमानी भाग जाती

है, किन्तु व्यवहार धधेमे कितनी बुद्धिमत्ता और चतुराईका परिचय देते है, वहा सारी बुद्धिमानी आ जाती है।

देखो यह मोही अज्ञानी जीव रत्नको पाकर कौआके भगानेको व्यर्थ समुद्रमे फेंक रहा है। अमृतको पाकर अपने पैर प्रक्षालन करके उसे व्यर्थ गमा रहा है, इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है ?

देखो तो केवल अपना उपयोग बदलना है। अपने उपयोगसे रागद्वेषको हटाना है, यो उपयोगके बदलते ही कल्याण और सुख शातिका अनुभव होने लगता है। वह अपनी ज्योतिको पा लेता है। एक बार जिस प्रकार धनके पीछे पागल हो उसी प्रकार अपनी खोजको पागल बन जाओ। तुममे वह योग्यता है कि तुम चाहो तो सम्यक्त्वको प्राप्त कर निराकुल सुखको पा सकते हो। लोग दुनियाँको जाननेकी कोशिश तो हर प्रकारसे करते हैं, पर अपनेको नही जानते हैं। यह जीव सबको अपने अनुकूल बनाना चाहता है, जबकि वे सब अपने २ स्वभावसे चलते हैं। प्रत्येक द्रव्यका परिणमन अपने २ द्रव्यमे होता है, पर अज्ञानी समझता है कि मैं सबको अनुकूल बना सकता हूँ, परद्रव्य मुझे सुख दुख दे सकता है। मैं परको सुख दुख दे सकता हूँ आदि विपरीत श्रद्धाके कारण ही दुखी रहता है।

### देखो, सुखका उपाय कितना सरल और स्वाश्रित है

किसी भी कालमें किसी भी क्षेत्रमे स्वभावकी ओर झुके कि कल्याण और आनन्दका पथ मिल गया। एक बार अपना प्रकाश पाया, उस अपनी ज्योतिको एक बार जनाया कि सारा दुख भागते नजर आता है। देखो उस सुखको पानेके लिये सिर्फ उपयोग और श्रद्धाको बदलना है। जो वस्तु जैसी है बस उसको वैसी मान लो। इस लोकमे एक एक करके अनन्त जीव, एक एक परमाणु करके अनन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य हैं। ये सभी द्रव्य अपने आपमे पूर्ण और स्वतन्त्र है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कुछ नही करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही होता है। किसीकी अपेक्षा बिना ये सब द्रव्य अपने आप परिणमते रहते हैं। जीव दुखी होता है तो अपने आपके द्वारा, सुखी होता है तो अपने आपके

द्वारा । बधता है तो अपने द्वारा और मुक्त होना है अपनेसे प्रयत्नसे । पुण्य पाप भी जीव अपने द्वारा करता है और अपने आप उसका फल भोगता है। यदि ये परमाणु पूर्ण द्रव्य न होते तो उनके भी और टुकडे हो जाना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है । इसलिये पुद्गलका एक एक परमाणु अलग अगल द्रव्य हैं, ये जो स्कध दीख रहे हैं वे द्रव्य नहीं हैं क्योंकि द्रव्य पूर्ण होता है और उसमे जो भी परिणमन होता हैं वह सम्पूर्ण द्रव्यमें होता है । एक लकडीके छोर पर आग लगाई जावे तो पूरा वह काठ नहीं जलता है, किन्तु उसका क्रमसे एक एक हिस्सा ही जलता है । इससे सिद्ध है कि वह लकडी एक द्रव्य नहीं, यह आत्मा अनन्त शक्तियोका एक पिण्ड है । उनमें से दर्शन, ज्ञान श्रद्धा, चारित्र, सुख और शक्ति छः शक्तिया प्रमुख है । जब हम जीवकी इन भेदो पर दृष्टि जाती है तब उसमें अनेक कल्पनाएं और विकल्प उठते हैं, किन्तु जब अभेदरूप चैतन्य स्वभाव पर दृष्टि जाती है तब विकल्पको कोई गुंजाइश ही नही रहती है ।

एक सम्यग्ज्ञान सीख जाओ तो सब ज्ञान आ गया और यदि एक सम्यग्ज्ञान नही आया और ससारका सब ज्ञान सीख लो तब भी वह व्यर्थ है । सुआको सिखाओ "तू उड मत जाना नलिनी पर मत बैठना, नही तो फस जाओगे" सीख गया वह सुआ, परन्तु वह दानोके लोभसे वहीं नलिनी पर बैठकर लटक जाता है और समझता है कि मुझे किसी ने पकड लिया है । वहां अपनी सीखको रख लगाता है, किन्तु वैसा यत्न नहीं करता । यदि सब क्रियायें करते रहे और सम्यग्ज्ञान नहीं आया तो क्रोध मान माया लोभमें अन्तर नही आ सकता है । इसलिये उस एक सम्यग्ज्ञानको सीख लो तो वही आत्माका हितकारी बाकी सब ज्ञान कार्य व्यर्थ है ।

### अविरत सम्यग्दृष्टिकी विजय सम्यक्त्वकी विजय है

जहा कोई महाव्रत नही, सयमासयम नही, कोई भी व्रत नही फिर भी जो सम्यग्दृष्टि है । वह अविरत सम्यग्दृष्टि है । श्रावक तीन प्रकारके होते हैं— पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक । इनमे से पाक्षिक श्रावक अविरत होते हैं, जिनके धर्मका पक्ष है उनको पाक्षिक श्रावक कहते हैं । हां, नैष्ठिक श्रावक—जिसके व्रत

अथवा कोई प्रतिमा होती है। इस तरह यह ली प्रतिमासेलेकर ११ वीं प्रतिमा तकके श्रावक नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। साधक श्रावक—व्रती अथवा अव्रती जो भी सल्लेखना पूर्वक मरण करता है वह साधक कहलाता है। सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि अपनेको श्रावक, जैन, मनुष्य, स्त्री, वृद्ध, जवान, बालक कुछ भी कहता है तो भी श्रद्धामे सर्वदा यह ही है कि मैं तो चैतन्यमात्र वस्तु हूँ, ये सब अध्रुव पर्यायें है, ऐसा समझता है। आत्माके ये कोई रूप नही, इन पर्यायो मे निजकी बुद्धि करना महामिथ्यात्व है। ऊपरसे वह ऐसा दिखता है कि मोही जीवसा है, क्योकि वह घर परिवार और ससारमे रहता है, किन्तु उसकी श्रद्धामे ये कोई भी पदार्थ अपने नही हैं। मैं ससारमे सबसे न्यारा और अकेला हू। मेरा कोई अन्य पदार्थ न तो कुछ भी अच्छा बुरा कर सकते हैं और न मैं भी किसीका कुछ भी कर सकता हू। वह अपनी शरण अपनेको ही मानता है, समझता है कोई किसीको शरण नही है। मनुष्यकी यह कोरी कल्पना है कि यह परिवार पिता पुत्र पति आदि हमारे रक्षक हैं या शरण हैं। मैं तो स्वय समर्थ हूँ, मुझे कौन शरण दे सकता है।

पर्याय नाशवान् हैं, इसमे आत्मबुद्धि करके जीव अतुलस्वभावी होकर भी अपने आप गरीब बनते है, सच्चा ज्ञान हो जाय तो फिर कभी गरीबी ठहर भी नही सकती है।

यदि अब भी आत्मज्ञान नही पा सके तो एक दिन अमीर गरीब विद्वान् और मूर्ख एक दिन सभीको मरना है। ये जो पर्याय मिली है वह एक दिनको छूटनेको ही है तब इसमे रागबुद्धि क्यो? ये पर्याय तो पुण्य पापके अनुसार बनती मिटती रहती है और हमेशा बनती मिटती रहेगी, किन्तु निज स्वरूपके ज्ञानके बिना निरन्तर ये पर्याय बनती बिगडती रहेगी। यदि इस शरीरादि पुद्गलकी पर्यायको अपना न मानकर चैतन्य आत्मस्वरूपको अपना माना तो एक दिन पर्यायमे भी वही शुद्ध चैतन्यस्वरूप प्रगट हो जायगा।

### जिस चीजसे प्रेम करोगे वही तो तुम्हारे पास आयेगी

इस शरीरसे प्रेम करते रहे हो सो अभी तक वही मिलता रहा है और अब अपने चैतन्य आत्मासे प्रेम करोगे तो भविष्यमें जाकर वही पूर्ण स्वच्छ

प्रगट होगा। इसलिये इन बाह्य समागमो मे उपयोग न देकर अपनी ज्ञाना-राधनामे लगो। यदि अपनी ओर नही देखा और जीवन भर इसी गोरख-धधेमे लगे रहे तो फिर दुखसे पीछा छूट सकना असभव है और फिर यह मनुष्य जीवन व्यर्थ चला जायगा। दो भाई थे, उनमे से एक भाई मर गया तो बहुतसे लोग आये और कहने लगे कि इन्होने अपनी जिन्दगीमे बहुत काम किये हैं। तब एक आदमी कहने लगा—क्या क्या बतायें यार वो कारोनुमा या कर गये।

बी० ए० किया, नौकर हुए, पेन्शन मिली और मर गये। इसी प्रकार सब लोग दुकानदारी सीखी, दुकानपर बैठे, पैसा कमाया, कुटुम्ब बढाया और मर गये। बस इसके अलावा और क्या कर जाते हैं ? बताओ इन पदार्थोका आत्मा से क्या सबध है ? पडोसीकी तरह इस शरीरकी खबर लेना पडे तो उसकी खबर लो पर उसे श्रद्धामे तो समझो कि ये पर है। और यदि शरीरमें आत्म बुद्धि रही तो फिर उसकी सेवा करते ही जीवन समाप्त हो जाता है और फिर सन्मान प्रतिष्ठा आदि अनेक कष्ट साथमे लग जाते हैं। वह सुख शातिसे दूर भाग जाता है।

### पाक्षिक श्रावक कौन ?

जिसे धर्मका पक्ष हो वही पाक्षिक श्रावक कहलाता है। यद्यपि उसके प्रतिमा और व्रतादि नहीं होते हैं, किन्तु कमसे कम ८ मूलगुण अवश्य होते हैं। जो प्रत्येक पाक्षिक श्रावकको अवश्य पालन करने चाहियें। वे ८ मूलगुण ये हैं—(१) मद्य त्याग, (२) मास त्याग, (३) मधुत्याग, (४) पांच उदम्बर फलोका त्याग, (५) जीवदया (६) जिनेन्द्र दर्शन, (७) पानी छानकर पीना (८) रात्रि-भोजनका त्याग करना। रात्रिभोजनमे चाहो तो पानी और दवाको सेवनकी छूट रख सकते हो। अधिकतर आदमी को प्यास और बीमारी का दुख ही अधिक सता सकता है। इसलिये उसकी छूट रख लेनेके बाद तो फिर न कोई तकलीफ ही हो सकती, न कोई कठिनाई सता सकती है। पानी छाननेका छन्ना गाडा होना चाहिए, क्योकि पानी छेदमे से नही निकलता, किन्तु उसके ततु भीज जानेपर उनमे से निकलता है। इसलिये दुहरे छन्नासे पानी अवश्य

छानकर पीना चाहिए। क्योंकि पानीकी एक बूंदमे हजारो जीव होते हैं। इन आठ मूलगुणोका धारण करनेपर ही पाक्षिक श्रावक कहलाता है। देखो मद्य, मास और मधुका सेवन तो जैन करता ही नही है। देवदर्शन की कही बाहिर असुविधा हो तो ध्यानमे अरहत और सिद्धका नकशा खीचकर दर्शन कर सकते हो तथा रात्रि भोजनमे सिर्फ पानी औषधिको छोडकर कुछ नही लेना चाहिए। दवामे भी यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि उसमे मद्य मास और मधु तो नही है। ये श्रावकके व्रत खुशीसे निभ सकते है। इसमें कोई भी असुविधा नही है, देखो त्यागी व्रती लोगोका बिना पानी पिये ही रात्रि निकल जाती है और कोई तकलीफ नही होती है। बाहिर जाने पर अपने साथ लोटा और छन्ना अवश्य रखो। इस प्रकार इन मूलगुणो का अभ्यास कर चुकनेपर फिर अहिंसाणुव्रत का अभ्यास, सत्याणुव्रत का अभ्यास, अचौर्याणुव्रत का अभ्यास और ब्रह्मचर्याणुव्रत तथा परिग्रहके परिमाण करनेका अभ्यास करना चाहिए। किसीकी चुगली निन्दा करना, अपमान करना ये श्रावकको छोड देना चाहिए। तभी श्रावक धर्मकी सार्थकता है। जिसके व्रत नही हो और सम्यग्दर्शन हो उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

आज तीसरी तरहके मूलगुण कहते हैं—मद्य, मास और मधुका त्याग तथा पाँच उदम्बर फलोका त्याग ये जघन्य दर्जेके मूलगुण है। ये शूद्र आदि उन मनुष्योको हैं जिनमे हिंसादिकी बाहुल्यता थी, किन्तु अब धर्मके विमुख जैनकुली भी कोई हो रहे तो उन्हे ये प्राथमिक मूलगुण बतलाये गये हैं। इस गुणस्थानमें व्रत नही होते, किन्तु स्वपर विवेक अवश्य होता है। वह विवेकी जानता है कि एक पदार्थ दूसरेमे मिलता नही, एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप होता नही है। यदि ये दोनो हाथ इकट्ठे कर लिये जाय तो बताओ ये सबध किस हाथकी चीज है? बायें हाथकी या दायें हाथकी। एक कल्पना करली है। सम्बन्ध अयथार्थ है।

### एक द्रव्यका संबध दूसरेमें हो ही नहीं सकता है

यदि यही सकरका भ्रम निकल जाये तो आकुलता भी निकल जाये। किसीने गाली दी और दूसरेको गुस्सा आ गया तो क्या वह गाली उस दूसरे

आदमीके अदर घुस गई जो उसे क्रोध करा दिया ? इसकी गाली इसके अन्दर और उसका क्रोध उसके अन्दर ही है, परतु सिर्फ निमित्तनैमित्तक संबध है कि एक दूसरेका संबंध पाकर अपसे आपने असर पैदा कर लेते हैं। कोईभी किसीपर किसी प्रकारका प्रभाव या असर नही डाल सकता है। न एक पदार्थ दूसरेका कुछ भी परिणमन करा सकता है। इसलिये किसीसे भी किसी प्रकार का सवध बनाना कोरा भ्रम है और दुखका साधन है। इस शरीरमे ही जहा अपना सम्बन्ध बनाया कि बात बातमे दुखके साधन जुट गये। इसे तो जिस प्रकार एक पडोसीके घरमें आग लग जावे और इस डरसे कि कही मेरे घरमे भी आग न लग जावे उसे बुझानेका भरसक प्रयत्न करता है, इसी प्रकार यह शरीर भी आत्माका एक पडोसी है। यदि ये शिथिल हुआ तो हमारे धर्म साधनमे विघ्न न आ पायें, इस दृष्टिसे भोजनपानका प्रबध करना पडता है, किन्तु विवेकीको उसमे ममत्व नही है। उसे अपना नहीं मानना है।

करणानुयोगसे देखो तो कर्मका सबध भी है। कर्मप्रकृतियोंके निमित्तसे आत्माके गुण प्रगट नही होने पाते। उनमे से दर्शनमोहकी ३ प्रकृति और अनतानुबधीकी ४ प्रकृतियो— इन ७ प्रकृतियोके असद्भावसे सम्यग्दर्शन होता है। इनका क्षय हो जावे तो क्षणिक सम्यग्दर्शन और उपशम आदि हो तो औपशमिक सम्यग्दर्शन आदि होता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्वके बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस प्रथमोपशम सम्यक्त्वको पानेके लिये सबसे प्रथम निर्मल परिणामोकी आवश्यकता होती है। उसके बाद क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धिको प्राप्त करना। करणलब्धिमे अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको (परिणामोको) पाकर सम्यक्त्व अवश्य प्राप्तकर लेता है। ये तीनो करण कई जगह होते हैं। चारित्रमोहनीयका उपशम या क्षय करते समय जो तीन करण होते हैं, उनके नामपर ८ और ९ वा गुणस्थान बना दिये गये हैं।

### अपनेको बचाया तो सबसे बचाव हो जायगा

यदि कोई यह सोचे कि ये कर्म हमारे बढे दुश्मन हैं, हमे बरबाद करते हैं। इसलिये इन कर्मोंका ही नाश करना चाहिए, तभी सुख मिलेगा तो ऐसी

भावनासे कभी भी कर्म दूर नही होते हैं। अपने परिणामोको सभालनेसे ही कर्म दूर हो सकते है। जिस पर दृष्टि होगी उसीकी सतति वढेगी। कर्म पर दृष्टि रही तो कर्मकी संतति बढेगी और यदि "मैं एक अखण्ड चैतन्य मात्र हूँ" ऐसी दृष्टि अपनी ओर जायगी तो अपने गुणोंकी संतति वढेगी। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ परिणमन नही करा सकता है। मैं इस हाथको भी न ी चला सकता हूं। कुछ करनेका विचार हुआ, जिससे योगमे कपन हुअ गोग मे कपन होनेसे शरीरकी वायु चली और वायु चलनेसे ये शरीर अथव अगो-पाङ्ग चलते हैं। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध है।

मोही जीव सोचता है, मैं ही सवका परिणामन करा रहा हूँ। मेरी इच्छासे सब लोग मेरे अनुकूल परिणमन करते रहते हैं, उनकी ये सो क ी स्वप्नमे भी भावना नही होनी है कि मैं तो प्रभु हूँ, मैं महान् सुख शातिका भण्डार हू। चाहूँ तो अपनेमे उस सुखेको प्रगट कर सकता हूं जो कभी भी नाश नही हो सकता है। किन्तु यह मूर्ख प्राणी विकारी परिणामोसे, दूसरे का अनिष्ट सोचकर या करके दूसरेका विचारा हुआ बुरा तो नही कर पाता, किन्तु अपना पतन अवश्य कर लेता है। क्योकि दूसरेका अच्छा बुरा उसके आधीन है और हमारा भला बुरा हमारे आधीन है। कोई किसी दूसरेका अच्छा बुरा तो कर ही नही सकता है। प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वतन्त्र होता है। यदि यह सत्यश्रद्धा तुम्हारे हृदयमे बैठ गई तो समझो कि कुछ कल्याण सभव है। अन्यथा वही सुआ जैसा किस्सा होगा कि उसे बहुत समझाया कि तू इस रस्सी पर मत बैठना, यदि बैठ जाय तो नीचेको मत देखना और यदि नीचेको देखने पर फस भी जाय तो उड जाना, पर वह यही समझने लगता है कि मुझे किसी ने पकड लिया है और जवर्दस्ती पराधीन बन जाता है। इसी प्रकार मोही जीव भी अपनेको कर्माधीन समझकर संसारके दुःख उठाता रहता है। परपदार्थकी दृष्टिमे समाधि व शाति हो ही नही सकती। स्व व पर पदार्थके विवेक होने पर परकी उपेक्षा हो जानेसे सहज ही समाधिभाव हो लेता है। समाधि हमारे सब धार्मिक न ा का उद्देश्य है। पूजा, स्वाध्याय, ध्यान आदि जितने भी कार्य हैं, उन सबका लक्ष्य समता-

रूप परिणाम है। सभी जीव समता चहते है किन्तु वह प्राप्त कैसे हो और उस समतासे क्या लाभ है ? इन बातो पर दृष्टिपात नही किया, इसका ध्यान ध्यान न होनेसे वह उल्टा आचरण करने लगता है, जिससे समताका उल्टा तामसभाव पैदा होता है। यही कारण है कि सुख और शातिकी प्राप्ति नही होती है। सुख शाति पानेके लिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी भी जगतके जीवों पर करुणा करके कहते हैं कि यदि तुम सुख और शांति पाना चाहते हो तो अपने आत्मतत्त्वको पहिचानो। बिना आत्मतत्त्वको पहिचाने सुख शांतिका अनुभव नही हो सकता है।

इस दुर्लभ नर-देहमे रहकर शाश्वत शातिका उपाय कर लो

हे भव्यो ! तुम्हें यह उत्कृष्ट मनुष्यभव मिला है, इसे पा करके व्यर्थमें मत खोओ। यह मनुष्यपर्यायका पाना अत्यत दुर्लभ है। जिस तरहसे चिंतामणिरत्नका पाना अत्यत मुश्किल है उसी तरहसे यह मनुष्यभव भी पाना अत्यन्त दुर्लभ है। इस चिंतामणिको पा करके व्यर्थमे मत खोओ। जिस तरह से चिंतामणि बहुत बडे पुण्योदयसे प्राप्त होता और अगर कोई उसे काक उडानेके प्रयोगमे ला करके फेंक दे तो इससे बडी मूर्खता और क्या होगी ? इसलिये हे भव्यो ? इस नरपर्यायको पा करके विषयभोगोमे ही मत लगाओ। इससे अपनी आत्माका कल्याण तो करलो।

इस समताका उपाय क्या है ? समताकी दृष्टि करना। देखो सम और समान एकसे अर्थ-वाले शब्द हैं। समके भाव अर्थमे ता प्रत्यय होकर समता बना तो समानके भाव अर्थमे 'ष्य' प्रत्यय होकर-सामान्य बना 'तो' अब यही बात प्रसिद्ध हुई कि समता याने सामान्य भावकी दृष्टि करो। लोकमे विशेषका महत्त्व है, किन्तु कल्याणके विषयमें सामान्यका महत्त्व है। लोकमे लोक कह देते हैं कि अजी यह तो सामान्य बात है, विशेष बात तो यह है । होओ लोकमे भले ही विशेषका महत्त्व होओ, परन्तु यह निश्चित समझो कि विशेषकी दृष्टिसे आकुलता ही मिलेगी। आकुलतासे बचना हो तो सामान्यतत्त्वको समझो यहां यह ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य यही तो दिखा रहे हैं कि ज्ञायकके दर्शन ज्ञान चारित्र आदि भेद, भेदविकल्प, भेदकथन सब व्यवहारसे समझो, अभूतार्थसे

समझो, भूतार्थसे तोवह केवल निजस्वरूप शुद्ध है। देखो भैया ! जहां यह गुण-भेद भी ज्ञानी को पसंद नही आता, वहा क्यो धनवैभव पसद आ जायगा

## अपनेसे आत्माका नाता मान कल्याणमार्गमे लगो

आजकल देखा जाता है कि जगतके प्राणी धर्म—या भगवान्की पूजा इस लिये करते हैं कि मैं धनसे परिपूर्ण रहूँ, मैं कुटुम्बसे भी स्त्री पुत्रादिकसे सुखी रहू। इन बातोकी पूर्तिके लिये ही उसकी दृष्टि धर्मकी ओर रहती है। तथाच जीव जब और आगे बढता है तब उसके सामने एक बहुत बडी खाई आ जाती है, वह है जातीयता। वह जिस जातिमे जिस कुलमे पैदा हुआ है वह उसीके अन्दर तक रहता है। उसका क्षेत्र इतना संकुचित हो जाता है कि उसे वास्तविक धर्मका स्वरूप समझमे नही आता है और असली धर्मके रूपको छोडकर दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि विदेशियोको यह कहनेका अवसर मिला कि भारतका पतन धर्मके कारण हो रहा है। और हो रहा है भारतका, ह्रास किन्तु यह उनकी भूल है। धर्मम कभी किसीका नाश अथवा किसीका पतन नही होता है। आज भारतका पतन भारतकी दुर्दशा हो तो पापके कारण है, आत्माके विकार जो रागद्वेषादिक है उनके द्वारा आज भारतकी यह दशा है।

जो कहते हैं कि धर्मसे दुख और अशाति पैदा होती है, उन्होने धर्मको ही नही जाना। इसलिये चाहिए यह है कि निष्पक्ष रूपसे धर्मकी प्राप्ति अथवा धर्मको जानने समझनेमे लग जावें। चाहे वैश्णव हों, क्षत्रिय हो, जैन हो अथवा बौद्ध आदि सब निष्पक्षरूपसे धर्मको जानने उसको समझने लगें जब निष्पक्षरूपसे आप धर्मको देखेंगे तो पता चलेगाकि वास्तवमे वस्तुस्थिति क्या है, धर्म क्या है ? "वत्थुसहावो धम्मो।" हम और आप हमेशा सुनते आये हैं, किन्तु कभी इस पर भी विचार किया है क्या ? वस्तुका स्वरूप ही धर्म है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है वही उस वस्तुका धर्म है। जैसे पानीका धर्म क्या है ? शीतलता। अग्निका स्वरूप उष्णता है, वही उष्णता अग्निका धर्म है। इसी तरहसे आत्माका स्वरूप दर्शन, ज्ञान, चैतन्य है, वही आत्मा का धर्म है। कहनेका तात्पर्य कहनेका सारांश यह है कि धर्मकी पहिचान

धर्मकी परीक्षा करके आप धर्मको पावें तो आपको लाभ होगा। तत्त्वो को जानकर तत्त्वोका निर्णय करके ही जैन धर्मको मानो। यदि रुढिवश इस धर्मको मानने कि हमारे बाप दादे परदादे इसे मानते आये हैं, इसलिये मैं भी इसे मानता हूँ। इस तरहसे मानने से इतना अवश्य है कि उसके काम क्रोध लोभ आदि कषायभाव मद होंगे, कारण कि जैनधर्मकी यह महत्ता है कि उस के स्मरणमात्रसे ही जीवको सुख मिलता है। कषाय भाव मंद अवश्य होवेंगे, किन्तु इनसे मात्रसे मोक्षमार्ग नही चल सकता है। मोक्षमार्ग तो आत्मतत्त्व के परीक्षण करने पर ही चलेगा। मैं स्वतन्त्र एक हू, मेरा स्वरूप (आत्मा) का स्वरूप दर्शन ज्ञान चेतन स्वरूप है, जगतके पदार्थोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है, यह शरीर भी मेरा नही है, इस तरहके विचार जब आपके जागृत होगें, आपकी दृष्टि जब इस ओर होगी तब आपकी आत्मामें सुख और शाति का साम्राज्य जागृत होवेगा। इसलिये हमारा और आपका कर्तव्य है कि रागद्वेष, मोह ममताको छोडकर आत्माका परीक्षण करना चाहिए।

### जीवकी सृष्टि भावनाके अनुसार होती है

जगतके जीवोको अपने शरीरसे बहुत मोह है। वे एक शरीरके बाद दूसरा शरीर, दूसरेके बाद तीसरा शरीर, इस तरह से शरीर पानेको तैयार रहता है। शरीरका उसे लोभ रहता है। यदि इस जीवको लोभ ही है तो कभी ऐसा भी लोभ करे कि हमे तो अब शरीर न मिले, शुद्ध चैतन्यसे भेंट रहे, मैं अब शरीर रहकर शाश्वत स्वतन्त्र आत्मीय सहज परम आनद भोगू। आपका जैसा लक्ष्य, आपकी जैसी भावनायें होंगी वैसे ही आप बन जाओगे। जैसी दृष्टि वैसे ही सृष्टि। आपकी दृष्टि सुन्दर है, पवित्र है तो आप अवश्य ही वैसे बन जावेगे। यदि आपकी दृष्टि सिद्ध बननेकी है तो आप अवश्य ही सिद्ध बन जावेंगे। आवश्यकता है आपके लक्ष्यकी। आत्मा तो एक कल्पवृक्ष है, इससे आप जो मांगेगे वही मिलेगा। आप जैसा बनना चाहे वैसा- इससे वरदान प्राप्त कर लें। सिद्ध बनने के लिये आवश्यक है कि वह सिद्ध भगवान्की आज्ञा माने, उनकी भक्ति करे। भक्ति ऐसी नही जैसे कि कोई पुत्र अपने पिताको सवेरेसे उठकर नमस्कार करता है, उनकी सेवा शुश्रूषा करता

है, किन्तु पिता जिस बातको कहता है उस बातको नही मानता, पिताकी आज्ञा नही मानता तो क्या आप उस पुत्रको पिताका भक्त कहेगे ? नही। इसी तरह सिद्ध प्रभूका उठकर पूजन करो, खूब द्रव्य चढाओ, सुबह उठकर खूब स्तुति आदि करो, किन्तु उन्होने जो उपदेश दिया—जो मार्ग बताया उसे न मानो तो क्या हम सिद्ध प्रभूके भक्त बन सकते हैं ? नही। इसलिये हमे चाहिए कि भगवान् जीवसिद्धके उपदेशको मानें, उसपर चलें तभी आत्माका कल्याण हो सकेगा।

भगवान् सिद्धका उपदेश कठिन नही है, उनका उपदेश बहुत सीधा सरल सरल है। उन्होने सबसे पहले बताया कि जगत्के पदार्थ जैसे हैं ? उन्हे उसी प्रकारसे मानो यही सबसे पहला उपदेश है। अब विचार करो कि जगत्के पदार्थ कैसे हैं ? प्रत्येक पदार्थ जिसे हम वस्तु या द्रव्य कहते हैं, वह ध्रुव है, नित्य है। अपने परिणमनसे ही परिणमते हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थके परिणमनसे नही परिणमता है। सब अपने द्वारा अपनेमे ही परिणमते हैं। जीव क्रोध करता अपने पर ही करता, प्रेम करता अपने पर ही करता अन्य पर नही। अन्य पर प्रेम कर भी तो नही सकता है क्योकि वस्तुकी जो चीज होती है वह उसी तक रहती है उसके बाहर नही।

विचार करो—जगत्के पदार्थ मेरेसे भिन्न हैं, मेरा इनसे रंचमात्र भी सम्बन्ध नही है। मै अपने ही परिणमनसे अपनेमें परिणमता हू, परमाणुमात्र को परिणमानेमे मैं समर्थ नही हूँ। यदि मुझे निमित्त पाकरके वे परिणमन जावें तो यह उन्हीकी शक्ति है। इसलिये विचार करो "कि ममस्वरूप है सिद्ध समान। अमित शक्ति सुखज्ञाननिधान ॥ किन्तु आशवश खोया ज्ञान। बना भिखारी निपट अजान ॥" मेरा स्वरूप सिद्धके समान है। मुझमे अनंतशक्ति अनंतज्ञान अनत सुख है किन्तु आशा-तृष्णाके वश होकरके मैंने अपने ज्ञानको भुला दिया है। हम संसार से तरते हैं अपनी शक्तिसे, ससारसे पार होते हैं अपने पुरुषार्थसे, किन्तु वहा पर सिद्धप्रभु हमारे पार होनेमें निमित्त हैं। इस तरहसे सिद्धप्रभु का सबसे प्रथम उपदेश यही है कि तुम किसी भी पदार्थको अपना मत समझो। चाहे वह तुम्हारा लड़का हो, चाहे स्त्री हो, धन हो, मकान हो। सबको छोड़

कर अपनेमे यह श्रद्धा जमालो कि मैं तो सबसे भिन्न हूँ, सबसे न्यारा हूँ। जब ऐसी भावना आपमे जागृत हो जावेगी तभी आप सिद्धप्रभूके सच्चे भक्त कहला सकते हो और यदि तुम्हारे इस प्रकारके भाव नही हुये तो आप सिद्धके भक्त नही कहला सकते हो। पूज्यपाद कुन्दकुन्द स्वामीने जगत्के जीवोंपर कृपा करके करुणा दृष्टि करके कहा 'कि हे भव्यो ! अब हम उस विभक्त आत्माको कहेंगे जिसे हमने बहुत सी युक्तियोसे जाना है। हम आज जिस प्रभूको पूज रहे हैं हम भी उसीके समान बन सकते हैं। इसके लिये आवश्यकता है स्वानुभव की। वह स्वानुभव कैसे प्राप्त हो ? यह सभी बातें हम आगेके प्रकरणमे कहेगे।' ओ३म् शाति।'

### भूलको भूल समझ लेना सही ज्ञान है

प्राणोको यदि भूल है तो अपनी भूल स्वीकार कर लेना ही सर्वोत्तम है। भूलको भूल मान लेना भी सम्यग्दर्शन का एक रूपक है। जिसने भूलको भूल नही माना वह अधकारमे है, भ्रममे है। भ्रम ही दु खका कारण हैं। भ्रमके मिट जानेपर दु ख स्वय ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये सबसे पहले भ्रमको आत्मासे हटाना चाहिए। किन्तु यह खेदकी बात है कि इस जीवने अनादि बार उपदेश सुने, अनादि बार उपदेश दिये, किन्तु फिर भी इस आत्मासे भ्रम नही हटा, मोह ममता नहीं हटी। इसका कारण क्या है ? इसका मुख्यकारण है कि हमे जगत्की असारताका बोध नहीं हुआ है। जो कुछ हमे मिला है, हम उसीमे अपनेको रत किये हैं, परपदार्थोंको ही अपना मानते हैं उन्हीमे ममता बुद्धि किये हैं, वही सब कुछ हमारा है ऐसी हमारी भावनायें हैं। यदि हमारे अन्दरसे मोह ममता भाव निकल जावें तो हमारा कल्याण हो जावे। एक घुडसवार कही जा रहा था। रास्तेमे उसे एक स्थानपर बहुत भारी भीड दिखी। उसने एक व्यक्तिसे पूछा कि भाई यह भीड किस लिये लगी है ? ये इतने आदमी कहा जा रहे हैं ? तब उस मनुष्यने बताया कि यहापर एक बहुत बडे सत बहुत बडे त्यागी आये हुये हैं जहापर उनका उपदेश हो रहा है उस उपदेशको सुननेके लिये ही यह सारे मनुष्य जा रहे हैं। वह घुडसवार भी साधुके उपदेश सुनने चला गया। वहा पर विरागताका उपदेश हो रहा था। उपदेशको सुन करके

घुडसवारके हृदयमे विरागताके भाव जागृत हुये और वह घोडेको वही छूटा छोडकर दीक्षा धारण करके जगलमे जा बैठा। उसे उस समय सिर्फ अपनी आत्माका ही ध्यान था, न उसे अपने बच्चोसे मोह था और न घोडेसे। घोडेका कुछ भी हुआ हो वह तो सबको त्यागकर अपनी आत्मामे लीन हो गया। इस तरहसे वही व्यक्ति ५–६ वर्षके बाद उसी स्थानसे फिर निकला और उसने उसी स्थानपर फिर भीड लगी देखी। उसने एक व्यक्ति से पूछा कि भाई यह मनुष्योकी भीड़ कैसी ? उत्तरमे उसने कहा कि यहापर एक साधुजी आये हैं उनके उपदेश सुननेके लिये ही यह सब मनुष्योका समुदाय है। पहले व्यक्तिसे पूछा कितने समयसे साधुजीके भाषण सुन रहे हो ? कहा ४०–५० वर्षसे। तब वह घुडसवार बोला कि तुम लोग ही मल्ल हो। यानी तुम्ही बलवान हो कि वर्षोसे उपदेश सुन रहे हो, किन्तु फिर भी तुम्हारे हृदयमे जरा भी विरागभाव पैदा नही हुये। धन्य है कि, इतने समयसे इतनी टक्करें सहन कर रहे हो, भाषणमे इतनी चपेटें सह रहे हो फिर भी वे असर नही करती। मुझे तो एक घटे उपदेश सुननेसे जगलमे जाना पडा। एक वे हैं कि वर्षोके उपदेश सुननेसे भी ऐसे भाव पैदा नही हुये कि यह ससारके पदार्थ मेरे नहीं हैं, मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने परिणमनसे अपनेमे परिणमता हूं और जगत्के पदार्थ अपने परिणमनसे अपनेमे परिणमते है, कोई किसीके परिणमनसे नही परिणमता।

### बंधुजन ! हमें अपने स्वरूपको जानना देखना चाहिए

बिना आत्मस्वरूपको जाने आत्माका कल्याण नही हो सकता है। आज हम और आप यह सब धर्मके विविध आयोजन कर रहे हैं, किन्तु जब तक हमने अपने स्वरूपको नही देखा परपदार्थोसे मोह, राग, द्वेष नहीं छोडा तो इससे हमारी आत्माका सुधार हो नही सकता। हमारे आपके जीवनमें अनेक बार अनेक पर्व आये और चले गये, किन्तु जब तक हमने उन पर्वोसे कुछ नहीं सीखा, उन पर्वोसे हमने तत्त्व ग्रहण नही किये तो हमे उनसे क्या लाभ हुआ ? पर्व कहते हैं संस्कृतमें "गांठ" को—पर्व यानी गांठ। हम किसी वस्तुको सुरक्षित रखनेके लिये उसे किसी कपड़ेमें गाठ बाधकर रखते हैं। इसी तरहसे हमें इन

पर्वोंसे तत्त्व ग्रहण करके उन्हे अपने हृदयमे अपनी आत्मामे ग्रहण करना चाहिए। उन्हे रखना चाहिए तभी पर्वों से हमारे जीवनकी सफलता है। अपने चित्तको एकाग्र करो और अपने आत्मस्वरूपमे लीन हो जाओ।

वहुतसे व्यक्ति कहा करते हैं कि हम सामायिक करते हैं, मदिरमें भगवान् के दर्शन करते हैं, किन्तु हमारा चित्त रहता है दुकानमे और वाह्य आडम्बरोमे। भैया! तुम्हारा चित्त वाहर जाता है उसे जानेदो। उसे मत रोको, उसे वाहर जाने दो। तुम्हारे इस प्रकार रोकनेसे यह कभी भी नही रुकेगा। अपने चित्तको वाहर जाने दो, किन्तु देख जहा कि चित्त लग रहा है उस पदार्थका सच्चा स्वरूप सोचने लगो।

मनुष्यके पतनका कारण है परिग्रह। परिग्रह ही मनुष्यको—प्राणीको दुखी वनाता है। परिग्रहके होते हुये कभी भी सुखी नहीं हो सकता है। हमारी आपकी तो वात क्या है परिग्रहसे वडे वडे ऋषि मुनि त्यागी दुखी रहे। परिग्रह का आचार्य उमास्वामीके लक्षण किया है कि 'मूर्च्छाः परिग्रहः।' मूर्च्छाका नाम ही परिग्रह है।। हा तो यहा प्रकरण था कि परिग्रहसे वडे वडे तपस्वी भी दुखी रहे। एक किवदति है कि एक वार गुड भगवान्के पास गया और वोला कि भगवान् मैं वहुत दुखी हू। मैं खेतमे था तव लोगोने उखाडकर त्वचा चीर कर चूस डाला, यदि उनसे वचा तव काटा गया और वादमे कोल्हूमे पेला गया, कोल्हूसे बचा तो रस पिया गया—पीनेसे वचा तो रावखाई गई और रावसे भी वचा तो अव गुडके रूपमे मनुष्य मुझे नही छोडते हैं। कभी गुडमें भी सड गया तो लोग तम्वाकूमे कूटकर पी डालते हैं। इसलिये हे भगवान्! मेरे ऊपर दया करके मुझे वचाओ, मैं आपकी शरणमे आया हू। तव भगवान् वोले कि तेरा कल्याण इसमे है कि तू यहा से भाग जा वरन् मेरे मुहमे पानी आ गया है सो मैं तुझे खा जाऊगा कहनेका तात्पर्य कि जहा पर परिग्रह है वहां पर सुख नही हो सकता है, परिग्रहसे व्याकुलता वढ़ती है।

आपका सामायिकमे चित्त स्थिर न होकर कही जाता होगा तो कहाँ जाता होगा किसी परपदार्थमे परिग्रहमे। सो आप उसी परिग्रहका ठीक ठीक विचार करने लगो, चित्त हट जायगा इस सत्यविधानसे। जवर्दस्ती चित्त क्या दव कर

रहेगा उसे सम्यग्ज्ञानके द्वारा वैराग्यमे वासित होने दो। यह उपाय तुम्हे हितकर होगा। अहो भैया ! परिग्रह पर पदार्थ दुःखी नही करता, किन्तु वह पदार्थ जिस विकल्पका विषय वन रहा वह विकल्प मूर्च्छा भाव दुःखी करता है।

## वाह्य परिग्रह मूर्च्छाकी निशानी है

एक साधु थे, वे जगलमे रहते थे उनके। पास दो लगोटी थी। एक दिन साधुजीकी लगोटी एक चूहेने काट डाली। साधुजी टी लंगोकटीको देख करके विचार करने लगे कि यह तो ठीक नही है। तव उन्होने एक विल्ली पाली— विल्ली भूखी रहने लगी सो उसके लिये एक गाय पाली— गायके लिये घास चारेका प्रवंध नही, सो स्वयं ही घास आदि लेने काटने जाने लगे। इस तरह जव कुछ दिन व्यतीत हुये तो एक दिन साधुजी को विचार आया कि देखो एक लगोटीकी रक्षाके लिये कितना आडम्बर वढाना पडा। साधुजी हमेशा उन्ही कामोमे लगे रहते। कहनेका तात्पर्य है कि जीव परिग्रहसे कभी भी सुखी नही वन सकता है। आप देखो जितने भी वडे २ राजा चक्रवर्ती हुये हैं उन सभी ने इस परिग्रहका त्याग किया। यदि इसमे राज्य धन भोगविलासकी सामग्रीमे सुख होता तो वे क्यों इसे छोडते ? यथार्थतासे देखा जावे तो जगतके प्राणियोको अपनी आत्मा ही सवसे अधिक प्यारी है। जव किसी धनी पर कष्ट पडता है तो वह धनको छोड करके अपनी रक्षामे तत्पर रहता है। कोई कुटुम्व परिवार पर कष्ट पडता है तो वह कुटुम्व परिवारको छोड करके अपनी रक्षा करता है। साधुपुरुपोको देखो उनके शरीर पर कष्ट पड़ने पर वे शरीरको छोड़ करके अपनी आत्माकी रक्षा करते हैं, आत्माका ही ध्याय करते हैं। शरीरसे मोह ममता छोड देते हैं। मोह रागद्वेप ही दुखके मूल कारण हैं। इन्ही रागद्वेपोसे जीव दुःखी होता है और मोही जोव अज्ञानीजीव मानता है कि भगवान् हमे सुख और दुःख देता है, किन्तु भैया ! ऐसा सोचना समझना मिथ्या है। भगवान् किसीसे रुष्ट नही होता और न किसीसे प्रसन्न होता है।

## सदाचारका जीवन पर वहुत प्रभाव पडता है

मनुष्यको सुख चाहनेके लिये सदाचार वहुत ही आवश्यक है। ब्रह्मचर्य एक तप है। ब्रह्मचर्यसे सुख और शाति मिलती है। विपयभोगोमे सुख और

शाति नही मिलती। यदि उनमें सुख होता तो जीवको निरन्तर उन्हींमे लगे रहना चाहिए, किन्तु देखा जाता है कि भोगी मनुष्यको भी काम-वासनासे विराम लेना पडता है। इस तरहसे हम देखते है कि विषयभोगोमे आनन्द नही, आनन्द है उनके छोडनेमे। सुखका अनुभव भोजन करने में नही होता, किन्तु जब भोजन करके निपट जाते है उस समय जो आनन्द आता है वह खानेमे नही आता। कहनेका मतलब कि त्यागमे ही सुख मिलता है। आप देखते हैं कि आज लोगबाग बीडी सिग्रेट तम्बाकू आदि नहीं छोडते। वे कहते हैं कि इनसे इनका त्याग नहीं होगा। अगर कभी तिर्यंचगति प्राप्त की तो वहा तो बीडी छूट जावेगी, वहा पर सभी कुछ दुःखोको सहना पडता है। अत हे भव्यजीवो! आप जितना प्रेम जितना मोह परपदार्थोंसे करते हो उतना मोह उतना प्रेम धर्मसे करो तो तुम्हारा कल्याण हो जावे। इसलिये धर्मके ऊपर तन मन धन सब कुछ अर्पण कर दो और अगर अपनी भी आवश्यकता पडे तो स्वयको बलिदान कर दो। धर्मसे ही आत्माका कल्याण होगा।

पूज्यपाद स्वामी महान् शास्त्रज्ञ, उच्चकोटिके तपस्वी और ज्ञानी थे। उन्होने जैनेन्द्र व्याकरण बनाया, जिसके मुकाबिलेका आज ससारमे अन्य कोई व्याकरण नहीं है, बहुतसे लोग कहते हैं कि व्याकरणका जन्म तो पाणिनीय ने किया है। किन्तु ऐसा सोचना कोरा भ्रम हैं। सबसे पहले व्याकरणका जन्म पूज्यपाद स्वामीने किया और वह इतने सुन्दर ढंगसे कि उतना सुन्दर रूप अन्यत्र देखनेको नही मिलता। व्याकरण शास्त्रके अतिरिक्त पूज्यपाद स्वामीकी गति प्रत्येक विषयमें थी—ज्योतिष, छन्द, साहित्य, न्याय, धर्म, आयुर्वेद आदि विषयोमे आपकी तीव्रगति थी। आध्यात्मशास्त्रोमें तो आपकी अद्भुतगति थी।

### जीवके अध्यात्मदृष्टिसे भेद

पूज्य स्वामी पूज्यपादजी ने कहा है कि जगतके जीव तीन श्रेणियोंमें विभक्त हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। कोई जीव बहिरात्मा है, कोई अन्तरात्मा हैं और कोई परमात्मा है। यह सब इहीं लोगोंका वर्णन

चल रहा है। अब यहा पर यह भी देखना है कि बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इनका क्या स्वरूप है ?

बहिरात्मा उसे कहते हैं जो बाह्य वस्तुओको—धन, मकान, स्त्री पुत्र आदि को ही अपना मानता है। जो बाह्य वस्तुओको ही अपना माने वही बहिरात्मा है और जो अपनेको स्वभावमात्र मानता है सो अन्तरात्मा है और। जो स्वभावका अवलम्बन करके सिर्फ स्वभाव मात्र रह गया है, जो अठरह दोषो से रहित है, सर्वज्ञ है, हितोपदेशी है, वह परमात्मा है।

समस्तमता वलम्बियोने अपने २ शास्त्रोमे यही समझने और जाननेकी कोशिश की है कि आत्मा क्या है ? उसको भली भाति समझ जावे। सभी ने आत्माको समझनेकी पूर्ण कोशिशकी है। हमे आत्माको समझनेके लिये चार वाते भी लेनी हैं।

बहिरात्मा–अन्तरात्मा–परमात्मा ये तीन तत्त्व शक्ति या व्यक्तिकी अपेक्षा पर सभी प्राणीयोमे पाये जाते है, प्रत्येक जीवमे यह शक्ति है कि वह आत्मासे परमात्मा वन सकता है। सिर्फ इस ओर जरासी दृष्टि देनेका काम है।

यदि जीव अनादिसे बहिरात्मा है। कोई बीचमें अन्तरात्मा होकर भी वाहिरात्मा हुए हैं बहिरात्मापनेमे ही यह अपनेको आनंदित और सुखी मानता है और मानता आया है। इसे अपने स्वरूपका बोध नही हुआ। आपने अभी इन तीनोके लक्षण सुने, अब आपको यह ज्ञान हो गया होगा कि इन तीनोमे कौनसी अवस्था श्रेष्ठ है और कौनसी खराब है ? बहिरात्मा अवस्थामें सुख, शाति और आनद नही मिलता। धन स्त्री विषयभोगोका जो सुख मिलता है वह सुख नही, वह सुखाभास है। बहिरात्मा अवस्थासे मोक्ष मार्ग नही मिलता है। मोक्षमार्गके लिये एक अद्वैतको देखते चलो। परको मत देखो। जहा परको देखा वही मिथ्यात्व बुद्धि है। संसारमे जीवको कष्ट देने में सबसे प्रधान कारण है मिथ्यात्व और सुखका सबसे अच्छा कारण है सम्यक्त्व। हा तो यहां मोक्षमार्गके लिये अद्वैतको देखना चाहिए। अद्वैत बुद्धि दो तरहकी है—एक तो प्रत्येक अद्वैत बुद्धि और सर्व अद्वैत बुद्धि।

वस्तुज्ञान, पदार्थज्ञान प्रत्येक अद्वैत बुद्धिसे होता है, क्योंकि वस्तुका लक्षण किया है कि जो अखड हो जिसका दूसरा टुकडा न हो सके उसे वस्तु कहते हैं। अतः वस्तुस्वरूपसे याने प्रत्येक अद्वैत बुद्धिसे जीवका स्वरूप समझना चाहिए। हा तो यहां मोक्षमार्गकी बात चल रही थी कि मोक्षमार्ग कैसे चले ? परमात्मा कैसे बनें ? परमात्मा बननेके लिये हमे सबसे पहले बहिरात्मा, उसके बाद अन्तरात्मा और सबसे बादमें परमात्मा बनना होगा।

### ध्रुवनिजस्वरूपको देखो

जगतके सभी प्राणी ध्रुव बनना चाहते हैं। उनके विचार हमेशा यही रहते हैं कि मैं हमेशा एकसा रहूँ। धनमें ज्ञानमे सुखमें किसी भी बातमे लेलो। आप किसी व्यक्तिसे कहे कि हम तुम्हे सात दिनके लिये राज्य देते हैं और इसके बादमे तुम्हे जगलमे रीते हाथ (बिना कुछ दिये) भाग देंगे तो क्या वह व्यक्ति राजा बननेको तैयार होगा ? नही, वह कभी भी राज्य स्वीकार नही करेगा। राज्यके बदलेमे वह एक छोटी सी दुकान लेना स्वीकार कर सकता है, जो कि हमेशा उसके पास रहे। कहनेका तात्पर्य यह है कि वह चाहता है कि मैं हमेशा एकसा रहू।

साइस भी यही बतता है कि प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है, नित्य है। साइंस वाले मानते हैं कि पदार्थ कभी भी नष्ट नही होते। आप देखो यह अगुली टेढी गोल आदि दस अवस्थाओंमें गई याने यह अगुली सीधी भी है, टेढी भी होती है आदि ये दस अवस्थायें एक अगुलीकी होती है। इसमें हम आपसे यह पूछते हैं कि हमें तो आप वह अगुली बताओ जो कि इन दसोंमें गई तब आप वह अंगली जो कि दस अवस्थाओमें गई आप उसे ज्ञानसे जान सकते हो, ज्ञानसे उसे देख सकते हो, किन्तु आंखके द्वारा आप उसे नहीं देख सकते है। जैसे बचपन जवानी बुढापा—ये तीनो अवस्थायें मनुष्यकी हैं। वह एक मनुष्य इन तीनो अवस्थाओमें है। यदि ऐसा न होवे तो आपसे यदि हम पुरुष लानेको कहें तो आप क्या लावेंगे ? या तो आप बालक लावेंगे अथवा जवान आदि। तो मनुष्यत्व बालकमे भी है और जवानमें भी। यदि बालक ही मनुष्य है तो बालकत्वके समाप्त होने पर मनुष्यत्व नष्ट हो जाना

चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। मनुष्य तो वही है कि जो इन तीनो अवस्थाओ में रहता है। आपसे यदि शुद्ध आदमी लानेको कहा जाय तो आप बालक जवान बूढा कोई भी दिखाओगे किन्तु जो शुद्ध मनुष्य है वह तो ज्ञानगम्य है, उसी तरहसे आपका आत्मा भी ज्ञानगम्य है। आत्मा आंखसे नही दिखती उसे हम अपने ज्ञानसे देख सकते हैं।

आत्माका ज्ञान स्वानुभवसे होगा। स्वानुभव आत्माके चिन्तनसे होगा। अपनी आंखें बन्द करके अपनेको देखो, विचार करो कि आत्मा तो ज्ञानास्वरूप है, चैतन्यरूप है, इस मेरी आत्मामे अनंत शक्तिया हैं, किन्तु वे अलग अलग नही हैं। एक शक्तिमे समस्त शक्तिया रहती हैं, एक गुणमे समस्त गुण रहते हैं, जैसे ज्ञानगुणमें सभी गुण विद्यमान रहते हैं। ज्ञान गुण सूक्ष्म भी है, उसमें अगुरुलघुत्व प्रमेयत्व आदि सभी गुण मौजूद हैं। अतः स्वानुभवको पाने के लिये यह निर्णय करो कि मै सबसे भिन्न हूं, मैं जगतके पदार्थोंसे अलग हूँ, मेरा इनमे कोई सम्बन्ध नही है, मैं तो एक स्वतन्त्र हूं। जब तुम इस तरह की भेदपरक व्यवस्था अपने अन्दर कर लोगे तब तुम्हे सुख और शाति मिलेगी। अगर आपने समस्त वाह्य पदार्थोंकी व्यवस्थाकी और स्वयंकी व्यवस्था नही की तो सब व्यर्थ है।

### अपनी तो व्यवस्था कर लो

एक बाबू साहब व्यवस्था कार्य करनेमें बहुत ही चतुर थे। एक दिन उन्होने अपने कमरेकी व्यवस्था की। जो वस्तु जहा रखनी चाहिए वहीपर रखी और उसके नीचे उसका नाम लिख दिया। घड़ीके स्थानपर लिख दिया घडी और पुस्तकके स्थानपर पुस्तक। इस तरह प्रत्येक चीजको व्यवस्थित रूपसे करते करते रात्रि हो गई। पूरे दिन काम करनेसे कुछ थकान और कुछ नींद महसूस हुई। पासमे ही पलग पड़ा था सो वे बाबू साहब उस पलगपर लेट गये। पलगपर लेटते समय बाबू साहबने पलगकी पाटीपर लिख दिया कि मैं यानी इसके ऊपर मैं। सुबह बाबू साहब उठे और इस उत्कण्ठासे कि कहीं कोई गड़बडी तो नहीं रह गई, कमरेको देखने लगे। सभी चीजें अपने अपने स्थानपर व्यवस्थित रूपसे हैं। ऐसा देख करके बहुत प्रसन्न हुये, किन्तु यकायक उनकी दृष्टि खाटकी

पाटीपर गई। खाटपर लिखा था 'मैं'। बावू साहब खाटके ऊपर मैं को ढूढने लगे किन्तु यह मैं नही मिला इस तरहसे बावूसाहब बहुत चितामें पड गये। इघर उधर घूमनेके बाद जब "मैं" कहीं नहीं मिला तब घबड़ाकर अपने नौकर को आवाज लगाई--अरे मनुआ मैं खोगया ! आवाज सुनकर नौकर दौड़ा आया. बावूजीकी बातें सुनकर नौकरको हंसी आ रही थी, तब बावू साहब बोले कि देख मनुआ, अगर तुझे मैं मिला हो तो बतादे। नौकर बोला---आप इस समय नहा धोकर भोजन कीजिये, उसके बाद आपको "मैं" बता दूंगा। बावूसाहब नहा धोकर भोजन करके पलग पर आलेटे। तब नौकर ने कहा कि बावूजी देखो आपका 'मैं' अब मिला है या नही ? बावू साहबने पलगपर हाथ फेरकर देखा तब बोले कि मेरा 'मैं' मिल गया। तो कहनेका मतलब कि सबकी व्यवस्थाकी, किन्तु यदि अपनी स्वयंकी व्यवस्था नही की तो सब व्यवस्था बेकार है। ऐसी व्यवस्थासे कोई लाभ नहीं है। हां यदि आप स्वयकी व्यवस्था करलें और परपदार्थोंकी व्यवस्था न कर पावें तो उसमे हानि नही है। इससे हमें सबसे पहले स्वयंकी व्यवस्था करनी चाहिए। स्वयंकी व्यवस्था करनेके लिये बहिरात्म-अवस्थाको छोड करके अतरात्मा बनना होगा। अन्तरात्मा बनने के लिये पहले वस्तुका का ज्ञान करना होगा कि वस्तु कितनी होती है ? वस्तु वह है जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके। जो किसी अन्यमें मिल ही न सके, जो स्वयके परिणमनसे स्वयंमें ही परिणमता हो। आप यह विश्वास रखो कि जगत्की कोई भी चीज दूसरेको परिणमनसे नही परिणमती है, किन्तु जगत्के जीव परवस्तुओंको ही अपना मानता है। अपनेमें अहबुद्धि करता है।

**जब तक अहबुद्धि रहती है तब तक भगवान्का ज्ञान नहीं होता है**

नकटेकी कथा है। जिसका सार है कि नाकके रहनेपर भगवान्के दर्शन नहीं होते, यह हम पिछले दिनोमे कह चुके हैं। यहा पर इस कथासे यह साराश निकलता है कि जब तक नाक-यानी घमड रहता है तब तक भगवान्के दर्शन नहीं होते। भगवान्के दर्शन तो वहा होंगे जहा पर पवित्रता और भगवान्मे श्रद्धा होगी। भगवान्के दर्शन करनेके लिये जैसा भगवान्का स्वरूप है उसी तरहसे अपना स्वरूप उपयोगमें बनाओ और भगवान्के ध्यानमे बैठ जोओ।

भगवान्के दर्शन होंगे, भगवान् दिखेगा स्वयंकी महनतसे स्वयंके परिश्रमसे। स्वयंके पुरुषार्थसे भगवान् ऊंचे महलोंमें मकानोंमें नहीं दिखेगा, किन्तु वह गरीबों की टूटी हुई झोंपडियों में भी रहनेवाले शुद्ध हृदयमें पवित्र हृदयमें दिखेगा, जहाँ छल कपट मान क्रोध रागद्वेष नहीं होंगे वहीपर भगवान्के दर्शन होंगे।

इसलिये अपना लक्ष्य बनाओ कि हमें तो (भगवान्) परमात्मा बनना है। परमात्मा बननेके लिये पहले बहिरात्मा फिर अन्तरात्मा और अतमें परमात्मा बनते हैं। समस्त देहधारियोमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माये तीन शक्तियां चली आई हैं। हमें अन्तरात्मा बनना है सो वह अन्तरात्मा कैसे बने ? इसके बारेमें कुछ कहते हैं—

## अन्तरात्मा कौन है ?

अन्तः माने स्वयंका निरपेक्ष स्वरूप, उसे जो आत्मा मानता है वह अन्तरात्मा कहलाता है। अन्तः स्वरूप तब समझा जाता है जब अन्तः बाह्य स्वरूपका अन्तर जानकर बाह्यसे उपेक्षित हो जावे। एतदर्थ भेद विज्ञानकी भावनाकी आवश्यकता है। ज्ञानसे समस्त तत्त्व जाने जा सकते हैं। आत्माका अन्तः स्वरूप नेत्र इन्द्रियसे नहीं देख पाते हैं, किन्तु वह तो ज्ञानगम्य है। इस लिये अपने ज्ञानसे अपनी आत्माको देखो। कोई कहे कि हममें ज्ञान नहीं है सो भैया, ज्ञान तो सभीमें है। ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम सभीमें है। दो दो चार-चार कंपनियोंका कार्यभार संभाल सकते हो, बडेसे बडा काम कर सकते हो; उसी ज्ञानको उसी दिमागको अपनी आत्माकी ओर लगाओ, ज्ञान अपनी आत्माको देखो कल्याण होगा। लक्षण पहिचाने बिना तो भूलका दुःख सहना ही होगा।

एक बुढिया थी। उसका एक छोटा लडका था। जिसका नाम ललिया था। एक दिन बुढ़िया लड़केसे बोली कि बेटा! बाजार चले जाओ और वहाँसे शाक ले आओ और लड़का बोला कि अम्मा! मैं कहीं खो गया तो ? बुढ़िया बोली- नहीं खोवेगा। बुढ़ियाने एक कच्चे सूतका धागा उसके हाथ पर बांध दिया और कहा कि बेटा! इसे देखते रहना, फिर नहं भूलेगा और सीधा घर आ जावेगा। लड़का पैसा और थैला लेकरके बाजार गया। वहांपर बहुत भीड़ थी,

धक्के लगनेसे उसके हाथका धागा टूट गया। तब, वह लडका रोने लगा कि मैं भूल गया मैं भूल गया। आदमी देखकर हसने लगे, उसे समझावें कि भैया! तू भूला नहीं है रोता क्यो है ? किन्तु लड़केके हृदय में तो यही ज्ञान भरा था कि धागा देखते आना घर आजावेगा। लड़का रोता रोता घर आया और बोला कि मां मैंने कहा था कि तू मुझे बाजार मत भेज मैं खोजाऊगा। मां बोली कि तू नहीं खोया है अभी मिल जावेगा, सो जा। लड़का सो गया मा ने वही धागा फिरसे उसके हाथमें बाध दिया, और जब लडका उठा तब बुढिया बोली कि देख तू मिला या नही। लडका बोला—हा मां मैं मिल गया, मैं मिल गया। तो कहनेका तात्पर्य है कि आपका जो चैतन्यभाव है वह आपके पास है तो आप कभी भी खो नही सकते ? अपने को चैतन्यभावसे देखो तो आप अपने स्थानपर आजाओगे। शाति दुनियामे सबसे बडी चीज है। एक कपड़ा बेचने वाला था। उसकी औरत बहुत क्रोधी थी। वह हमेशा अपने पतिसे झगडा किया करती थी। एक दिन वह कपडा बेचनेवाला अपने अच्छे अच्छे कपडे पहिन कर बाजार जाने लगा तो उसकी औरत ने घर का सारा धोनधान जूठना अपने पतिके ऊपर उडेल दिया। पति बोला कि देवि जी ! गरजी तो बहुत थी, किन्तु बरसो आज ही हो। इस उत्तरको सुनकरके पत्नि पतिके चरणोमे आगिरी और क्षमा मागी इसलिये भाइयो क्रोधपरिणामोको छोडकरके शान्ति धारण करो, शान्ति से तुम्हें वातावरण अच्छा प्राप्त होगी। शान्तिसे सुखकी प्राप्ति होगी।

जगतमे जितने भी दुःख हैं वे सब ममताके कारण हैं

ममतासे जीवकी पिटाई होती है। जब तक बच्चा छोटा रहता है, उस समय तक, जब तक कि उसे ममता नही सताती, वह बहुत ही सुख और शांति से रहता है। और जब लड़कीकी शादी आदि हो जाता है उसी समयसे उसे ममता लग जाती है और वह दुःखी अशात हो जाती है। इसलिये जो सुखी बनना चाहता है उसे चाहिए कि इस ममताको छोड दे। अहबुद्धिके द्वारा जीवको बहुत दुःख होता है। मैं यह हूँ—अमुक हू, ऐसा विचार करना ही दुःख का कारण है। "मैं" से ही पिटाईका दुःख होता है। "मैं" इसका एक उदाहरण है। उससे क्या निष्कर्ष निकालता है उसे देखना है।

एक बच्चा था, वह बहुत ही चालाक था। एक दिन वह एक दौनेमे गुलावजामुन लेकर जा रहा था। रास्तेमें एक नदी पर उसे एक धोवी मिला। धोवीका एक छोटा सा बच्चा भी था। वह लडका वही खडे होकरके अपने गुलावजामुन खाने लगा और एक गुलावजामुन धोवीके लडकेको भी दिया। धोवीके लडकेको वह गुलावजामुन बहुत मीठा लगा और वह अपने पितासे हठ पकड गया कि मुझे तो गुलावजामुन ही दो। धोवी बोलो कि भाई ये कहां पर मिलेंगी? पहला लड़का बोला कि पासके वगीचेमें बहुत लगे हैं। धोबी बोला—कि हम इस लड़कीको। रसगुल्ले खिला लावें तवतक तुम हमारे यह कपडे और बरतन लोटा आदि देखना। जाते समय धोबीने पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है? लडका बोला—कल परसो। धोवी अपने लडकेको गुलावजामुम खिलाने गया। इधर यह लडका कुछ कपडे और धोवीका लोटा डोर लेकर वहांसे चल दिया। वगीचेमें उसे कहीं भी रसगुल्ले नहीं मिले। मिलें भी कहांसे? वगीचेमें रसगुल्ले हो तो मिलें। निराश होकरके धोबी वहांसे लौट आया। वहां पर आकर देखा तो कपडे बरतन नही हैं, और वह लडका भी नहीं है। तब धोबी रोने लगा कि कलपरसो मेरे कपडे बरतन लेगया। आदमी उसे मूर्ख कहे कि कलपरसो तेरे कपडे लेगया और तू अभी रोता है। हालाकि वह धोवी उसी समय रोया था, वह तो लडकेका नाम वताकर कहे कि कल-परसो मेरे कपडे लेगया, किन्तु आदमी उसका अर्थ है, दूसरा समझें। चलते चलते वह लडका एक जंगलके पास पहुचा। उधर एक घुडसवार आ रहा था वह प्याससे विह्वल था। उसने लडके के हाथमें लोटा डोर देखकर कहा कि बच्चे यह लोटाडोर थोड़ी देरको हमें देदो, हम पानी पी आवें। हमारा यह घोडा यहीं पर है सो तुम इसे देखते रहना। लड़का बोला—दादा लो। मैं कब मना करता हू। घुडसवार घोडेको छोड़ पानी पीने चला। चलनेसे पहले उसने लडकेसे उसका नाम पूछा। लडका वोला मेरा नाम है—कर्ज देनेमें। घुडसवार चला गया। इधर यह लडका उस घोडे पर बैठकर घोड़ा भगाकर चला गया। घुडसवार वहा आया तव वह रोने लगा कि "कर्ज देनेमे" मेरा घोडा लेगया। आदमी उसे भी मूर्ख कहें कि तेरे कर्ज देनेमें कोई घोडा लेगया तो तू क्यो रोता है?

चलते चलते एक गांवमें उस लडकेको रात हो गई। उसने सोचा कि चलो कहीं रात बितावें। ऐसा विचार करके वह एक रुई धुनने वालेके यहां गया। रुई धुनने वाला घर घर था नहीं, कहीं बाहर गया था। घरपर सिर्फ स्त्री थी। लडका बहुत ही विनयसे बोला कि माता जी रात हो गई है इसलिये एक रात को अपने यहां ठहरने दो; सुबह उठकरके चला जाऊंगा। लडका सुन्दर और भोला था, इसलिये सभीको वह अच्छा लगता था। रुई धुननीके अपने यहां उसे ठहरने दिया। उसने नाम पूछा। लडके ने अपना नाम बताया—तू ही तो था। फिर लडका पासकी दुकानसे आटा घी लाया और बोला कि सुबह मैं आपका हिसाब कर दूंगा। दुकानदारने कहा तुम्हारा नाम क्या है ? उसने कहा "मैं था"। लडकेने रातको रोटा बनाकर खा पीकर और थोन थान रुई पर डालकर सो गया। रातको चार पांच बजे उठकर रुईको इधर उधर बिखेर करके चलता बना। सुबह हुआ। इतनेमें ही रुई धुनिया आ पहुँचा और रुई को इधर उधर बिखरी व मैली देखकर औरतसे बोला कि इसे किसने बिखेरी है ? औरत बोली कि तू ही तो था। रुई धुनियाको गुस्सा आया कि मैं तो तीन चार दिनसे घर पर नहीं हूं और ये कहती है कि तू ही तो था। बस क्रोध मे डन्डा उठाकर उसे पीटने लगा। बिचारी औरतको क्या मालूम ? वह तो उस लडकेका नाम बता रही थी। जब पिटने और रोनेका हल्ला बाहर वाले दुकानदार ने सुना तब वह आया और बोला कि भाई ? इसका कोई कसूर नहीं है, इसे क्यों पीटते हो, इसने कुछ भी तो नहीं बिगाड़ा है, किन्तु वह तो मैं था। रुई धुनिया ने औरतको छोड़ उसे पीटना शुरू कर दिया। इस तरह से इस जगतमें जो परपदार्थोंको अपना मानता है वही दुःखी रहता है। यह परपदार्थ हमारे नहीं हैं इनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये इन्हें त्यागना चाहिए, क्योंकि जिनको इनसे ममता है उसीको पिटाई होती है। उसे दुःख क्लेश होते हैं। अतः सुखको चाहने वालोंको चाहिए कि इस ममता को छोड़ दें।

### विवेकियों ने ममता मिटानेमें ही सुखका निर्णय किया है

वैसे आप देखो जगत्में जितने भी दार्शनिक मनुष्य हैं वे सभी ममताको

मिटानेके लिये प्रयत्न करते हैं सोचते हैं। नास्तिक आस्तिक, द्वैतवादी, अद्वैतवादी, जैन, बौद्ध नैयायिक सभी ने यही चाहा है कि यह ममता मिटे। ममता मिटनेका अथवा मिटानेका बड़े २ ऋषि महर्षियोंने उपाय बताया है कि अपनी आत्माका चिंतवन करो। अपने स्वरूपको देखो, अपने स्वभावकी दृष्टि करो। आत्मासे विकल्पोंका नाश करो। जीवका (आत्माका) स्वभाव शुद्ध है। आत्माके स्वभावमें विकल्प नहीं है, विकार नहीं है। यदि स्वभावमे ही विकार पैदा हो जावें तो उनका मिटाना कठिन हो जावेगा। स्वभाव दृष्टिसे ही मोक्ष होता है। निमित्तदृष्टि संसारका कारण है और स्वभावदृष्टि मोक्षका कारण है। तो हमें करना क्या है ? हमें करना है कि निमित्तदृष्टिसे मुख मोड़ लें, अध्रुव दृष्टिसे मुख मोडें, निमित्त और पर्याय दृष्टिसे मुख मोडे इनसे मुंह मोडनेका उपाय सरल है। जैसे किसी कपटी मित्रसे मित्रता छोडनेके लिये उससें बोलना छोड दें, लो मित्रता मिटी। उसी तरहसे इनकी ओर दृष्टि हीन देवे अपने आप इनसें बुद्धि ममत्व हट जावेगा। भैया ! यह मनुष्यभव बडी कठिनाईसे प्राप्त हुआ है। इस भवमें संयमकी बहुत महत्ता है। इसके बराबर संयम और किसी गतिमें नही होता है। तिर्यंचगतिमे कुछ थोड़ासा संयम होता है, किन्तु पुरुषोंको, मनुष्योंको तो समस्तसंयम प्राप्त होता है। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट संयम मनुष्यगतिमें ही है। यही मनुष्यगतिका विशेषता है। आत्माका स्वभाव समस्त जगतके पदार्थोंसे भिन्न है। ये जो छोटे छोटे ज्ञान होते हैं, संकल्प विकल्पोंसे रहित है। वह एक आत्मा मनुष्य नारकी तिर्यंचदेव इन सभीमें जानेवाली आत्मा एक है। एक एक आत्मा अलग अलग है। जैसे एक अंगुलीकी कितनी दशायें होती है, किन्तु उन दशाओमे रहनेवाली एक अंगुली अंगुलीकी सभी दशाओमे जाती रहती है, किन्तु वह अगुली जो सभीमें गई उसे हम आंखकी दृष्टिसे नही देख सकते, किन्तु ज्ञान नेत्र ही देख सकेंगे।

### विद्या ही हम सबका भूषण और हितमूल है

आजकल जितने भी बडे आदमी दिखते हैं, जो देश, समाज और घरका काम कर रहे हैं, जो आज देशके नेता बने हुये हैं, वे भी तुम्हारे समान पहले

बच्चे थे। उन्होंने विद्याप्राप्त करके अपनी योग्यता बढ़ाई और देश, समाज के कामको अपने हाथोंमें लिया और उसे सम्भाला। कुछ समय बाद यही काम तुम्हारे ऊपर आनेवाला है, इसलिये आप लोगोंका कर्तव्य है कि अच्छी तरहसे विद्याभ्यास करो, और अपनी उन्नति बढाओ। बात तो यह है कि अपनेको सदा विद्यार्थी मानते रहो और विद्याभ्यासका उद्देश्य कभी भी न छोडो।

विद्यार्थियोको सबसे पहले "विनय" की आवश्यकता है, क्योंकि विनय पूर्वक ही विद्या आती है। जहां अभिमान व कषाय भाव रहेंगे वहां पर विद्या पूर्णरूपेण अपना स्थान नही ले पाती। देखो, विद्यार्थी यदि विनयी नम्र और मिष्टभाषी है तो वह गुरुके लिये प्रसन्नताकी वस्तु है और वह जितना चाहे गुरुसे परिश्रम करवा सकता है। इसलिये यदि तुम चाहते हो कि हम सुखी बनें तो आप लोगोको सबसे पहले विनयी बनना चाहिए। "विद्या" तुम्हारी तभी सार्थक होगी जब तुम विनयी बनोगे। नीतिकारो ने बताया है—विद्या ददाति विनयं–विनयं ददाति पात्रताम्।

विद्या पढनेसे विनय आती है और विनयसे आती है पात्रता। तुममें जब विनय होगी तभी तुम विद्या पढने के पात्र बन सकते हो। जिस तरहसे सिंहनी का दूध स्वर्णके पात्रमें ठहरता है, उसी तरहसे विद्या भी पात्रको ही आती है। इसलिये आप लोगोको विनयी बनना आवश्यक है। जिससे विद्या पाती हो उस गुरुकी जितनी सेवा शुश्रूषा भक्ति करोगे उतनी ही अच्छी विद्या तुम प्राप्त कर सकते हो। गुरु शिष्यका व्यवहार पिता पुत्रवत् होना चाहिए। शिष्य गुरुकी सेवा पिताके समान करे। गुरुको अपना पिता माने और गुरुका कर्तव्य है कि शिष्यके प्रति पुत्रवत् भाव रखे। विद्यार्थी को ४ बातोपर पूर्णतया ध्यान देना चाहिए यदि वह सुखी बनना चाहता है।

(१) सबसे मीठे वचन बोले। इससे सभी लोग उससे प्रसन्न रहते हैं और सभी उसे चाहते हैं।

(२) गुरु–भक्ति करो।

(३) माता पिता गुरुकी सेवा भक्ति और विनय करो।

(४) अपना काम समयपर करो। जिसने समयकी कीमत नही पहिचानी वह विद्यार्थी कभी भी जीवनके महत्वको नहीं समझ सकता है। समयकी कीमत पहिचानो, समय निकल जानेपर वह समय लाखों रुपये खर्च करनेपर भी वापिस नही होता है। समयपर काम करनेसे सभी काम ठीक रहते हैं। पढने के समय पढ़ो, खेलनेके समय खेलो। ऐसा मत करो कि पढनेका समय है और तुम कैरम आदि खेल खेलने बैठ गये। यह आदत सबसे बुरी है, यह विद्यार्थीके पतनका कारण है। इसलिये प्रत्येक काम समय समयपर करो। यह प्रसन्नता और स्वास्थ्यके लिये उत्तम है। एक बात और है वह है सदाचार।

अपने आचार विचार शुद्ध रखो। खाना अच्छा शुद्ध पवित्र खाओ। अन्याय मत करो। अभक्ष्य मत खाओ। इनसे आत्मा पतित होती है, इस लिये इनका त्याग करो। खानपान पर सबसे अधिक ध्यान दो। अशुद्ध खाना बाजार के सडे गले पदार्थ अंडे मछली आदिक वस्तुयें उपयोगमें मत लाओ। मादिक पदार्थ बीड़ी सिगरेट तम्बाकू आदि नशीले पदार्थोंसे दूर रहो। पानी छानकर पिओ।

आचार विचार जीवनके उत्थानका प्रधान साधन है। खान पान शुद्ध रहता, विचार शुद्ध रहते तो हमारी आपकी आत्मा शुद्ध बनती है। इसलिये हमें सबसे पहले अपने आचार विचारोंको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये। क्योंकि सदाचार ही जीवन है। न्यायपूर्ण जीवन रहा तो सम्यक्त्वकी पात्रता हो जायेगी।

### परमार्थ मायासे अलग नहीं फिर भी भिन्न है

जगत्में वास्तविक वस्तु, परमार्थभूत वस्तु क्या है? परीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि परमार्थभूत वस्तु प्रत्येक जगह पर विद्यमान है। वह परमार्थ क्या है? माया का कारणभूत तत्त्व। मायासे अलग परमार्थ कोई वस्तु नहीं है, किन्तु स्वरूप भिन्न है। मायासे अलग अथवा यों कहिये कि मायाके बिना परमार्थ नहीं और परमार्थके बिना माया नहीं। इन दोनोंका आपसमें अविनाभाव सम्बन्ध है। फिर भी जो माया है सो परमार्थ नहीं और जो परमार्थ है सो माया नहीं। एक वस्तुको है अथवा नहीं है। किसी एकरूप मान लेने पर आपत्ति पैदा हो

जाती है। अतः किसी भी वस्तु पदार्थका निर्णय करनेके लिये सत्य उपाय स्याद्वाद है। स्याद्वादके द्वारा निर्णय किये गये पदार्थोंमें शंका करनेकी गुंजाइश ही नहीं रहती है। स्याद्वाद का कथन अथवा उससे पदार्थोंका निर्णय करनेके पूर्व यह मान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि स्याद्वादका अर्थ क्या है ? स्याद्वादका सीधा और सरल अर्थ यह है। स्याद्का अर्थ है—कथंचित् व वादका अर्थ है कहना यानी वस्तु है और नहीं भी है। वाद याने कहना याने वस्तुको ऐसा कहना कि वह है और नहीं भी है। इसीका नाम स्याद्वाद है। स्याद्वादसे वस्तुका यथार्थज्ञान हो जाता है। मानलो कि हमे पुस्तकका ज्ञान करना है तो हम उसे कहते हैं। पुस्तक है। इसका लाल रंग है, मोटे मोटे २ पट्ठे हैं आदि। क्या यह पुस्तक धार्मिक है ? नही। पुस्तक धार्मिक नही है, किन्तु उसमें वह तो जड है पुस्तकमे जडमे धार्मिकता कैसी ? किन्तु अगर आप स्याद्वाद की दृष्टि डालकर किसी बातपर विचार करें तो आपको विचार उत्पन्न होगा कि सभी झगड़े निमट गये। स्याद्वादके बिना वस्तुका यथार्थज्ञान नहीं हो सकता है। जगत्मे स्याद्वादके बिना जीवोका निवास नही है। जो स्याद्वादके विरोधी हैं वे भी स्याद्वादके आश्रयसे ही जी रहे है।

स्याद्वादकी दृष्टिसे एक ही मनुष्य पिता है, पुत्र है, मामा है, भतीजा है, चाचा है आदि। कहनेका मतलब कि स्याद्वादके आश्रयसे ही यह सब कुछ है। वस्तुको यथार्थदृष्टिसे यदि देखा जावे, उसका परीक्षण किया जावे तो जीवका कल्याण अवश्यभावी है। कल्याण हो सकता है। बिना इसके जीवका कल्याण नही हो सकता है। मायाके बिना परमार्थ नहीं, परमार्थके बिना माया नहीं। जो दीखता है सो परमार्थ नहीं, किन्तु जो दीखता है उसकी दृष्टि हटाओ तो परमार्थ है। इसका स्पष्ट भाव क्या है ? जगत्मे जितने भी द्रव्य, पदार्थ होते हैं वे सामान्य विशेषात्मक होते है। हम मनुष्य कबसे हैं और कब तक हैं ? हम इस जन्मसे मरण तक मनुष्य हैं। मनुष्यकी तीन अवस्थायें हैं—बालक जवान, बूढा, किन्तु जो बालक आदि हैं वह मनुष्य नही और जो मनुष्य है वह बालक जवान बूढ़ा नही याने बालक मनुष्य नही और मनुष्य बालक नहीं। किन्तु मनुष्य तो वह है जो कि इन तीनो अवस्थाओमे एक है, वही मनुष्य है।

वह मनुष्य हम ज्ञानसे देख सकते हैं, वह ज्ञानगम्य है, इन्द्रियगम्य नही। फिर भी बालकके बिना मनुष्य नही और मनुष्यके बिना बालक नही। इसी प्रकार आत्मा, परमाणु आदि द्रव्योंका विचार करो। जिसका दूसरा टुकडा न हो सके यानी जो न दिखने वाला परमाणु है वही द्रव्य है। फिर भी वह किसी न किसी आकारमें रहता है। उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श हैं वही परमाणुकी माया है।

**आत्मामें देखो कि परमार्थ क्या है और माया क्या है**

इस देहके अन्दर रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित ज्ञान ही जिसका समस्त कलेवर है ऐसा आत्मा है। वह आत्मा अनादिसे नाना तरहकी पर्यायोंमें रहा। कभी मनुष्य हुआ, कभी तिर्यंच हुआ—इस तरहसे नाना प्रकारके दुखोंको भोगता रहा। आत्मा सिर्फ पर्याय ही पर्याय नही है। आत्मामें मुख्यतया तीन गुण हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र। इन तीन गुणोंमे से दो का तो विकार होता है, दर्शन और चारित्र। ज्ञानका विकार नहीं होता है। ज्ञान तो दर्शन और चारित्रके बीचमें फंसा है। दर्शन और चारित्रमे जिस तरहसे विकार होता है ज्ञान उस ओर झुकने लगता है, किन्तु ज्ञान स्वयं विकार रूप नहीं परिणमता है। ज्ञान अपने ज्ञानरूप ही रहता है किन्तु दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र इन दोनो में ही विकार भाव पैदा होते हैं। दुनियामें ऊचे ऊचे विद्वान् पंडित नेता हैं। अनेक शास्त्रोंको जिसने पढा हैऐसे भी विद्वान् हैं समाजमें उनका नाम है, किन्तु स्याद्वादके बिना जाने समझे वे दुःखी हैं। ऊंचे २ शास्त्रोंको पढनेपर उनका ज्ञान होनेपर भी बिना स्याद्वाद के वे दुखी हैं। ऐसे स्याद्वादको हमें समझना चाहिए। वस्तु तत्वका निर्णय बिना स्याद्वादके नहीं हो सकता है। आप किसी की मत मानो, अपने आप इसपर विचार विमर्श करो और सोचो। आप किसी की मान भी कैसे सकते हैं ? आप जो कुछ मानते हैं सो सब अपनी ही मानते हैं। प्रत्यक्ष देख लो—हम आपसे कोई बात कहें और आप उसे एकदम मान लो तब जानें कि हां, आप लोग हमारी बात मानते हो, किन्तु आप अथवा और कोई व्यक्ति तब तक किसी की बात नहीं मानता जब तक कि उसके हृदयमें वह वार्ता अच्छी न लगे। याने जब तक वह आपके जाननेमे नही आजाती तब तक आप उस बातको माननेको तैयार नही होते हैं। इसका

अर्थ यह होता है कि आप अपनी ही बात मानते हैं दूसरोंकी नहीं। प्रत्येक बात प्रत्येक शब्द बड़े ध्यानसे सुनना चाहिए। अगर उसमें से एक शब्द भी छूट जावे याने हम नहीं सुन पावें उस हालतमें बहुत अनर्थ हो जाते हैं।

**परमार्थ व व्यवहार—दोनोंमें पूर्वापरका ज्ञान प्रयोजनिक है**

पदार्थ वर्तमानसे पहिले भी अनादिसे हैं व वर्तमानके बाद भी अनन्तकाल तक रहेगा—ऐसा पूर्वापर सहित वर्तमानको समझने से अन्वित द्रव्यका ज्ञान होता है। बहिरात्मा वर्तमान परिणमनमें ही तन्मय होते हैं उन्हें इस अन्वित द्रव्यका परिचय कैसे हो ? व्यवहारमें भी तो पूर्वापर सम्बन्ध आपेक्षिक होता है।

एक मुसलमान कहीं पर उपदेश दे रहा था। आदमियोंसे कह रहा था कि जब नापाक हो तब नमाज नहीं पढना। उस मुसलमान का पुत्र कहीं ऊपर चढ रहा था—उसके कानोंमे ये शब्द पड़े, उसने सुने कि नमाज नहीं पढना चाहिए। इसके पहलेका "जब नापाक हो" इतना शब्द न सुन पाया। घर आकर जब दोनो मिले तब पुत्र बोला कि पिताजी आपने नमाज पढ़नेको मना किया है इसलिये आजसे मैं नमाज नही पढूंगा। तब पिताने कहा—मैंने कब कहा ? लड़का बोला—आज ही तो आप कह रहे थे उपदेश देते समय। तब मौलवी बोला कि मैंने तो यह कहा था कि नापाक होनेपर नमाज मत पढो। यही शब्द कभी भूलके रूपमे परिणत होते हैं। सत्यवादी युधिष्ठरने एक बार ऐसा ही भूल किया था। युद्धमे जब युधिष्ठर आदि हारने लगे, गुरु द्रोणाचार्य भयकर-युद्ध कर रहे थे, विजयका ठिकाना नहीं दिखता था। इधर अश्वत्थामा नामक हाथी अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर मर गया। तब युधिष्ठरने कहा था कि अश्वत्थामा मर गया और धीरेसे कह दिया हाथी। द्रोणाचार्य इस हाथी शब्दको न सुन सके। उन्होने समझा कि मेरा पुत्र ही मर गया है। उन्हे दुख हुआ और युद्धसे चले गये। कहनेका तात्पर्य इतना है कि जब तक परकी ओर दृष्टि रहती है, परपदार्थोंको अपना मानता है तभी तक यह भूल रागद्वेष रहते हैं और जब दृष्टि अपनी आत्माकी ओर लगती है, तब ज्ञान होता है कि ये राग द्वेष छल कपट माया किसके लिये ? ये पर पदार्थ तोमेरे हैं नहीं, इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नही, फिर ये छल कपट किसके लिये करूं ? ऐसा सोच

विचार करके वह उन सभीको त्याग देता है। तभी उसे वास्तविक सुखकी प्राप्ति होती है।

### पुण्यसे सुख नहीं मिलता

आप देखो रामचन्द्र, हनुमान इनके पुण्यने इन्हें क्या सुख दिया ? जन्म से लेकरके अन्त तक दुःख ही दुःख रहा। हनुमानको कोई हवाका पुत्र कहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। हनुमान पवनंजय राजाका और अजंना रानीका पुत्र है। पवनंजयकी सगाई जब अंजनासे हुई तब पवनंजय अपनेको न रोक सका और अजंनाको देखने रातके समय वहांसे अजंनाके महलोंको गया। वहां पर अंजनाकी सखियां अंजनासे कह रही थीं कि अब तुम्हारी शादी होने वाली है, सो कोई कहे फलाने देशका अमुक राजा तुम्हारे योग्य था, कोई कहे अमुक राजा तुम्हारे लिये योग्य था। इन बातोंको सुनकरके पवनंजय ने सोचा कि यह मुझे चाहती नहीं है। इसलिये मैं अब इससे शादी नहीं करूंगा, किन्तु बाद में विचार किया कि यदि मैंने शादि नहीं की तो क्या इसे कष्ट दे सकूंगा ? शादि करूंगा किन्तु उससे बोलचाल नही करूंगा। शादि हो गई, अंजनाको एक अलग महलमें ठहरा दिया गया। पवनंजय २२ वर्ष तक अजनाके पास नहीं गया। एक बार पवनंजय रावणकी सहायतार्थ लड़ने जा रहा था। रास्ते मे कैम्प लगाये गये। रातको एक चकवा चकवीका जोड़ा बिछुड जाने से दोनों बहुत दुःखी हो रहे थे, इस दृश्यको पवनजयने देखा और विचार किया कि मैं अंजनी स्त्रीके पास २२ वर्षसे नही गया, उसे कितना दुःख होता होगा। उसी रात पवनंजय अजनाके महलोंमें गया, एक रात वहां रहा। सुबह होते जब वह वहांसे आने लगा तब अंजनाने कहीं कि नाथ ! कहा मेरे गर्भ रह गया हो तो। इसलिये आप माता-पितासे कहते जावें कि आज रातमें महलोमे ठहरा था। पवनजयने कहा—कैसे कह दूं ? अच्छा तुम मेरी अंगूठी लेलो। अगूठी देकर वह चला गया। १ वर्षसे भी ज्यादा टाइम युद्धमें लग गया। इधर अंजनाका गर्भ बढ़ा, सासने विचार किया कि यह व्यभिचारिणी है और उसे घरसे निकाल दिया। जंगलमे हनुमान पैदा हुये। कहनेका मतलब कि पुण्यने शुरूसे ले करके अन्त तक दुःख ही दुःख दिये और जब इन्होंने ससारको

मायाको छोड़ करके मुख्य दीक्षा धारण की उ । ममय उन्हें वास्तविक सुख आनन्द प्राप्त हुआ ।

रामचन्द्रजी इतने सुन्दर थे कि उन्हें देखकर स्त्रियां विह्वल हो जाती थीं, साधु अवस्थामें श्री रामचन्द्रजी ने तब यही कहा कि मैं हमेशा जंगलमे ही रहूगा । भैया ! जगतके समस्त पदार्थोंको छोडकर के अपना आत्म कल्याण करना ही श्रेयस्कर है । इसीमे लाभ है । इसलिये सब ओरसे दृष्टि हटाकर अपनी आत्माकी ओर लगाओ, स्वानुभवसे हो कल्याण हो सकेगा ।

### सराग सम्यग्दृष्टिके उपास्य परमात्मा व अन्तरात्मा

बन्धुजन ! कुछ बोलू उसके पहिले इच्छा है कि सब मंत्रोंमें श्रेष्ठ मंत्र जो णमोकार मंत्र है और जो चत्तारि दडक है उनके बारेमें कुछ प्रकाश डालूं । इसका अपरनाम पचनमस्कारमंत्र भी है । क्योकि इसमें पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार किया है । नमस्कार जो किया गया है वह परम विशुद्ध निर्मल आत्माओंको किया गया है और उन्ही परम विशुद्ध आत्माओंका इस णमोकारमत्रमे वर्णन है ।

णमोकारमत्र जपा और तरीकेसे जाता है और बोला और तरीकेसे जाता है । बोला जाता है आर्याछदसे ।-जैसे—णमो अरिहताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाण णमो लोयेसव्वसाहूणं । यह क्रम जपने का है । इसमें जो लोये शब्द अन्तमें पडा है वह लोये शब्द प्रत्येकके साथ जोडना चाहिए । जैसे णमो अरिहताण यानी अरहन्तोंको नमस्कार हो । यहाँ लोये शब्द और अधिक लगाना चाहिए । अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—लोकके समस्त अरहंतोंको नमस्कार हो । लोकके समस्त सिद्धोंको नमस्कर हो । लोकके समस्त आचार्योंको नमस्कार हो । लोकके समस्त उपाध्यायोंको नमस्कार हो और लोकके समस्त साधुओंको नमस्कार हो । यह (पढने) उच्चारण करनेकी पद्धति हुई । णमोकारमत्र जपनेकी पद्धति और तरहकी होती है । तीन श्वासोच्छ्वास में पूरा णमोकारमत्र जपा जाता है । वैसे णमोकारमंत्र कई तरहसे बोला जा सकता है । उसके बोलनेके १८४३२ भेद हैं । यानी भेद-प्रभेदों द्वारा णमोकारमत्र इतनी तरहसे बोला जा सकता है । फिर भी जो वर्तमान रूप प्रचलित है हम और आपको उसी रूपसे णमो-

कारमंत्र बोलना चाहिये। इस मंत्रमे एक खास बात यह है कि इसमे किसी व्यक्ति विशेष नाम विशेषको नमस्कार नही किया गया है। आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर इन्हे भी इस मंत्रमे नमस्कार नहीं किया है तब यहाँ प्रश्न होता है कि जब भगवान्को नमस्कार नहीं किया हैं। तो किसे नमस्कार किया है ? इस मंत्रमे परम विशुद्ध निर्मल आत्माको जिसे हम परमात्मा भी कहते हैं उसे नमस्कार किया है। परमात्माको ही हम भगवान् कहते हैं। भगवान्का कोई नाम नही होता है। किन्तु नाम निक्षेप चलनेके लिये भगवान् को नाम विशेषसे पुकारते हैं, वास्तवमे भगवान्का कोई नाम नही होता है। जो जिस अवस्थासे या जिस नामसे मुक्तिको प्राप्त करता है उसे हम उसी नामसे पुकारने लगते हैं। जैसे रामचन्द्रजी ने रामके नामसे मुक्ति पाई यानी तपस्याके पूर्व उनका नाम राम था सो लोग उन्हे भगवान् रामके नाम से पुकारने लगे। वास्तवमे ऐसा होता नही है। तब होता क्या है ? मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भगवान् राम नही और जो राम हैं वे भगवान् नही। भगवान् तो उसका नाम है जो परम विशुद्ध, निर्मल, एक आत्मा स्वरूप है वही भगवान् है। इस मत्रमें शुद्ध आत्माको व जो शुद्ध आत्मा होनेके प्रयत्नमे सफल हो रहे हैं उनको नमस्कार किया है। जो यत्नोंमे लगे हैं वे हैं आचार्य, उपाध्याय, साधु। णमोकार मंत्रमें जो सबसे पहले अरहंतको रखा है उसका कारण यह है कि वे जगत्के हितके अपूर्व निमित्त हैं, लोकोपकारी हैं, और बादमें सिद्ध, किन्तु आपको यह जान लेना आवश्यक है कि पांचोमे से सबसे प्रथम कौनसी अवस्था होती है ?

सबसे पहले साधु बनता है तथा उन साधुओंमे जो विशेष चारित्रवान् ज्ञानवान् होते हैं उन्हे आचार्य कहते हैं। और जो ११ अग १४ पूर्वके पाठी होते हैं जगत्के समस्त मनुष्योसे विशेष ज्ञानवान् होते हैं। जिसकी बातका कोई खंड नहीं न कर सके उसे उपाध्याय कहते हैं। और जिसे केवल ज्ञानकी प्राप्ति हो गई है तथा जिसने चार घातिया कर्मोंको नाश कर दिया हैं ऐसी उस महान् आत्माको अरहंत कहते हैं तथा जिसने आठो कर्मोको नष्ट कर दिया है, मनोयोग, वचनयोग, कामयोग इन तीन योगोंमे से एक भी योग जिस

के नहीं है तथा जो सिद्धशिलामें विराजमान् है उन्हें सिद्धप्रभू कहते हैं। इस तरहसे यह णमोकारमन्त्रका क्रम है।

अब चत्तारि दडकके बारेमें कहते है

चत्तारि मंगलं लोकमें चार वस्तुयें ही मंगल हैं। वे चार ये हैं अरहन्ता मगलं यानी अरहंत मगलस्वरूप हैं। यहा यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि मगल किसे कहते हैं? मगल शब्द, कल्याणका पर्यायवाची है यानी मगल शब्दका अर्थ होता है कि कि जगतमें चार वस्तुयें ही कल्याणकारी हैं, कल्याण करने वाली हैं। अरहंत कल्याणके करने वाले हैं। सिद्धामगलं—सिद्ध मगलस्वरूप हैं यानी सिद्ध भगवान् कल्याण करने वाले हैं। साहूमगलं—साधु (मुनि) ये (मंगल) कल्याणके करने वाले हैं। केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगलं—केवलि भगवान्के द्वारा कहा गया जो धर्म है वह कल्याणका करने वाला है।

अब कहते हैं कि चत्तारि लोगुत्तमा—लोकमें चार चीजें ही उत्तम हैं। अरहंता लोगुत्तमा—लोकमे अरहंत प्रभू उत्तम हैं। सिद्ध लोगुत्तमा—लोकमें (संसार) सिद्धप्रभू उत्तम हैं। साहूलोगोत्तमा—लोकमे साधु (मुनि) उत्तम हैं। केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमो—जगतमे केवलिभगवान्के द्वारा कहा गया धर्म लोकमें उत्तम है। इस तरहसे यह णमोकारमन्त्र और चत्तारि दडकका वर्णन हुआ।

अपनी आत्माका भी तो कीर्तन करो

अभी अभी जो आत्मकीर्तन बोला गया है उससे हमें क्या शिक्षा लेनी है? स्वभाव दृष्टिसे जीवका उद्धार होता है। इसलिये प्रत्येक जीवको अपनी आत्माकी ओर अपनी दृष्टि लगानी चाहिए।

विचार करें—हूं, स्वतन्त्र निश्चल निष्काम—मैं स्वतन्त्र हूँ, निश्चल हूँ, और निष्काम हूं। ज्ञाताद्रष्टा आतमराम—मैं ही ज्ञाता हूँ, मैं स्वयंको जानने वाला हूं और स्वयंको देखने वाला हू। मेरा जो चैतन्य स्वभाव है वह चैतन्य ही रहेगा, स्वभाव दृष्टिसे देखनेपर विचार होते हैं कि—मैं वह हूं, जो हैं भगवान्। जो मैं हूं, वह हैं भगवान्। क्या विचार करता है—मैं वह हूं, जो

भगवान् हैं यानी मेरे स्वरूप और भगवान्के स्वरूपमें कोई भेद नहीं हैं। मेरी आत्मा भी भगवान्की आत्माके सदृश है। इसलिये जो मैं हू, सो भगवान् है और जो भगवान् हैं सो मैं हूँ। किन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि भगवान् विराग हैं। उनकी आत्मासे रागद्वेष मोहादिक दूर हो चुके हैं और हमारी आत्मा अभी राग द्वेषादिकसे सम्बन्धित है। यह अन्तर सिर्फ ऊपरमे है, पर्यायगत है। यहा पर राग द्वेष मोहादिकका फैलाव है। इस तरहकी बुद्धिमें आत्माका मुख्य लक्षण उपयोग अथवा ज्ञान है—यह निर्णय करना। आगे कहा है कि 'ममस्वरूप है सिद्धसमान। अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥' मेरा स्वरूप सिद्ध भगवान्के ही सदृश है। मुझमें भी 'अनन्त ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख प्राप्त करनेकी क्षमता है, किन्तु हुआ क्या—'आशवश खोया ज्ञान।' आशा (तृष्णा) के वशीभूत होकरके अपनी आत्माके ज्ञानको खो दिया है और अब आत्मज्ञानको खोकर के निरा मूर्ख अज्ञानी बन करके दुखोको भोग रहा हूं।

आगे कहते हैं—'सुख दुख दाता कोई न आन। मोहराग रुष दुखकी खान ॥' सुख और दुखका देने वाला अन्य कोई नहीं है, किन्तु मोह राग द्वेष—ये ही दुख की खान है। इन्हींके द्वारा दुःख मिलता है। इसलिये निजको निज मानो, परको पर जानो। परपदार्थोंको अपना मत मानो। उन्हें पर समझ करके त्याग दो, उनसे कोई सम्बन्ध मत रखो और दर्शन ज्ञान चारित्र चैतन्य ये भी तुम्हारे आत्मा हैं, गुण हैं उन्हें ही अपना मानो तो दुखका नाम भी नहीं आ सकता है। जिन, शिव, ईश्वर ब्रह्मा बुद्ध आदिक जितने भी नाम हैं सब एक ही इस निज भगवान्के हैं। रागद्वेषको छोड़ करके हम एक ही निज स्थानपर पहुचे। 'होता स्वय जगत् परिणाम। मैं जगका करता क्या काम ॥' इसलिये परकृत परिणामो को दूर करके अपनेमें ही लवलीन होना चाहिए। उसीमे परम सुख है, आनंद है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी आत्माका ध्यान करना चाहिए। सभी ठीक होगा।

### सम्यक्त्वके बिना आपतित विपदायें

जिस सम्यक्त्वके बिना आत्माकी बहिरात्मत्व की स्थिति हो जाती है, आज उस बहिरात्माकी अंतरंग स्थितिको बताते हैं। बहिरात्मा इन्द्रियोंके संयोगसे

तथा आत्मज्ञानसे विमुख होकरके महान् अनर्थ करता है। आत्मज्ञानसे विमुख होकरके बहिरात्मा अपनी देहको ही आत्मारूपसे समझता है विदित करता है। उसकी अपनी देह होती नहीं है, किन्तु आपको बतानेके लिये कहना पड़ा है। हां तो बहिरात्मा इन्द्रिय ज्ञानसे जानता है। इन्द्रियोंसे किन पदार्थोंका ज्ञान होता है? मूर्तीक पदार्थोंका। मूर्तीक पदार्थोंका ज्ञान करके यह जीव उन्हीं पदार्थोंको अपना मानता है, अपनी आत्माकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता, इसी लिये वह आत्मज्ञानसे विमुख है। कदाचित् आत्मज्ञानका अवसर भी मिले, किन्तु विषयोंकी लोलुपतामें फंसे होनेसे वह उस आत्मज्ञानसे वंचित रहता है। यही कारण है कि यह जीव आत्मज्ञान पराङ्मुखः। आत्मज्ञानसे विमुख रहता है। यहा हमें विचार करना है कि हम आंखोंसे क्या-क्या देखते हैं? बहुतसे मनुष्योंका कथन है—विचार है कि आंखोंसे हम रूपको जानते हैं, किन्तु ऐसा सोचना अथवा कहना ठीक नहीं है। आंख रूपको नहीं जानती और न आंख रूपको जान सकती है। आंखका काम रूपको जानना नहीं है। आंख तो ज्ञानकी उत्पत्तिमें एक निमित्त है; ज्ञान वास्तवमें पदार्थको जानता है। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा भी है—अर्थस्य चक्षुरिन्द्रिय रूपको नही जानती, किन्तु वह तो पदार्थको ही जानती है? जाननेमें न गुण आवेंगे और न पर्याय। यदि गुण और पर्याय जाननेमे आजावें तो वह सत् हो जावेंगे। वे भी द्रव्य हो जावेंगे तब आगममें दोष उपस्थित हो जावेगा।

### आत्मवैभव अवाग्गोचर है

आत्मा ज्ञानसे जाननेमें तो आरहा है, किन्तु वचनोंसे कहनेमे नही आरहा है—ऐसा अवाक्गोचर आत्मा हमारा आपका—हाथी, घोड़ा, बैल, शेर, नारकी आदि जीवोंका एक है। अखंड है। इसी लिये यह द्रव्य है। द्रव्यका लक्षण हम पहले बता चुके हैं कि जिसका कभी खंड न हो—दूसरा हिस्सा न हो, उसे द्रव्य कहते हैं।

आत्मा हमेशा किसी न किसी वर्तमान पर्यायरूप रहता है। उसमें कभी तीनों कालोंकी पर्याय नहीं आती है, उन पर्यायोंसे गुजरता है। जहा ऐसा कहा गया है कि द्रव्य तीनों कालोंकी पर्यायरूप है, उसके कहने का मतलब सिर्फ

इतना है कि द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है। वह तीनोकालो—भूत भविष्य वर्तमान तक रहता है। फिर भी हमारा ऐसा कहना असत्य नहीं होगा कि आत्मा अनंतपर्यायोंका समूह रूप एक ही है। प्रत्येक गुणके पर्याय होते हैं, इस दृष्टिसे एक समयमें भी अनन्त पर्यायोका समूह आत्मा है। पर्यायके दो भेद हैं—

पहला—परिणमनरूप और दूसरा भेदरूप जितनेमात्र परिणमन हैं वे भेद तो हैं, किन्तु जितनेमात्र भेद हैं वे परिणमन मात्र नहीं। इसी तरहसे जितनेमात्र गुण हैं वे धर्म तो कहलाते हैं—किन्तु सारे धर्मगुण नहीं होते हैं। इसीका खुलासा करते हैं। धर्म किसे कहते हैं और गुण किसे कहते हैं ?

जिसमें अगुरुलघुत्व परिणमन हो उसे कहते हैं गुण और जिसमें अगुरु लघुत्व परिणमन न हो उसे कहते हैं धर्म। पर्यायके दो भेद हैं जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि पहला परिणमन और दूसरा भेद। हां तो जहां हम भेद की दृष्टिसे वर्णन कर रहे हैं।

एक आत्मा अखंड तत्वमे जब हम व्यवहारनयका आश्रय करते हैं तब हमें उसमे अनंत शक्तियां समझमें आती हैं यानी एक आत्मामें अनन्तशक्तियां हैं ऐसा व्यवहारनयके आश्रयसे सिद्ध होता है। व्यवहारनयसे यह सिद्ध हो चुका कि अनन्तशक्तियोका समूह यह एक आत्मा है। अनंतशक्तियां हैं, किन्तु वे बिखरी नहीं है। एक गुणमे सारे गुण मौजूद हैं। जब हम एक शक्ति अथवा एक गुण पर दृष्टि डालते हैं तब हमे पता चलता है कि इस एक गुणमे अनंतगुण मौजूद हैं। जैसे हमने एक ज्ञान गुण लिया। ज्ञानगुण कैसा है ? ज्ञान गुण जाननमात्र है। ठीक है किन्तु इतना तो बताओ कि ज्ञानगुण जाननमात्र तो है किन्तु वह ज्ञानअस्तिकात्व भी है या नहीं ? हा ज्ञान अस्तित्वमय भी है। यदि इकार करते कि ज्ञानका अस्तित्व नहीं है तो एक विपत्ति आती है। अभावरूप हो जाता है। अच्छा अब विचार करो—निर्णय करो कि वह ज्ञान स्थूल है अथवा सूक्ष्म। यदि उसे स्थूल मानते हो तो ज्ञान जड होता है तब ज्ञान सूक्ष्म ठहरा। अच्छा यह बताओ कि ज्ञानके अगुरुलघुत्व अवगाहनत्व हैं। या नहीं ? हैं एक ज्ञान—गुण अलग माना है, किन्तु यह देखो कि उसमे तो सभी गुणोका

अगर आप इसमे से एक गुणको भी अलग कर दें—न्यारा करदें तो सभी गुण बिखर जावें और बड़ी भारी विपत्ति पैदा हो जावे।

अब आप उस एकमे देखो कि उसमे कितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं—कितने विलास हैं कितने रस हैं आदि। एक (आत्मा)में अनंत पर्यायें हैं। एक पर्यायमें अनत अविभाग प्रतिच्छेद हैं। एक अविभाग प्रतिच्छेदमे अनंत विलास हैं और एक विलासमें अनतरस हैं। इस तरहसे अनंत पर्यायों और अनंत शक्तियोंका समूह वह एक अखंड आत्मा है।

### अनुपम वैभवशील भी आत्मा मोहवश व्यवहार-विमूढ हो रहा है

ऐसा अतुल वह आत्मा अपने ज्ञानसे परांगमुख होकरके इन्द्रियोकी सहायता से जिसे देखता उसे ही अपना मानकर उसीमे रत हो गया। इसी कारणसे यह मोही जीव अनादि कालसे दुःखोको भोग रहा है। मोही जीव (वहिरात्मा) वाह्य पदार्थोको धन मकान स्त्री पुत्र नोकर चाकरको अपना मानता है और अपनेको सबका स्वामी मानता है और जब तक यह अहम्पना ममत्व बुद्धि जीवमे रहेगी तब तक वह सुखी नहीं बन सकता है। मोही जीवको दिनमे दस बार भूख लगती है, दस बार प्यास लगती है। इसका कारण है कि उसे अपने शरीरसे ही मोह है। जिस दिन शरीरसे मोह छूट जायगा उस दिन सभी बातें छूट जावेंगी। अपनी भूलको भूल मान लेने पर जीव दुःखी नहीं होता है। इस लिये जीवको अपनी भूलें देखना चाहिए। विषय-वासनाओंसे बचकर रहना चाहिए। इद्रियोंके विषयोंमे सुख नही है किन्तु जो विषयभोगोमे सुख और आनंदमानते हैं उनसे हमारा इतना कहना है कि विषयभोगोमे ही सुख है तो फिर आप उनसे विराम क्यों लेते हैं? सुख नाम तो उसका है जिसमे विरामकी आवश्यकता न पड़े। आप देखो भोजन करनेमे यदि सुख है तो फिर भोजन पेट भरनेके बाद छोड़ क्यों देते हैं? पेट भरनेके पश्चात् चाहे जैसा उत्तमसे उत्तम भोजन हो, किन्तु उसे भी खानेकी इच्छा नही होता है। इससे साबित होता है कि विषयभोगोमे आनद नही है, किन्तु उनसे अलग होनेमें ही आनद है सुख है। इसलिये आप लोगोंको चाहिए कि इन विषयभोगोंसे दूर रहे।

चारो गतियोका वर्णन करते समय परम पूज्यआचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने सबसे पहले मनुष्यको लिया है क्योंकि सब गतियोंमें उत्कृष्ट गति मनुष्यगति है। इस गतिसे बढकर अन्य कोई गति नही है। उत्तमगति, उत्तम कुल और उत्तम धर्मको प्राप्त करके भी अगर इस मनुष्यने अपना कल्याण नहीं किया तो इससे बढकर मूर्खता और क्या होगी ?

मनुष्योंके लिये दो धर्मोको बताया है—मानवधर्म और आत्मधर्म। इनमे से मानवधर्मसे तो पुण्यका बन्ध होता है और आत्मधर्मसे निर्जरा होती है। मैं मनुष्यगतिमें पैदा हुआ हूं, और मैंने जैन कुल जैनधर्म प्राप्त किया है। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं हिंसा झूठ–चोरी कुशील परिग्रह—इन पांच पापोका त्याग करू। मानवधर्ममे मौलिक सदाचारकी अत्यन्त आवश्यकता है। अन्याय और अभक्ष्यका त्याग, रात्रि भोजनका त्याग, पानी छानकर पीना, अष्टमूलगुणोंका पालन इन बातोंके बिना मौलिक सदाचार नही बन सकता अथवा यों कहो इनमे से एककी कमीसे मौलिक सदाचार अधूरा रहता है तो मानवधर्मसे पुण्यका बन्ध होता है।

मैं चैतन्य मात्र हूं, ध्रुव हूं, परदार्थोंसे मेरा कोई संबध नही है– न मैं स्त्री हूं, न मैं पुरुष हूं। खंडेलवाल परिवार आदि मैं कुछ भी नही हूं, मैं तो सबसे भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप हूं, ऐसा विचार करना आत्मधर्म है। इस कालधर्मसे निर्जरा होती है। इसलिये भैया ! आत्माको जानो। आत्मज्ञान मे लगो वही श्रेयस्कर है। आत्मतत्त्व के बिना जाने जीवका कारण नही हो सकता है। इसलिये आत्मज्ञानमे जुट जाना चाहिए।

### आत्म वैभव

सम्यग्दर्शन आत्माका वैभव है। इस जीव ने संसार में सब कुछ तो पाया पर एक आत्माका ज्ञान नहीं पाया। सबको तो जाना, पर उस जानने वालेको नही जाना। अन्तरमे जो ज्ञानज्योति चमक रही है उसे जाने बिना सम्यग्दर्शन नही हो सकता है। आनन्द घन उस अपने सुखको देखा भी नहीं और दुनियांमे सुख ढूंढता फिरता है। सुखकी कुंजी खुदके पास है, जब भी उसे ढूंढनेकी कोशिश करेगा तभी शांति प्राप्त हो सकती है।

धर्म समझने लगे हैं। मलघट इस शरीरकी भी कभी शुद्धि हो सकती है अन्तरंग तो क्रोध आदि कषाय करके मलिन कर रहे है और कहते हैं कि शुद्धि करली है। अन्तरंगकी शुद्धि होनेपर फिर ये क्रोध आदि कषाय कभी नहीं आ सकती हैं। धर्मकी जागृति होने पर आत्मामें तुरन्त सुख शान्ति मिलती है। लोग कहते हैं धर्मका फल अगले भवमें मिलेगा। किन्तु जो तत्काल शान्ति नहीं दे सकता वह धर्म कभी नही हो सकता है, यह धर्म जिसे मिल गया, वह तत्काल सुखी बन गया।

अविरत सम्यग्दृष्टिके व्रत नहीं होते, किन्तु दृढ़ आत्मश्रद्धा होती है। उसके ही बल पर वह अनन्त संसारको छेदकर अत्यल्प संसारमें उसे घूमना पड़ता है। वेदक सम्यग्दृष्टि—जो चल मलिन अगाढ दोषोंका वेदन (अनुभव) करे। क्योंकि उसके सम्यग्प्रकृतिका उदय रहता है और वह प्रकृति समुद्रमें लहरकी तरह उठती रहती है जिसमें मुखमुद्रा स्पष्ट नही दीख पाती। हल्के झकोरे की तरह वह इन दोषोंको उत्पन्न करती रहती है। मिथ्यात्व तो कीचडकी तरह है, और सम्यग्मिथ्यात्व गंदले पानीकी तरह है और सम्यक्प्रकृति लहर की तरह है।

यद्यपि क्षयोपशम सम्यक्त्वमें चल मलिन अगाढ दोष आते रहते हैं, किन्तु वह क्षायिक सम्यग्दर्शनको उत्पन्न कर सकता है।

२३ प्रकृतियोंकी संख्यावाला वेदक सम्यग्दृष्टि—अनतानुबन्धीके क्षयके बाद जब मिथ्यात्व प्रकृतिका क्षय कर देता है तब वह २३ की सत्तावाला वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

जब सम्यग्मिथ्यात्वका भी क्षय कर देता है तब वह जीव २२ प्रकृतिकी सत्तावाला वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही जीव जब सम्यग्प्रकृतिका भी पूर्णक्षय कर देता है तब वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। इसके २१ प्रकृतियोंकी सत्ता है।

वेदक सम्यग्दृष्टि जीव जब सात प्रकृतियोंका उपशम कर देता है तब उसे द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसके अनंतानुबन्धीकी विसंयोजना है। अतः यह २४ प्रकृतिकी सत्तावाला है। यदि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके ही कालमें

मरण हो जावे तो वह केवल देवगतिमें ही उत्पन्न होता है। वह द्वितीयोपशम शरीरपर्याप्ति होनेसे पहिले नष्ट हो जाता है, ऐसे जीवको अपर्याप्त द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

यदि वेदक सम्यक्त्वमे मरण हो जावे तो वेदक सम्यक्त्व अपर्याप्त अवस्था मे भी रह सकता है। यह जीव कर्मभूमिया या भोगभूमि या मनुष्य भोग भूमिया तिर्यञ्च और वैमानिक देवोमे ही मिलेगा। प्रथम नरकके नारकियोमें भी वेदक सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त अवस्थामे रह सकता है। वह वेदक अपर्याप्त अवस्थाके बाद भी बना रह सकता है।

यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि का मरण हो तो वह वैमानिक देवोमें ही जन्म लेता है। किन्तु सम्यक्त्वसे पहिले नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु बांध ली हो तो वह क्रमसे पहिले नरकमें नारक भोगभूमि का तिर्यञ्च और भोग भूमि का मनुष्य होगा। यदि क्षायिक स० जीव—नारकी अथवा देव है तो वह मनुष्य-गतिमे ही उत्पन्न होगा। ये जीव अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। क्षायिक स० कभी छूटता नही है।

### शान्तिमार्ग ओझल न होनेसे अविरत सम्यग्दृष्टि भी निराकुल है

सम्यक्त्व हो जाने पर यावत् व्रत नही हैं तावत् भी वह अनाकुल है क्यों कि जिस चारित्रपथ पर जाना है वह चारित्रपथ उससे ओझल नही है। जैसे—कोई मुसाफिर रास्तेमे चला जा रहा था और चलते चलते उसे शाम हो गई। अंधेरी रातमे अपना रास्ता भूल गया और यहा वहा भटक गया। वह अधिक आगे नहीं बढ़ा और वही विश्राम करने लगा, इतनेमे बिजली चमक उठी। इतनेमे ही उसे अपनी राह दिख गई। उस थोड़ेसे प्रकाशमे ही वह अपने रास्तेसे परिचित होगया। यद्यपि अंधेरी रात वह बिता रहा है, किन्तु विह्वलता नहीं है। यही दशा अविरत सम्यग्दृष्टिकी होती है। वह अपना मार्ग भूला था, उसे ज्ञात होगया। संयमपर न आये तब तक भी प्रकाश मिल गया, बस सुखी हो गया। मैं आनंद और ज्ञानघनसे परिपूर्ण हूं। मेरे अपने उस धनको प्राप्त करनेके लिये किसी अन्य पदार्थके आश्रयकी आवश्यकता नही है इस शरीरकी जो पड़ौसीकी तरह थोड़ी देखभालके नामपर व्यवस्था करना पड़ती है। वह

फिर किंकर्तव्यविमूढ हो अपने को भूलता नही है। उसको अपना रास्ता मिल जाता है। वह विपरीत दिशामें नही बढता जाता है। वहां ससारमें रहता है, किन्तु उसकी दृष्टि मोक्षमें रहती है। वह निरन्तर मोक्षमार्गमे बढता चला जाता है। वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि—या क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम सम्यग्दृष्टि भी अपना ससार क्षीण करके मोक्षके आनन्दके समीप पहुंच जाता है। उसे शाश्वत सुखके दर्शन हो जाते हैं। उसमे स्थायित्व लानेकी कला निरतर होती रहती है।

(चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टिकी क्या स्थितिया होती हैं? इसे गुणस्थानदर्पणमे पढें।)

चतुर्थ गुणस्थानका वर्णन करके अब पञ्चम गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—

## अंशतो विरतौ देशविरतिः ॥६॥

सम्यग्दृष्टि पुरुषके एकदेश विरति होनेपर उसके देशविरति गुणस्थान होता है। सम्यक्त्वके होते ही स्वरूपाचरण होगया था। अविरत सम्यक्त्वमें स्वरूपाचरण प्रतीतिकी मुख्यतासे था, अब एकदेश आचरणमे स्वरूपाचरणकी वृद्धि हुई है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमसे अप्रत्याख्यान अर्थात् देशसयम भाव हुआ है। इस जीवकी अहिंसाणुव्रतरूप प्रवृत्ति होने लगती है। वह त्रस-जीवकी सकल्पी हिंसाका पूर्ण त्यागी हो जाता है। विरोधी, उद्यमी, आरम्भी हिंसा कदाचित् हो पड़े उसमे खेद मानता है। स्थावर जीवोके देहका अप्रयोजन उपयोग नही करता है। स्थावर जीव हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय। ये सूक्ष्म व स्थूलके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं। इनमें से सूक्ष्मका तो उपयोग किया ही नही जा सकता। स्थूलमे भी स्थूल स्थूल का उपयोग होता है। बिना प्रयोजन यह देशविरत श्रावक उनका आघात नही करता है। हिंसा चार प्रकारकी होती है—सकल्पी विरोधी उद्यमी आरम्भी। सकल्प (इरादा) पूर्वक किसीका घात करना सकल्पी हिंसा है। किसी दुष्ट सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवके द्वारा आक्रमण होनेपर धर्म व प्राण आदिके रक्षाके अर्थ जो प्रत्याक्रमण हो जाता है, उसमे जो आक्रामकका घात हो जाता है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। व्यापार, कृषि आदि आजीविकाके साधन करते हुए

सावधानी रखनेपर भी जो हिंसा हो जाती है उसे उद्यमी हिंसा कहते हैं। रसोई, पानी आदि आरम्भमें सावधानी रखनेपर भी जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। इन चार प्रकारकी हिंसाओं में से संकल्पी हिंसाका तो पूर्ण त्याग श्रावकके रहता ही है, किन्तु उस देशविरतके उत्तरोत्तर परिणामों की निर्मलता होनेपर विरोधी, उद्यमी व आरम्भी हिंसाका भी त्याग हो जाता है। इसीकी शुद्धि तारतम्यताके कारण श्रावकके ११ दर्जे हो जाते हैं जिन्हे ११ प्रतिमायें कहते हैं।

देशविरत श्रावकके इन ग्यारह प्रतिमाओंमें यथायोग्य १–२ आदि ११ तक हो जाते हैं। इन ग्यारह प्रतिमाओंके ये नाम हैं—(१) दर्शन प्रतिमा, (२) व्रत प्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) प्रोषध प्रतिमा, (५) सचित्तत्याग प्रतिमा, (६) रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा, (८) आरम्भत्याग प्रतिमा, (९) परिग्रहत्याग प्रतिमा, (१०) अनुमतित्याग प्रतिमा, (११) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा।

सम्यक्त्वके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करने व सप्त व्यसनके त्याग करनेको दर्शनप्रतिमा कहते हैं। अष्टमूलगुण ये हैं—(१) मांसत्याग, (२) मधुत्याग, (३) मदिरात्याग, (४) पञ्चउदुम्बरत्याग, (५) देवभक्ति, (६) रात्रिभोजनत्याग, (७) जीवदया, (८) जलगालन। मांसत्यागका अतिचार अमर्यादित वस्तु खाना है। मधुत्यागका अतिचार केतकादि पुष्पका भक्षण है। मदिरात्यागका अतिचार तम्बाखू आदिका खान या पान है। पञ्चउदुम्बरत्याग का अतिचार अनजान फल व अनन्तकाय वनस्पतिका भक्षण है। देवभक्तिका अतिचार देवदर्शनादिकी उपेक्षा है। रात्रिभोजन त्यागका अतिचार रात्रिमें कोई चीज बनाना या सूर्योदय सूर्यास्त होते समय ही खान पान करना है। जीवदया का अतिचार असावधानी है। जलगालनका अतिचार पतले छन्नासे छानना, इकहरे छन्नासे छानना, विधिवत् जीवानी न करना आदि है। इन सब अतिचारोंका भी इस प्रतिमामें त्याग हो जाता है। सप्तव्यसनका पूर्णत्याग हो जाता है।

व्रत प्रतिमामें—(१) अहिंसाणुव्रत, (२) सत्याणुव्रत, (३)

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत, (५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत, (६) दिग्व्रत, (७) देशव्रत, (८) अनर्थदण्डव्रत, (९) सामायिक, (१०) भोगोपभोगपरिमाणव्रत, (११) प्रोषधोपवास, (१२) अतिथिसंविभागव्रत—इन ११ व्रतोंका पालन होता है। एकदेश अहिंसाका पालन करना अहिंसाणुव्रत है। परपीडक, अहित, मिथ्या-भाषण न करना सत्याणुव्रत है। चोरी न करना अचौर्याणुव्रत है। स्वस्त्रीके सिवाय शेष स्त्रियोंसे कामरागका भाव भी न करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक रखनेका भाव भी न करना सो परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। आजन्म गमनागमनकी सीमा करके उससे बाहर कोई व्यवसाय न करना सो दिग्व्रत है। दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर भी और सूक्ष्म सीमा कालमर्यादा रख करना सो देशव्रत है। बिना प्रयोजन स्थावरका घात न करना, कुत्ता बिल्ली आदि न पालना, कुकथा न सुनना, पापोपदेश न देना, दूसरेका अनिष्ट न सोचना सो अनर्थदण्डव्रत है। सुबह दुपहर शाम सामायिक करना सो सामायिकव्रत है। खाने पीनेकी चीजों व बरतनेकी चीजोंका परिमाण कर लेना भोगोपभोग परिमाण है। अष्टमी चतुर्दशीको विधिवत् उपवास करके धर्मध्यानमें विशेष लगना सो प्रोषधोपवास है। प्रतिदिन साधु सन्तोंको आहार देकर या प्रती।। करके आहार करना व अन्य प्रकार सेवा करना सो अतिथिसंविभाग है।

सामायिक प्रतिमामें तीनों समय निरतिचार सामायिक की प्रतिज्ञा हो जाती है। इसका पूर्ण विवरण सामायिक पाठ वगैरह ग्रन्थोंसे जानना। प्रोषध प्रतिमामें अष्टमी व चतुर्दशीको अपनी शक्ति न छिपाकर उपवास रखकर धर्मसाधनमें लगना होता है, इसमें असावधानी आदिके कोई अतिचार न लगें। सचित्तत्याग प्रतिमामें-भक्ष्य भी फल सचित्त नहीं खाना है। रात्रिभोजन त्याग प्रतिमामें-रात्रिमें दूसरेको खिलाता भी नहीं है न खिलानेको कहता है। ब्रह्मचर्य-प्रतिमामें पूर्णब्रह्मचर्य हो जाता है। आरम्भत्यागप्रतिमामें अर्थार्जनका त्याग हो जाता है। परिग्रहत्याग प्रतिमामें आवश्यक वस्त्र, बर्तनके अतिरिक्त सब परिग्रह का त्याग हो जाता है। अनुमतित्याग प्रतिमामें किसी भी आरम्भ व गृहकार्यकी अनुमति नहीं देता। उद्दिष्टत्याग प्रतिमामें केवल उसके

लिये बनाये हुए भोजनको नहीं खाता है। इस प्रकार परिणामोकी विशुद्धि बढने पर हिंसाका सूक्ष्म रूपसे भी त्याग हो जाता है। हे सर्वत्र स्वरूपाचारणवृद्धि का परिणाम।

श्रावकका भी धर्मप्रवृत्तिमे बडा उत्तरदायित्व है। श्रावककी छः आवश्यक वृत्तियाँ प्रतिदिन होती है—(१) देवपूजा, (२) गुरुकी उपासना, (३) स्वाध्याय, (४) संयम, (५) तप, (६) दान। जिस स्थानमे श्रावक बसता है वहां के आसवासका वातावरण भी बड़ा विशुद्ध हो जाता है। श्रावक उदारता के कारण प्रायः सभी पडोसी, ग्रामवासी आदिकोको प्रिय होता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ न होनेसे एकदेशविरति होती है। यह देशविरत इन कषायोंमे भी रहता है तो उसका संस्का १५ दिनसे अधिक रहता ही नहीं है।

देशविरत श्रावकके सर्वविरत होनेकी भावना बनी रहती है। वह प्राप्त समागमको विडम्बना समझता है, इससे संयोगमे विमोहित नहीं होता। यही कारण है कि वह प्रसन्न (निर्मल) रहता है जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है। देशविरति जब उत्पन्न होती है तब तो पहिले अध.करण व अपूर्वकरण नामक दो प्रकारके विशिष्ट परिणाम होते है जिससे अपूर्वकरण परिणामके अन्तन ही देशविरति गुणस्थान उत्पन्न हो जाता है। इस समय उसके अन्तर्मुहूर्त तकर्तो असख्यातगुणी गुणश्रेणीकी पद्धतिसे निर्जरा चलती है पश्चात् यथायोग्य निर्जरा चलती रहती है।

देखो—मोक्षमार्गीका प्रवर्तन अन्तरङ्गमे सर्वत्र एकसा है अर्थात् वह अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके स्वभावके ऊपर प्रवेश करते हुए तत्त्वयोग्य ज्ञानरूपसे परिणमते हैं। यही बात यहां भी है। इस मोक्षमार्ग प्रक्रियासे परिणमते हुए इस देशविरत श्रावकके पूर्वबद्ध कर्मके विपाकमे जो मन वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है जिससे देशविरतिका भाव प्रकट होता है।

देशविरत श्रावकके असख्यात भावस्थान होते हैं। उन्हे ही संक्षिप्त करके

११ प्रतिमा भागवत उपदेशमें प्रकट हुई। प्रतिमा नाम प्रतिज्ञाका है। उत्तम कर्तव्यकी भावना बार बार रहनेके कारण ऐसा अन्तरङ्गमें उत्साह होता है कि उसकी प्रतिज्ञा ही हो जाती है। यह भी हुई प्रतिज्ञाको दृढ़तासे निभाता है। जब ही इसके प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम होता है तब सर्वविरत हो जाता है। अब उसी सर्वविरतका स्वरूप कहा जाता है।

## सर्वतः प्रमादे च प्रमत्तविरतः ॥१०॥

जो पापोंसे सर्वदेशविरत है, किन्तु जब तक प्रमाद है वह प्रमत्तविरत कहलाता है। यहां पूर्वसूत्रसे "विरतो" इस शब्दकी अनुवृत्ति ली जाती है। जिससे यह तात्पर्य बना कि "सर्वतः विरतो प्रमादे च प्रमत्तविरतः।" प्रमाद यहां निर्विकल्प समाधिभावमें बाधक कषायके होनेको कहते हैं। यही मोक्षमार्गका प्रमाद है। यह प्रमाद संज्वलन कषायके तीव्र उदयसे होता है।

कषायें १६ बताई गई हैं—(१४) अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ (५–८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, (९–१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, (१३–१६) संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। अनन्तानुबन्धी कषायमें सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता है। अनन्तानुबन्धीका अर्थ है जो अनन्त (मिथ्यात्व) को बनाये रखे। अप्रत्याख्यानावरण कषायमें देशसंयम (संयमासंयम) प्रकट नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरणका अर्थ है— अ=थोड़ा प्रत्याख्यान=त्याग या संयम, उसका जो आवरण करे। देशसंयम थोड़ा त्याग रूप है। प्रत्याख्यानावरण कषायमें सकलसंयम प्रकट नहीं होता। प्रत्याख्यानावरणका अर्थ है—प्रत्याख्यान=सकलत्याग=सकलसंयम उसका जो आवरण करे वह प्रत्याख्यानावरण है। सकलसंयमी अर्थात् महाव्रती मुनिके अनन्तानुबन्धीका तो उपशम या क्षय या क्षयोपशम होता है जैसा कि सम्यक्त्व हुआ हो और अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम रहता है, परन्तु संज्वलन कषाय बनी रहती है। संज्वलनका अर्थ है जो संयमके साथ साथ भी रह सके अथवा जो सम्यक् प्रकारसे जले या जलाये याने ऐसी कषाय वर्ते जो सम्यक्भाव संयमभावका नाश न कर सके। इस संज्वलन कषायका जब तीव्र उदय होता है तब प्रमाद होता है। इस छटवें गुणस्थानमें

जीव सर्वविरत है और साथ ही उसके प्रमाद लगा है इससे इसको प्रमत्तविरत कहते है।

सकलसयमी मुनिके २८ मूलगुण होते हैं—५महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक, ७ स्फुट गुण। महाव्रत ५ ये हैं—(१) अहिंसामहाव्रत, (२) सत्यमहाव्रत, (३) अचौर्य महावृत, (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत, (५) परिग्रहत्याग महावृत। समिति ५ ये है—(१) ईर्या समिति, (२) भाषासमिति, (३) ऐषणासमिति, (४) आदाननिक्षेपण समिति, (४) प्रतिष्ठापना समिति। इन्द्रियविजय ५ ये हैं—(१) स्पर्शनेन्द्रियविजय, (२) रसनेन्द्रिय विजय, (३) घ्राणेन्द्रियविजय, (४) चक्षुरिन्द्रियविजय, (५) श्रोत्रेन्द्रियविजय। आवश्यक ६ ये हैं—(१) समता, (२) वन्दना, (३) स्तवन, (४) प्रतिक्रमण, (५) स्वाध्याय, (६) कायोत्सर्ग। स्फुटमूलगुण ७ ये है—(१) स्नानत्याग; (२) भूमिशयन, (३) वस्त्रत्याग, (४) केशलुञ्च, (५) एकाशन, (६) दतमञ्जनत्याग (७) स्थिताहार। इन सबके सक्षेप स्वरूप इस प्रकार हैं:—

(१) अहिंसा महावृत—सब प्रकारकी हिंसाका मनवचकाय, कृत कारित अनुमोदनासे त्याग होना।

(२) सत्यमहावृत—सत्य, हितकारी वचन ही बोलना, असत्यका त्याग।

(३) अचौर्य महावृत—चोरीका सूक्ष्म रूपसे, अन्तर्जल्पसे भी त्याग।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन।

(५) परिग्रहत्याग महाव्रत— परिग्रहका पूर्णत्याग। केवल शुद्धिके लिये कमडल, जीव दयाके लिये पिच्छिका व स्वाध्यायके लिये कोई शास्त्र ही रहत है। सो ये शुद्धि दया व ज्ञानके उपकरण हैं। इनमे भी मूर्च्छा नही है।

(६) ईर्यासमिति—दिनमे, अच्छे कामके लिये, अच्छे भावसहित चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना जिसमे जीव बाधा न हो।

(७) भाषासमिति— हित मित प्रिय वचन बोलना।

(८) ऐषणा समिति—अन्तराय टालकर निर्दोष उत्तम सदाचारी श्रावक के यहां आहार लेनेकी चर्या करना।

(९) आदाननिक्षेपण समिति— पीछी, कमडल आदि देखकर धरना देखकर उठाना जिसमे जीवबाधा न हो।

(१०) प्रतिष्ठापना समिति—निर्जन्तु निर्बाध जमीन पर ही मल मूत्र आदि करना।

(११) स्पर्शनेन्द्रियविजय—स्पर्शनइन्द्रियको वशमें करना।

(१२) रसनेन्द्रियविजय—रसना (जिह्वा) इन्द्रियको वशमे करना।

(१३) घ्राणेन्द्रिय विजय—घ्राणइन्द्रियको वशमे करना।

(१४) चक्षुरिन्द्रियविजय—चक्षुइन्द्रियको वशमे करना।

(१५) श्रोत्रेन्द्रिय विजय—श्रोत्रेन्द्रियको वशमें करना।

(१६) समता—रागद्वेषरहित, समतापरिणाम होना।

(१७) वन्दना—परमात्मदेवकी वन्दना करना।

(१८) स्तवन—परमात्मदेवका स्तवन करना।

(१९) प्रतिक्रमण—लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त, पश्चाताप करना।

(२०) स्वाध्याय—सत् शास्त्रोंका स्वाध्याय करना, उपदेश करना।

(२१) कायोत्सर्ग—शरीरसे भी ममत्व छोडना।

(२२) स्नानत्याग—देहरुचि न होनेसे व जीवदयाके भावसे स्नानका त्याग रहना।

(२३) भूमिशयन—भूमि पर सोना अर्थात् पलग गद्दी आदिका उपयोग न करना।

(२४) वस्त्रत्याग—कोई भी वस्त्र न रखना, नग्न रहना।

(२५) केशलुञ्च—केशोंका दो माहमे, तीन माहमें या चार माहमें लोञ्च करना, छुरा कैंची मशीन आदिसे केश न बनवाना।

(२६) एकाशन—दिनमें एक बार निर्दोष व अल्प आहार लेना।

(२७) दन्तमञ्जनत्याग—दन्तमञ्जन करनेका त्याग।

(२८) स्थिताहार—खड़े खड़े भोजन करना ताकि प्रमादके योग्य अधिक आहार न हो सके व अधिक समय बरबाद न हो तथा जब तक शरीर चल सकता तब तकही इसकी प्रवृत्तिकी सीमा रहे।

साधु पुरुष निर्दोषचर्या करते हैं, किन्तु किसी भी प्रवृत्तिमें आसक्त नहीं हो जाते। उनके सदा आत्मस्वरूपका भाव रहता है, कार्यसमयसार व कारण

समयसारकी भक्ति बनी रहती है। वे आत्मस्वरूपका विचार करते रहते हैं।

आत्मामे अनन्त गुण हैं याने अनन्त शक्तिया हैं। जाननेकी शक्ति है यह हुई ज्ञानशक्ति। देखनेकी शक्ति है यह हुई दर्शन शक्ति। आनन्द भोगनेकी शक्ति है यह हुई आनन्दशक्ति। सब गुणोको अपनेमे रखनेकी शक्ति है यह हुई वीर्यशक्ति। श्रद्धा करनेकी शक्ति है यह हुई श्रद्धान शक्ति। जितनी जितनी शक्तियां होती हैं उनका अलग अगल परिणमन होता है। कोई चीज पडी रहे उसकी अवस्था जरूर होगी। जो अवस्था है उसीका नाम पर्याय है। आत्माके जितने गुण हैं उन सबकी कोई न कोई पर्याय अवश्य है। उन सब गुणोमे से तीन गुण मुख्य हैं—(१) श्रद्धान, (२) ज्ञान और (२) चारित्र गुण। सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुणकी पर्याय है। सम्यग्ज्ञान ज्ञान (जानने) गुणकी पर्याय है। सम्यक् चारित्र आचरण (चारित्र) गुणकी पर्याय है। जब श्रद्धा गुणका विपरीत परिणमन होता है तब वह मिथ्यात्व कहलाता है। हम अपनी परिणतिसे परिणमते हैं, आप अपनी परिणतिसे। कोई पदार्थ किसीका स्वामी नही है, परन्तु उसे अपना मानना इसको मिथ्यात्व कहते हैं। शरीर और आत्मा मिलकर भी एक हुआ हो सो बताओ। शरीरको छोडकर आत्मा चला जाता है। क्यो चला जाता है कि आत्मा जुदा है। दूधमें जो घृतकण दीखते है वह क्या एकमेकरूप हैं? यदि एकमेकरूप होते तो दूधसे जो घी नही निकलता, सो बात है नही, इसीसे घीके कण जुदे निकल आते हैं। इसी प्रकार शरीरसे, कार्माण वर्गणामे जीव मिला है, उसे विवेकदृष्टिसे जुदा कर दिया जाता है। आनन्द पा लेना सरल है, किन्तु दुःख पा लेना सरल नही है। आनन्द पानेमे किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा नही होती। दुःखके लिये अनेक आडम्बर चाहना पडते हैं, दश झझटें करें तो दुःख मिले, उनकी चाह ही पूर्व मे दुःख बढाने वाली है, तब उनका इकट्ठा करना तो दुःखका ही काम रहा। एक बहिर्दृष्टि हटेगी तब सुख मिलेगा। प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है, वह स्वय परिणमता है। हम आपके बारेमे कल्पना करके दुःखी हो इसमे हमारा ही भाव कारण है। मेरे दुःखी होनेमे मेरा ही भाव कारण है। आपके दुःख मे आपका भाव कारण है। भगवान्के गुणोंके बारेमे सोचा तब आनन्द आया

वह आनन्द भगवान्‌ने दिया कि स्वय आया ? इसी तरह परपदार्थमे अनेक कल्पनामे करके दु ख मान रखा है। आनन्दके कारणमे हम ही उपादान हैं। दु.खके कारणमे परपदार्थ निमित्त आ जाते हैं। नाविक नाव चलाता है। यदि उसका लक्ष्य न हो कि किनारे पहुँचना है तो वह भले ही कभी इस तरफ ले जायगा, कभी उस तरफ ले जायगा; परन्तु तटके समीप पहुचना असंभव रहेगा। हम भी सदैव कार्यमे व्यस्त रहते हैं तथा योगी भी कार्य करते हैं पर उन दोनों कार्योंमे अन्तर महान्‌ है। किन्तु अन्तरात्माओकी बात देखें तो दोनो एक काम कर रहे है। गृहस्थधर्म और मुनिधर्ममे अन्तर चौथे व पञ्चम के प्रारम्भ कालमे जितना था सो पचमकालमे उतना नहीं है याने जब मुक्त हो सकते थे,मुनि व श्रेणि चढ सकते थे। फिर भी आरम्भ परिग्रह जहा कम हो गये वहा निर्मलताको सहारा मिल गया। यही मुनि धर्मकी महत्ता है। परम निर्मलताका कार्य भरतचक्रवर्ती ने किया, यही कार्य, अन्य योगियो ने किया। चौथे गुणस्थानवर्ती जीवके सम्यक्त्व हो सकता है। फिर स्वरूपाचरणकी वृद्धिमे गुणस्थान बढते जाते हैं। परिणामोके निर्मलताकी जाँच गुणस्थानसे होती है। कौन कितना आगे बढ गया इसके लिये गुणस्थान है। मेरी परिणति मुझपर ही निर्भर है। एकक्षेत्रावगाही शरीर और आत्माका संबध होने पर भी शरीर आत्माका नही, आत्मा शरीरका नही। जब शरीर अपना नहीं तब स्त्री पुत्रको अपसी क्यो मान रहा सो जान नही पडता। इतना ही नहीं अचेतन पदार्थको भी अपना अपना कहते है। मेरी घडी, मेरा चश्मा, मेरा मकान, मेरे जेवर, मेरे बर्तन इत्यादि कल्पनायें करके अन्य पदार्थको अपना कहते हैं। जिस तरह परपदार्थको अपना कहते हैं, उसी तरह कोई कहे तुम घडीके, तुम मकानके तुम बर्तनके हो तो अपना अपमान समझेगा और क्रोध उबल पडेगा। फिर भी अगर देखा जाय तो जब हम अन्य पदाथको अपना बताते हैं तब अन्य पदार्थके दास ही तो हम हुए। अचेतन पदार्थ बोलता नहीं इसलिये कल्पनायें करके अपना बनाते हैं। यहा चेतना है सो कल्पनायें करते जाते हैं। परमे ममता बुद्धि न रखना इसीका नाम सम्यक्त्वका परिचय है। आत्मा आत्मामे ही परिणमन करता है। व्यवहारिक मुनियोके दो भेद होने

हैं। (१) प्रमत्तविरत (२) अप्रमत्तविरत। आहार विहार करना, शिक्षा देना, उपदेश करना प्रमत्तविरत योगीके काम है, वह दया करके शिष्यको भी पढायेगा, दण्ड भी अपने शिष्योंको देगा, दुनियाके उपकार करनेकी भी सोचेगा। चौथे गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तक मुख्यतया व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इसका कारण यह कि यहां तक बुद्धिपूर्वक राग हो सकता है। इस राग के होनेसे मुख्यतया शुभोपयोग होता है, उससे भिन्न साध्यसाधनभाव भी होता है अर्थात् इस मुनिके सहज निर्मलताके शुद्ध अशके साथ रागसहित श्रद्धान, ज्ञान व व्रतकी वृत्ति होती है। निश्चयतः मोक्षमार्ग तो शुद्ध अश है। सो निश्चय मोक्षमार्ग भी इनके है।

## प्रमादाभावेऽप्रमत्तविरतः ॥११॥

जिस मुनिको सब तरहसे विरक्ति है, रचमात्र भी प्रमाद नही रहा है, केवल अपने आत्मतत्त्वको निहारनेमे सजग है ऐसा मुनि अप्रमत्तविरत कहलाता हैं। मैं किसी वस्तुका ध्यान कर रहा हूं, उसके अच्छे बुरे परिणामको सोच रहा हू, इसके विपरीत योगियोमे आत्माकी एकाग्र तल्लिनता है। आत्माका अभ्यास बार बार करे। परवस्तुके बारेमे बार २ विचार करते हैं तो हमारी बुद्धि चल वैठती है। आत्माके बारेमे विचार करें तो सम्यक्त्व बुद्धि हो जाय। परपदार्थको जान चुके कि इसमे कोई हित नही हैं, फिर भी उसीमे प्रवृत्त हो रहे हैं। इसे विवेक नही कहेगे। जैसा कि एक सेठ जी छ माहसे भैसके सीगो की सुन्दरता पर मोहित थे और उन्हें अपने माथेमे लगानेके लिये भैसके गले मे मु ह डालकर अपना शरीर विदीर्ण कर लिया। जब अन्यने कहा कि सोच कर कार्य नही किया तब भी सगव उत्तर देतेहै—इस पर मैं छ माहसे विचार कर रहा था। इसी तरह संसारके पदार्थोंके बारेमे बार बार विचार करनेसे उनके प्रति ममता बढ़ रही है, तिस पर भी यह कहता है कि मैं खूब विचार कर कर रहा हूं, पर वह आत्महित करनेको समर्थ नही। अगर ससारके सुखोंमे सार होता तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती इन्हे त्यागते क्यो? परग्रह या परिग्रह के ये विकल्प बहुत बड़े प्रमाद हैं। ये तो अप्रमत्तविरतके होते ही नहीं, किन्तु मन वचन कायकी चेष्टाका भी राग इसके नही है।

एक सेठ था। धनका इतना मोह करनेवाला कि - अपने बच्चोंको तिजोडी की चावी नही देता। बहुत समझया कि पिता जी अब तो आप वृद्ध हो गये, आत्महितके कुछ कार्य कीजिए, पर उनके मनमे एक भी नही भिद सकी। जब मरनेका समय समीप आया तो सब पुत्रोको बुलाया और कहने लगा, अमुक कोठा तुम सभालना, अमुक धन तुम लेना, अमुक जायदाद तुम लेना, यह चावी ले लो, तब सब बच्चे बोले नही पिता जी ! अब तो आप ही यह सब चावी व धन वगैरह लेते जाइये। मोहकी प्रवलता थी जो चावी पूर्वमे बच्चोंको नही दी थी, पर साथमे आखिरमे एक पाई भी नहीं जानी थी। मरते समय ही इकदम ऐसेमे आत्मकल्याण हो जाना असभव है। आत्माका सुख शुद्ध संस्कार है। मेरी तो सम्मति यह है कि कमसे कम जीवनमे एक ही बार चार छ. माहका समय निकाल कर निर्द्वन्दता पूर्वक धर्म ध्यानमे समय व्यतीत किया जावे। अरे सोच लेवो ७० वर्षकी उम्र थी, उसमे छ माहकी धर्म ध्यान के लिए घटाकर ६९॥ वर्षकी ही समझ लेवो। रागद्वेष खूब करो पर जो वात सच्ची है उसे तो समझो। सोचो ज्ञान दर्शनमय ही चेतन है। ज्ञान तो हमारा असाधारण गुण है। परकी परिणतिसे मेरी परिणति नही। मैं अपनी सत्तामे अपनी जगह हूँ। द्रव्य गुण पर्यायकी जैसी व्यवस्था है उसके अनुसार ज्ञान होवे। द्रव्य गुणस्वरूपसे समझनेकी आवश्यकता है। सर्वार्थ सिद्धिके देव ३३ सागर चर्यायें करते रहते है, पर उनकी चर्चायें समाप्त नही होती। लेकिन यहा १ घ०ा भी किसी ने शास्त्र सुना तो अपनेको आकुल व्याकुल प्रतीत करने लगता है।

देखो अप्रमत्त दशा सात वें से लेकर १४ वे गुणस्थान तक है, परन्तु ८ वें आदि गुणस्थानोमे होने वाली विशेषतासे रहित अप्रमत्त दशाको अप्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानमे बुद्धिपूर्वक राग नही है, शुद्ध उपयोगकी वृद्धि है। शुद्ध ज्ञायकभावके आश्रय श्रद्धान ज्ञान चारित्रकी परिणति हो रही है। अत. यहासे निश्चयमोक्षमार्गकी मुख्यता है। अप्रमत्तविरत मुनिके प्रमाद नही रहा। प्रमाद छटे गुणस्थान तक ही सभव हैं। प्रमाद १५ होते हैं—स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा, राजकथा—ये चार तो विकथायें और प्रमाद-

योग्य क्रोध, मान, माया, लोभ— ये चार कषायें और पांच इन्द्रियविषय तथा निद्रा एव स्नेह। इनके भग ८० हो जाते है। ये कोई प्रमाद अप्रमत्तविरत मुनिमे नही है, वह तो मोक्षमार्ग मे सावधान है, निरालस है।

जब जीवके तत्त्वज्ञान दृढ हो जाता है तब अपनी सत्ता भिन्न मालूम होने लगती है। परपदार्थोंसे सत्ता भिन्न मालूम पडने लगती है। प्रमादरहित अवस्था जीवको आनन्द उपजावने वाली है। जीवको दु ख कही बाहर से नही आता, हम केवल कल्पना करके दुःखी होते रहते हैं। यदि बाहरसे दुःख आता रहता तो बडा व्याकुल हो जाता। परपदार्थ से दुःख होता है पर स्वयकी कल्पनामे होता है तथा परपदार्थकी कल्पनासे ही सुखी होता है। यह केवल अ यको सहारा मानकर अपना हिताहित सोचता है। परपदार्थमे ऐसा है नही। जब अपनी कल्पना निजानन्दमय हो जाती है तो सच्चा सुखी हो जाता है।

बडे बडे महापुरुष रामचन्द्र जी, बलभद्रजी हो गये है। इन्होने परपदार्थोंसे अपना हित कुछ नही कर पाया निज ध्रुवस्वभावके आश्रयसे ही कल्याण पाया, पूर्वसचित कर्म भी नही टाल सके। जब द्वारिका भस्म हो रही थी उस समय श्री नारायणने अपने माता-पिताको रथमे बैठाकर बाहर निकालनेकी सोची। रथमे बैठाकर लेजाना चाहते है, किन्तु रथ आगे नही बढ पा रहा है तो उसे हाथोंसे उठा लिया। रथमे घोडे नही चल पाये तो स्वयं रथमे जुत गये। आगे चले तो फाटक वन्द हो गय,। नारायणजीने फाटक तोडना शुरु किया सब प्रयत्न व्यर्थ गये, निराश हो गये। कुछ समय बाद उन्हें ज्ञात होता है; यह सब दैवी माया है। इसमे कोई भी प्रयत्न किया जाय सफल नहीं होगा, केवल बलभद्र और नारायण बचेंगे। यह सब देखकर माता पिताको वही जलता छोड जाते हैं और दोनो महापुरुष बाहर चल देते हैं। महल जल रहा है, स्त्री, बच्चे माता-पिता, कुटुम्बी, पशु आदि सारा वैभव जल रहा है, पर उसे बचानेमे समर्थ नही हो सके तथा अपने प्राणोकी रक्षा कर लेना ही उस समय श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। यह है "विधिकी विडम्बना" जिसे कोई भी टालने मे समर्थ नही हुआ। इससे ज्ञात होता है। कि विधिका विधान अटल होकर ही रहता है, परन्तु तत्त्वज्ञानसे विधि विधान भी टल जाता है। धवल सेठने श्रीपालको

समुद्रमें गिरा दिया। गिराया इसलिए कि यह समुद्रमें गिरनेसे निकल नहीं पायगा तथा समुद्रमे ही समाप्त हो जायगा। किन्तु वह भुजबलसे तैरकर समुद्र के बाहर आगये और उसी समय श्रीपालका राजकन्यासे विवाह हो जाता है, साथ ही आधा राज्य भी मिलता है। उदय ठीक रहे तो विरोधीके द्वारा उपाय करना निष्फल जाता है। पुण्यकर्म भी निर्मल परिणामोंसे मिलता है। सोमासती के पतिने उसे मारनेका निश्चय किया। इसके लिए उसके पतिने घडेमें सर्प बन्द करके घडेको उठा लानेको कहा और वह उठानेको गई तो सोमाके पुण्यके प्रभावसे सर्प फूलोंका हार बन जाता है। यह सब किया गया सोमाकी जीवन लीला समाप्त करनेको; पर उसका फल कुछ और ही मिलता है।

अभी कुछ वर्षों के पूर्वका ही दृष्टान्त है। श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी जब गृहत्यागी नही थे उस समय वरुआसागरमें कुछ लड़के गिल्ली डंडा खेल रहे थे। वर्णीजीके मनमे भी खेलने जैसे क्षणिक प्रवृत्ति जागी और डंडा उठाकर गिल्ली मे मारा। गिल्ली छूटते ही एक लडकाके सिरमें लग गई तथा खूनकी धारा प्रवाहित होने लगी। इतनेमें पता चलता है कि वह लड़का तो उस लडोख माँ का है जो गावभरमे दोहने एवं सिरजोरी करनेमें होशियार है, तब फिर यहां तो सरासर सिर फूट गया। चिरोंजाबाईजी भी वहा पर ही थी, उनके पास खबर पहुचती है, तब वह कहने लगी—वह अभी हाल आकर हम दोनोंकी जान लेनेको तैयार हो जायगी। कुछ क्षणो बाद ही उस बच्चेकी मां हाथ जोडकर माता चिरोंजाबाईजी के पास आती है और बोलती है—हे माता जी! आपके चिरजीव गणेशप्रसाद जी ने बडा ही अच्छा किया, हमारे लडकेको आधाशीशी रोग था, प्रतिदिन आधासिर जोरोसे दर्द करता रहता था। आज उन्होने गिल्ली छुवा दी तो उसका खराब खून निकल गया और वह रोग अच्छा हो गया। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कोई सोचें हम किसीका भला बुरा कर देंगे, यह मति बनी रही तो वह सब एक तरफ पडा रहेगा और जो होना है सो होता ही है, उसे कोई रोक नही सकता। जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना कही है, पूजाके साथमे भगवान्‌का उपदेश भी तो हृदयमे उतारो। पहले मिथ्यात्व तो छोडो। यहा जिनेन्द्रदेवकी पूजनकी और अवसर आनेपर कुगुरु

कुदेव वन्दना भी कर आवे, इन धर्मोंको समान बता दिया, यह मिथ्यात्व नहीं है और क्या है ? मिथ्यात्वके भी दो भेद है—(१) गृहीतमिथ्यात्व (२) अगृहीत मिथ्यात्व। कुगुरु कुदेव और कुशास्त्रकी विनय करना यह गृहीतमिथ्यात्व है। शीतलाकी (चेचक) बीमारी हो गई तो शीतला देवी पर जल डाल देना, पूजन कर देना—इस प्रकारसे मनुष्य कहते हैं और कर भी देते हैं, यह सब गृहीत मिथ्यात्व है। शाश्वत, सहज निजचैतन्यस्वभावका परिचय व अनुभव न होनेके कारण उनसे विमुख रह कर परपदार्थमें आत्मत्व व आत्मीयत्वबुद्धि करना सो अगृहीत मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वको छोड़कर निज शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी उपासना, अनुभूतिके द्वारा निर्मलता प्रकट करो। फिर इसी शुद्ध अंशकी वृद्धिमें निरत होकर सर्व उपाधिपरिग्रहसे निवृत्त होकर बुद्धिपूर्वक रागविकल्परहित प्रधान ज्ञान आचरणकी वृत्ति हो वह अप्रमत्त विरतभाव है।

थोड़ी आपत्ति आई और मिथ्यात्वकी ओर झुक गये यही संसारभ्रमणका वर्द्धक है। जहां मिथ्यात्व नहीं वहां जीव अपने आपकी ओर मुड़ता है। जैसा आनन्द भगवान्‌के प्राप्त है वैसा ही आनन्द इस जीवको निजानुभवसे मिल सकता है। इतना अंतर है वहां आनन्द अनन्त है और यहां उसका एक अंश है। धन दौलतमें जो मान रखा है इसमे सुख है। लेकिन वह निजका आनन्द पूर्णतया स्वाधीन है तथा इससे विपरीत है। आत्मापर कर्मोंका इतना मैल चढ गया एव इतना विवश है कि वह उस आनन्दको समझता ही नहीं। विषय कषायकी चर्चा बड़ी सुहावनी लगती है, पर अपनेमें जो आनन्द विद्यमान है उसकी चर्चामात्र करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। प्राणियोंको चाहिए यह कि उस प्रमादरहित अवस्थाकी भावना करना चाहिए तथा उसरूप अपनेको बनानेकी चेष्टा होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य श्रेयोमार्ग क्या है ? जैसे पुत्र पौत्रके लिये धन एकट्ठा करते है। उनको कष्टसे बचानेके लिए खुद कष्ट उठानेमें बोझ नही समझता, इसी तरह यह उद्देश्य बना लिया जावे, मैं कब निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त करता हूं। मनमे यह बात बैठ जावे, पूर्णतया उतर आवे कि परपदार्थ पर है, वह मेरा निजका कुछ लाभ नही, क्यों मैं उन्हीका लोभ करता रहूं ? जिसके पीछे इतने शत्रु लग

कुछ न कुछ चुरा लेते हैं। इन आठ कर्मरूपी शत्रुओने (निमित्त) मेरा कितना ज्ञानधन नही चुराया, फिर भी मैं मूढ उन्हे अपनी अन्तरङ्गकी निधि बना देता रहूं। भीतरके दुश्मन रागद्वेष अपना कार्य बराबर चालू रखते हैं। उन शत्रुओ से क्यो न बचा जाय ? यह मुझे मालूम ही नही हो पा रहा कि यह नरजन्म दुर्लभतासे मिला है। आजकल भी ऐसे उदाहरण हैं कि जो २५, ३० लाख तक की जायदाद छोड कर साधु हो गये तो उन्हें भी तो कोई बात अच्छी लगी होगी। अन्यथा क्या पडी थी जो इतना वैभव छोडकर भिक्षावृत्तिसे भोजन लेकर सतोषकर लेवें। अभीकी बात है एक वैष्णव नवयुवक बोला "हम आपके साथ रहकर आत्मकल्याण करना चाहते है, घरकी जायदाद एव हिस्सेसे मुझे कोई सरोकार नही। उसने जैनधर्मका अच्छा ज्ञान कर लिया है। वह प्रतिदिन मन्दिर आता, स्वाध्याय करता, छात्रोको भी जैनधर्म पढाता। धर्मके बारेमें प्रतिदिन नई नई रुचि पैदा करता जाता है। हाड मास वाले स्त्री पुत्रके शरीर इनके साथ रमने से क्या फायदा है तथा क्या कारण है इनसे मोह करता है। जो आत्मा पुत्ररूपमे आगया, अगर वह तुम्हारे यहा जन्म न लेकर अन्यत्र पैदा होता तो क्या उससे मोह करते या तुम्हारा वहाँ मोह जाता।

भैया ! यह कैसे खेल हैं। कैसा कुतुहल है ? ज्ञानमय आत्मा है उसकी सुध भूले हुए हैं। आत्मा ज्ञानमय है इसलिए ज्ञान बढाने के बिना आत्माको सुधारका मार्ग नही मिलेगा। जितना समय धन कमानमें लगाते हो उसका सोलहवा हिस्सा अच्छे ढगसे धर्मध्यान करनेमे तो लगाओ, कितना आनन्द आता है। जैसे बडा विधान (पूजन) करके या जिनेन्द्रदेवके पञ्चकल्याणक कराके मनुष्य इन्द्र बनना चाहते हैं या भगवान्के माता पिता बनना चाहते हैं तो इस कार्यमें अपने को बडा समझकर आनन्दकी अनुभूति करते हैं, समय वह १०, १५ दिनको ही क्यों न मिलजाय, परन्तु तत्त्वज्ञान न हो तो अन्तमे क्या हाथ रहता है ? उसी तरह बिना पैसा खर्च करे ही सही लेकिन सर्व कार्योंसे निश्चिन्त होकर ४-६ माह धर्म ध्यानमें तो बिताओ तब क्या आनन्द आता है ? धनमे जो आनन्द मान रहे हैं वह भी ज्ञानसे ही मिलता है। अपने आपके विलासको समझे अपनी ही नगरीमें बसे, फिर उस अनुभवको देखे। २०-३०

एव ४० वर्ष तक धर्मध्यान करते हो जाते हैं, पर अपने आपको अपनी निजात्म की नगरीमे नही आने देते। जैसे सुआ पिजडेमे बन्द रहता है वह उससे बाहर नही निकलना चाहता, नलिनोके सहारे लटका रहता है चावल चुगकर वही आनन्द मानता है, यही दशा हम ससारी जीवोकी हो रही है। तोतेको पिजडे ने पकड नही लिया है, तोते ने ही मान रखा है कि पिजडा मुझे छोड़ता नही। भाई! कहना सुनना व्यर्थ है जब तक अन्तरङ्गमे तात्विक बात नही जमती। मन्दिरमे विनती पढ़ते समय कहेगे, "आतमके अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय।" किन्तु मनसे कुछ और ही सोच रहे है। सोचेंगे आज अमुक इन्द्रिय सम्बन्धी अमुक विषय मिलना चाहिए या मानादि कषायके वशीभूत होकर अपनेको पैसेमे, रूपमे, विद्यामे, धर्म ध्यानमे बड़ा समझ रहे होगे।

एक समय कुछ चित्रकार राजदरबारमे आये। वह राजासे कहने लगे 'मैं बढिया चित्र बना लेता, मैं सबसे बढिया चित्र बना लेता' आदि। अपनी अपनी दोकी हाकने लगे। राजाने उन दोनो चित्रकारोको एक बडे कमरेमे चित्र बनाने को कहा। बीचमे पर्दा डाल दिया तथा सबसे श्रेष्ठ चित्र बनाने वालेको इनाम देनेको कहा। तब एक चित्रकारने २५ तरहके रग लाकर ६ माहमे बहुत बढिया चित्र बनाया। इसके विपरीत दूसरे चित्रकारने चित्र न बनाकर दीवाल को ही घिसना शुरु किया और उसे वह ६ माह तक बराबर घिसता रहा, जिस से दीवाल कांचके समान स्वच्छ चमकने लगी। ६ माह पूर्ण होनेपर राजासे चित्रोकी परीक्षा कराई गई तो जिसने अनेक प्रकारके रंग भरके चित्र बनाया था उसका देखा गया। बादमें घिसी हुई दीवाल देखी तो उसमें दूसरे चित्रकारका बना चित्र झलक रहा था। तब इसी दीवालका चित्र उत्तम माना गया और उसे इनाम मिली। उसी तरह अपनी आत्माको घोटना पडेगा। आत्माको ज्ञानके द्वारा घोटते घोटते निर्मलता आ जायगी, वह निर्मलता सच्चे सुखकी जननी होगी। प्रति दिन २४ घटेमे ५ मिनट इस तरह निकाले जावें कि सांसारिक पदार्थ मनमें ही न आने पावें तो उस समय जो आनन्द आवेगा वह वचनोंके अगोचर होगा। तब यह भी मान लेंगे कि जैन धर्मके सच्ची शिक्षा ग्रहणकी

है। एक सेंकड भी यह स्थिति पैदा कर ली जाय तो वह ईश्वरका सुख झलक जायगा। उस सेकडकी कीमत सैंकडों एव सहस्रो घंटोके धर्म ध्यानसे भी नहीं आकी जा सकती। विवाह करने के लिए महीनो और वर्षोंसे तैयारी करते हैं। लेकिन विवाह तो पूर्ण छटवी भावर तक भी हुआ नही माना जाता है, वह सातवी भांवरमे पूर्ण होता है और उसमे केवल १ मिनटसे लेकर ५ मिनट तक लग सकते हैं तभी विवाह होना पूर्ण कहलाता है। उसीका महत्त्व है जिसके वास्ते तैयारीमें कितना समय नही लगाना पडता। उसी तरह ध्यानकी सच्ची अवस्था भले १ सेकंड या १ मिनटको होवे पर उसके लिए भी तैयारी महीनो एंव वर्षोंसे करना होगी तव वह कला हस्तगत हो सकेगी। उद्यम किया और लगन कुछ भी न होवे तो ठोस लाभ क्या मिलेगा ? पूजन करना चाहिए इससे करते हैं शास्त्र सुनना चाहिए, इससे सुनते हैं तो उससे क्या लाभ मिला ? किन्तु भगवान् जैसे गुणोको अपने में बनानेका विचार होना चाहिए। शास्त्र समाप्त हुआ तो स्तुति प्रसन्नतासे इसलिए पढते हैं कि शास्त्रजीकी जो व्यधि चल रही थी वह पूर्ण हो गई। इस तरह सोचने वाले कई मनुष्य मिल जावेंगे। जबकि उन्हे सोंचना चाहिए, पूर्वाचार्योंने आत्मकल्याणकी तथा हितकारी बात लिखी है ? उसपर हमे भी चलनेका प्रयत्न करना चाहिए। बच्चा शुरूसे पढकर एम. ए. पास कर लेता है तो क्या उसने अ आ इ ई नही पढी थी ? अ आ से शुरू करके धीरे एम ए की डिग्री हासिल कर लेता है तो शुरूसे संस्कार व यत्न उसने वैसे बनाये थे इसलिए वह इस पदवीका अधिकारी हुआ। इसी तरह मनुष्य जन्मरूपी दुर्लभ रत्न खोया जा रहा है, उसे सभालना किसी तरहसे हो सकता है तो धर्मरूपी रत्नको पूर्णतया अपने में उतार लेवे या उसी रूप बना लेवे। अन्यथा कही यह नरजन्म चला गया, इतना साहस बल बुद्धि न रही तो फिर क्या करेगा ? विवेकरूपी अमृतका पान करनेका उपदेश सारग्राही है। वह विरलोको लभ्य होता है। अतएव यह अपने जीवनके अङ्ग हो जावें तो हमने सब कुछ पा लिया और इन्हें छोडकर करोडोकी सम्पत्ति भी मिली तो कुछ भी नही पाया। अहो वह क्षण धन्य है जिस क्षण अप्रमत्तदशामे ६ का अनुभव होता, निज ज्ञायकस्वरूपमें उपयुक्त हो उपयोग एकाकार हो

जाता है। योगिगण समस्त परद्रव्योसे विरत हो इसी समाधिका आनन्द अनुभवते रहते हैं।

## स द्वेधा ॥१२॥ स्वस्थानसातिशयभेदात् ॥१३॥

वह अप्रमत्तविरत दो प्रकारका है—(१) स्वस्थान अप्रमत्तविरत, (२) सातिशय अप्रमत्तविरत। इनका शब्दार्थ यह है कि जो अप्रमत्त विरत अपने स्थानमे ही रहे वह तो स्वस्थान अप्रमत्तविरत है और जो अप्रमत्तविरत अतिशयसहित हो वह सातिशय अप्रमत्तविरत कहलाता है।

अब इन्ही दोनो अप्रमत्तविरतोके स्वरूपको कहते हैं—

## प्रमत्ताप्रमत्तपरिवृत्तो स्वस्थानी ॥१४॥

## सातिशयोऽधःकरणस्थः ॥१५॥

प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत इन गुणस्थानोमे जो मुनि आते जाते रहते हैं। ऐसे मुनि जब जब अप्रमत्तविरत गुणस्थानमे होते हैं वे स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाते हैं। जिन अप्रमत्तविरत मुनियोके परिणाम इतने उत्कृष्ट हो गये हैं कि वे ऊपरके गुणस्थानमे चढनेके सन्मुख है अर्थात् अधःकरण परिणाममे स्थित होते हैं, वे सातिशय अप्रमत्तविरत कहलाते हैं।

प्रमत्तविरत गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त और उससे भी आधाकाल (जो कि अन्तर्मुहूर्त है) अप्रमत्तविरत गुणस्थानका होता है। इससे अधिक कालतक उस गुणस्थानमे नही रहते, किन्तु ये मुनि प्रमत्तविरतसे अप्रमत्तविरतमे पहुंचकर अप्रमत्तविरतसे प्रमत्तविरतमें आकर फिर अप्रमत्तविरतमे पहुचकर फिर प्रमत्तविरतमें आकर इस प्रकार असख्यात परिवर्तन इन्हीं दोनो गुणस्थानमे करते हुए उनके अनेक वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। इस तरहके अप्रमत्तविरत मुनि स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाते हैं। यदि कोई आठवे गुणस्थानसे गिरकर अप्रमत्तविरत गुणस्थानमे आता है और आकर इसी गुणस्थानमे मरण हो जाता है, छटवें गुणस्थानमे नही आ पाता है ऐसा अप्रमत्तविरत भी स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहलाता है। तात्पर्य यह है कि स्वस्थान अप्रमत्तविरत आठवें गुणस्थानमें नही चढ सकता। जो अप्रमत्तविरत ८ वें गुणस्थानमे चढ सकता है

उसको सातिशय अप्रमत्तविरत कहते हैं। अध करण इस विशुद्ध परिणामका इसलिये नाम है कि अधःकरणमे चढे हुए जीवोके परिणाम अपनेसे कुछ नीचे समयके अधःकरणवालोसे मिल जाते हैं।

(चौदहो गुणस्थानोका वर्णन गुणस्थानदर्पणमे किया है सो कुछ विशेष जानकारीके लिये गुणस्थानदर्पण नामक पुस्तकमें देखना चाहिये।)

भैया! आत्माकी भलाई निर्मलतामे है। प्रथम व महान् निर्मलता तो यह है कि देहमे अपनी ऐक्य प्रतिपत्ति व रुचि न हो। यह शरीर तो प्रकट असार व अपवित्र नजर आता है, इसमे क्या रुचि करना। शरीरमे आत्मबुद्धिके कारण ही तो सन्मान, अपमान, सुख, दुःख आदि विकल्प चलते हैं।

अगर इस हाड मासके पुतलेकी इज्जत हो गई तो वह कब स्थायी रह सकेगी? हमरा आयु काल समाप्त हो जायगा, उसका भी आयुकर्म समाप्त हो जायगा। फिर दूसरी बात एककी दृष्टिमे हमारे जो गुण मालूम पडते है वही दूसरेकी दृष्टिके अवगुण प्रतीत होते हैं तो खुल्लमखुल्ला निन्दा करता है। निन्दा करने वाला महात्माओ, मुनियों, क्षुल्लक ऐलको, धर्मभक्तो, नेताओं सेठो, मजिस्ट्रेटो, दानवीरो आदि किसीकी निन्दा करनेमे नही चूकता। तब यह कैसे मान ले कि आपकी इज्जत, आवभगत सबमे सफल हुई। जो कहा है "भिन्नरुचिर्हि लोकः" इसमे कोई सन्देहको जगह नही जब सच्चाज्ञान जग जाता हैं तब आत्मरुचि जागृत होती है। मित्रकी अति रुचि होवे तो उसके ही गुणोमे मन लगे, दुर्गुण भी उसकी दृष्टिमे गुणकी उपमाको प्राप्त होते हैं। पुत्र, धन मकान आदि जिसमे जिसकी रुचि होगी वह उसीसे प्रेम करेगा। और जब आत्मामे रुचि होवे तो आत्मामे रुचि लगे। सच्ची भलाई, सच्चा कल्याण अगर है तो आत्मरुचिमे, पर वह अनुभवमें आसके तब कुछ विशेपता है। अब मुझे कुछ नही करना है, मेरा काम जानता है वह हो रहा है तथा मेरा आत्माका गुरु आत्मा ही है। आदिनाथ भगवान् जिस समय विरक्त हुए उस समय राजदरबार लगा हुआ था। अप्सरायें नृत्य कर रही थी। उन अप्सराओंमें नीलाञ्जना भी नृत्य कर रही थी। वह नृत्य करते, करते विलीन हो गयी। इन्द्रने शीघ्र वैसी ही अप्सरा नृत्यके लिए खडी कर दी। आदिनाथ

भगवान् जान गये और अन्तरमे बात घटी। सोचा इसी तरह सबका जीव इस ससारमे चक्कर लगाता आ रहा है। अन्तरङ्ग वैराग्यसे प्रकाशित हो गया। अब आदिनाथ भगवान् जबतक केवली नही होते तब तक मौन धारणकर के तपस्यामे लीन हैं। मौन क्यो लिये कि बोलनेसे राग बढता, परपदार्थ पर दृष्टि जाती, मोह पैदा होता है एव इच्छायें बढ सकती हैं। ८३ हजार वर्ष तप किया पर इसके पहले श्रेणी नही माड सके। तब तक छटवें एव सातवें गुणस्थानमे ही पडे रहे जहा अध.करण भाव होता है।

## ततोऽपूर्वकरणश्चारित्रमोहस्योपशामकः क्षपकोवा ॥१६॥

सातिशय अप्रमत्तविरतके वाद यह अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती हो जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थान दो भेदवाला हैं—(१) उपशमक अपूर्वकरण, (२) क्षपक अपूर्वकरण।। अपूर्वकरण ऐसे परिणामका नाम है जो अपूर्व हैं पहिले कभी नही हुए थे। इसके विशुद्ध परिणामका अपूर्वकरण नाम सार्थक है। पहिले समयवालोसे मेल इसका नही है।

देखो आदिनाथ जी ने ८३ हजार वर्षके बाद श्रेणी माडी, तव अपूर्वकरण भाव हुए, वे गुणस्थान आदिमे आये। जो कभी नही हुए इस तरहके भाव अपूर्वकरण गुणस्थानमे होते हैं। श्रेणी के दो भेद होते हैं—(१) उपशमश्रेणी (२) क्षपकश्रेणी। कर्मोको दवाकर चढे उसे उपशम श्रेणी कहते हैं। तथा जो पूर्णतया कर्मोंको दवाकर चढे उसे चारित्र मोहनीय कर्मका नाश करना कहते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म श्रद्धाको विगाडता है। चारित्र मोहनीय कर्म की २१ कर्म प्रकृतियोको दवाकर आगे बढे उसे कहते हैं उपशमक। उपशम-श्रेणो वाला गिरता है। जैसे कोई राजा शत्रु राजाको दवाकर रखे तो उसे हमेशा खतरा रहता है कि वह कब मौका पाकर चढ़ाई कर देवे। उसी तरह जो कर्म शत्रु दो दवाकर चढ़ा है उसे धोखा रहता है। लेकिन जो शत्रुका पूर्णतया विध्वस कर दे उसे कोई धोखा नही रहता, वह निश्चित हुआ राज्य कर सकता है। यह लौकिक उदाहरण है। दवासे रोग दव जाता है और औषधि वह है जो रोगको जडसे उखाड देवे। इसलिए जो चारित्ररूपी दवा द्वारा ऊपर चढता है वह तो उपशमश्रेणि है और चारित्ररूपी औषधि द्वारा

आगे चढता है वह क्षयकश्रेणी है। यह सब चिपयकरणानुयोगके शास्त्रोंमें भरा है उसे कुछ पढा जाय तो होवे। धरपेणाचार्य बारह अगोंमें से एक अंगके कुछ अशको जानते थे। जिन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि मुनियोंको पढाया, तब उनके द्वारा षट्खण्डागम शास्त्रकी रचना हुई। उन्हींके आधारसे अन्य शास्त्र जीवकाण्ड, कर्मकाड (गोमट्टसार), पचलब्धि, पचाध्ययायी आदि शास्त्रोंकी रचना हुई। उन्होंने तो इन शास्त्रोंमे ज्ञानका अगाध सागर भर दिया है और उन्हींके कुलमे हम पैदा हुए हैं जो कि उन शास्त्रोंको पढना नही चाहते और न पढ पाते हैं। शास्त्र सुनना, पूजन करना तो एक दस्तूर हो गया जो करना चाहिए सो कर लेते है। मेरे ख्यालमें दस्तूर करना ही लक्ष्य रह गया है। मगर यह सच जानो जो पूर्वकृत पुण्य है वह कार्य कर रहा है। इसीसे धन प्राप्त हुआ है अन्य सामग्री उपलब्ध होती है। चक्रवर्ती छः खड पृथ्वी पर विजय कर लेते हैं, उन्हें क्या परिश्रम करना पडता है ? करोडपति को सैकडो, हजारो और लाखो रुपये तककी आमदनी एक दिनमें हो जाती है, उसे क्या परिश्रम करना पडता है ? यदि धन अक्ल लडानेसे ही मिलता होता तो आपसे अधिक अक्ल वाले भी तो दुनियामे पडे हैं। बैरिस्टर, मजिस्ट्रेट, वकीलो, प्रोफेसरोकी कम अक्लहोती है क्या ? यदि नही तो उन्हे तुम जैसे धनिकोके बराबर संपत्ति क्यो नही मिलती ?

एक कथानक आता है। ब्रह्मा एक लडकीका दिमाग बना रहा था। उसे राजाके यहा भेजना था तो ब्रह्माने उसकी तकदीरमे केवल काला घोडा और पाच रुपया लिखे। उस समय एक साधुने ब्रह्मासे कहा या तो इसे गरीब के घर भेज दो या इसका तकदीर पिता जैसी बना दो। ब्रह्माने कहा इससे ज्यादा कुछ नही कर सकते। तब वह साधु बोला—तुम्हें जैसा करना हो सो कर लो, हम भी तुम्हे देखेंगे। इस तरह वह लडकी राजघरानेमे पैदा होती है वहा पर कुछ दिनो बाद सब धनधान्य नष्ट हो जाता है और काला घोड़ा एवं पांच रुपये बच रहते हैं। तब साधु—बोला जो हम कहें सो करना बेटी ? लडकीने स्वीकार किया। साधु बोला—यह घोडा बेंच दो सब रुपयोका भोजन बनाकर सबको खिलावो। तब घोडा १००) मे बेचकर व ५) मिलाकर कुल

१०५) की भोज्य सामग्री ब्राह्मणों व गरीबो आदिको खिला दी। दूसरे नदी फिर ब्रह्माने काला घोडा और ५) भेजे। इनसे भी ब्राह्मण जिमा दिये। तब ब्रह्मा रोज काला घोडा और ५) भेज दे, किन्तु वह हमेशा ही ब्राह्मणोको जिमाने में खर्च कर देवे। इस तरह ब्रह्मा परेशान हो गया। तब साधुसे क्षमा माँगी व साधु के कहनेके अनुसार ब्रह्माने उस लड़कीको पिताके समान धनवान कर दिया। मतलब इतना लेना कि परिणामोकी निर्मलतासे संकट स्वय टल जाते है। आत्माका कार्य तो भाव करना मात्र है। धन वैभव तो पुण्य कर्मका ठाठ है।

राजदरबारमे नवाबकी सभा भरी थी। सभी सामन्त एवं याचक बैठे थे। याचकोको भरपूर दान दिया जा रहा था, पर राजा अपनेको मानसे पुष्ट नही होने देता था, किन्तु जितना जितना देता, उतना-उतना नम्र होता जाता। उसी समय कवि कहता है—

सीखा कहां नवाब जू, ऐसी नेकी देन।
ज्यो ज्यो कर ऊपर करत, त्यो त्यो नीचे नैन॥

यह सुनकर नवाबसे भी नही रहा गया और उसने भी कवितामे ही उत्तर दिया जो कि धनिको, दानियोके लिए शिक्षा लेने योग्य है।

देने वाला और है, देत रहत निश दैन।
लोगोको भ्रम है मेरा, तासो नीचे नैन॥

आपकी अक्ल और आपका शरीर तो नही कमा सकता। व्यवस्थापक (पुण्यकर्म) और ही है वही कमाता है, मैं कुछ नही कर सकता। आत्मा कुछ कर नही सकता; मकान, दुकान खोल नही सकता, रोजगार खोल नही सकता। जितना आत्माका चैतन्य पिंड है वह अपना परिणमन करेगा। भाव जो हैं वह अपना परिणमन करेगा। ज्ञान पिण्ड अपना कार्य करेगा। आत्मा तो यहा भी रहा, वह इन कार्योमे क्या कार्य कर रहा है? आत्मा तो बोलनेमें निमित्त मात्र है, पर वह बोलता नही। आत्मद्रव्यनिमित्त नही, किन्तु आत्माकी योग ज्ञान व चिकीर्षा है। मैंने ऐसा किया पर बोलनेका करने वाला आत्मा नही है। प्रयत्नका करने वाला, योगका करनेवाला आत्मा हुआ पर आत्मा

बोलका कर्ता नही है। वायु भी इच्छाके निमित्तसे योगके अनुकूल चलती है। हारमोनियम पर जैसा हाथ रखोगे वैसी आवाज निकलेगी। जैसी इच्छाकी वैसी जगह हाथ रखा तब वैसी ही आवाज निकली।

जैसे बिना ओठ मिलाये प फ ब भ म नही बोल सकते, बिना जीभको ऊपर लगाये ट ठ ड ढ नही बोल सकते आदि। कोई वैज्ञानिक चाहे तो मनुष्य जैसा पुतला बनाकर उसमें मनुष्य जैसी हवायें भरकर मुंह बुला सकता है। पुण्यभाव, पापभाव, धर्मस्वभाव, आत्मस्वभाव का आलम्बन है। कमानेके हम कर्ता नही। मैं केवल अपने भावका दर्शक हूं। मैं केवल भावोको ही तो करता हूँ। कौनसे भाव ग्राह्य हैं कौन नही हैं? यह विवेकपूर्वक सोचना होगा। विकल्प कुछ भी करो पर जो होना है सो ही होगा। दृष्टि स्वभावकी वहाँ पाप की उदीरणा भी हो जाय परवाह नही। धन कमाने जैसा भाव धर्ममे लगाओ तो धन बढेगा ही। धन बढो चाहे मत बढो, पर दृष्टि बदलकर तो देखो। धन कमाने जैसे तर्क वितर्क मनमे आते हैं वैसा धर्ममे उपयोग लगेगा तो नियम से कर्मकी निर्जरा होगी, धन कमाने बराबर समय धर्मके चिन्तवनमे देना होगा, शास्त्र पढनेकी रुचि जगेगी, धर्म सम्बन्धी ही चर्चाका विषय बन जावेगा तब कही वह आनन्द सुलभ हो जावेगा। करोड़पतिको देखो कौन-कौन सुखी है उनमे? आनन्दकी बात जहा है वह ज्ञानसे है, दुख भी ज्ञानसे है। उस तरहका भाव बनाओ तो दुःख सुख है। धर्ममयी भाव बना कर उसके प्रति उत्साहित होना चाहिए। पुत्र आदिके पुण्यसे आप कमा रहे हैं। तुम्हें तो केवल २० सेर भोजन और ४—६ कपडे वर्षभरमें जरूरत है और जिनकी काफी अवस्थायें हो गईं उन्होने काफी सरंजाम जोड लिया, अब अधिक जोडनेकी आकुलतासे दुखी ही होते हो। जिसको मोह आ जाता है उससे कहो कि तुम थोडा ध्यान कर लो तो वह नही करेगा। इसके विपरीत ज्ञानियोको तुम लाख समझाओ कि १ मिनटको ही सही इस धन वैभवको अपना तो मानलो, किन्तु वह नही मानेगा। कोई कहे रस्सीको सर्प मानलो तो वह दोस्तीमे कह भी देवे तो भले कह देवे, किन्तु क्या अन्तरङ्गसे मान लेगा? नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव और हैं और उत्कृष्ट निर्मल परिणाम करते हैं, वह अपूर्वकरण परिणाम कहलाता है।

जो जीव चारित्रमोहनीयका उपशम करनेके लिये श्रेणि चढते हैं वे उपशमक कहलाते हैं और जो चारित्रमोहनीयका क्षय करनेके लिये श्रेणि चढते हैं वे क्षपक कहलाते हैं। इस अपूर्वकरणमे चाहे उपशमक हो या क्षपक, पूर्वसमयसे उत्तरसमयमे अपूर्व परिणाम ही होते हैं नाना जीवोमे भी, परन्तु समान समयवाले साधुवोंमें परस्पर परिणाम विसदृश भी हो सकते हैं, सदृश भी हो सकते है। इस गुणस्थानकी साधनाके परिणामस्वरूप इस गुणस्थानके अन्तमे होते ही सबके परिणाम समान हो जाते है। अब इस ही अपूर्व एव अनिवृत्त परिणामोका वर्णन करते हैं—

## अनिवृत्तिकरणश्च ॥१७॥

अपूर्वकरण गुणस्थानके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। निवृत्ति, भेद, असमान, विसदृश आदि एकार्थवाचक नाम हैं। जहाँ निवृत्ति नहीं अर्थात् विसदृशता नही, उस परिणामको अनिवृत्तिकरण कहते है। यह भी उपशमक व क्षपकके भेदसे दो प्रकारका होता है। क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमे तो नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आताप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर— इन सोलह प्रकृतियोका पहिले क्षय होता है। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ व प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ—इन ८ प्रकृतियोका क्षय होता है। पश्चात् नपुंसकवेदका क्षय, पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय, पश्चात् हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा—इन ६ प्रकृतियोंका क्षय, पश्चात् पुरुषवेदका क्षय, पश्चात् सज्वलन क्रोधका क्षय, पश्चात् सज्वलन मानका क्षय, पश्चात् सज्वलन मायाका क्षय होता है। इस प्रकार अनिवृत्तकरण गुणस्थानमे ३६ प्रकृतियोका क्षय होता है। प्रकृतिक्षय होनेका यह दूसरा सग्राम है। पहिला सग्राम क्षायिकसम्यग्दर्शन होनेके समय हुआ था।

उपशमक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले साधु उक्त ३६ प्रकृतियोमे से पहिली १६ को छोड़कर बाकी २० प्रकृतियोका इसी क्रमसे उपशम करते हैं।

प्रकृतियोंके उपशम और क्षयको यह जीव करता नही है, किन्तु आत्माके इन स्वच्छ परिणामोको निमित्तमात्र पाकर उनका उपशम या क्षय स्वय हो जाता है। उपशम या क्षय होते समय प्रकृतियोका निक्षेप आदि गुणश्रेणिके रूपमें होता है। इसका वर्णन श्री धवलाजी व जयधवलाजी मे विस्तारके साथ किया है। इस गुणस्थानके बाद साधु केवल सूक्ष्मलोभका वेदक रह जाता है, सो उसके जीतनेका यत्न होता है—

## अवशिष्टसूक्ष्मसाम्परायजेता च ॥१८॥

नवमे गुणस्थानमें कषायोका क्षय हो चुकनेके बाद अथवा उपशमक के कषायोका उपशम होनेके बाद जो सूक्ष्म लोभ अवशिष्ट रहता है उसका भी जीतनेवाला दशम गुणस्थानवर्ती साधु होता है। यह वेदक भी है और जेता भी है। अपनी दृष्टि उस साधु महात्माके स्वरूपको देखनेके लिये जेताकी पद्धति से देखनेकी होना चाहिये। इस स्वच्छपरिणामको निमित्त पाकर सूक्ष्म लोभकृश अतिकृश होता चला जाता है व अन्तमे सूक्ष्म लोभका उपशम श्रेणिवाले तो उपशम कर देते हैं व क्षपकश्रेणिवाले साधु क्षय कर देते हैं।

सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती साधु भी उपशमक व क्षपक दोनो प्रकारके होते हैं। इन दोनो प्रकारोको बतानेके लिये 'च' शब्दका ग्रहण चला आ रहा है। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानके बाद उपशमश्रेणिवाला साधु तो उपशान्तमोह हो जाता है और क्षपकश्रेणिवाला साधु क्षीणमोह हो जाता है। उनमे से इस समय उपशान्तमोहका वर्णन करते हैं—

## उपशान्तमोहः ॥१९॥

उपशान्त होगया है मोह जिसके उसको उपशान्तमोह कहते हैं। उपशान्त मोह और क्षीणमोहमे पहिले वर्णन उपशान्तमोहका किया जाता है क्योंकि उपशान्तमोहका आगेके गुणस्थानोसे सम्बन्ध नही है। यह तो इसके बाद नियम से गिरता है क्योंकि मोहका उपशम करके उपशान्तमोह हुआ था सो जो जब

उपशम काल समाप्त हो जाता है तब सूक्ष्मलोभका उदयकाल आता है। सूक्ष्मलोभका उदयकाल आते ही यह सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानवर्ती हो जाता है। यदि मरणकाल हो तो एकदम चतुर्थ गुणस्थान हो जाता है। गिरते हुएमे कर्मका काल, उदय, संक्रमण आदि कैसे होते हैं? इन सबका वर्णन श्री धवलाजी व जयधवलीजीमे विस्तारपूर्वक पूज्य श्री वीरसैनजी महर्षिने किया है। यह सब परिणामको निमित्त पाकर कर्मकी बात कर्ममे हो रही है और कर्मकी अवस्थाको निमित्त पाकर जीवमे हो रही है। उपशमश्रेणि इस गुणस्थानमें समाप्त हो जाती है।

अब क्षपकश्रेणिके सिलसिलेमे दशमगुणस्थानवर्ती साधुकी क्या अवस्था होती है? इसका वर्णन करते हैं—

## क्षीणमोहः ॥२०॥

क्षीण अर्थात् क्षयको प्राप्त हो गया है मोह जिसका उसे क्षीण मोह साधु कहते हैं। मोहसूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें प्राप्त हुआ था अर्थात् क्षीणमोहगुणस्थानके आदिम समयमे मोहका अभाव मिलता है। इस गुणस्थानमे चारित्र मोहका अश भी नही होता। अब मोहके क्षय करनेका इसके काम नही रहा। यहां तो ज्ञानावरणको ५ प्रकृति (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण); दर्शनावरणकी ६ प्रकृति (चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, प्रचला); अन्तरायकर्मकी पांच प्रकृतियां (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय व वीर्यान्तराय) इन १६ प्रकृतियोके क्षयका पुरुषार्थ चलता है। इन प्रकृतियोका क्षय आत्मा नही करता है, किन्तु आत्माके शुद्धोपयोग परिणामको निमित्त पाकर ये कर्म स्वयं अकर्मरूप हो जाते हैं। इस गुणस्थानको वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। उपशान्तकषायको भी वीतराग छद्मस्थ कहते है, क्योकि उपशान्तकषाय (उपशान्तमोह) के भी जब तक उपशम है, परिणाम वीतराग ही है। क्षीणमोह भी वीतराग ही है। साथ ही दोनो सर्वज्ञ

नही हैं, अतः छद्मस्थ कहलाते हैं।

क्षीणमोह साधुके वीतराग परिणामको निमित्तमात्र करके जब उक्त १६ प्रकृतियोका क्षय हो जाता है तब यह आत्मा सकल (सशरीर) होते हुए भी परमात्मा, सर्वज्ञ हो जाता है।

## योगेन युतः सर्वज्ञः सयोगकेवली ॥२१॥

जो योगसे सहित है, किन्तु सर्वज्ञ है वह सयोगकेवली कहा जाता है। इस सकलपरमात्माके जब तक योग रहता है तब तक वह सयोग है, इसीलिये सयोगकेवली नाम युक्त है। ये परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनद व अनन्तशक्ति इस प्रकार अनन्त चतुष्टयसे सम्पन्न हैं। इनका ज्ञान तीनलोकवर्ती व तीनकालवर्ती समस्त द्रव्य गुणपर्यायोको जानता है। जानना तो जीव का स्वभाव है। इस स्वभावका आवरण कर्म किये हुए था सो जब आवरण नही रहा तो स्वभावको कौन रोके ? वह स्वभाव अनन्त विकसित हो जाता है। इसी कारण परमात्मा सर्वज्ञ ही होते हैं।

योगसे परमात्मप्रदेशोमें कम्पन होता है, इसी कारणसे सकल परमात्मामे विहार व दिव्यध्वनि होती है। इस कम्पनसे (योगसे) परमात्मामे मलिनता रंच भी नही होती है, किन्तु योग होनेसे जो प्रादेशिक विभाव है उससे परम-यथाख्यात चारित्र नही कहालता। यही कमी लोकमे उन्हे यहा रोके हुए है। परमात्मदेवके अनुरागमे आप लोग सोच सकते हैं कि अच्छा है यह कमी उनके सदा रहो, क्योकि दर्शन तो होते रहेगे। सो भैया! वे तो अब शीघ्र मुक्त होनेके लिये ही हैं। इस योगसे परमात्माके गुणोके विकासमें कोई अन्तर नही पडता। सयोगकेवली भगवान् अनन्तज्ञानी है, अनन्तद्रष्टा हैं, अनन्तानन्दमय हैं; अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं, प्रभु है।

प्रभुभक्ति जीवको पवित्र शरण है। प्रभुस्मरणमें विषयकषायके परिणामो का ऊधम नही हो सकता। प्रभुस्मरणमे प्रभुके द्रव्य गुणोंका विचार करके अपने स्वभावकी प्रतीति दृढ करली जाती है। प्रभुस्मरणमे प्रभुपर्याय व निज-

पर्यायके अन्तरको मिटा देनेकी बात सुगम समझमे आ जाती है। प्रभु प्रेम अद्भुत हितरूप आकर्षण है। प्रभुके यथार्थ स्वरूपके ज्ञाता पुरुषको प्रभुप्रेमसे आत्मकल्याणका मार्ग बाधक नही प्रत्युत साधक होता है। अज्ञानी जीव ही प्रभुको दाता, कर्ता, हर्ता आदि मानकर स्वकल्याणके सन्मुख होनेके बजाय परसग्रहमें विपन्न हो जाता है।

सयोगकेवली भगवान्‌की देहस्थिति जब अन्तर्मुहूर्त रह जाती है, उससे पहिले उस अवशिष्ट समस्त स्थिति तक सयोग केवली रहते हैं। सकलपरमात्माका जब मोक्ष होनेको होता है तब एक साथ बाकी बचे सभी अघाती प्रकृतिया एक साथ क्षयको प्राप्त होती हैं। उनमे केवल उपान्त्य व अन्त्यका एक समयका ही अन्तर होता है। वह बात तो संभव है जब उन कर्मप्रकृतियोकी स्थिति समान हो जाय। ऐसी समान स्थिति होनेके लिये सयोगकेवली परमात्माके करीब अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट रहनेपर समुद्घात होता है। इसे केवलिसमुद्घात कहते हैं। केवलिसमुद्घातमे जीवप्रदेश पहिले दंडाकार लोकके अधोभागसे लेकर ऊर्ध्व भाग तक फैल जाते है। वातवलियोको छोडकर इसे दंडसमुद्घात कहते हैं। फिर दोनो बगलोंकी ओर जहा तक लोक है (वातवलयोको छोडकर) फैल जाते हैं। इसे कपाटसमुद्घात कहते हैं। फिर वक्षःस्थल व पीठकी ओर दोनो ओर जहां तक लोक है (वातवलयोको छोडकर) फैल जाते हैं। इसे मन्थसमुद्घात कहते हैं। फिर ऐसे और फैलते कि पूर्ण वातवलयोमे भी फैल जाते हैं इसे लोकपूरणसमुद्घात कहते हैं। इसके पश्चात् फिर कपाटसमुद्घात, फिर दण्डसमुद्घात होकर देहसमान प्रदेश हो जाता है। इस समस्त समुद्घातमे ८ समय लगते हैं। समय बहुत ही अल्प एकाकी कालपर्याय है। एक सेकिण्डमे असख्यात समय होते है। इस समुद्घातमे प्रदेशप्रसर्पणके साथ कर्मप्रदेशप्रसर्पण होता है। इस समुद्घातसे अन्तमें वेदनीय, नाम व गोत्र—ये तीनो कर्म घटकर आयुस्थितिके बराबर हो जाते हैं। इसके पश्चात् योगोमे संकोच होने लगता है। अन्तमे योगका अभाव हो जाता है अर्थात् निष्कम्प अवस्था हो जाती है।

## रहितोऽयोगः ॥२२॥

योग से रहित सकलपरमात्मा अयोगकेवली कहलाते हैं। ये परमात्मा शरीरमें तो वसते हैं किन्तु शीशीमें पारेकी भांति पृथक् वसते हैं। इनके नोकर्म-वर्गणाओंका ग्रहण नहीं होता है और न इसके बाद भी सिद्ध होकर भी अनन्त काल तक याने सदाके लिये नोकर्मवर्गणावोंका ग्रहण नही होगा। इसी कारण ये अनाहारक कहलाते हैं। अयोगकेवली बने रहनेका समय अत्यल्प है, जिसे दृष्टान्तमें यों उपस्थित कर सकते हैं कि जितना काल "अ इ उ ऋ लृ" इन पञ्च ह्रस्व अक्षरोंके शीघ्र बोलनेमें लगता है उतना काल इस गुणस्थानका है।

इस गुणस्थानका काल समाप्त होते ही ये सकलपरमात्मा शरीरसे वियुक्त होकर तत्काल सिद्ध भगवान् (विकलपरमात्मा) हो जाते हैं।

## ततः सिद्धो गुणस्थानातीतः ॥२३॥

इसके (अयोगकेवली गुणस्थानके) बाद गुणस्थानसे अतीत सिद्ध प्रभु हो जाते हैं। अब गुणस्थानका कोई अवसर नही। जीवकी पूर्ण परिपूर्ण विकासावस्थामें भेद नहीं है। इसी कारण यहां स्थानकी कल्पना नहीं हो सकती। सिद्ध भगवान् गुणस्थानातीत अथवा अतीत गुणस्थान कहलाते हैं। भावकर्म तो सकलपरमात्म–अवस्थानमें ही नहीं था, अब द्रव्यकर्म व शरीरसे भी रहित हो गये। ये प्रभु अलेप, निष्कलङ्क, निरञ्जन, गुणपर्यायैकत्वगत हैं। इनका ध्यान रूपातीत ध्यान है।

ढाई द्वीप जो कि ४५ लाख योजनमात्र विस्तारवाला है इतने क्षेत्रसे ही निर्वाण होता है। निर्वाणको प्राप्त हुए आत्मा अनन्त हैं। ये अनन्त आत्मा लोकके अग्रभाग पर ढाई द्वीपके सीधे ऊपर- के क्षेत्रमें ही स्थित हैं। अतः एक सिद्ध प्रभुके क्षेत्रमे अनन्त सिद्ध प्रभु हैं। हैं ये सब अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप। प्रत्येक सिद्धप्रभु सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, अनन्तानन्दमय है। अनन्त शक्तिसम्पन्न है। इसी सब व्यवस्थाके हेतु वहांकी बात यों कह सकते हैं कि

ये सिद्धप्रभु एकमें अनेक हैं, एकमे एक हैं व स्वरूपदृष्टिसे अनेकमे एक हैं। वस्तुतः प्रत्येक स्व-स्वगुणविलासात्मक हैं। ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

## गुणस्थानानीमानि क्रमाक्रमोभयरूपेण यथागमं योज्यानि ॥२४॥

इन गुणस्थानोको क्रम, अक्रम व क्रमाक्रमरूपसे आगमके अनुसार लगा लेना चाहिये। एक जीवको किस गुणस्थानके बाद कौनसा गुणस्थान प्राप्त होता है? पढते समय कौनसा गुणस्थान प्राप्त होता है? उतरते समय कौन गुणस्थान प्राप्त होता है इत्यादि बातोंका यहाँ विचार करते हैं—

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव यदि अनादिमिथ्यादृष्टि है या सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृतिकी उद्वेलना कर चुका हुआ सादिमिथ्यादृष्टि है तो वह चतुर्थ, पञ्चम या सप्तम इन तीन गुणस्थानोमे से किसीमे भी जा सकता है। यदि २८ या २७ प्रकृति (मोहनीयप्रकृति) सत्तावाला है तो वह मिथ्यादृष्टि तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम या सप्तम इनमे से किसी भी गुणस्थानमे जा सकता है।

द्वितीयगुणस्थानवर्ती जीव नियमसे प्रथम गुणस्थानमे ही जाता है। तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव या तो चतुर्थ गुणस्थानमे जाता है या प्रथम गुणस्थानमे जाता है।

चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव यदि उपशमसम्यग्दृष्टि है तो प्रथम, द्वितीय, तृतीय, पञ्चम व सप्तम—इनमें से किसी भी गुणस्थानमे जा सकता है। यदि यह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि (वेदकसम्यग्दृष्टि) है तो प्रथम, तृतीय, पञ्चम व सप्तम इनमे से किसी भी गुणस्थानमे जा सकता है। यदि यह सम्यक्प्रकृति के अनुभागवेदन के बिना क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि (कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि) है तो क्षायिक सम्यक्त्व होने तक चतुर्थ गुणस्थानमे रहता है पश्चात् शीघ्र ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अब चौथेसे नीचे वह (क्षायिकसम्यग्दृष्टि) कभी भी नहीं आ सकता। क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर ही वह क्षपकश्रेणि चढता। क्षपकश्रेणि चढनेपर नियमसे मोक्ष जाता।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव प्रथम, तृतीय, चतुर्थ व सप्तम इनमे से कि सी

भी गुणस्थानमे जा सकता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि चतुर्थसे नीचे नही जा सकता।

छठे गुणस्थानवर्ती जीव प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम व सप्तम इनमे से किसी भी गुणस्थानमे जा सकता है। सप्तमगुणस्थानवर्ती जीव छठे या आठवें गुणस्थानमे जा सकता है। यदि मरण हो जाय तो चौथे गुणस्थानमें जाता है।

अष्टम गुणस्थानवर्ती जीव चढते हुए तो सप्तम गुणस्थानमें जाते हैं व उतरते हुएमे नवम गुणस्थानमें जाते हैं। यदि मरण हो जाय तो चतुर्थ गुणस्थानमे जाते हैं। चढते हुएमे अष्टम गुणस्थानके पहिले समयमें मरण नहीं होता।

नवम गुणस्थानवर्ती जीव चढते हुए तो दशमगुणस्थानमें जाते हैं और श्रेणिसे उतरते हुए अष्टम गुणस्थानमें जाते हैं। यदि मरण हो जाय तो चतुर्थ गुणस्थानमे जाते हैं।

दशमगुणस्थानवर्ती जीव यदि क्षपक हैं तो १२ वें गुणस्थानमें जाते हैं। यदि उपशमक हैं तो चढते हुए तो ११ वें गुणस्थानमें जाते हैं व उतरते हुए मे नवमे गुणस्थानमे आते हैं। यदि इस गुणस्थानके उपशमक का मरण हो जाय तो चौथे गुणस्थानमे आते हैं। आठवें, नवमे, गुणस्थानके क्षपक भी नियमसे चढते ही हैं। ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उपशमक ही होते हैं इसलिये ये दशवें गुणस्थानमे ही जाते हैं। यदि मरण होजाय तो चौथे गुणस्थानमें जाते हैं।

बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तेरहवें गुणस्थानमे पहुँचते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव चौदहवें गुणस्थानमें पहुचते हैं। चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान् हो जाते हैं।

**सिद्धः सर्वतः पूर्णशुद्धः ॥२५॥**

सिद्ध भगवान् सब प्रकारसे पूर्ण शुद्ध हैं। इनके न शरीरका सम्बन्ध है, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मका सम्बन्ध है और न किसी भी प्रकारके विभावका प्रसङ्ग है। द्रव्यदृष्टिसे तो सभी जीव शुद्ध हैं, वह शुद्धता तो यहाँ भी है ही। अब ये पर्यायदृष्टिसे भी अबद्ध (कर्मबन्धनसे रहित), अस्पृष्ट (शरीरसम्बन्धसे रहित), अनन्य (भिन्न भिन्न व्यञ्जनपर्यायरूप नहीं होने वाले), नियत (सर्वथा सदृश सदृश पर्यायमें रहते रहने वाले), अविशेष (किसी भी गुणके हीनाधिक विकास न होनेके कारण सर्वगुणोंके अभेद स्वच्छ चैतन्यस्वरूप) व असंयुक्त (किसी भी परभावके संयोगसे रहित) स्पष्ट स्वच्छ हैं। आत्माके सम्पूर्णगुणोंका परिपूर्ण विकास जहाँ हो उन्हें ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तवीर्य, अनन्त (परम) सम्यक्त्व, अनन्त अव्याबाध आदि सभी विकास सर्वथा परिपूर्ण हैं।

## ओ३म् नमः सिद्धाय ॥२६॥

श्री सिद्ध भगवान्को नमस्कार होओ। यद्यपि सिद्ध अनन्त हैं तथापि उनके स्वरूपमें भेद न होनेसे, स्वभाव व परिणमनकी एकता होनेसे तथा पूज्यताकी अत्युत्कृष्टता होनेसे एकवचनमें प्रयोग किया गया है। श्री सिद्ध भगवान्को हमारा नमस्कार होओ। ॐ यह प्रणव मन्त्र है। इसमें पञ्चपरमेष्ठी गर्भित हैं, रत्नत्रय गर्भित है, जीवादि सात तत्त्व गर्भित हैं, समस्त वागङ्ग गर्भित हैं। यह सब विवरण तत्त्वसूत्रके प्रथमसूत्रके भावार्थमें कहा गया है। वहाँसे देख लेना चाहिये। आत्माका पूर्ण विकास सिद्ध परमात्माका पद है। इस स्थिति को हम आप भी पा सकते हैं। हम आपमें व सिद्धमें कोई द्रव्यत्वका अन्तर नहीं है। जैसे चेतन द्रव्य प्रभु हैं वैसे ही चेतन द्रव्य हम हैं। प्रभु सच्चिदानन्दमय हैं, हम आप भी सच्चिदानन्दमय हैं। केवल विकासकी दृष्टिसे आत्माओंमें अन्तर है। यह अन्तर विकास करनेसे मिट जाता है। विकासके अन्तरको देख कर यह प्रसिद्धि हो गई कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि तो सत् रूप हैं, हम आप लोग सच्चित्स्वरूप है और परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। एकेन्द्रियादिको सत्मात्र यों प्रसिद्ध किया गया कि वे विवेक वितर्क, विज्ञान

नहीं रखते। हमने आपको सच्चित्स्वरूप इसलिये प्रसिद्ध किया है कि हम विवेक, वितर्क, विज्ञानमें भी आगे हैं। प्रभुको सच्चिदानन्दस्वरूप इस कारण प्रसिद्ध किया है कि परमात्मा अनन्त आनन्दमय, अव्याबाध, पूर्णनिराकुल हैं। यह विकासकी मुख्यता करके देखा जाता है, परन्तु विकासमे उक्त सभी जीवोंमें चित् और आनन्दका भी विकास है। अल्पाधिकमात्रसे यह अन्तर कह दिया है।

यह सब विकास अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावकी दृष्टि, प्रतीति, अनुभूति व परिणतिका परिणाम है। हम आप भी यदि इस कारण-परमात्मरूप चैतन्यस्वभावकी दृष्टि व उपासना करें तो उसी उपायके बलसे हममे भी सच्चिदानन्दत्वका परिपूर्ण विकास हो सकता है।

यह ही पद सर्वोत्कृष्ट पद है। हे सिद्ध प्रभो! तुम्हे त्रिकरणशुद्धिसे मेरा नमस्कार हो, नमस्कार हो, अभेद नमस्कार हो। ॐ तत् सत्। ॐ शुद्ध चिदस्मि)

* ॐ शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् *